नैषध-परिशीलन

[प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५४ में डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध]

डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

एम० ए०, डी० फिल्० साहित्याचार्य

पुरोवाक्

म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज

१९६०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

संस्कृत-साहित्य के महाकाव्य पंचकों में महाकवि हर्ष रचित "नैषधीयचरितम्" अपने काव्य-सौष्ठव के लिए अप्रतिम है। हिन्दी में संस्कृत-साहित्य की समालोचना प्रस्तुत करने का नवप्रयास हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ किया है।

संस्कृत समालोचना-क्षेत्र में विशेषतः साहित्यिक सिद्धान्त का ही विवेचन अभिप्रेत रहा है। काव्यग्रन्थ सिद्धान्त पुष्टि के लिए उद्धृत हुए हैं। हिन्दी में अभी तक संस्कृत-काव्यकृतियों और कृतिकारों का अध्ययन आधुनिक समालोचना पद्धति से कम ही हुआ है। डाक्टर चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने अपने इस शोध प्रबन्ध में विस्तार के साथ "नैषध" की विस्तृत व्याख्या की है एवं उसकी काव्यगत विशेषताओं पर सांगोपांग प्रकाश डाला है। शुक्ल जी ने ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हुए जिस अध्यवसाय एवं विवेक का परिचय दिया है उसके लिए वह बधाई के पात्र हैं।

आशा है, इस ग्रन्थ का संस्कृत तथा हिन्दी वर्ग में समुचित आदर होगा और इस विषय पर शोध करने वाले छात्रों का मार्गदर्शन होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

पुरोवाक्

[महामहोपाध्याय, डॉ० गोपीनाथ कविराज]

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीहर्षरचित महाकाव्य नैषधीय-चरित के विभिन्न पहलुओं पर किए गए समालोचनात्मक चिन्तन के परिणामों को समाविष्ट किया गया है। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि नैषध संस्कृत के गौरवपूर्ण महाकाव्य-पञ्चक में अन्यतम ही नहीं अपितु सर्वोत्तम है। कालिदास को, जो निर्विवाद रूप से श्रेष्ठता के अधिकारी हैं, छोड़कर श्रीहर्ष की प्रतिष्ठा साधारणतया भारवि तथा माघ से कहीं अधिक उच्चस्तर पर मानी गई है—"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।"

अतः ऐसी वस्तुस्थिति में यह आवश्यक था कि संस्कृत साहित्य का कोई गम्भीरज्ञानवाला अध्येता इस महाकाव्य की परम सूक्ष्म समीक्षणा में अपने को तत्पर करे।

पण्डित चण्डिकाप्रसाद ने इस काव्य की तथा इसके रचयिता की समीक्षा में पन्द्रह अध्याय लगाए हैं, जिनमें उन्होंने श्रीहर्ष के समय और स्थान का विवेचन करते हुए काव्य में वर्णित विषय का विभिन्न शीर्षकों में समीक्षात्मक विवरण भी दिया है। उन्होंने मूलकथानक के विवरण तथा इस रचना में श्रीहर्ष को प्रेरणा देनेवाले अन्य मौलिक स्रोतों के विवेचन से निबन्ध का प्रारम्भ किया है। तदनन्तर इसमें साहित्यिक समालोचना के आवश्यक अङ्ग रस, भाव, वस्तु, अलंकार, गुण, दोष आदि महत्त्वशील विषयों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का सर्वाधिक आकर्षक भाग 'व्युत्पत्ति' शीर्षक के अन्तर्गत अध्यायों वाला है, जो प्रायः दो सौ पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। ये अध्याय श्रीहर्ष के अन्तःसाक्ष्य पर आधारित दर्शन आदि विविध विषयों के विस्तृत ज्ञान का सुव्यवस्थित विवरण देते हैं। 'लोकचित्रण' अध्याय भी उतना ही आकर्षक है। अन्त में लेखक ने इस काव्य के परवर्ती भारतीय साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का संक्षेप में विवेचन किया है, तथा इस काव्य पर विभिन्न कालों में एवं देश के विभिन्न भागों में लिखी गई बहुसंख्यक टीकाओं में कुछ की सूची भी दी है।

लेखक की निबन्धशैली श्लक्ष्ण एवं आकर्षक है। वे कोई भी महत्त्वपूर्ण विवेचन करते समय मूलस्रोतों से पर्याप्त प्रमाण उद्धृत करते हैं। जिस अद्भुत

श्लाघ्य विधि से उन्होंने अपनी इस स्वयं-निर्वाचित कृति का सम्पादन किया है उसके लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि खण्डन-खण्ड-खाद्य—जैसे ग्रन्थ के रचयिता की लेखनी से प्रादुर्भूत होने के कारण इस महाकाव्य पर अधिकार प्राप्त करना स्वभावतया अत्यन्त कठिन है, मैं इस निबन्ध के लेखक की विद्वत्ता एवं परिश्रम के प्रति अपनी प्रशंसा प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। मुझे आशा है कि इससे हिन्दी साहित्य की भी श्री-वृद्धि होगी।

२ ए, सिगरा, वाराणसी
७-४-६०

गोपीनाथ कविराज

निवेदन

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्"
—नैषध

हृदय में नैषध के प्रति आदर एवं अनुराग का संस्कृत के अध्ययन के साथ ही उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही था। सदा यही अभिलाष रहता था कि कब संस्कृत भाषा को समझने की इतनी शक्ति आ जायगी कि श्रीहर्ष की वाणी का आनन्द ले सकूंगा। प्रारम्भ में "नैषधे पदलालित्यम्" की सूक्ति सुनकर जो उत्सुकता अङ्कुरित हुई थी, नल-कथा के प्रति आकर्षण से वह पल्लवित हुई तथा अन्त में श्रीहर्ष के दुर्धर्ष पाण्डित्य के प्रति श्रद्धानुराग से पूर्ण प्रौढ़ हो गयी। संस्कृत परीक्षाओं के प्रसङ्ग में जब नैषध का अध्ययन किया तो मन में एक प्रबल भावना हुई कि क्यों न नैषध पर एक समालोचनात्मक निबन्ध लिखा जाय। किन्तु संस्कृत-साहित्य की समालोचना पद्धति को देख कर किसी एक कवि पर समालोचना लिखने का साहस नहीं होता था, क्योंकि वहां साहित्य के सिद्धान्तों (लक्षणों) का ही विवेचन किया गया है। लक्ष्य (काव्य आदि) केवल उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। लब्धप्रतिष्ठ कवियों के काव्यों से यथाभिलषित उद्धरण देते हुए आचार्यों ने अपने साहित्य-सिद्धान्त-विषयक मत स्थापित किए हैं। किसी कवि-विशेष की सारी कृतियों अथवा कृति-विशेष पर आलोचनात्मक निबन्ध नहीं लिखा गया है। हां, टीका करते हुए टीकाकार प्रत्येक श्लोक के सौन्दर्य का यथाशक्य निरूपण अवश्य कर देते हैं। यह बहुत कुछ अंश में ठीक भी है, क्योंकि जहां एक वाक्य[1] को ही नहीं अपितु एक शब्द[2] तक को काव्य माना गया है, वहां उस प्रत्येक वाक्य अथवा शब्द का सब प्रकार से निरूपण करना ही तो काव्य निरूपण होगा, और इसीलिए किसी भी प्रसिद्ध काव्य पर इतनी अधिक टीकाएं देखने को मिलती हैं, जो दूसरे रूप में उतनी समालोचनाएं ही कही जा सकती हैं। किन्तु पाश्चात्य समालोचना की पद्धति पर चला हुआ आधुनिक साहित्यज्ञ-समुदाय उससे सन्तुष्ट नहीं होता, और

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—साहित्य-दर्पण

२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—रसगङ्गाधर

श्लाघ्य विधि से उन्होंने अपनी इस स्वयं-निर्वाचित कृति का सम्पादन किया है उसके लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि खण्डन-खण्ड-खाद्य—जैसे ग्रन्थ के रचयिता की लेखनी से प्रादुर्भूत होने के कारण इस महा-काव्य पर अधिकार प्राप्त करना स्वभावतया अत्यन्त कठिन है, मैं इस निबन्ध के लेखक की विद्वत्ता एवं परिश्रम के प्रति अपनी प्रशंसा प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। मुझे आशा है कि इससे हिन्दी साहित्य की भी श्री-वृद्धि होगी।

२ ए, सिगरा, वाराणसी
७-४-६०

गोपीनाथ कविराज

निवेदन

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्"

—नैषध

हृदय में नैषध के प्रति आदर एवं अनुराग का संस्कृत के अध्ययन के साथ ही उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक हीं था। सदा यहीं अभिलाष रहता था कि कब संस्कृत भाषा को समझने की इतनी शक्ति आ जायगी कि श्रीहर्ष की वाणी का आनन्द ले सकूंगा। प्रारम्भ में "नैषधे पदलालित्यम्" की सूक्ति सुनकर जो उत्सुकता अङ्कुरित हुई थी, नल-कथा के प्रति आकर्षण से वह पल्लवित हुई तथा अन्त में श्रीहर्ष के दुर्धर्ष पाण्डित्य के प्रति श्रद्धानुराग से पूर्ण प्रौढ़ हो गयी। संस्कृत परीक्षाओं के प्रसङ्ग में जब नैषध का अध्ययन किया तो मन में एक प्रबल भावना हुई कि क्यों न नैषध पर एक समालोचनात्मक निबन्ध लिखा जाय। किन्तु संस्कृत-साहित्य की समालोचना पद्धति को देख कर किसी एक कवि पर समालोचना लिखने का साहस नहीं होता था, क्योंकि वहां साहित्य के सिद्धान्तों (लक्षणों) का ही विवेचन किया गया है। लक्ष्य (काव्य आदि) केवल उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। लब्धप्रतिष्ठ कवियों के काव्यों से यथाभिलषित उद्धरण देते हुए आचार्यों ने अपने साहित्य-सिद्धान्त-विषयक मत स्थापित किए हैं। किसी कवि-विशेष की सारी कृतियों अथवा कृति-विशेष पर आलोचनात्मक निबन्ध नहीं लिखा गया है। हां, टीका करते हुए टीकाकार प्रत्येक श्लोक के सौन्दर्य का यथाशक्य निरूपण अवश्य कर देते हैं। यह बहुत कुछ अंश में ठीक भी है, क्योंकि जहां एक वाक्य[1] को ही नहीं अपितु एक शब्द[2] तक को काव्य माना गया है, वहां उस प्रत्येक वाक्य अथवा शब्द का सब प्रकार से निरूपण करना ही तो काव्य निरूपण होगा, और इसीलिए किसी भी प्रसिद्ध काव्य पर इतनी अधिक टीकाएं देखने को मिलती हैं, जो दूसरे रूप में उतनी समालोचनाएं ही कही जा सकती हैं। किन्तु पाश्चात्य समालोचना की पद्धति पर चला हुआ आधुनिक साहित्यज्ञ-समुदाय उससे सन्तुष्ट नहीं होता, और

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—साहित्य-दर्पण

२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—रसगङ्गाधर

वह अवश्य कह उठता है कि "संस्कृत में कवियों की वैयक्तिक काव्यालोचना का नितान्त अभाव है। वहां तो केवल साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन-मात्र है" इत्यादि। पर पाश्चात्य समालोचना प्रणाली से नैषध की समालोचना करना अपने को उसी प्रकार प्रतीत होता था जैसे मन्दिर में विष्णु की मूर्ति को पीताम्वर आदि न पहना कर पैंट, कोट और टाई से सजाया जाय। अतः मैंने समालोचना का मापदण्ड भारतीय ही रखने का निश्चय किया।

इस वीच एम० ए० करने के साथ ही कार्य-वश चार वर्ष तक प्रयाग छोड़ कर देहरादून रहना पड़ा। पर नैषध के प्रति अनुराग-भावना वहां भी ज्यों की त्यों वनी रही, जिसके फलस्वरूप मैंने सम्पूर्ण नैषध का हिन्दी-रूपान्तर कर डाला। इस अनुवाद के प्रसङ्ग में नैषध के अन्तः में प्रविष्ट होकर उसका रसास्वादन करने का और अधिक अवसर मिला। अव नैषध पर आलोचनात्मक निवन्ध लिखने की भावना और भी वलवती हो गई। इसी समय देहरादून के कार्य से कुछ अवकाश-सा मिला। अतः रिसर्च के लिए भाग कर प्रयाग आया। यहां आने पर संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पूज्य गुरुवर डा० वावूराम सक्सेना ने सौभाग्य से नैषध पर ही रिसर्च करने का निर्देश किया। इसके लिए हृदय उनका सदा आभारी रहेगा। उनके वत्सल प्रोत्साहन तथा पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री, विद्याभूषण के साधु आश्वासन एवं वरद सान्निध्य से सोत्साह कार्य प्रारम्भ कर दिया। रिसर्च का विषय अपना मनोभिलषित ही मिला था, अतः यह विचार कर वड़ा हर्षोल्लास था कि यह निवन्ध केवल बुद्धिव्यायाम ही नहीं होगा, इसमें हृदय का भी पूर्ण सहयोग रहेगा। और समालोचना का आधार भारतीय शास्त्रीय पद्धति ही रक्खी। क्योंकि मेरे मन में कुछ ऐसा दृढ़ विश्वास भी हो गया है कि संस्कृत समालोचना की रस तथा ध्वनि वाली शैली पाश्चात्य समालोचना की अर्वाचीनतम शैली से भी परिष्कृत है। उस पौरस्त्य पद्धति से की गई काव्य-समीक्षा इस पाश्चात्य शैली की तुला पर भी ठीक ही उतरेगी। यहाँ प्रायः श्रीहर्ष से पूर्ववर्ती आचार्यों के ही सिद्धान्तों को प्रमाण रूप में रखने का प्रयत्न किया गया है। यत्र-तत्र परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का भी उल्लेख हुआ है, पर वहुत कम।

इस निवन्ध में सव मिला कर पन्द्रह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में नैषध-रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के जीवन तथा देशकाल आदि के विषय में विचार किया गया है। अनेक विद्वानों द्वारा श्रीहर्ष के समय आदि के विषय में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है, और सभी किसी न किसी निर्णय पर पहुँचे हैं। इस अध्याय में केवल उन्हीं के मतों का उल्लेख किया गया है जिनके विचार कुछ तर्क-संगत प्रतीत हुए। साथ ही अपनी भी युक्तिसंगत दृढ़ धारणा रक्खी गई है।

द्वितीय अध्याय में संक्षेप में सम्पूर्ण काव्य कथानक रक्खा गया है, और अन्त में शास्त्रीय ढंग से उस कथानक की मीमांसा की गई है। साथ ही नैषध एक पूर्ण काव्य है, इस पर भी विस्तृत मौलिक विचार प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में कथानक का औचित्य है। इसको प्रबन्धौचित्य या 'कवि की प्रबन्ध-मौलिकता' भी कहा जा सकता है। इसमें नैषध के कथानक के आधार, महाभारत-गत नल-कथा से नैषध के कथानक में कहां, क्या और क्यों अन्तर किया गया है, कथानक के संकोचविस्तार एवं परिवर्तन का क्या प्रयोजन है, इत्यादि का नितान्त मौलिक विवेचन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय 'आदान' है[1], इसमें पूर्व काव्यों से नैषध में क्या भाव-साम्य अथवा उक्ति-साम्य है, अर्थात् पूर्ववर्ती काव्यों का नैषध पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसका सविस्तार तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में नैषध के रस तथा भाव का निरूपण किया गया है। शृङ्गार के अतिरिक्त जितने अन्य रसों का जिस रूप में श्रीहर्ष ने समावेश किया है, उसका यहां प्रदर्शन किया गया है।

षष्ठ अध्याय 'वस्तु-वर्णन' का है। इसमें नैषध-गत उपवन, पुर, प्रभात आदि के वर्णन-सौन्दर्य पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय में प्रकृतियों (पात्रों) के चरित्र का निरूपण किया गया है। नैषध में वर्णित पात्रों के चरितों का इसमें अत्यन्त मौलिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। संस्कृत के विरले ही काव्यों में पात्रों के चरित्र का इस प्रकार विकास हुआ है।

अष्टम में नैषध में कुछ दोषों की उद्भावना की गई है, जिनमें अनेक वस्तुतः दोष नहीं हैं।

नवम में नैषध की ध्वनि तथा अलंकारों के सौन्दर्य का स्वतंत्र विस्तृत विवेचन हुआ है। श्रीहर्ष में अद्भुत काव्य-प्रतिभा के साथ ही अपूर्व शास्त्र-व्युत्पत्ति भी थी। सरस्वती की कृपा से भारती का समस्त ज्ञानकोष उनके लिए खुल गया-सा प्रतीत होता है। अब तक के अध्यायों में उनकी अपूर्व प्रतिभा के चमत्कार को काव्य-समालोचना की विभिन्न दृष्टियों से देखने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु जब तक

---

१. जिसे राजशेखर ने 'हरण' कहा है :—

'परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबन्धो हरणम्'—काव्य मीमांसा अध्याय ११, किन्तु इस शब्द की अपेक्षा मुझे 'आदान' अधिक उपयुक्त समझ पड़ा।

उनकी व्युत्पत्ति का सविस्तार विचार न किया जाय नैषध की समीक्षा पूरी कही ही नहीं जा सकती। संस्कृत के अन्य कवियों से श्रीहर्ष में यही विशेष अन्तर है कि अन्य कवि या तो केवल कवि हैं या केवल पण्डित। उनके काव्य में या तो केवल काव्य का रसमय सौन्दर्य ही मिलता है, या फिर केवल शास्त्र के नियमों का शुष्क प्रदर्शन ही। शास्त्रज्ञान की दिव्यज्योति में काव्य-प्रतिभा का रूपललाम विरले ही दिखा सके हैं। अतएव राजशेखर ने कवियों के शास्त्र-कवि, काव्य-कवि, तथा उभयकवि ये तीन भेद वताकर अन्त में विवश होकर कहा कि "शास्त्र-ज्ञान से काव्य-सौन्दर्य अवश्य वढ़ता है, किन्तु शास्त्र की नितान्त परायणता से तो काव्यचारुता का ह्रास ही होता है। उसी प्रकार काव्य-भावना शास्त्रीय वाक्यों की प्रौढ़ता को सुन्दर रूप अवश्य देती है, किन्तु काव्य की नितान्त परायणता से शास्त्रज्ञान का प्रचुर अर्जन हो ही नहीं सकता।"[1] और इसीलिए राजशेखर की दृष्टि में वह कवि जो शास्त्रज्ञान की मणि को काव्य-कञ्चन में सुन्दर पिरो दे उसे काव्य-कवि एवं शास्त्र-कवि दोनों से श्रेष्ठ कहा है।[2] यदि श्रीहर्ष राजशेखर से पूर्व हुए होते तो राजशेखर निश्चित ही श्रीहर्ष को उभयकवि के उदाहरण के रूप में रखते। अस्तु। तो, श्रीहर्ष की व्युत्पत्ति का यथाशक्य पूर्ण विवेचन करना निवन्ध के लिए परम आवश्यक एवं महत्त्वशाली भी था। अतः दशम, एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश चार अध्यायों में उसका विस्तृत विवेचन किया गया है। इन अध्यायों को लिखने की शैली राजशेखर की काव्य-मीमांसा की जैसी ही रक्खी है।

दशम अध्याय में श्रीहर्ष की वेद तथा वेदाङ्ग विषयक व्युत्पत्ति का विस्तृत एवं मौलिक विवेचन हुआ है।

एकादश अध्याय में नैषध में उल्लिखित दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। दुर्धर्ष तार्किक, अद्भुत दार्शनिक तथा पूर्णब्रह्मज्ञ होने के कारण श्रीहर्ष के काव्य में दर्शन की झलक का मिलना स्वाभाविक ही है। विशेषता यह है कि जिन सिद्धान्तों का नैषध में कहीं उल्लेख हुआ है, वे साधारण कोटि के नहीं हैं, अपितु उच्चकोटि के सैद्धान्तिक संकेत हैं।

द्वादश में पुराणों के आख्यानों का उन-उन मौलिक स्थलों से खोज कर विवेचन किया गया है।

---

१. यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णाति। काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि।
—काव्य मीमांसा, पञ्चम अध्याय

२. उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान् यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। वही, पञ्चम अध्याय

त्रयोदश में श्रीहर्ष की अन्य विविध-विषय-सम्बन्धी विशेषज्ञता का परिशीलन हुआ है।

चतुर्दश में नैषधोक्त तत्कालीन समाज को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। यह भी एक प्रकार से कवि की लोक-विषयक व्युत्पत्ति कही जा सकती है।

पञ्चदश (अन्तिम) अध्याय में नैषध का संस्कृत साहित्य में क्या स्थान है, इस पर कुछ विचार किया गया है। इसीलिए इसका नाम "प्रदान" रक्खा गया। यहां नैषध के परवर्ती प्रति ग्रन्थ में नैषध का क्या प्रभाव पड़ा इसका विस्तृत विवेचन न तो उचित समझ पड़ा, और न सम्भव ही, क्योंकि उसके लिए तो एक स्वतन्त्र निवन्ध ही लिखा जा सकता है। अतः केवल कुछ ग्रन्थों का नामोल्लेख ही कर के सन्तोष किया गया है। यद्यपि नैषध के सौन्दर्य को हर प्रकार से देख लेने पर अव यह विशेष आवश्यक नहीं समझ पड़ता है कि अलग से उसके साहित्य में विशिष्ट स्थान या महत्त्व को गाया जाय, किन्तु एक-दो विशेष वातें कहनी शेष रह गयी थीं, जो इसी प्रसङ्ग में कहनी उचित समझ पड़ीं, अतः उनके लिए यह अध्याय भी आवश्यक समझ पड़ा।

इस निवन्ध के लिखने में मैंने जिन ग्रन्थ-रत्नों की सहायता ली है, उन सव के प्रति मैं परम कृतज्ञ हूं। व्युत्पत्ति के वेद वेदाङ्ग तथा विविध विषय वाले अध्यायों में मुझे उन ग्रन्थों के अतिरिक्त नारायण की नैषध-प्रकाश टीका से वहुत कुछ सहायता मिली है। नैषध के श्लोकों का उद्धरण भी (निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित) नारायणीय टीका युक्त नैषध से ही दिया गया है। दर्शन वाले अध्याय में प्रो० कृष्णकान्त हान्दिकी द्वारा सम्पादित (अंग्रेजी में) नैषध-चरित से विशेष सहायता ली है। उन दोनों ग्रन्थों के प्रति हृदय विशेष रूप से आभारी है। ज्यौतिष-सिद्धान्तों के विषय में पूज्यपाद पितृदेव ज्यौतिषाचार्य पं० रामकिशोर शुक्ल जी का उपदेश सुलभ मिल गया। आदरणीय गुरुवर्य म० म० डा० उमेश मिश्र का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनसे समय-समय पर वहुमूल्य उपदेश पाता रहा। परम श्रद्धेय गुरुवर्य पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी का विशेष अनुगृहीत हूं, जिनसे समय-समय पर यथाभिलषित दुर्लभ उपदेश एवं पुस्तकें भी सुलभ होती रहीं। भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना का परम आभार मानता हूं, जिन्होंने वड़ी उदारता के साथ चण्डू-पण्डित, विद्याधर तथा नारायण की टीकाओं की प्राचीन पाण्डु-लिपियां देने की कृपा की। प्रयाग विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने उन पाण्डुलिपियों को मंगाने आदि की व्यवस्था की।

आदरणीय गुरु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस निवन्ध को 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' से प्रकाशित कराने की सुव्यवस्था की। उनकी इस महाशयता एवं गुणग्राहिता

से मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता से सन्नत है। प्रिय सुहृद् डा०सत्यव्रत सिन्हा, सहायक मन्त्री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इसके छपते समय जिस स्नेह एवं सुरुचि के साथ इस कार्य का सम्पादन किया है उसके लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।

जिन ऋषिकल्प विद्या-वारिधि मनीषी परीक्षकों के कृपा-कटाक्ष से अनुगृहीत होकर तथा जिनका अमोघ आशीर्वाद पाकर यह निवन्ध सफल एवं सम्मानित हुआ है, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे इस भावविभोर हृदय के शब्द ही असमर्थ हैं। परमपूज्य म० म०, डा० कविराज ने तो परम कृपा के साथ पुरोवाक् भी लिख दिया। उनके इस अनुग्रह के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

हृदय में साहित्यिक-चेतना को जागरित करने वाले तथा जीवन में दार्शनिक दृष्टि प्रवर्तित करने वाले पूज्य गुरुदेव शास्त्री जी के सान्निध्य से श्रीहर्ष की वाणी का आस्वादन करता रहा था। यह निवन्ध उन्हीं के उपदेशों का मूर्त्त रूप है। उनसे तो इतना ही निवेदन है कि—

> यत्त्वदाप्तं गुरो वस्तु तदेतत्ते समर्प्यते।
> त्वं चेत्प्रीतोऽसि साफल्यं सर्वथाऽस्य भविष्यति॥

बुद्ध पूर्णिमा
सं० २०१७ वि०

चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

विषयानुक्रमणिका

ग—२२ सर्गात्मक नैषध एक पूर्ण काव्य है

प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य के मत का विवेचन तथा नैषध की स्वाभाविकपूर्णता का समर्थन।

कथानक का औचित्य

काव्य में ऐतिहासिक कथानक का महत्व—नलकथा की प्राचीनता—नैषध कथानक का आधार महाभारत—ऐतिहासिक कथानक में परिवर्तन की स्वतंत्रता—पूर्वराग से प्रारम्भ—हंस का करुण रोदन तथा करुणभाव—नल के मन में हंस द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना—हंस द्वारा दमयन्ती के सम्मुख अपनी महत्ता का परिचय—काव्य में स्त्रियों की ही विरह दशा का अधिक वर्णन—प्रेम की विकलता—नल का अदृश्य रूप से अन्तःपुर में प्रवेश—अन्तःपुर में नल-दमयन्ती के वास्तविक मिलन का उद्देश्य—दमयन्ती का देवदूतियों को उत्तर—सप्तमसर्ग में दमयन्ती के रूपवर्णन का उद्देश्य तथा वैशिष्ट्य—महाभारत में दूत रूप नल का दमयन्ती से संवाद—दमयन्ती द्वारा अन्तःपुर में सर्वप्रथम नल का आतिथ्य तथा रूप प्रशंसन—नल का अपने को गुप्त रखने का प्रयोजन—देवसंदेश का प्रारम्भ दमयन्ती के प्रेम में होने वाली देवों की कदर्थना से किया जाता है—अन्त में भय द्वारा रिझाने का प्रयत्न—अन्तःपुर में नल-दमयन्ती को हंस का प्रत्यक्ष दर्शन—राजपरिचय के लिए सरस्वती की कल्पना—दमयन्ती का स्वयंवर सभा में प्रवेश—राज-परिचय—चेरी या दासी द्वारा उपहास का प्रयोजन—पांच नलों के परिचय में श्लेष का आश्रय—दमयन्ती पर देवों की कृपा—दमयन्ती की ओर से सरस्वती का देवों को प्रसन्न करना—दमयन्ती को सरस्वती के वरदान—दमयन्ती का प्रत्येक नरेश को एक एक सुन्दरी दिलवाना—विवाह तथा अन्य उपक्रम—वरातियों का व्यंग्योपहास—स्वर्ग लौटते समय देवों का देर तक आकाश में वना रहना—श्रीहर्ष के समय भारतीय दार्शनिक विचारधारा—चार्वाक के सन्देह तथा उनकी निवृत्ति—नलराज्य की सुव्यवस्था—नैषध में कामपुरुषार्थ—प्रभातवर्णन—प्रणय-मान तथा अन्य जीवनचर्या—काम तथा मोक्षपुरुषार्थ सन्ध्या एवं चंद्र वर्णन।

आदान—पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

क—काव्य में उपजीव्य उपजीवक भाव—श्रीहर्षकालीन संस्कृत साहित्य की

प्रथम अध्याय

नैषध-रचयिता महाकवि श्रीहर्ष

महाकवि श्रीहर्ष के जीवनवृत्त के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। वास्तव में संस्कृत-साहित्य में श्रीहर्ष नाम से अनेक विद्वान् एवं कवि विख्यात हुए हैं। सर्वप्रथम, स्थाण्वीश्वर तथा कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्धन, जो काव्य-क्षेत्र में श्रीहर्ष, श्रीहर्षदेव एवं हर्ष नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, वाण, मयूर, मातङ्ग, दिवाकर[1], धावक[2], आदि कवि-शिरोमणियों के आश्रयदाता थे। रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका——इन तीनों नाटक-ग्रन्थों के रचयिता ये ही सम्राट् माने जाते हैं। इन तीनों नाटकों की प्रस्तावना में इन्होंने अपना नाम श्रीहर्ष दिया है।[3] श्रीहर्ष का शासन-काल ईसा की सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध (६०६ से ६४७ ई० तक) माना गया है। इन्हीं के शासन-काल में प्रसिद्ध विद्वान् चीनी यात्री यानच्वांग (ह्वेनसांग) भारतवर्ष में आया था। फिर, कल्हण की राजतरङ्गिणी में भी श्रीहर्ष नाम के एक नरेश का वर्णन आता है। इनका शासन-काल एकादश शताब्दी का अन्तिम दशक था। ये कश्मीर-नरेश श्रीहर्ष भी एक सत्कवि तथा अनेक देश-भाषाओं के पण्डित थे। देशान्तरों में भी इनका यश फैला था।[4]

किन्तु पूर्वोक्त दोनों श्रीहर्ष नैषधीय-चरित के रचयिता नहीं हो सकते। क्योंकि नैषध-कवि श्रीहर्ष को कान्यकुब्जेश्वर से दो ताम्बूल तथा आसन पाने का गर्व था।[5] यह बात कितनी असङ्गत लगती है कि जो स्वयम् नरेश हो वह किसी अन्य नरेश से इतना छोटा सम्मान स्वीकार करे और उस पर भी इतना

---

१. अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकराः।
श्रीहर्षस्याभवन् सभ्याः समा बाणमयूरयोः॥ शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत राजशेखर।

२. श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिवधनम्। : काव्यप्रकाश (प्रथमउल्लास)।

३. श्रीहर्षोनिपुणः कविः——इत्यादि।

४. सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः।
कृती विद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि॥——राजतरङ्गिणी (७।६११)

५. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्——नै० (२२।१५३)

गर्व करे कि अपने ग्रन्थों में उसका उल्लेख करे। पूर्वोक्त दोनों श्रीहर्ष स्वयम् नरेश थे। फिर हर्षवर्धन तो स्वयम् कान्यकुब्जेश्वर थे। उनकी ओर से यह उक्ति तो और भी अनुचित एवम् असम्भव होगी। अतः नैषध-रचयिता इन दोनों से भिन्न कोई अन्य महाकविशिरोमणि थे।

श्रीहर्ष नाम के एक कवि ने भरत के नाटचशास्त्र पर वार्तिक वनाया था, जो विशेष रूप से आर्या छन्द में था। ये अभिनवगुप्त से भी पूर्व हो चुके थे, इनके विषय में अभी अधिक कुछ ज्ञात नहीं हुआ है। डा० शङ्करन् ने "रस और ध्वनिसिद्धान्त" पृ० १३ में इन वार्तिककार श्रीहर्ष का कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन के साथ ऐक्य स्थापित किया है। किन्तु महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरङ्ग वामन काणे महोदय ने इसे केवल अनुमान ही माना है।[1] ये श्रीहर्ष नैषध-कर्ता तो निश्चित ही नहीं हो सकते। नैषधकार ने अपने अन्य ग्रन्थों का नाम वताते हुए इस वार्तिक का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

नैषध-रचयिता ने नैषध में स्वयं अपना कुछ परिचय दिया है। प्रति-सर्ग समाप्ति-श्लोक में वे अपना नाम श्रीहर्ष, अपने पिता का नाम श्रीहीर तथा माता का मामल्लदेवी वतलाते हैं। इन्हीं सर्गान्त्य श्लोकों से यह भी ज्ञात होता है कि वे कान्यकुब्जेश्वर से सदा दो- ताम्बूल तथा आसन पाया करते थे।[2] माता (भगवती वागीश्वरी तथा स्वजननी) के चरणोपासक थे।[3] तर्कशास्त्रों में उनका अनुपम अभ्यास था, इतना कि शास्त्रार्थों में उनके युक्ति-वचनों से प्रतिवादी तर्कशून्य ही हो जाते थे।[4] उनकी कविता अति सरस होने से मधु-वर्षा करनेवाली होती थी।[5] नैषधीयचरित के अतिरिक्त उन्होंने शिव-शक्ति-सिद्धि,[6] स्थैर्यविचारण (प्रकरण)[7], खण्डन-खण्ड-खाद्य[8], नवसाहसाङ्क-चरित-चम्पू,[9] अर्णव-वर्णन,[10]

---

१. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोएटिक्स—पृ० ५९ नवीन संस्करण, १९५१
२. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्—नै० २२।१५३
३. मातृचरणाम्भोजालिमौलेः—नै० १२।११३
४. धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः—नै० २२।१५५
५. यत्काव्यं मधुवर्षि—नै० २२।१५५
६. अस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये महाकाव्ये—नै० १८।१५४
७. स्थैर्य-विचारण-प्रकरण-भ्रातरि—महाकाव्ये। नै० ४।१२३
८. खण्डन-खण्डतोपि सहजात् क्षोदक्षमे महाकाव्ये—नै० ६।११३
९. नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतः (तस्यकवेः) (महाकाव्ये)॥ नै० २२।१५१
१०. सन्दृब्धार्णववर्णनस्य तस्य (कवेः) महाकाव्ये—नै० ९।१६०

गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति,[१] श्रीविजयप्रशस्ति,[२] तथा छिन्दप्रशस्ति[३] नाम के, तान्त्रिकी उपासना (शिव-शक्ति-सिद्धि का विषय), दार्शनिक विचार (स्थैर्य-विचार एवं खण्डन-खण्ड-खाद्य का विषय) और काव्य (नवसाहसाङ्कचरित-चम्पू प्रभृति शेष ग्रन्थों का विषय)—विषयों वाले अन्य ग्रन्थ भी वनाये थे। उनका नैषधीय-चरित महाकाव्य चतुर्दश विद्याओं के विशेषज्ञ कश्मीर के विद्वानों द्वारा आदृत हुआ था,[४] और इस असामान्य सफलता का मूल यह रहस्य है कि नैषधीयचरित उनकी चिन्तामणिमन्त्र की उपासना (चिन्तन) का फल था।[५] इन्होंने यह काव्य प्राचीन मुनि और आचार्यों के मान्य उद्देश्य—काव्यरसामृत की लहरियों में डुवकी लगाने वाले सज्जनों की सुखप्राप्ति—अर्थात् मम्मट के शब्दों में 'सद्यः पर-निर्वृति[६]'—के एकमात्र प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर रचा था, और इसकी रचना में वरावर इस वात का ध्यान रक्खा था कि इस ग्रन्थ में उसी सज्जन को यथोक्त आनन्द प्राप्त हो सके जो श्रद्धापूर्वक देवभावना से गुरु की आराधना-पूजा करके गुरुकृपा से (शव्द और अर्थ की) उन सब कुटिल दृढ़ ग्रन्थियों को खुलवा (सुलझा) चुका है, जिन्हें कवि ने अपने इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर (व्यासकृत महा-भारत के ८८०० कूट श्लोकों के समान) प्रयत्नपूर्वक (सोच-विचार और जान-बूझकर) केवल इस प्रयोजन से सन्निविष्ट कर रक्खा है कि अपने को विद्वान् लगाने वाला अर्थात् पाण्डित्य का अभिमानी (अशुद्ध अन्तःकरण वाला) कोई भी दुर्जन (खल) केवल अपने वुद्धि-वल के हठ से इसके पाठमात्र में पैठ (प्रवेश) पाकर भी इसके साथ खेल न सके (अर्थात् 'इसमें क्या वड़ी वात है जो इसके ज्ञान और प्रवचन के लिए गुरु-परम्परानुसार श्रद्धा भक्ति ध्यान-योग सहित श्रवणादि साधन का आश्रय लिया जाय'[७]

---

१. गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति-भणितिभ्रातरि—महाकाव्ये ॥—नै० ७।११०

२. तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य (कवेः) नव्ये महाकाव्ये—नै० ५।१३८

३. स्वसुः सुसदृशिच्छिन्दप्रशस्तेर्महाकाव्ये—नै० १७।१२२

४. काश्मीरैर्महितेचतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिःमहाकाव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते। —नै० १६।१३१

५. तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले महाकाव्ये—नै० १।१४५

६. काव्यंयशसेऽर्थकृतेव्यवहारविदेशिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मित-तयोपदेशयुजे।—का० प्र० १।२

७. किमत्रास्ति? अश्रुतमेव व्याकर्तुं शक्यते इत्यवज्ञापूर्वां दर्पाभिव्यक्तिमा कर्षीदित्येवमर्थम्। नै० २२।१५४ पर नारायणकृत टीका।

ऐसी अवज्ञापूर्वक दर्प-अभिमान की अभिव्यक्ति रूप खिलवाड़ न कर सके)।[१]

इस प्रकार से इस काव्य के प्रयोजन में कवि अथवा पाठक को यश, धन, लौकिक व्यवहार, ज्ञान, मधुर उपदेश रूप किसी निम्न कोटि के लौकिक फल की प्राप्ति का गन्ध भी नहीं है। इससे श्रीहर्ष की परमार्थ-प्रवण साधना, और उसके सम्प्रदाय की अभिमानी अनधिकारियों से रक्षा एवं शुद्धान्तःकरण वाले वास्तविक अधिकारियों में प्रचार की चिन्ता में लगा हुआ निवृत्त्युन्मुख प्रवृत्तिमार्ग-निष्ठ तत्प्रवर्तक अवतारों का-सा उत्कृष्टतम व्यक्तित्व स्पष्ट झलक रहा है। वस्तुतः वह व्यक्तित्व किस उच्चतम कोटि का था इसका उल्लेख भी उन्होंने लोकशिक्षा की ही दृष्टि से उचित जानकर नैषध की समाप्ति पर सर्वान्त्य पद्य में खुले शब्दों में इस प्रकार किया है, "जो नित्य की समाधि में (वचनादि के अगोचर) सर्वोत्कृष्ट आनन्दसिन्धु परब्रह्म का साक्षात्कार-लाभ करते हैं, उन श्रीहर्ष (अर्थात् भगवती शक्ति(श्री) के प्रसाद से ब्रह्मानन्दानुभव पर्यन्त उद्‌बोधन (हर्ष) को पाने वाले (अन्वर्थ-नामवाले) कवि की यह कृति सुधीजनों के आनन्द के लिए सदा उदय को प्राप्त होती रहे।"[२]

नैषध में श्रीहर्ष ने अपने विषय में जो ये सारी बातें स्वयं बतला दी हैं, इनमें से अनेक का उल्लेख जैन कवि राजशेखर सूरि ने (वि० सं० १४०५ के लगभग विरचित) अपने प्रबन्ध-कोश में किया है।[३] उन्होंने भी श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर लिखा है तथा इनके आश्रयदाता का कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र बतलाया है। राजशेखर ने यह भी बतलाया है कि श्रीहर्ष को कश्मीर के राजा माधवदेव[४]

---

१. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासिप्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥ —नै० २२।१५४

२. यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदेतस्याभ्युदीयादियम्॥

३. प्रबन्ध-कोश के 'हर्षकविप्रबन्ध' (११वें प्रबन्ध) में सिंघीजैनग्रंथमाला ग्रन्थाङ्क ६, १९३५ ई०, पृ० ५४–५८

४. राजतरङ्गिणी में कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र का समकालीन कोई माधवदेव नामक नृप नहीं उल्लिखित है। सम्भवतः माधवदेव कोई आश्रित सामन्त-नरेश था।

से सम्मान तथा इनके नैषध को वहाँ के पण्डितों का आदर विशेष रूप से प्राप्त हुआ था।[1]

राजशेखर से भी पूर्ववर्ती और नैषध के प्रसिद्ध टीकाकार चाण्डू पण्डित ने अपनी टीका नैषधदीपिका[2] के प्रारम्भ में कुछ बातें[3] श्रीहर्ष के सम्बन्ध में बतलाई हैं।[4] राजशेखर के अनेक विवरण चाण्डू पण्डित के कथन से सङ्गत (मेल खाते) हैं। चाण्डू पण्डित ने भी श्रीहर्ष के पिता का शास्त्रार्थ में पराजित होना लिखा है। राजशेखर ने श्रीहर्ष के पिता का नाम लिखते हुए भी राजसभा में उन्हें जीतने वाले तथा बाद में श्रीहर्ष से पराजित किये जाने वाले राजकीय पण्डित का नाम नहीं लिखा है[3] जब कि चाण्डू पण्डित श्रीहर्ष कवि के पिता के परिभव-कर्ता का नाम उदयन लिखते हैं।[5] राजशेखर[6] तथा चाण्डू पण्डित दोनों ही श्रीहर्ष के खण्डन (खण्ड-खाद्य)

---

१. श्रीहर्षेण पण्डिता उक्तास्तत्रत्या ग्रन्थमत्रत्याय राज्ञे माधवदेवनाम्ने दर्शयत श्रीजयन्तचन्द्राय च शुद्धोऽयंग्रन्थ इति लेखं प्रदत्त—इति...राजा पण्डिता-नाहूयावादीद्धिङ्मूढा। ईदृशे रत्ने न स्निह्यथ।...एनं महात्मानं प्रत्येकं स्वगृहेषु सत्कुरुत। ललक्षिरे पण्डिताः सर्वे गृहंनीत्वासत्कृत्यानुनीय राज्ञा च सत्कार्य तैः प्रहितः श्रीहर्षः काशीम्॥ —नैषध-प्रकाश की भूमिका में म० म० पं० शिवदत्त शर्मा द्वारा उद्धृत पृ० ४,५ तथा प्रबन्धकोष पृ० ५६

२. वि० सं० १३५३ (१२९६ ई० में)

३. भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में सुरक्षित पाण्डुलिपि।

४. "तस्य राज्ञो बहवो विद्वांसः। तत्रैको हीरनामा विप्रः तस्य नन्दनः प्राज्ञचक्र-वर्ती श्रीहर्षः। सोऽद्यापि बालावस्थः। सभायां राजकीयेनैकेन पण्डितेन वादिना हीरो राजसमक्षं जित्वामुद्रितवदनः कृतः लज्जापङ्कमग्नोवैरं बभार। मृत्युकाले श्रीहर्षं सम्बभाषे। वत्सामुकेन पण्डितेनाहमाहत्यराजवृष्टौजितः। तन्मे दुःखम्। यदि सत्पुत्रोऽसि तदा तं जयेः क्ष्मापसदसि। श्रीहर्षेणोक्तमो-मिति।"—निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित नैषध की म० म० पं० शिवदत्तशर्मा द्वारा लिखित प्रस्तावना (पृ० २)। तथा प्रबन्ध-कोश पृ० ५४-५५

५. प्रथमं तावत्कविर्विजिगीषुकथायां स्वपितृपरिभावुकमुदयनमत्यमर्षणतया कटा-क्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रथयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरुषार्थैरभिमान-मनवधीयमानमवधीर्य मानसमेकताननतां निनाय। —नैषधदीपिका का प्रारम्भ।

६. खण्डनादिग्रन्थान् परश्शताग्जग्रन्थ—नै० प्रस्तावना (पृ० ३)

नामक ग्रन्थ रचने का उल्लेख करते हैं।[1] परन्तु चाण्डू पण्डित ने जिन उदयन का उल्लेख किया है उन्हें यदि प्रसिद्ध उदयनाचार्य मानें तो ऐतिहासिक अड़चन पड़ती है। उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तवक के श्लोक ७ "शङ्काचेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्। व्याघाताबधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥" को श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य में 'तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा। त्वद्-गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि।' इस भूमिका के सहित...

व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः॥

इस प्रकार कुछ परिवर्तित रूप में उद्धृत किया है। उदयन ने लक्षणावली की रचना

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

इस अन्तिम वाक्य के अनुसार शाके ९०६ अर्थात् वैक्रम संवत् १०४१ (९८४ से ८५ ई०) में की थी। परन्तु श्रीहर्ष का गाहडवाल महाराज गोविन्द-चन्द्र के समकालिक होना प्रसिद्ध है। महाराज गोविन्दचन्द्र महाराज जयच्चन्द्र के पितामह तथा महाराज विजयचन्द्र के पिता थे। श्रीहर्षविरचित 'विजयप्रशस्ति' सम्भवतः इन्हीं महाराज विजयचन्द्र का प्रशंसापरक काव्य रहा होगा। जयच्चन्द्र के यौवराज्य दानपत्र में संवत् १२२५ (ई० ११६९) पड़ा है। इनके पितामह गोविन्दचन्द्र के राजत्वकाल में इण्डियन ऐण्टिक्वेरी भाग १४, पृ० १०३ सूचीगत संख्या ७७ के अनुसार विक्रम संवत् ११६१ (ई० ११०४) तथा अन्य लेखों के अनुसार संवत् ११८६ (ई० ११२९ जिसका मुसलमानों के आक्रमण को रोकने के लिए लगाए हुए टैक्स 'तुरुष्क-दण्ड' के साथ उल्लेख मिलता है) और संवत् १२१२ (ई० ११५५) पड़ते हैं। इस प्रकार श्रीहर्ष से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्ववर्ती उदयनाचार्य न तो श्रीहर्ष के और न उनके पिता श्रीहीर के समकालवर्ती हो सकते थे।

किन्तु इस निर्णय पर पहुँचने के पूर्व एक शङ्का वनी ही रह जाती है। वह यह कि माना श्रीहर्ष ने अपने प्रतिपक्षी का नाम कहीं उदयन नहीं लिखा है, किन्तु

---

१. खण्डनं प्रारिप्सुः—नै० दीपिका का प्रारम्भ—

(स्वयं श्रीहर्ष ने खण्डन में अपनी कृति नैषध का उल्लेख यों किया है—
"तथाहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गं इत्येषा दिक्।)"

अपने खण्डनखण्डखाद्य में जो प्रसिद्ध दार्शनिक उदयनाचार्य के कुसुमाञ्जलि, तात्पर्य-परिशुद्धि तथा वौद्धाधिकार आदि ग्रन्थों के उद्धरण देते हुए खण्डन किया है, और जो कहीं-कहीं उन्हें मध्यमपुरुष सर्वनाम द्वारा कुछ इस प्रकार से सम्बोधित किया है मानों उन (उदयनाचार्य) से साक्षात् शास्त्रार्थ कर रहे हों, उससे तो यही प्रतीत होता है कि उदयनाचार्य का श्रीहर्ष से कभी न कभी साक्षात्कार अवश्य हुआ रहा होगा, या उदयन से श्रीहर्ष का कभी कोई ऐसा सम्बन्ध पड़ा रहा होगा जिससे श्रीहर्ष ने उनके विरुद्ध वैर-सा मान रक्खा था। इसका समाधान यही प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को उदयन नाम से ही विद्वेष हो गया था, क्योंकि किसी उदयन ने ही तो उनके पिता को पराजित किया था, पितृपरिभावुक वास्तविक उदयन को शास्त्रार्थ में परास्त करके भी उनकी प्रतिशोध-भावना शान्त नहीं हुई थी। शत्रु का नाम ही उन्हें चिढ़ाने वाला था। उनकी यह भावना नैषध में एक स्थान पर सामान्य उक्ति के रूप में व्यक्त भी हो गयी है। उनका कहना है "जिस व्यक्ति में शत्रु का नाम भी यदि मिल जाय (अर्थात् यदि किसी व्यक्ति का वही नाम हो जो अपने शत्रु का है) तो कौन तेजस्वी उसे सहेगा।"[१] और फिर श्रीहर्ष का उदयनाचार्य के सिद्धान्तों से विरोध, सिद्धान्त के नाते ही, हो सकता है। मध्यमपुरुष का प्रयोग तो आचार्यों की शैली है। अपने पूर्वगामी आचार्यों के मत का विवेचन करते समय पश्चात्कालीन आचार्य अपने ग्रन्थ में प्रायः मध्यमपुरुष पद का ही प्रयोग करते हैं, हाँ किसी के प्रति आदर दिखाते हैं, किसी की उपेक्षा कर देते हैं। इससे समकालिकता तो माननी ही न चाहिए। अस्तु।

वैसे तो श्रीहर्ष के जीवनकाल के विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है,[२] किन्तु 'खण्डन' की एक उक्ति से श्रीहर्ष का समय निश्चित करने में बहुत कुछ सरलता हो जाती है। खण्डन में एक स्थान पर श्रीहर्ष ने बड़े आदर के साथ व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट का उल्लेख किया है "कवियों के नेत्ररूप व्यक्तिविवेक में काव्यसमालोचकों में आदृत महिम ने भी इस दोष का आदर किया है (स्थान

---

१. नामापि जागर्त्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते। नै० ८।७४
२. बूलर का आई० ए० भाग १ पृ० ३०, जे० बी० आर० ए० एस० भाग १० पृ० ३३, भा० ११, पृ० २७९-८७ तक, एफ० एस० ग्राउस का आई० ए० भाग २ पृ० २१३, के० टी० तैलंग का आई० ए० भाग २ पृ० ७१, रामदास सेन का आई० ए० भाग ३, पृ० ३१, पी० एस० पूर्णिया का आई० ए० भाग ३, पृ० २९, रामप्रसाद चन्द का भाग ४२, पृ० ८३–१८६ आदि लेख।

दिया है)।[१] महिमभट्ट का समय अभिनवगुप्त[२] के पश्चात् पड़ता है। क्योंकि महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त से उद्धरण दिया है,[३] अतः महिमभट्ट का समय १०२० ई० के वाद माना जा सकता है। और व्यक्तिविवेक की टीका व्यक्तिविवेक-विचार के कर्ता प्रसिद्ध आलङ्कारिक रुय्यक का समय ११०० से ११५० के आस-पास माना जाता है।[४] अतः महिमभट्ट के जीवनकाल की अवधि अधिक से अधिक ११०० तक पहुंच सकती है। और इस प्रकार श्रीहर्ष का भी समय १०७५ ई० के आस-पास के पूर्व किसी प्रकार नहीं जा सकता।

दूसरी ओर श्रीहर्ष का अथवा नैषध का उल्लेख करने वालों में सर्वप्रथम हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि हैं। हेमचन्द्र का समय १०८८ ई० से ११७२ ई० के वीच पड़ता है।[५] हेमचन्द्र के अनेकार्थसङ्ग्रह[६] की टीका करते समय महेन्द्रसूरि नैषध से अनेक पद उदाहरण रूप में देते हैं।[७]

यहाँ एक वात और ध्यान देने की है कि महेन्द्र ने जिन ग्रन्थों से उद्धरण दिया है अथवा जिनका नामोल्लेख किया है, उनमें से प्राय: एक भी द्वादश शताव्दी[८] के

---

१. दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु-प्राप्तमहिमा महिमादृत।——खण्डन-खण्ड-खाद्य पृ० १३२७, चौ० सं० सिरीज, १९१४ ई०।

२. जिनका साहित्यिक जीवन ई० ९८० से ई० १०२० तक माना गया है। (म० म० डा० पी० वी० काणे की हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ २३२ ——नवीन संस्करण १९५१ ई०)

३. अत्र केचिद् विद्वन्मानिनः......मन्यमानाः
'व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाहुः...यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्य सहकारिता न त्रुट्यति।... यदाहुस्तद्भ्रान्तिमूलम्' इत्यादि। ध्वन्यालोकलोचन पृ० ३३ (काव्य माला, १८९१ में द्रष्टव्य अंश,) व्यक्तिविवेक, (त्रिवेन्द्रम् प्रकाशन) पृ० १९ पर उद्धृत।

४. हिस्ट्री सं० पो० पृ० २७३ काणे

५. हि० सं० पो० पृ० २७८ काणे।

६. जकराया प्रकाशन १८९३ ई०।

७. पृ० ८ पर २।१८, १३ पर २।५६, ४३ पर २।२७४, १८४ पर ४।३३९ इत्यादि। श्रीदिनेशचन्द्रभट्टाचार्य द्वारा सिद्धभारती द्वितीयभाग पृ० १४० पर उद्धृत विश्वेश्वरानन्द इंडोलाजिकल सिरीज, होशियारपुर।

८. सिद्ध-भारती द्वि० भा०, पृ० १४०

मध्य के बाद का नहीं है। अतः श्रीहर्ष ने भी द्वादश शताब्दी के द्वितीय चरण के आस-पास ही नैषध की रचना की होगी।

प्रकारान्तर से भी सिद्ध है कि उस समय कान्यकुब्ज का अधिपति गाहडवाल-वंशीय गोविन्दचन्द्र (कम से कम ११०४ से ११५४ ई० तक) था। नैषधीय-चरित के टीकाकार गदाधर[1] श्रीहर्ष को वाराणसी के महाराज गोविन्दचन्द्र के आश्रित बताते हैं। मङ्ख के अनुसार कान्यकुब्ज के महाराज गोविन्दचन्द्र के दूत सुहल पण्डित कश्मीर-नरेश जयसिंह द्वारा वन्दित[2] हुए थे। मङ्ख और गदाधर दोनों के द्वारा वर्णित गोविन्दचन्द्र का वाराणसी (काशी) तथा कान्यकुब्ज दोनों प्रदेशों का महाराज होना उनके अनेक ताम्रपत्रों से प्रमाणित होता है। ये ई० ११५५ तक अवश्य थे। ११६९ ई० जयन्तचन्द्र के यौवराज्य का काल है। मध्य-वर्ती काल में महाराज विजयचन्द्र का शासन होना चाहिए। श्रीहर्ष का उनके भी आश्रित होना 'विजयप्रशस्ति' के नामकरण से अनुमित है एवं बारहवीं शताब्दी का मध्य और उत्तरार्ध श्रीहर्ष के ग्रन्थों का रचनाकाल हो सकता है। इस विषय में राजशेखर का विवरण कि श्रीहर्ष ने नैषध की रचना जयन्तचन्द्र के शासनकाल (ई० ११६९ के पश्चात् ११९४ तक) में की थी अक्षरशः सत्य नहीं माना जा सकता है। राजशेखर ने तो गाहडवाल-वंशावली से विजयचन्द्र की सत्ता ही मिटा दी है। उन्होंने जयन्तचन्द्र को गोविन्दचन्द्र का पुत्र कहा है।[3] राजशेखर ने जयचन्द्र के प्रधान मन्त्री की (११७४ ई० में) सोमनाथ की यात्रा का वर्णन किया है। और इस यात्रा के पूर्व ही श्रीहर्ष के कश्मीर जाने का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष नैषधकाव्य की पूर्ण रचना लेकर ही कश्मीर गए थे। अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि नैषध की रचना ११७४ ई० के पूर्व हो चुकी थी। अस्तु।

श्रीहर्ष के प्रदेश के विषय में भी विद्वानों में उतना ही मतभेद रहा है। किसी ने उन्हें कश्मीर का बताया तो किसी ने बङ्गाल का और किसी ने कान्यकुब्ज का। उन्हें बङ्गाली बतानेवालों में सबसे प्रधान व्यक्ति स्व० प्रोफेसर श्रीनीलकमलभट्टाचार्य

---

१. प्रो० श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर के द्वितीय भ्रमण का विवरण ई० १९०४, १९०५ पृ० ४३, ८७

२. अन्यः स सुहलस्तेन ततोवन्द्यत पण्डितः।
दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः। (श्रीकण्ठचरित २५।१०२)

३. गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च मास्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीरस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥
—प्रबन्धकोश पृ० ५५.

हैं।[1] उन्होंने नैषध से कुछ अन्तःसाक्ष्य लेकर बड़े विस्तार के साथ श्रीहर्ष को वङ्गाली सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु आचार्य श्रीरघुवरमिट्ठूलाल शास्त्री 'विद्याभूषण' ने[2] दृढ़तर प्रमाणों के आधार पर भट्टाचार्य महोदय के तर्कों को निराधार तथा श्रीहर्ष को कान्यकुब्ज सिद्ध किया है। डा० सु० कु० दे महोदय ने[3] भी पूर्ण प्रमाण के साथ श्रीहर्ष के वङ्गाली होने का खण्डन किया है।

श्रीहर्ष की माता के नाम के आधार पर भी श्रीहर्ष का स्थान निश्चित करने में बड़ी कल्पनायें हुईं। मामल्ल नाम दक्षिणभारत का-सा लगता है। किन्तु यदि यह मान भी लें कि उनका मातृकुल दक्षिणभारत का था तो भी उन्हें दाक्षिणात्य नहीं कह सकते। बहुत सम्भव है कि श्रीहर्ष के पिता तीर्थयात्रा आदि किसी प्रसङ्ग में दक्षिण भारत गए हों और वहीं कहीं विवाह कर लिया हो, या काशी में ही, विद्याकेन्द्र होने के कारण, दक्षिण के भी विद्वान् रहते रहे हों जैसा कि आज भी है, और वहीं श्रीहीर पण्डित ने परिणय कर लिया हो। और यदि मामल्ल देवी कश्मीर की रहीं (जैसा कि नीलकमलभट्टाचार्य ने माना है) तो भी कन्नौज या काशी के पण्डित से ही उनका सम्बन्ध अधिक सम्भव है।

नैषध में आगे कुछ विशेष शब्दों तथा अन्य प्रसङ्गों के आधार पर श्रीभट्टाचार्य द्वारा श्रीहर्ष को वङ्गाली सिद्ध करने का बड़ा प्रयत्न किया गया है। उनमें उलूलु शब्द प्रधान है। जिस समय स्वयंवर में दमयन्ती ने नल के गले में माला डाली, उस समय पुरसुन्दरियों ने प्रमोदवश अस्फुट स्वर में उलूलुध्वनि की।[4] नारायण ने इसकी टीका करते हुए लिखा है : "विवाहाद्युत्सवे स्त्रीणां धवलादिमङ्गल गीतिविशेषो गौडदेशे उलूलुः इत्युच्यते[4] सो प्यव्यक्तवर्णं उच्चार्यते। स्वदेश-रीतिः कविना उक्ता।" और मल्लिनाथ ने इसकी टीका में "उदीच्यानामयमाचारः" लिखा है। श्रीनीलकमलभट्टाचार्य का मत है कि उलूलु शब्द यद्यपि आसाम और उड़ीसा में भी प्रचलित है, किन्तु इसका प्रयोग विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जिसका नैषध में उल्लेख हुआ है, केवल वङ्गाल में ही होता है।

---

१. सरस्वतीभवन स्टडीज पत्रिका भाग ३, पृ० १५९ से १९४ तक।

२. ओरियण्टल कान्फ्रेन्स प्रयाग १९२६ में पठित अपने लेख में।

३. न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २, पृ० ८१ टिप्पणी।

४. कापि प्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णेव या मङ्गलगीतिरासाम्।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार॥ नै० १४।५१

किन्तु अन्य प्रान्तवासी कवियों ने भी उलूलु शब्द का प्रयोग ठीक उसी प्रसङ्ग में किया है जिसमें श्रीहर्ष ने नैषध में किया है। मुरारि ने अनर्घराघव में सीता-विवाह-प्रसङ्ग में उलूलु शब्द का उल्लेख किया है।[१] मुरारि को निश्चित रूप से काश्मीरी माना गया है। रुचिपति ने उस नाटक की टीका में लिखा है "दक्षिण देश में विवाहादि अवसर पर स्त्रियाँ उलूलु-ध्वनि करती हैं।[२]" १३ वीं शताब्दी में गुजरात के राणा वीर-धवल के मन्त्री वस्तुपाल द्वारा रचित नरनारायणानन्द में भी 'उलूलु' शब्द आया है। उन्होंने सुभद्रा और अर्जुन के विवाह के सम्बन्ध में उलूलु शब्द का प्रयोग किया है।[३] वस्तुपाल के समसामयिक अमरचन्द ने भी पद्मानन्द महाकाव्य में जैन तीर्थङ्कर ऋषभ के विवाह-वर्णन के प्रसङ्ग में उलूलु शब्द का प्रयोग किया है।[४] परकालीन साहित्यशास्त्रकारों ने तो उलूलु शब्द को विवाह-प्रसङ्ग में एक वर्ण्य विषय ही वताया है। वस्तुपाल के आश्रित कवि अरिसिंह ने अपनी काव्य-कल्पलता तथा उसकी वृत्ति लिखने वाले अमरचन्द्र ने विवाह-वर्णन करते समय अन्य वस्तुओं के साथ उलूलु का भी वर्णन करने को लिखा है।[५] इसी प्रकार देवेश्वर की कविकल्पलता में भी 'उलूलु' का परिगणन है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी उलूलु शब्द आया है।[६] अतः उलूलु कोई ऐसा शब्द नहीं जिसे केवल वङ्गाली कवि ही जानता हो। यदि भट्टाचार्य के अनुसार नारायण की टीका के आधार पर हम श्रीहर्ष को वङ्गाली मान लें तो फिर रुचिपति के आधार पर दाक्षिणात्य मानना पड़ेगा और वस्तुपाल के उल्लेख के आधार पर गुजराती भी। वास्तव में श्रीहर्ष के समय तक आचार्यों ने उलूलु शब्द का विवाहवर्णन प्रसङ्ग में परिगणन कर लिया था, और सम्भव है श्रीहर्ष ने भी यहाँ परम्परा ही निभाई हो।

श्रीहर्ष को वङ्गाली वनाने का दूसरा आधार शङ्खवलय शब्द है। विवाह के

---

१. वैदेहीकरवन्धमङ्गलयजुःसूक्तं द्विजानां मुखे।
नारीणां च कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः॥ (नि० सा० प्रे०) अन० राघवः ३।५५

२. दक्षिणदेशे विवाहाद्यवसरे स्त्रीभिरुलूलुध्वनिः क्रियते इत्याचारः।

३. मुदितमृगाक्षीमण्डलोलूलुनादः १५।१७

४. इन्द्राण्युलूलुविलसत्प्रतिशब्दपूरैर्निःशेषदिङ्मुखभवद्धवलानुवादः। सर्ग ९।६८

५. विवाहे स्नानशुभ्राङ्गभूषोलूलुत्रयीरवाः।
वेदीसीमन्ततारेक्षालाजा मङ्गल-वर्तनम्। (का० क० ल० १।५।८६)

६. अथयत्तदजायत सोऽसावादित्यः तं जायमानं घोषा उलूलवोनूदतिष्ठन् तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोनूत्तिष्ठन्ति॥ छा० उप० ३।१९।३

अवसर पर भूषालङ्कृत दमयन्ती का वर्णन करते हुए नैषध में लिखा है—'दमयन्ती की वाहुएँ मङ्गल शङ्खवलय से सुशोभित थीं। मानों उन वाहुओं से कोमलता सीखने के लिए वालमृणालदण्ड उनकी सेवा कर रहे हैं।'[१] नारायण ने इसकी टीका करते हुए लिखा है—"गौड़देशे विवाहकाले शङ्खवलय-धारणमाचारः" और श्रीभट्टाचार्य महोदय ने उस गौड़ से वङ्गाल का अर्थ लगाया और यह प्रथा केवल वङ्गाल की वता दी। किन्तु शङ्खवलय का उल्लेख महाभारत तथा कादम्बरी में भी हुआ है। महाभारत में अज्ञातवास के लिए प्रस्तुत पाण्डवों ने अपनी अलग-अलग वेशभूषा वताई है। अर्जुन ने अपना वृहन्नला का रूप वताते हुए शङ्ख-वलय पहिनने के लिए कहा है।[२] भट्टाचार्य महोदय ने पहले तो विराटराज्य '(मत्स्य-देश) को ही वङ्गाल में स्थिर करना चाहा और उसमें अपने तर्क के लिए तथा पाण्डवों के अज्ञातवास के लिए कई सुविधाएँ वताईं। किन्तु इतिहास और भूगोल दोनों की आँखों में वे धूल न झोंक सके। जव मत्स्यदेश की स्थिति वङ्गाल से दूर सिद्ध हुई तो उन्होंने अर्जुन को वङ्गाली-वेश में ही विराट के यहाँ गुप्त रखना चाहा। उन्होंने वताया कि अर्जुन ने तीर्थयात्रा-प्रसङ्ग में वङ्ग देश की भी यात्रा की थी।[३] उसी समय वहाँ के आचार-व्यवहार से भी परिचित हो गए होंगे। अतः जव अज्ञातवास का प्रसङ्ग आया तो उन्हें उसी वङ्गाली वेश में ही गुप्त रहना अच्छा समझ पड़ा। शङ्खवलय तो उन्हें विराट नगर में मिल ही सकते थे क्योंकि व्यापार प्रसङ्ग से ये वस्तुएँ विकने तो आती ही रही होंगी। भट्टाचार्य महोदय का यह तर्क उन्हीं के प्रतिकूल पड़ता है। क्या जो तर्क उन्होंने अर्जुन के लिए दिए वे ही श्रीहर्ष के लिए नहीं दिए जा सकते? सम्भव है श्रीहर्ष ने भी वङ्ग देश की तीर्थ-यात्रा की हो और वहाँ की वेश-भूषा देखी हो, अथवा काशी में ही, धर्म तथा विद्या के केन्द्र होने के कारण, वङ्गाल की स्त्रियों को शङ्खवलय धारण किए हुए देखा हो, या फिर काशी-कन्नौज के सम्पन्न वाजारों में शङ्खवलयों को विकते देखा हो।

---

१. उपास्यमानाविव शिक्षितुं ततो मृदुत्वमप्रौढमृणालमालया।
विरेजतुर्माङ्गलिकेन सङ्गतौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बनुः। नै० १५।४५

२. वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ।
कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे।
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः।
वेणीकृत-शिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला। म० भा०, विराटपर्व २–२६,२७

३. अङ्ग-वङ्ग-कलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित्।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च॥ म० भा०, आ० प० २१५।९

अच्छा होता कि भट्टाचार्य महोदय महाभारत के रचयिता को ही वङ्गाली सिद्ध करने का प्रयत्न करते, इस प्रकार वे सभी झञ्झटों से मुक्त हो गए होते। अस्तु।

कादम्वरी में भी जावालि-आश्रमवर्णन के प्रसङ्ग में शङ्खवलय का उल्लेख हुआ है। वाणभट्ट विहारवासी थे, किन्तु थानेश्वर और कन्नौज में ही अधिक रहे। श्रीभट्टाचार्य महोदय ने पूर्ण प्रयत्न किया है कि कादम्बरी के इस वर्णन को सदोष सिद्ध कर दें। किन्तु यह एक वाल की खाल ही निकालनी है। वाण तथा श्रीहर्ष ऐसे प्रतिभाशाली कवियों के लिए विभिन्न प्रान्तों के आचार-व्यवहार का ज्ञान कोई विशेष बात नहीं थी।

श्रीहर्ष की चिन्तामणि मन्त्र के प्रति भक्ति पर भट्टाचार्य ने उन्हें वङ्गाली बताया है, क्योंकि उन्होंने मन्त्र-तन्त्रवाद का उद्‌गम वङ्गाल ही से माना है। मन्त्र-तन्त्र का प्रारम्भ चाहे वङ्गाल से ही हुआ हो किन्तु उसका प्रयोग तो समस्त भारत में होने लगा था। कश्मीर तथा दक्षिणभारत में भी मन्त्रों का वैसा ही प्रचार था जैसा वङ्गाल में। अतः यह तर्क नितान्त निराधार है।

नल के विवाह में वरातियों के भोजन के समय मत्स्य-मांस तथा अन्न-मीन का वहुशः प्रयोग देखकर श्रीहर्ष को वङ्गाली बताना तो भ्रममात्र ही कहा जा सकता है। कान्यकुब्ज प्रदेश की वरात में वही दृश्य आज भी देखा जा सकता है। फिर क्षत्रिय राजा की बरात में तो मत्स्य-मांस का बोलवाला होता ही है।

कुछ शब्दालङ्कारों में श, ष, स; ण, न; व, ब; य, ज, तथा ष, क्ष, ख की समानता देखकर श्रीहर्ष को वङ्गाली वताना उचित नहीं। यद्यपि बङ्गाली उच्चारण में साधारणतया इन अक्षरों में कोई अन्तर नहीं माना जाता, किन्तु अलङ्कार-शास्त्रियों ने भी तो इसकी छूट दे रखी है। वहाँ भी अनुप्रास, यमक आदि के प्रयोग में इन वर्णों को एक ही माना जाता है। कवियों ने इस छूट का प्रचुर प्रयोग भी किया है।[1] अतः इसे किसी कवि की मातृभाषा का प्रमाण मानना उचित नहीं।

---

१. यमकादौ भवेदैक्यं डलो र्वबो रलोस्तथा। (सा० द०, द० प०) यमक प्रकरण

(अ) यथा कालिदास . . . भुजलतां जडतामबलाजनः।

शष (सष) योर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः

सबिन्दुकाबिन्दुकयोःस्यादभेदप्रकल्पनम्। —इतिशेषः

(ब) रलयोर्डलयोश्चैव बवयोःशसयोर्नभित्

नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ।

—अलङ्कार-शेखर केशवमिश्रः पञ्चदशमरीतिः।

विद्यापति ने पुरुषपरीक्षा की मेधाविकथा में श्रीहर्ष को गौड-विषयवासी बताया है, और आगे लिखा है कि "श्रीहर्ष अपने नलचरित-काव्य की रचना करके पण्डित-मण्डली से उसका अनुमोदन कराने वाराणसी गए। वहाँ वे उसे कोक नाम के पण्डित को प्रतिदिन सुनाया करते थे। किन्तु कोक पण्डित उसका कोई उत्तर न देते। इस पर श्रीहर्ष ने कहा—"आर्य, मैंने इस महाकाव्य में बड़ा श्रम किया है, उसकी परीक्षा के लिए अपने देशवासी होने के नाते आपको लक्ष्य करके स्नेहवश बहुत दूर से आया हूँ।"[1] श्री भट्टाचार्य महोदय ने तथा अन्य विद्वानों ने भी इस कथन के आधार पर श्रीहर्ष को वङ्गाली बना डाला है। किन्तु इसमें दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि श्रीहर्ष कोक के पास स्वदेशीय वात्सल्य से गए थे। कोक, यदि वे रतिरहस्य के प्रसिद्ध आचार्य कोक्कक थे, तो निश्चित ही काश्मीरी ठहरते हैं, और इस नाते तो श्रीहर्ष का काश्मीरी होना निश्चित हो जाता है। सम्भव है श्रीहर्ष का काश्मीरियों से कोई सम्बन्ध रहा हो। (किंवदन्ती तो उन्हें मम्मट का भागिनेय बताती ही है।) पर वे वङ्गाली तो निश्चय ही नहीं ठहरते। वास्तव में गौड शब्द का प्रयोग वङ्गाल, गोंडवाना, गोंडा तथा कभी-कभी समस्त उत्तरीय भारत के लिए हुआ है। जातिभास्कर[2] में गौड़ देश के विषय में लिखा है "वङ्ग देश से लेकर अमरनाथ पर्यन्त गौड देश की स्थिति है ऐसा एक श्लोक आदिगौड़दीपिका में लिखा है....यथाहि......

गौडदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगः शिवे।
गौडदेशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः।"

मध्यदेश के अवान्तर आरण्यदेश जिसको हरियाना और जङ्गल देश कहते हैं तथा दिल्ली के प्रान्त, सुनपत, पानीपत, करनाल, कुरुक्षेत्र, फल्गु, कैथल, यमुना के प्रान्त हस्तिनापुर, मारवाड़, झंझनु, फतेहपुर, शेखावटी, पुष्कर आदि प्रान्त मत्स्य, विराट्, भिवानी आदि स्थानों में गौड़ ब्राह्मणों का निवास है। अयोध्या में उत्तर

---

१. "बभूव गौडविषये श्रीहर्षोनाम कविपण्डितः। स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा...तत्काव्यं दर्शयितुं पण्डित-मण्डलीमुद्दिश्य वाराणसीं जगाम। तत्र च कोकनामानंपण्डितं श्रावयामास।...श्रीहर्षस्तु तमनुगच्छन् पठति प्रत्यहम्। तदुत्तरं किमपि नाप्नोति। एकदा श्रीहर्षेणोक्तम्। आर्य महाकाव्ये कृत-श्रमोहम्। तत्परीक्षार्थं त्वामुद्दिश्य बुद्ध्या स्वदेशीयवात्सल्येन च महतो दूरादागतोस्मि।" इत्यादि।—(सर० भव० स्ट० भाग ३ में, पृ० १९०–९१ की टिप्पणी में उद्धृत)

२. खेमराज श्रीकृष्णदास संस्करण पृ० ७३।

सरयूनदी और सरयू के उत्तर सरवार तथा गौड़ देश है। यह ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड के रचयिता का मत है। मत्स्यपुराण में श्रावस्तीपुरी का वर्णन गौड देश में किया गया है।[1] यथाहि...

"यह श्रावस्तीपुरी (सेहेत-मेहेत नाम से) गौड़ देश में इस समय सरयूनदी के उत्तर गोंडा नगर के समीप वर्तमान है। जिस देश की सीमा पूर्व में गङ्गा और गण्डकी का सङ्गम है, पश्चिम और दक्षिण दिशाओं में सरयू है, उत्तर में हिमालय है इसके मध्य की भूमि का नाम गौड़ देश है...गण्डकी नदी के पश्चिम की भूमि गौड़ देश कहाती है। इस स्थान में जो ब्राह्मण सृष्टि के आरम्भ से निवास करते हैं वे आदि गौड़ कहाते हैं।"[2] इस प्रकार गौड़ देश वास्तव में केवल वङ्गाल का द्योतक न होकर उस सारे प्रदेश का वाचक होता है जहाँ गौड़ ब्राह्मणों का निवास रहा है। फिर भी यदि गौड़ वङ्गाल तक माना जाय तो भी यहाँ गौड़ेश्वर कान्य-कुब्जेश्वर ही होगा। क्योंकि गोविन्दचन्द्र के मनेर, लार तथा सेहेत-मेहेत के ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है कि गाहडवालों का राज्य उत्तरी भारत में मगध तथा मगध के पूर्व तक फैला हुआ था।[3] हितोपदेश में भी कौशाम्वी नगरी को गौड़ देश में वताया है।[4] वास्तव में दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत के लोग गौड़ देश या गौड़-विषयक से वह समस्त भूभाग समझते थे जहाँ गौड़ों का निवास हो। अथवा मूलतः गुड़ के कारण भी गौड़ देश का नामकरण ईख-गन्ने की खेती वाले सर्वाधिक गुड़ोत्पादक इस वर्तमान उत्तर प्रदेश से विशेषतः सम्बद्ध हो सकता है। शाक, प्लक्ष, शाल्मली, जम्बू इत्यादि द्वीपनाम भी ऐसे ही पड़े थे, यह इतिहास-पुराणों से सिद्ध है। इस प्रकार राजशेखर-सूरिका हरिहरप्रवन्ध में 'गौडदेश्यः हरिहरः' का तथा विद्यापति की पुरुष-परीक्षा की मेधाविकथा के गौड़देश का भी यही अभिप्राय सम्भव हो सकता है। यहाँ गौड़ अर्थ वङ्गाल नहीं अपितु वह प्रदेश है जहाँ गौड़ ब्राह्मणों का निवास है। अस्तु।

---

१. श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकस्तत्सुतोऽभवत्।
निर्मिता येन श्रावस्ती गौडदेशे द्विजोत्तमाः। म० पु० १२–३०
उत्तराकौशले राज्यं लवस्य च महात्मनः।
श्रावस्ती लोकविख्याता श्राविता च लवस्य च॥ वायु० पु० भाग २ अध्याय २६—श्लोक १९८

२. जातिभास्कर—खेमराज श्रीकृष्णदास संस्करण, पृ० ७३

३. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग १९, पृ० २३३

४. अस्ति गौडीये कौशाम्बी नगरी। हि० १।५

श्रीनलिनीनाथ दास गुप्त[1] ने श्रीहर्ष रचित विजय-प्रशस्ति को बङ्गाल के सेनवंशीय विजयसेन की प्रशस्ति मानी है। उन्होंने नैषध की हर्षहृदय नामक टीका के कर्ता गोपीनाथ आचार्य का मत उल्लिखित किया है।

आचार्य महोदय ने अपनी टीका में विजय-प्रशस्ति शब्द पर लिखा है—'विजयसेननाम्नो गौडेश्वरस्य प्रशस्तिः।' दासगुप्त महोदय का कहना है कि गौड़ (जिसे उन्होंने बङ्गाल माना है) देश के अधिपति विजयसेन का शासनकाल ११५८ ई० में समाप्त हो जाता है और कन्नौज तथा बनारस के नरेश जयचन्द्र का शासन इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है—अतः यह निःसन्देह निर्णीत हो जाता है कि श्रीहर्ष विजयसेन की मृत्यु के बाद गौड़ देश से जयचन्द्र के आश्रय में कान्यकुब्ज चले आए। यह मत विद्यापति की मेधाविकथा तथा राजशेखरसूरि के कोश दोनों से सङ्गत पड़ता है। केवल कवि के पिता का नाम श्रीहीर तथा उसका जयचन्द्र का समकालीन होना इन दो बातों में अवश्य अन्तर पड़ता है। दासगुप्त महोदय ने आगे अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नैषध में कई शब्द ऐसे आए हैं जो श्लेषबल से नल तथा गौडेन्द्र विजयसेन दोनों के लिए चरितार्थ होते हैं। सेनवंश ने अपने को चन्द्रवंशीय बताया है तथा विजयसेन के भी पूर्व पुरुष वीरसेन थे। (पौराणीभिः कथाभिः प्रथितगुणगणो वीरसेनस्यवंशे) इस प्रकार नैषध का यह श्लोक—

> अब्रवीदथ यमस्तमहृष्टं वीरसेनकुलदीप तमस्त्वाम्।
> यत् किमप्यभिबुभूषति तत् किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते।[2]

विजयसेन तथा नल दोनों के लिए समानार्थक है, फिर दमयन्तीस्वयंवर में सरस्वती द्वारा गौड़नरेश का वर्णन विशेष महत्त्व का है। इस प्रसङ्ग का एक श्लोक इस प्रकार है—

> आलिङ्गितः कमलवत् करकस्त्वयायं श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः।
> कन्दर्पमूर्द्धरुहमण्डन - चम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु ॥[3]

यहाँ दमयन्ती की तुलना सुमेरु पर्वत की चोटी से की गयी है तथा गौड़-देश के राजा को नूतन-श्याम-पयोद के समान कहा गया है। श्रीदासगुप्त महोदय ने यह श्लोक भी विजयसेन के लिए श्लिष्ट माना है—"क्योंकि कर्नाटक देश का

---

१. इण्डियन कल्चर, भाग २, १९३५,३६
२. नै० ५।१२४
३. नै० ११।९८

मूलवासी होने के कारण विजयसेन का श्याम होना स्वाभाविक ही था।" इन सब तर्कों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि श्रीहर्ष गौड़-देश-(वंगाल) वासी थे। उन्होंने आगे यह भी कल्पना की है कि संभवतः "नल तथा विजयसेन में, जो श्रीहर्ष के जन्म प्रदेश के नरेश थे, इतना अधिक साम्य होने के कारण ही महाकवि ने नल के शेष दुःखपूर्ण जीवन की कथा पर काव्य-रचना ही नहीं की।"

श्री दासगुप्त महोदय के सारे पूर्वोक्त तर्क केवल कल्पना पर ही आधारित हैं। वास्तव में श्रीहर्ष स्वतन्त्र वृत्ति के परम मानी महाकवि थे। नैषधीय चरित का वर्णन करते समय उन्हें उस वहाने किसी तात्कालिक नरेश की चाटुकारिता नहीं करनी थी। और यदि यह मानें कि जिसका वर्णन अधिक प्रशंसापूर्ण हो श्रीहर्ष उसी के आश्रित थे तव तो गौड़ेन्द्र का सवसे कम तथा उपेक्षापूर्ण वर्णन है, वल्कि कीकट-नरेश का वर्णन सर्वश्रेष्ठ हुआ है। अतः श्रीहर्ष को कीकटवासी ही समझें। और इस सिद्धान्त के वल पर वेचारा कवि सदा वेठिकाने का ही रहेगा। वास्तव में यदि कोई श्लोक नल के साथ किसी तात्कालिक अन्य नरेश के लिए भी चरितार्थ होता है तो इसे तो हम संयोग ही की वात कहेंगे, कवि को यह अभीष्ट नहीं कहा जा सकता। फिर नैषध के "श्यामःसुमेरुशिखयेव नवः पयोदः" वर्णन को विजयसेन की श्यामता को दृष्टि में रखकर किया गया मानना भी उचित नहीं, क्योंकि संस्कृत-कविसम्प्रदाय में पौरस्त्य (पूर्व के) लोगों का श्यामवर्ण मान ही लिया गया है।[1] और यह कहना कि अपने देश के राजा के जीवन से नल के जीवन में अधिक समता होने के कारण श्रीहर्ष ने नल-चरित्र का दुःखद अंश चित्रित ही नहीं किया नितान्त भ्रान्त धारणा है। नैषध में नल के जितने चरित्र का वर्णन किया गया है उतना ही श्रीहर्ष को अभीष्ट था, क्योंकि उन्हें एक ऐसा महाकाव्य वनाना था जो 'शृङ्गारा-मृत-शीतगु' हो। शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य कोई रस वे लाना ही नहीं चाहते थे। अतः नल के जीवन के इतने ही अंश को लिया है। और फिर, यदि श्रीहर्ष विजयसेन के यहाँ रहते या रहे होते, तो कहीं स्वयं उनके द्वारा या विजयसेन के लेखों में या अन्य वाद वाले किसी लेखक द्वारा उसका उल्लेख तो अवश्य होता। कान्यकुब्जे-श्वर द्वारा किये गये सम्मान का तो श्रीहर्ष सगर्व उल्लेख करते हैं।[2] गौडेश्वर के आदर को कैसे भूल जाते? अतः हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि श्रीहर्ष कान्य-

---

१. तत्र पौरस्त्यानां श्यामो वर्णः—काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २९०, चौ० सं० सि० १९३४ ई०।

२. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।

कुब्ज प्रान्त के थे। उनका विशेष निवास काशी या कन्नौज में होता था। यही प्रबन्ध-कोश तथा चाण्डूपण्डित द्वारा भी समर्थित होता है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो नैषध में ही स्वयं श्रीहर्ष अपने प्रिय (जन्म-) प्रदेश का उल्लेख करते हुए मिलते हैं। चाहे हम इसे मनुष्य की दुर्बलता कहें चाहे सहज धर्म किन्तु होता यही है कि न चाहते हुए भी मनुष्य अपने हृदय को प्रिय लगने वाली वस्तु की ओर वरवस सङ्केत कर ही देता है। कालिदास ने मेघ को बेरास्ते भी चलकर उज्जयिनी अवश्य पहुँचने की सलाह दी।[1]

श्रीहर्ष ने कीर (तोते) के मुख से नव दम्पति नल-दमयन्ती का वर्णन करवाते हुए अपने प्रिय-प्रदेश के प्रति अपने प्रेमोद्गार को व्यक्त करवा दिया है। कीर कहता है—"जिस प्रकार गङ्गा-यमुना दो नदियों का हार पहने, जन-मन को प्रिय लगने वाले 'मध्यदेश' से युक्त तथा 'अन्तर्वेदि' प्रान्त से सुशोभित वसुमती को धारण किए हुए, चन्द्रमा के प्रकाश से उल्लासित (उर्मिल) सागर की शोभा होती है, उसी प्रकार धवल (मुक्ता) हार-समन्वित अतिरम्य कटिप्रदेश वाली प्रिया को गोद में लिए हुए आप उसके मुखचन्द्र से प्रफुल्लित हो रहे हैं।[2]

यहाँ नल-दमयन्ती के लिए जिस उपमान की कल्पना की गयी है वह एक प्रकार से असम्भव अथवा अज्ञात वस्तु है। कहाँ सागर और कहाँ 'मध्यदेश'? इतनी कठिन दूरी की उपेक्षा कर कवि ने मध्यदेश की भूमि को सागर की गोद में बैठाकर एक उपमान खड़ा किया है। जव सागर और नदी के संयोग से भी काम चल सकता था तव मध्यदेश को वीच में लाने की क्या आवश्यकता थी? इसका केवल एक ही समाधान है कि वह प्रान्त कवि का अपना जन्म-प्रान्त था। 'जनमनःप्रिय' विशेषण इस भाव को और भी पुष्ट करता है। इतना ही नहीं, श्रीहर्ष ने उस प्रान्त की राजधानी 'महोदय' (कन्नौज) नगरी का भी नामोल्लेख करते हुए वर्णन किया है। कीर वहीं दमयन्ती की प्रशंसा करते हुए कहता है—"सुन्दरि, तुम भगवान् कामदेव की राज-नगरी हो और तुम्हारे कुचों पर की गयी यह मकर-रचना उस राजा की मकराङ्कित पताका है। महोदय (कन्नौज अथवा महान् अभ्युदय) के

---

१. वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां।
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः॥ मेघदूत, पूर्व-मेघ।

२. एतां धरामिव सरिच्छवि-हारि-हारा-मुल्लासितस्त्वमिदमाननचन्द्रभासा।
बिभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियं जनमनः प्रियमध्यदेशाम्॥
नै० २१।१३३

महोत्सव से युक्त इस नगरी (तुम) में तुम्हारी भौंहों को कौन कामदेव का तोरण न कहेगा ?"[१]

यदि ये वर्णन दमयन्ती के स्वयंवर में आए हुए किसी नरेश के प्रसङ्ग में किए गए होते तो उनसे कोई अन्य सङ्केत न समझा जाता। किन्तु यहाँ एक नितान्त भिन्न प्रसङ्ग में अलङ्कार के सहारे कवि ने इन स्थानों का जिस भावना के साथ उल्लेख किया है उससे उसका यही अभिप्राय निकाला जा सकता है कि इन स्थानों से कवि का कोई हार्दिक सम्वन्ध था।

वाह्य साक्ष से भी श्रीहर्ष का कन्नौज प्रान्त का होना सिद्ध होता है। फरुंखावाद जिले में कन्नौज के पास मीरा-सराय नाम का एक कस्वा है, जहाँ कन्नौज का रेलवे स्टेशन है। यहाँ विशेष वस्ती कान्यकुब्ज मिश्रों की है। ये लोग स्मार्त और शाक्त हैं और अपने को श्रीहर्ष का वंशज वतलाते हैं। इनका कहना है कि "हम लोग पहले त्रिपाठी थे, परन्तु श्रीहर्ष ने एक यज्ञ किया जिससे हम मिश्र कहे जाने लगे।" ये लोग श्रीहर्ष का किसी राजा द्वारा सम्मानित होना भी वतलाते हैं।

इस प्रकार अन्तः तथा वाह्य दोनों साक्ष्यों के आधार पर श्रीहर्ष कन्नौज प्रान्त के ठहरते हैं। साथ ही उन्हें काशी से भी विशेष प्रेम था। चाण्डूपण्डित ने भी उनका काशी में निवास करना वताया है।[२] स्वयंवर-सभा में काशिराज का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने काशी का बड़े अनुराग के साथ वर्णन किया है:— "वाराणसी भूलोक से परे है, वहाँ रहना देवलोक में वास करना है। अतएव उस तीर्थ में मरने वालों को मुक्ति ही मिलती है। अन्यथा मुक्ति के अतिरिक्त स्वर्ग से बड़ा कौन पद है जो अधिक आनन्द देगा ?"[३] इत्यादि। और अन्त में जव स्वयंवर में देवगण प्रसन्न होकर नल-दमयन्ती को वरदान देने लगते हैं उसी प्रसङ्ग में इन्द्र नल को एक वरदान देते हैं—"राजन् तुम्हारे निवास के लिए वाराणसी के

---

१. चेतोभवस्य भवती कुचपत्रराज-धानीयकेतुमकरा ननु राजधानी।
अस्यां महोदयमहस्पृशि मीनकेतोः के तोरणं तरुणि न ब्रुवते भ्रुवौ ते॥
नै० २१।१३५

२. "तथा च श्रीवाराणस्यां मुक्तिक्षेत्रेऽनुभूतपरब्रह्मस्वरूपो गङ्गादर्शनादिना धर्मकर्ममध्यमध्यासीनः" इत्यादि॥ नैषधदीपिका का प्रारम्भ।

३. वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतुमुदेतुकीदृक्॥
नै० ११।११६

समीप असी नदी के पार तुम्हारे नाम की नगरी होगी। मोक्षाभिलाषी होने पर भी काशी में तुम्हारा निवास इसलिए नहीं किया कि वहाँ रहकर तुम्हें दमयन्ती के साथ सम्भोग-सुख करने में सङ्कोच करना पड़ता"[१]— देवों के जितने वरदानों का नैषध में उल्लेख हुआ है वे प्रायः सभी महाभारत में कहे गए हैं। किन्तु वाराणसी के समीप नल के नाम से वसने वाली नगरी या गाँव का वहाँ कोई उल्लेख नहीं हुआ है। नल की कथा जहाँ कहीं भी मिलती है वहाँ, कहीं भी, इस वरदान की चर्चा नहीं हुई है। अतः यह श्रीहर्ष द्वारा कल्पित ही समझ पड़ता है। अव प्रश्न उठता है कि इस कल्पना का आधार अथवा मूल क्या था? कवि ने यह एक नूतन वरदान क्यों दिलवाया? इसका एकमात्र उत्तर यह समझ पड़ता है कि श्रीहर्ष के समय में काशी के समीप असी के उस पार कोई ऐसा गाँव या नगर रहा होगा जिसका नाम नल के नाम के समान पड़ता था, तथा जो वहुत पुराना वसा हुआ वताया जाता था, जिसे देखकर कवि ने यह कल्पना कर डाली। इस कल्पना से यह भी अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि श्रीहर्ष काशी में रहते समय या तो काशी के पास उसी नल नाम वाले गाँव में रहते थे, या उस गाँव से इनका कोई सम्वन्धविशेष था। आज भी काशी के समीप असी के पार नरोत्तमपुर, नरियापुर (नलपुर) तथा नैषढ़ा (नैषधपुर) तीन गाँव हैं। इन्हीं में से किसी एक के प्रति श्रीहर्ष का सङ्केत समझ पड़ता है।

नैषध में श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

कवि का हृदय उसके काव्य में झलकता है। छिपाने का लाख प्रयत्न करने पर भी कवि का अपना सच्चा व्यक्तित्व काव्य में प्रकट हो ही जाता है। और यदि प्रयत्न करके कोई कवि अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई काव्य-रचना करे भी तो वह उसकी अत्यन्त निम्न श्रेणी की कृति होगी, क्योंकि वह उसके हृदय के सच्चे भावों से रहित होगी। उत्तम काव्य तो वही है जिसमें कवि के हृदय का सच्चा स्वर सुनाई पड़ता है। राज-प्रशस्तियाँ इसीलिए अधिक लोकप्रिय न हो सकीं कि उन्हें कविगण धन-कीर्त्यादि की लिप्सा से दूसरों को प्रसन्न करने के लिए (विशेष स्वार्थवश) लिखा करते थे। सच्चे काव्य में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कवि का सच्चा स्वरूप दिखायी देता है। नैषध में वैसे तो एक राजा की कथा है किन्तु काव्य की सूक्ष्म समीक्षा करते समय विचारक को श्रीहर्ष के निजी व्यक्तित्व की

---

१. तवोपवाराणसि नामचिह्नं वासाय पारेसि पुरं पुरास्ति।
निर्वातुमिच्छोरपि तत्र भैमीसम्भोगसङ्कोचभियाधिकाशि॥ नै० १४।७५

कथा भी मिल जाती है। श्रीहर्ष कहीं-कहीं स्पष्ट उत्तम-पुरुष-वाचक क्रिया द्वारा ही अपने विचारों को रखते हैं। दमयन्ती के मुँह खोल कर हंस से अपने नलानुराग को प्रकट करने पर श्रीहर्ष अपना विचार प्रकट करते हैं—"इतना कहने में दमयन्ती ने जो लज्जा का परित्याग किया वह हमारे (कवियों के) चित्त में भले ही अनुचित लगा करे", इत्यादि।[1] एक स्थान पर और उन्होंने अपना विचार स्पष्टतया उत्तम पुरुष-वाचक क्रिया द्वारा प्रकट किया है। स्वयंवर में अवन्तिनाथ की बड़ी प्रशंसा सुनकर भी दमयन्ती ने उनकी ओर देखा तक नहीं। इस पर कवि मानों भूल कर अपनी रुचि सुनाने लगता है—"किसी अन्य में अनुराग होने के कारण किसी दूसरे व्यक्ति को नीरस दृष्टि से देखने की अपेक्षा, मेरी समझ में, उसे बिलकुल न देखना ही उचित होता है।"[2] इस प्रकार कहीं किसी पात्र-विशेष के चरित्र का चित्रण करने में, कहीं किसी विशेष घटना की कल्पना तथा योजना करने में, कहीं अर्थान्तरन्यास द्वारा कवि अपने व्यक्तिगत स्वरूप को प्रकट कर देता है। नैषध में कवि के व्यक्तित्व की झलक कुछ इसी रूप में मिल जाती है।

समस्त विद्याओं तथा कलाओं में पूर्ण निष्णात होने के साथ ही श्रीहर्ष राज-वैभव एवं राजकीय सुख का भी अनुभव कर चुके थे।[3] किन्तु विलास के समस्त उपकरणों के रहते हुए भी वे विलासप्रियता के कदापि वश्य न होकर जितेन्द्रिय ही बने रहे।[4] उनका सिद्धान्त था कि ज्ञान से निर्मल चित्तवाले को विषयों में आसक्ति हो ही नहीं सकती।[5] वे सिद्ध-समाधि योगी थे। नैषध की समाधि-विषयक अथवा ब्रह्म-साक्षात्कारविषयक अनेक उक्तियों की ध्वनि इसका प्रमाण है।[6] साथ ही जीवन में मुनियों की सी शान्त एवं निरपराध वृत्ति उन्हें प्रिय थी, जैसा वे हंस से कहलाते हैं—"जिस मेरी जीवन-वृत्तियाँ मुनि की भाँति जल तथा भूमि पर उत्पन्न होने वाले वृक्षों के फल एवं मूल से चलती हैं।"[7]

---

१. इत्युक्तवत्यायदलोपिलज्जा सा नौचिती चेतसि नश्चकास्तु॥ नै० ३।९७

२. अन्यानुरागविरसेन विलोकनाद्वा जानामि सम्यगविलोकनमेव रम्यम्॥ नै० ११।९३

३. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्॥

४. श्रीहीरः सुषुवे 'जितेन्द्रियचयं' मामल्लदेवी च यम्॥

५. आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२

६. नै० १।४०, ११७, २।१, ३।३, ४, ७।३ इत्यादि तथा ५।३, ६।४६ इत्यादि।

७. फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः॥ नै० १।१३३

नैषध का प्रारम्भ उन्होंने किसी अन्य प्रकार के (देव-नमस्कारादि रूप) मङ्गलाचरण से नहीं किया है। किन्तु जब पुण्य-श्लोक नल का नामोच्चारण ही मङ्गल है तो जिसमें उनका चरितगान होने जा रहा है वह तो समस्त काव्य ही मङ्गल-रूप है, यह धारणा भरपूर उनके ध्यान में रही है। अतएव प्रथम दो श्लोकों में वे वस्तुनिर्देश के रूप में नल की स्तुति करते हैं, (उसी प्रकार जैसे मङ्गलाचरण में किसी देवता की स्तुति की जाती है।) फिर तीसरे में अपनी अभिलाषा या आशंसा प्रकट करते हैं—

"इस युग में जिसकी कथा स्मरण-मात्र से रसक्षालना (पानी से धोने, या रस छानने की छन्नी) की भाँति संसार को पवित्र करती है वही मेरी मलिन वाणी को भी अपनी सेविका ही समझकर क्यों न पवित्र करेगी।"[१]

इससे उनके जीवन की आस्तिक वृत्ति का परिचय मिलता है। श्रीहर्ष दान देने का बड़ा माहात्म्य मानते थे। वे राजा नल की अलौकिक दानशीलता की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं।[२] यहाँ तक कि राजा का दानवीर रूप प्रधान हो जाता है। वे अयाचित (न माँगने के) व्रत को भी सर्वोपरि समझते थे। मानी पुरुषों के प्राण भले ही निकल जायँ पर वे किसी से याचना नहीं करते।[३] तथापि यदि कोई वस्तु बिना याचना के प्राप्त होती है तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि किसी व्यक्ति को अपना सहायक बनाकर मङ्गलकारी देव ही ऐसा उपहार अर्पित करता है।[४] बिना याचना किए स्वयं प्राप्त हुई थोड़ी भी वस्तु की बुद्धिमान् लोगों को अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। और यदि किसी पूज्य द्वारा सप्रेम दी गयी है तो उस थोड़ी भी वस्तु को बहुत समझना चाहिए।[५] वे अतिथि-सत्कार को गृहस्थ का सबसे प्रधान कर्तव्य मानते थे।[६] श्रीहर्ष को कदाचित् वृत्तिवश अथवा किसी अन्य प्रयोजन-वश प्रवासी जीवन का भी अनुभव करना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। प्रियावियुक्त प्रवासी के हृदय के भावों का कुछ ऐसा ही अनुभव-

---

१. पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥ नै० १।३

२. नै० १।१५, १६ : ५।७९–९२

३. त्यजन्त्यसूञ् शर्म च मानिनोवरं त्यजन्ति नत्वेकमयाचितव्रतम्। नै० १।५०

४. करकल्पजनान्तराद् विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः। नै० २।१२

५. अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्नाल्पोऽपि धीरैरवधीरणीयः।
मान्येन मन्ये विधिना वितीर्णः स प्रीतिदायो बहुमन्तुमर्हः॥ नै० १४।८७

६. नै० १।७६, ७७ : ५।७, ९ : १०।२७,२८

प्रधान चित्रण इन्होंने (हंस-प्रसङ्ग में) किया है।[१] नैषध में श्रीहर्ष की जो मूर्ति अत्यधिक स्पष्ट झलकती है वह है प्रारब्धवादी या भाग्य-पारवश्यवादी की। उनका विश्वास था कि विधि-इच्छा के पीछे मानव-चित्त उसी प्रकार दौड़ता है जैसे वात्या (ववण्डर) के पीछे तृण उड़ता है।[२] दैवेच्छा' से विनाशशील वस्तु का प्रतीकार इन्द्र भी तो नहीं कर सकते।[३] जव भाग्य ही काम में वाधक हो जाता है तो फिर कोई प्रयत्न, कोई पौरुष साधक नहीं हो सकते।[४] ईश्वर ने जिसके ललाट में जो लिख दिया वह अनुचित होते हुए भी उचित को हटाकर होता है।[५] भाग्य ही के बल पर नीति भी सफल होती है।[६] श्रीहर्ष करुण जीवन से अति परिचित समझ पड़ते हैं, अन्यथा वे हंस के करुण विलाप का इतना हृदयस्पर्शी चित्रण न कर सकते।[७] जिसका हृदय दुःख का अनुभव किए रहता है वही दुःख की कहानी भी सफलता से कह सकता है। सूखे आँसुओं से जव अपनी ही आँखें नहीं भीगतीं तो दूसरे की आँखें उससे क्या भीगेंगी ?

श्रीहर्ष में उदात्त वृत्तियाँ भी थीं। उपकारी के प्रति उनका हृदय कृतज्ञ रहता था। उनके जीवन का सिद्धान्त था—'अपना उपकार करने वाले का यथासाध्य प्रत्युपकार शीघ्र करना चाहिए। वह प्रत्युपकार वड़ा हो या छोटा विद्वान् लोग इसका विशेष विचार नहीं करते।[८] सत्पुरुष को डींग हांकना उचित नहीं होता। वे कार्य द्वारा अपनी योग्यता वताते हैं, शव्दों द्वारा नहीं।"[९] श्रीहर्ष का योग-शुद्ध हृदय पिशुनता को प्रश्रय देने के लिए सर्वथा विरूप था। उन्हें जनापवाद से भय

---

१. नै० १।८६, १०१

२. अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ नै० १।१२०

३. न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः॥ नै० ९।१२६

४. दैवे निरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त प्रयास-परुषाणि न पौरुषाणि।
नै० ११।५५

५. यस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे तत्स्यादयोग्यमपि योग्यमपास्य तस्य।
नै० १३।५०

६. जगाम भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैः. . .महार्घताम्। नै० १५।५४

७. नै० १।१३५–१४२

८. अचिरादुपकर्त्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः॥ नै० २।४

९. ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्॥ नै० २।४८

अवश्य था।[१] किन्तु वे उसकी विशेष चिन्ता या परवाह भी नहीं करते थे जैसा कि उनके इस वाक्य से सिद्ध है—"लोगों के मुँह पर हाथ ही कौन धर सकता है?"[२]

श्रीहर्ष वौद्धमत के प्रति उदार भाव रखते थे। "जितेन्द्रिय गौतमवुद्ध ने पहले ही तुम्हें (मदन को) पराजित कर तुम्हारे महान् यश:शरीर को नष्ट कर दिया था, फिर शेष वचे हुए पञ्चभूतमय (अथवा मरकर भूत वने हुए) देह को शिव ने भस्म किया।"[३] मदन के प्रति दमयन्ती की पूर्वोक्त भर्त्सना में तथा दूत नल के सम्मुख "जिस चरित्ररूपी धर्मचिन्तामणि को भगवान् वुद्ध ने 'त्रिरत्न' में रक्खा है उसे जिस स्त्री ने शङ्कर की कोपाग्नि में राख वने मदन के लिए त्यागा उसने मानों अपने कुल में वह राख ही उड़ाई।"[४] ये उक्तियाँ श्रीहर्ष के वौद्ध मत से अविरोध और सद्भाव की ही द्योतक हैं।

श्रीहर्ष ऋजुमार्ग के समर्थक होते हुए भी कुटिल व्यक्ति के साथ सरलता उचित नहीं समझते थे।[५] वे कीर्ति को सवसे वड़ी मानते थे। उनके मत से "अपनी धवलिमा से चन्द्र की मुख-कान्ति को भी तिरस्कृत करने वाली दिगन्त तक साथ न छोड़नेवाली प्रिय कीर्ति को एक क्षणभङ्गुर सङ्गमवाली कुरङ्गाक्षी के लिए कौन पीड़ित करेगा?"[६] श्रीहर्ष गुणों के प्रशंसक थे। "गुणों से उत्कृष्ट वस्तु के विषय में यदि मौन रहा जाय तो वाणी का पाना ही व्यर्थ हुआ। और यदि उस वस्तु का थोड़ा ही वर्णन किया जाय तो लोग खल कहेंगे। अत: उत्कृष्ट गुणों वाली वस्तु की खुलकर प्रशंसा करनी चाहिए चाहे लोग चारण की उपाधि भले दे डालें।"[७] उनके मत से आपत्ति के समय धर्म के कठोर वन्धन में शिथिलता की

---

१. जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरीः स्यात्॥ नै० ३।५१
२. जनानने कः करमर्पयिष्यति॥ नै० ९।१२५
३. सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुंयदनाशयत्।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः॥ नै० ४।८०
४. न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया॥ नै० ९।७१
५. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः। नै० ५।१०३
६. प्रेयसी जित-सुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि।
भङ्गि-सङ्गम-कुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम्॥ नै० ५।१३१
७. वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव॥ नै० ८।३२

जा सकती है। "जब विपत्ति के समय शास्त्र-सङ्गत उचित कार्य किसी प्रकार रक्षा न कर सके, तो वर्जित कर्म भी कर लेना चाहिए। जब राज-मार्ग मेघ-जल से फिसलने वाला हो जाता है तब कहीं-कहीं विद्वान् पुरुष भी अमार्ग से जाया करते हैं।"[1] किन्तु उनकी हार्दिक भावना सदा यही रहती थी कि "घोर कष्ट-पूर्ण अवस्था में पड़ जाने पर भी चित्त को धर्म से कभी विचलित न होने देना चाहिए, क्योंकि पुण्यशील धर्मैकरत मनुष्य के सदा धर्मार्थकाम तीनों अधीन रहते हैं।"[2]

देव-भक्ति में श्रीहर्ष की पूर्ण आस्था थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि "देवता ही हम मानवों के कल्पवृक्ष हैं। हमारी परिक्रमाएँ उन देव-कल्पवृक्षों के आल-वाल (थाले) हैं। चन्दन-लेप तथा धूप आदि परिचर्या ही उनके लिए जल-सेचन है। प्रसन्न होकर वे देवगण, जो हमारे लिए कल्पवृक्षों के वन है, हमें हमारे अभीष्ट मनोरथरूपी मधुर फल देते हैं।"[3]

---

१. निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुनाराजपथे हि पिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ।। नै० ९।४६

२. कृच्छ्रं गतस्यापि दशाविपाकं धर्मान्न चेतः स्खलतुत्वदीयम् ।
अमुञ्चतः पुण्यमनन्यभक्तेः स्वहस्त-वास्तव्य इव त्रिवर्गः ।। नै० १४।८१

३. प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपाचरणाम्बुसेकैः ।
इष्टंच मिष्टंच फलं सुवाना देवाहि कल्पद्रुमकाननं नः ।। नै० १४।२

द्वितीय अध्याय

क

कथानक

पूर्वानुराग

नैषध का प्रारम्भ वस्तुनिर्देश के साथ होता है।[1] पुण्यश्लोक महाराज नल की कथा सुधातिशायिनी है। उनका यश तथा प्रताप जगद्व्यापी था। अतः उसी के द्वारा श्रीहर्ष अपनी वाणी को पवित्र वनाने की आशा करते हैं। नल ने अट्ठारहों विद्याओं का अध्ययन, वोध, आचरण तथा प्रचार किया। उन्होंने स्वेच्छाचारिता को भी शास्त्र-दृष्टि से दूर किया। उस कृतयुग में नल ने धर्म के तप, शौच, दया और सत्य—चारों चरणों को स्थिर किया था तथा उनके शासनकाल में अधर्म क्षीण तपस्वी वना था। विजय-यात्रा के समय नल की विशाल सेना से अपार धूल-राशि उठती। सङ्ग्राम में नल के भयानक टङ्कार करने वाले धनुष की असह्य घनघोर वाण-वृष्टि से शत्रुओं की प्रतापाग्नि प्रशान्त हो जाती। उन्होंने सम्पूर्ण महीतल को ईति-भीति से रहित कर दिया था। सूर्य से वढ़कर नल का प्रताप तथा चन्द्रमा से वढ़कर उनका यश था। उस महादानी के सामने कल्पवृक्ष भी तुच्छ था। सूर्य के समान कान्तिमान् राजा नल कवि तथा विद्वानों के साथ काव्य एवं शास्त्र का सानन्द अभ्यास करते हुए समय विताते। शैशव (प्रथम वय) के अन्त होते-होते नल ने जगद्विजय कर डाली तथा विजयोपार्जित धन से अपना कोष अक्षय वना डाला। अव उनके शरीर में यौवन का आगमन हुआ, वैसे ही जैसे वन में मदन-मित्र वसन्त का आगमन होता है। युवा नल का सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम था। उस मदन-सुन्दर को पाने के लिए तीनों लोकों की सुन्दरियों की तीव्र अभिलाषा रहती थी। दमयन्ती के अतिरिक्त किस सुन्दरी ने नल को देखकर "मैं सौन्दर्य में नल के योग्य हूं या नहीं" इसे जानने के लिए अपने रूप को दर्पण में देखकर गतदर्प हो हस्तगत दर्पण को आहों से मलिन नहीं किया? यौवन के साथ विदर्भ कुमारी दमयन्ती के मन में भी धीरे-धीरे नल के प्रति अनुराग आने लगा। नल सव प्रकार से दमयन्ती की रूप-सम्पत्ति के योग्य

---

१. "वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्"—काव्यादर्श० १।१४

थे, सुन्दरी ने उनके विषय में वहुत कुछ सुना भी था, अतः उसका मदनकिङ्कर मन राजा (नल) में विशेष रूप से लगा। दमयन्ती प्रतिदिन चारणों द्वारा यशोगान के समय ही प्रायः पिता की वन्दना करने के लिए जाती, तथा अन्य राजाओं के चरित-वर्णन के प्रसङ्ग में नल-चरित सुनकर अत्यन्त पुलकित होती। सखियों के मुख से कभी तृण (नरकुल) का भी नाम 'नल' सुन कर दमयन्ती सव कुछ भूलकर उधर ही कान लगा देती। निषध देश से आए दूत, व्राह्मण, वन्दी तथा चारणों से किसी न किसी वहाने नल के गुणों को पूछती, फिर उस यशःकथा को सुनकर सुन्दरी वड़ी देर तक अन्यमनस्क वनी रहती। चित्रभित्ति पर नल के तथा अपने समान अति सुन्दर स्त्री-पुरुष का चित्र वनवा कर दमयन्ती उसे देखा करती। ऐसी कौन-सी रात थी जव सोती हुई वह सुन्दरी अभिलाषा से पति-रूप में माने हुए नल को न देखती?

उसी प्रकार कभी नल ने भी युवकों के धैर्य को विलुप्त करने वाले दमयन्ती के गुणों को लोगों से सुना और उसमें उनका मदनानुराग भी जगा। अनङ्ग के फूल के भी वाणों से जो नल का वह धैर्यकवच विदीर्ण हो गया, इससे भविष्य में नल के साथ दमयन्ती का संयोग कराने वाले विधि की अभिलाषा की सफलता ही प्रकट होती थी। विधि की इच्छा ही ऐसी थी। नल अपनी अधीरता लोगों से छिपाते किन्तु मदन ने उनकी जो दशा की थी, उसे उनके जागरण-दुःख की साक्षी चन्द्रधवल रात्रि तथा चन्द्रधवल शय्याँ ही जानती थी। नल कभी-कभी झूठे विषाद का अभिनय कर अपने विरह की आहों को छिपाते तथा अङ्गराग में कपूर की अधिकता का वहाना कर विरह-जनित पीतिमा का निराकरण करते। समाज में जव मदन के अगोपनीय लक्षण धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाते तो उस जितेन्द्रिय को वड़ी लज्जा लगती। अतिशय मदन-पीड़ित होकर भी महामानी नल ने विदर्भराज से उनकी पुत्री न मांगी। मानी पुरुष भले ही सुख तथा प्राण का परित्याग कर देते हैं, पर याचना कभी नहीं करते। अन्त में जब विरह-लक्षणों को छिपाने में नल हर प्रकार से असमर्थ हो गए तो उन्होंने उपवन-विहार के बहाने निर्जन स्थान में जाने की अभिलाषा की और अपने कुछ अति विश्वासी मित्रों के साथ वे एक अद्भुत गुण-सम्पन्न घोड़े पर चढ़कर प्रसिद्ध अश्वारोहियों से अनुगत हो उपवन की ओर चले। रमणीय वेश धारण किए, अत्यन्त वेगशाली घोड़े पर सुशोभित, राजा को नगरवासियों ने आनन्द निर्निमेष नेत्रों से देखा। अन्त में शान्ति की अभिलाषा से राजा नल ने उस विहारोपवन में प्रवेश किया। उपवन-रक्षक द्वारा प्रत्येक फल तथा फूल का परिचय लेते हुए वे वन की रमणीयता का आनन्द लेने लगे। क्रीड़ा-वापी के किनारे लहरियों के वादन से, पिक तथा भ्रमरों के गीतों से, मयूरों के नृत्य-लाघव से विरचित अदभुत सङ्गीत

नल का मनोविनोद कर रहा था। लता-रमणी का लास्य-कला-गुरु पुष्प-सौरभ का चोर, कुसुम-मकरन्द से सुवासित, जल में सलील तैरने वाला, इस समस्त-ऋतु-सम्पन्न वन का पवन नल की सेवा कर रहा था। इस प्रकार प्रिय सौरभपूर्ण वन में घूमते हुए, कोकिलों द्वारा उपगीत तथा शुक-सारिकाओं से प्रशंसित नल वाहर से तो वड़े ही प्रसन्न हुए, परन्तु वैदर्भी-विरह के कारण भीतर से और भी वेचैन हुए।

नल ने उस वन में एक विशाल तथा अत्यन्त रमणीय सरोवर देखा। सागर-शोभा-हारी उस क्रीड़ा-सरोवर के किनारे नल ने हंसियों के कलरव में मस्त समीप में चरते हुए एक अद्‌भुत स्वर्णिम-हंस को देखा। अत्यन्त विनोदकारी उस पक्षी को देखकर प्रिया-विरह से विह्वल होते हुए भी नल कुछ क्षण के लिए अत्यन्त कुतूहल में पड़ गए।

यह नल-हंस-संयोग विधि की इच्छा ही थी। उसी समय सुरत-क्लान्त उस प्रक्षी ने एक पैर पर खड़े हो, कन्धे को तिरछा कर, पंखे में सिर छिपा कर सरोवर के समीप ही निद्रित की मुद्रा धारण की। घोड़े से उतर कर नल ने स्वयं कपट-पूर्वक, वलि को छलने वाले वामन का-सा लघु रूप बनाकर, निःशव्द पद-गति से समीप जाकर हंस को पकड़ लिया। हंस अचानक अपने को नल के अधीन समझकर भय से वार-वार उड़ने का प्रयास करने लगा। फिर उड़ने से निराश हो करुण शव्द करता हुआ नल के हाथों को ही काटने लगा। उस समय सरोवर के सभी पक्षी भय से उड़ने लगे। राजा नल हंस की वार-वार प्रशंसा कर रहे थे। उस समय कर-पंजर में वन्द उस मानस-निवासी ने पहले राजा को फटकारा और अन्त में अपनी करुणोत्पादक वाणी द्वारा राजा के हृदय को करुणार्द्र करना प्रारम्भ किया। विलाप करते-करते हंस मूर्छित हो गया। इससे नल के भी करुण आंसू उमड़ पड़े। नल के आंसुओं से भीगकर हंस पुनः जग गया। राजा ने यह कहते हुए कि "हंस, जिसके लिए तुम पकड़े गए थे, वह तुम्हारा रूप देख लिया। अव तुम जहां चाहो जा सकते हो"—उसे छोड़ दिया। उसे मुक्त देखकर उसके उन वन्धुओं के, जो पहले शोक से रो रहे थे, अव आनन्द के आंसू उमड़ पड़े।

प्रेमदूत हंस

नल से मुक्ति पाने पर हंस को अवर्णनीय आनन्द मिला। उसने पहले तो अपने अव्यवस्थित पंखों को सुव्यवस्थित किया, फिर कृमि-कीटों को मारा और अन्त में फिर से नल के हाथ पर जा वैठा, मानों वहुत दिनों के लालन-पालन के कारण वह राजा से अत्यन्त विश्वस्त हो गया था। नल को अत्यन्त कुतूहल में डालते हुए हंस

ने कहा—"राजन्, धर्मशास्त्रज्ञों ने राजा के लिए मृगया करना उचित कहा है। फिर भी आपने मुझे जो मुक्त कर दिया यह आपकी दया ही है। मैंने आपको जो कुछ अप्रिय कहा है उसका कुछ प्रिय करके प्रतिकार करना चाहता हूं। मैं जानता हूं कि आप जगत्-प्रभु का मुझ पक्षी से उपकार ही क्या हो सकता है, तथापि प्रत्युपकार करने की अन्तः प्रेरणा मुझे छोड़ती ही नहीं है। मेरा कुछ निवेदन है उसे आप अवश्य सुनें। और कुछ नहीं तो पक्षी की बोली होने के ही नाते वह आनन्द तो देगा ही। विदर्भ-नरेश महाराज भीम ने दम-नामक ऋषि की कृपा से दमयन्ती नाम की एक त्रैलोक्य-सुन्दरी कन्या प्राप्त की। उसके समस्त अंग अनुपम हैं। विभिन्न सरोवरों में अवगाहन करने के निमित्त मैंने अनेक देशों का भ्रमण किया और उसी प्रसंग में उस सुन्दरी को देखा। उस समय मैंने सोचा कि आखिर ब्रह्मा ने इसके योग्य पति किसे निश्चित किया होगा। मेरी दृष्टि में संसार के सारे युवक अयोग्य जंचे। पर तुम्हारे इस परम सौन्दर्य ने आज मेरे उस पूर्व-संस्कार को पुनः प्रबुद्ध कर दिया जिससे बहुत दिनों से देखी हुई भी वह सुहासिनी पुनः मेरे स्मृति-पथ पर आ गई। हे वीर, दमयन्ती के शृङ्गार-विलास तुम्हीं को पाकर अलङ्कृत होंगे। अतः मैं दमयन्ती के सामने तुम्हारी ऐसी प्रशंसा करूंगा कि जिससे वह सुन्दरी तुम्हें अपने हृदय में इस प्रकार बैठा ले कि फिर उसे स्वयं इन्द्र भी न डिगा सकें।" नल अपने कर-कमल के कोमल स्पर्श से हंस को आनन्दित करते हुए और मधुर शब्दों में उसकी प्रशंसा करते हुए बोले—"हंस, त्रिभुवन-मोहिनी वह मुझे शतशः कर्णगोचर हुई है, पर तुम्हारे इस वर्णन से तो मानों मैंने उसे दृष्टिगोचर ही कर लिया" और फिर दमयन्ती-विरह वाली अपनी वेदना बताते हुए कहने लगे—"हंस, दुःसह मानसी वेदना के अपार सागर में डूबने वाले मुझको तुम सहारा दो, जाओ मेरे अभीष्ट को पूरा करो। मित्र, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। शीघ्र ही तुम यहीं फिर मिलो। पक्षिराज, कभी हमें भी याद कर लेना।"

नल से विदा लेकर हंस ने कुण्डिनपुर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में उसे सभी शुभशकुन हुए। बड़े वेग से उड़ता हुआ वह शीघ्र ही कुण्डिनपुर पहुंच गया। उस समृद्धि-सम्पन्न नगरी में दमयन्ती के क्रीड़ा-वन ने हंस का चित्त आकर्षित कर लिया। उस उपवन में वृक्षों के आलवाल चन्द्रकान्त मणियों के बने थे जो इन्दुरश्मि के सम्पर्क से स्वयं जल से पूर्ण रहते। वहां हंस ने समान कान्तिवाली सखियों के समुदाय में सुशोभित राजपुत्री को देखा, मानो वह तारिकाओं की परिषद् में चन्द्रलेखा हो।

हंस-दमयन्ती-संवाद

हंस अपने दोनों पंखों को समेटता हुआ दमयन्ती के समीप उतर पड़ा। दमयन्ती कुतूहल वश हंस को पकड़ने के लिए बढ़ी किन्तु वह फुदकता हुआ आगे

बढ़ता गया। उसके प्रयास को निष्फल होता देख सखियां ताली बजाकर हँस रही थीं और हंस खेल ही में आगे बढ़ता हुआ कृशाङ्गी को ठगकर लताओं के पास तक खींच ले गया। अन्त में जब हर प्रकार से एकान्त देखा तो मनुष्य की बोली में कहने लगा—"हे सुन्दरि, क्यों यह व्यर्थ का परिश्रम कर रही हो? मेरी आकाश में भी गति है और तुम केवल पृथ्वी पर ही चल सकती हो। सोचो तुम मुझे कैसे पकड़ सकती हो। हम हंस, विधि-वाहन-हंस के वंशज हैं। यहां हम लोग ब्रह्मा की आज्ञा से महाराज नैषध का क्रीड़ा-सरोवर देखने आये थे। उनमें मैं अकेला भूलोक देखने के कौतूहलवश इधर चला आया। मुझ दिव्य पक्षी को कोई भी बांध नहीं सकता। केवल महाराज नल के अपूर्व भाग्योदय से हम बंधे हुए हैं। देव-गण नल के पुण्य-कार्यों के वशीभूत हो उन्हें यहीं समस्त स्वर्भोग उपस्थित करते हैं। नल की रति-क्रीड़ा के समय हम सुमेरु गिरि से शीघ्र आकर अपने स्वर्गङ्गा-सीकर-सिञ्चित चामर-सदृश पंखों से उन्हें शीतल पवन का सुख देते हैं। महापुरुषों की गणना में नल प्रथम स्थान के भागी हैं। देव लोक में भी उनके यश का गान होता है। हमें नल की कान्ति के सामने कामदेव तथा उनकी श्री के सामने इन्द्र भी तुच्छ लगते हैं। यदि समस्त त्रैलोक्य गिनने में लग जाय और उस त्रैलोक्य की आयु कभी समाप्त न हो और गणित शास्त्र में परार्द्ध से भी ऊपर सङ्ख्यायें हों तब कहीं नल के समग्र गुण गिने जा सकते हैं। पर सुन्दरि, उस स्वर्ग-भोग को दूसरी रमणी केवल नल के आश्रित होने के कारण भोग रही है, और वह तुम्हारे लिए दुर्लभ बना है। जैसे वसन्त-समागम के बिना रसाल-वाटिका को भ्रमर-सौभाग्य नहीं मिलता है वैसे ही नल-परिणय के बिना तुम्हें हम लोगों के मधुर वचन दुर्लभ हैं। किन्तु विधि की इच्छा को कौन जानता है? सम्भव है तुम नल के ही हाथ में पड़ो। एक बार विधि-विमान वहन करते हुए मैंने उनसे नल की भावी वधू को जानने की इच्छा भी की थी। उस समय तुम्हारे ही नाम के-से कुछ शब्द मेरे कानों में पड़े थे। पर इस समय यह अप्रासङ्गिक चिन्ता छोड़ें। सुन्दरि, मैंने तुम्हें बहुत थका दिया है, मैं उस अपराध का परिमार्जन करना चाहता हूं। बोलो, तुम्हारा क्या अभीष्ट साधूं।" दमयन्ती ने हंस की प्रशंसा करते हुए श्लिष्ट शब्दों में नल के प्रति अपने पाणिग्रहण की इच्छा को व्यञ्जित कर दिया। पर दमयन्ती के मुख से स्पष्ट शब्दों में कहलाने के लिए हंस फिर बोला—"सुन्दरि, पिता की आज्ञा से अथवा स्वेच्छा से ही, यदि कहीं तुमने किसी दूसरे तरुण को वर लिया तो तुम्हारे लिए नल से याचना करने वाले मेरे प्रति उनका क्या विश्वास रह जायगा। अतः राजकुमारी, इसके अतिरिक्त तुम जो कुछ भी चाहो मैं सब करने को तैयार हूं।" अन्त में अपने लज्जा के बन्धनों को ढीला करके दमयन्ती कहने लगी—"हंस, मेरा मन केवल नल के लिए लुब्ध है।

उसे अमूल्य चिन्तामणि को भी पाने की इच्छा नहीं है। मेरे चित्त में तो सम्पूर्ण त्रैलोक्य में श्रेष्ठ अकेला वही कमल-मुख सबसे बड़ी निधि है। मैंने उन्हें लोगों से सुना, उन्मादवश उन्हें चारों ओर देखा तथा एकाग्र चित्त से उनका ध्यान किया। अब या तो मुझे उनकी प्राप्ति या मेरे प्राणों का नाश—दो में से एक होना है, और हंस, वह तुम्हारे ही हाथ में है। अतः पक्षिराज, कुछ भी विलम्ब किए बिना उचित अवसर देखकर, तुम राजा से इस कार्य की विज्ञापना करना।" राजकुमारी को इस प्रकार नल में अतिशय अनुरक्त जान कर हंस हँसकर बोला—"राजपुत्रि, यदि यह सत्य है, तो अब इसमें मुझे कुछ भी कहना शेष नहीं रह गया है। क्योंकि तुम्हें तथा उस राजा को परस्पर प्रेम में तपाने वाले मदन ने ही यह योजना तैयार कर रखी है।" फिर उसने नल की विरह-दशा का विस्तृत वर्णन किया। इसी बीच दमयन्ती की सखियां उसे खोजती हुई वहां आ पहुंची। अतः हंस उससे विदा ले कर नल-राजधानी की ओर चल पड़ा। और राजा को जहां छोड़ गया था उसी सरोवर के किनारे अशोक-वृक्ष के नीचे मदन-वेदना से चञ्चल उन्हें पाया। हंस ने जाकर सारी बात राजा से कह सुनायी। नल एक ही बात को बार-बार पूछते और सुन-सुन कर आनन्द-विह्वल हो रहे थे।

चन्द्रमदनोपालम्भ

उधर मदनज्वराक्रान्त दमयन्ती जैसे-जैसे प्रिय-कथा-रस-सरोवर में निमग्न होती थी वैसे ही वैसे उसका विरह-ताप और बढ़ता जाता था। उसके सुन्दर सुकोमल अङ्गों का सहज विलास लुप्त-सा हो गया। हृदय मदन-ताप से विदीर्ण हो गया था। नेत्र भीतर की ओर चले जा रहे थे। मुख सदा अश्रुपरिलुप्त रहता। लम्बी गरम आहें लेती। ताप-शान्ति के सारे उपचार व्यर्थ होते। मदनमथिता सुन्दरी खीझकर कभी चन्द्रमा की निन्दा तथा राहु की स्तुति करती, और कभी मदन को फटकारती थी। फिर उसने अपनी सखियों से समस्या-पूर्ति के रूप में वार्तालाप करना प्रारम्भ कर दिया। उसी प्रसङ्ग में उसे इतना विषाद हुआ कि वह मूर्च्छित हो गयी। उसे चेतना में लाने के लिए सखियों में बड़ा कोलाहल मचा, जिसे सुनकर घबड़ाए हुए विदर्भराज स्वयं कन्या-भवन में जा पहुंचे। अन्तःपुर में नियुक्त वैद्यों तथा अन्य अधिकारियों से पूछने पर उन्होंने दमयन्ती की अस्वस्थता का कारण समझा तथा पुत्री को आश्वासन देते हुए उसके स्वयंवर का निश्चय किया।

स्वार्थी-देव

इधर विदर्भ-नरेश राजाओं को स्वयंवर-महोत्सव के लिए आमन्त्रित करने लगे। उधर इन्द्र को देखने की इच्छा से पर्वत मुनि के साथ नारद स्वर्ग में जा पहुंचे।

कुशल-प्रश्न के पश्चात् देवर्षि ने दमयन्ती के रूप-गुण की प्रशंसा तथा उसके स्वयंवर-महोत्सव की चर्चा देवराज से की। उन्होंने यह भी वता दिया कि दमयन्ती किसी अज्ञातनामा युवक को हृदय से चाहती भी है। नारद के चले जाने पर इन्द्र को भी दमयन्ती-प्राप्ति की अभिलाषा वढ़ी, और उन्होंने भी स्वयंवर में जाने का निश्चय किया। इसे जानकर स्वर्ग की सुन्दरियों में वड़ा क्षोभ मचा। अन्त में अग्नि, वरुण तथा यम को साथ लेकर इन्द्र भू-लोक की ओर चल पड़े। मार्ग में उन्हें दमयन्ती-स्वयंवर में जाते हुए राजा नल मिले। नल के रूप को देख कर सभी देवगण हृदय से हार गए तथा उनका मन दमयन्ती से निराश हो गया। अपने अनुयायियों की कर्त्तव्य-विमूढ़ मुद्रा देखकर वञ्चना-कुशल इन्द्र ने अपना तथा देवों का परिचय देते हुए छलने के उद्देश्य से नल से कहा—"हम राजन्, सभी लोग आपके पास याचक रूप में आए हैं।" दानि-शिरोमणि राजा ने कहा—"देवेन्द्र, यह नर-वालक प्राणों तक से या इससे भी अधिक जो आपको अभीष्ट हो उसके द्वारा आपके चरणों की पूजा करने को प्रस्तुत है। आज्ञा हो, इस प्रकार की वह कौन सी वस्तु है?" इन्द्र ने प्रसन्न हो कपट के साथ कहा—"राजन्, हम दमयन्ती के पाणि-ग्रहण के अभिलाषी हैं, अतः तुम इस कार्य में हमारा दौत्य करो।" अव राजा नल ने इन्द्र का कपट जान लिया। अतः "आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः" के अनुसार उन्होंने उनकी याच्ञा अस्वीकृत कर दी, और कहा, "वैदर्भी ने तो मुझे पहले ही वरण करना स्वीकार कर लिया है। अब मुझे देखकर उसे केवल लज्जा ही होगी और आप लोगों को तो वह निश्चय ही न स्वीकार करेगी। तो कृपा कीजिए। मन में खेद न हो। यह दूत कार्य मेरे लिए अत्यन्त अयोग्य है।" किन्तु उन देवों के वहुत तरह से समझाने पर तथा उनकी चाटुकारितापूर्ण वातों से अन्त में विवश होकर नल ने वलात् आरोपित उस दौत्य-भार को स्वीकार कर लिया। इस पर इन्द्र ने उन्हें इच्छानुसार अदृश्य होने का वरदान देकर विदा किया।

अन्तःपुर में अदृश्यरूप-दूत नल

उधर नल ने विदर्भ-राजधानी कुण्डिनपुरी की ओर अपना रथ बढ़ाया और इधर देवगण उनकी प्रतीक्षा में उसी स्थान पर पड़े रहे। वहां पहुंचकर नल ने अदृश्य रूप में नगर में प्रवेश किया। राजमहल में भी जाते समय वे निःशङ्क थे। अन्तःपुर में पहुंच कर वे रमणियों के सविश्रम्भ खुले अङ्गों को देखकर व्रीडावनत हो जाते। अदृश्य-रूप होने के कारण कभी-कभी वे सुन्दरियों के शरीर से सङ्घर्ष पा जाते थे। अन्त में दमयन्ती-विरह से स्वभावतया कृश नल इस पट्टभवन में घूमते हुए श्रान्त हो

गए। अतः प्रासाद की अट्टालिकाओं में विश्राम लेने चल दिए। वहां उसी समय माता को प्रणाम कर दमयन्ती आ रही थी। नल से मार्ग में उसका संयोग हो गया पर अपनी भ्रान्ति में सदा स्वकल्पित दमयन्ती को ही देखते रहने के कारण नल उसे सत्य रूप में न जान सके। और दमयन्ती भी नल के अदृश्य होने के कारण उन्हें न देख सकी। सुन्दरी ने माता से प्रसाद रूप में पाई हुई कुसुम-माला को उद्भ्रान्ति में ही देखे हुए नल के गले में डाल दिया, और संयोग से वह वास्तविक नल के कण्ठ में पड़ी। वहां वे दोनों वड़ी देर तक मोह-वश सत्य तथा मिथ्या आलिङ्गन का सुख लेते रहे। स्वभावतः धीर होने के कारण दमयन्ती को यह ध्यान वना रहा कि यहां नल कहां ? पर प्रिय-वियोग के कारण कभी-कभी भ्रान्ति भी हो जाती थी। इस प्रकार बोध और मोह लिए वह अपने निवास-गृह में गयी। किन्तु नल भ्रान्तिवश उसे सामने स्थित जान वहीं चक्कर लगाते रहे, और वड़ी देर तक घूमने के पश्चात् किसी प्रकार वैदर्भी के गगनचुम्वी अभिराम भवन में पहुंचे। वहां उन्होंने सुन्दरियों की अनेक क्रीड़ाएं देखीं तथा सुन्दर वार्तालाप सुने। उस समय अग्नि, वरुण, यम की भेजी दूतियों को दमयन्ती फटकार रही थी। नल की टूटी आशा फिर बंधने लगी। अन्त में इन्द्र की दूती ने इन्द्र-वरण का प्रस्ताव किया। नल निराश हृदय से सुनने लगे। दूती कह रही थी—"हे सुन्दरि, चौदह लोकों में स्वर्ग सर्वोपरि है। स्वर्ग में भी अदिति-पुत्र देव सर्वश्रेष्ठ हैं, उन देवों में भी महेन्द्र सव से महान हैं। सुन्दरि, ऐसे महेन्द्र भी जव अनुराग-वश तुम्हारे किङ्कर बनने की प्रार्थना करते हैं तो क्या इससे भी वड़े महत्त्व का कोई पद होगा ? तुम स्वयं विचारो मन्दाकिनी और नन्दन का-सा विहार, इन्द्र-सा पति, उपेन्द्र-सा देवर तथा लक्ष्मी-सी देवरानी—कितना वड़ा महत्त्व है।" दमयन्ती की सखियां भी इन्द्र-दूती की वातों का समर्थन कर रही थीं। किन्तु दमयन्ती ने देवेन्द्र की भेजी पारिजात की माला को सादर स्वीकार करते हुए सविनय उत्तर दिया। "हे दूति, देवराज के विषय में कही हुई तुम्हारी सारी वातों को मैंने सुन लिया। किन्तु पातिव्रत धर्म के अत्यन्त प्रतिकूल होने के कारण ये मुझे दुस्सह हैं। क्योंकि मैं पहले से ही अपने को उस नर-रूप-धारी इन्द्र (नल) को मनसा समर्पित कर चुकी हूं—देव-रूप धारी इन्द्र को नहीं। अतः तुम्हें इन्द्र-चरणों की शपथ है यदि तुमने फिर यह वात मुझसे कही। मैं इन्द्र के प्रति अपने इस घोर अपराध का प्रक्षालन अपने पातिव्रत-नियमों से हृदय में ही कर लूंगी।" इन्द्र-दूती को कुछ कहने का अवसर ही न रहा। अतः वह वहां से उठ चली। अव नल के अधीर होते मन में भी कुछ ढाढ़स बंधा। इन्द्र की कृपा से प्राप्त अन्तर्धान-शक्ति के कारण नल ने दमयन्ती के अपने प्रति अनुराग-वचनों को प्रत्यक्ष सुनने का सुन्दर अवसर पाया।

दमयन्ती-सौन्दर्य

वहां नल ने दमयन्ती के शिख से नख-पर्यन्त अनुपम सौन्दर्य को देखा। उसके प्रत्येक अंग का उन्होंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया। नल ने अन्त में सोचा—पहले तो ब्रह्मा ने ही सुन्दरी को लोकोत्तर बनाया, फिर यौवन ने इसे और ऊपर पहुंचाया और अन्त में मदन ने विलास-कला पढ़ाकर तो अवर्णनीय ही बना डाला। इस समय आनन्द-मग्न राजा ने सखियों से घिरी दमयन्ती के सम्मुख प्रत्यक्ष होना चाहा।

देव-सन्देश

अन्तःपुर में नल-सदृश एक पुरुष को साक्षात् देख दमयन्ती को बड़ा आश्चर्य तथा आनन्द दोनों हुआ। दमयन्ती के अनुरागी नेत्र नल के प्रत्यङ्ग अद्भुत सौन्दर्य में निमग्न हो गए। उसकी सखियां अवाक् थीं। अतः सुन्दरी नल का स्वागत करती हुई स्वयं बोली—"सुन्दर, आपने किस स्थान को शोभा-हीन किया है? आपके ये चरण कहां के लिए प्रस्थित हैं? आपके यहां आने का कारण मुझे अपना पुण्य ही समझ पड़ता है। क्या मैं आपके नाम को जानने की अधिकारिणी हो सकती हूं?" फिर दमयन्ती उन्हें द्वारपालकों की दृष्टि बांध देने के कारण नल के समान सुन्दर कोई देवता ही समझ कर आतिथ्य-सम्बन्धी प्रिय वचनों के बहाने उनमें विद्यमान वस्तुतः अपने प्रिय नल की ही शोभा की प्रशंसा करने लगी—"यदि आप मानव हैं तो यह पृथ्वी धन्य है, यदि अमरों में कोई हैं तो वास्तव में स्वर्ग सर्वश्रेष्ठ है, और यदि आपने नागवंश को विभूषित किया है तो नीचे होते हुए भी पाताल-लोक किसके ऊपर नहीं है। मेरे विचार से इस संसार रूपी सागर में आपके प्रतिबिम्ब रूप एक नल ही हैं, क्योंकि बिम्ब-प्रतिबिम्ब को छोड़कर विधाता की अत्यन्त सारूप्य रचना कभी देखी ही नहीं गयी।" नल ने उत्तर दिया—"हे सुन्दरि, स्वर्ग के प्रभुओं के सन्देशों को हृदय में प्राणों के समान धारण किए हुए, उन्हीं दिक्पालों की सभा से आया हुआ मुझे अपना ही एक अतिथि समझो। यदि तुमने मेरे दौत्य-कार्य को सफल बना दिया तो मानो मेरा बड़ा आतिथ्य किया। अब अधिक विलम्ब नहीं करना है। अतः मेरी बात सुनो—"तुम्हारे गुण इन्द्र, वरुण, अग्नि तथा यम इन चारों दिक्पालों को विमोहित किए हुए है। तुम्हारे यौवन के साथ ही इन्द्र का अनुराग भी तुममें परम दृढ़ हो गया है। वे तुम्हारे विरह से अत्यन्त पीड़ित रहते हैं। सुन्दरि, तुम्हारे विषय में मदन ने अग्नि को सन्तप्त कर के इस प्रकार विनीत कर दिया है कि वे स्वयं ताप का अनुभव करके अब फिर दूसरे को ताप न दे सकेंगे। प्रभु यम भी तुम्हारे ही कारण अपने धैर्य को मदनाग्नि में हवन कर चुके हैं। पश्चिम दिशा के स्वामी वरुण ने तो तुम्हारे प्रति अपने चित्त को उस समय भेजा जिस

मुहूर्त्त में निकला पथिक फिर लौट कर नहीं आता। कल तुम्हारा स्वयंवर होगा यह समाचार पाकर वे दिगीश्वर स्वर्ग से चल पड़े, और समीप में एक स्थान से उन्होंने मुझे अपने सन्देशों के साथ तुम्हारे पास भेजा है।" फिर सब के सामूहिक सन्देशों को सुनाते हुए नल ने कहा—"हे सुन्दरि, तुम मेरे दूत कार्य को सफल करो और स्वयं निश्चय कर के किसी एक देव को वर लो। चाहे इन्द्र को आनन्द दो, या मदनाग्नि में पड़े अग्निदेव को अपनी नूतन विलास-क्रीड़ाओं द्वारा उबारो, अथवा यम के ऊपर दया करो, और यदि यह सब नहीं तो वरुण को ही वर लो।"

विफलदौत्य

दमयन्ती नें दिक्पालों के सन्देश को अनसुना करके नल से उनका नाम तथा वंश फिर पूछा। इस पर नल ने उस जिज्ञासा को निष्प्रयोजन बताते हुए कहा—"हम दोनों के परस्पर व्यवहार के लिए युष्मद्, अस्मद् सर्वनामों का प्रयोग पर्याप्त हैं। अतः नाम जानने की कोई आवश्यकता नहीं। और जो दूत ही है उसके गोत्र को जानने से भी क्या लाभ?" दमयन्ती के बहुत आग्रह करने पर भी नल ने अपना वंश केवल चन्द्रवंश बतलाया और कहा—"हे सुन्दरि, मेरा यहां विलम्ब करना देवों के लिए कष्टप्रद हो रहा है अतः मेरे दौत्य को सफल करो।" इस पर दमयन्ती ने सखी द्वारा कहलवाया कि "मैं चिरकाल से अपने चित्त को नल को समर्पित कर चुकी हूं, अतः अब कोई अन्य विचार करते हुए भी डरती हूं। और मेरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा भी सुन लीजिए कि यदि राजा नल ने मेरा पाणिग्रहण न किया तो आग में जल कर या गला बांध कर अथवा पानी में डूब कर मैं स्वयं अपनी आयु समाप्त कर दूंगी।" इस पर नल ने उसे समझाते हुए उत्तर दिया, "हे सुन्दरि, यदि तुम गला बांध कर मरी तो इन्द्र को मिलोगी, यदि आग में जल कर मरी तो अग्निदेव के हिस्से पड़ोगी, यदि जल में डूब कर प्राण दिया तो वरुण के ही पास पहुंचोगी, और यदि किसी भी अन्य उपाय से मरी तो यम के ही घर पहुंचोगी।" यह सुन कर दमयन्ती ने सखी द्वारा नल से उस दिन वहीं रहने के लिए प्रार्थना की, जिससे वह स्वयंवर में अपने प्रिय नल से इस दूत का परिचय करा दे, क्योंकि हंस ने नल का जो रूप चित्र में खींचा था वह दूत से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। और यह भी प्रार्थना की कि "हे दूत, दिगीश्वरों के लिए तुम मुझे किसी प्रकार पीड़ित न करो। देखो, मैं हाथ जोड़ रही हूं। कृपाकर अब आज ऐसी बातें न करो। किन्तु उसके वेदना भरे दीन वचनों से मर्माहत होकर भी नल अपने दूत-धर्म से विमुख न हुए और उसको पाने में देवों की पूर्ण समर्थता बताते हुए बोले, "हे सुन्दरि, मैंने तुमसे बड़े हित की बात कही है। तुम मोह त्यागकर स्वयं विचार कर लो। भला देवों के विघ्न करने के लिए उतारू होने

पर कौन मनुष्य हाथ में धरी वस्तु भी पाने में समर्थ होगा ?" नल की इन वातों से दमयन्ती को सचमुच विश्वास हो गया। अत्यन्त निराश हो वह उन्मुक्त कण्ठ से करुण विलाप करने लगी, और अन्त में अपने प्रिय नल की याद करके कहने लगी, "हे नाथ, दमयन्ती तुम्हारे लिए मरी, क्या यह तुम्हारे कानों तक न पहुंचेगा ? हे याचक-कल्पवृक्ष ! मेरी तुमसे यही अन्तिम याच्ञा है कि मेरे हृदय के विदीर्ण होने से निकलने वाले इन प्राणों के साथ तुम हृदय से न जाना।" दयमन्ती के इन करुण विलापों ने नल को विचलित कर दिया और वे अपने को प्रकट कर उसे आश्वासन देने लगे। किन्तु पुनः विवेक आने पर अपनी इस त्वरा के लिए बहुत पछताए और देवों के प्रति अपने को वड़ा अपराधी समझने लगे। उन्हें पश्चात्ताप होने लगा कि "मैंने अपने को क्यों प्रकट कर दिया। मैंने इन्द्रदेव का महान् कार्य नष्ट कर दिया। जिस दूत-मार्ग को हनूमान् आदि महापुरुषों ने अपने यश के द्वारा धवल किया था उसे मैंने शत्रुओं के उपहास से धवल (लाञ्छित) कर दिया।" उसी समय वह स्वर्णिम हंस वहां आ पहुंचा। उसने नल से कहा कि "निर्दय, यदि तुम इसे और निराश करोगे तो यह अपने प्राण ही दे देगी। तुम निरपराध हो। अतः तुम्हें पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं।" हंस के चले जाने पर नल ने दमयन्ती से कहा, "हे सुन्दरि, ये देवगण तुम्हारी अभिलाषा करते हैं, तुम मुझे भी अपना दास बना सकती हो। विचार पूर्वक कार्य करना। देखना तुम्हें बाद में पश्चात्ताप न करना पड़े। न मुझे उन देवों से भय है और न अपनी मदनकृत दुर्बलता से अधीरता ही। यदि मेरे प्राण देने से भी तुम्हारा हित हो सकता है तो वह मुझे तुम्हारे प्रेम में अनृण करने के लिए ही होगा।" इसके पश्चात् एकान्त में स्वयं दमयन्ती के कहने पर देवों के साथ राजसमाज में आने का वचन देकर नल दौत्य में विफल होने के कारण लज्जा से नत-मस्तक हो चल दिए, और जा कर इन्द्रादि देवों से सारा वृत्तान्त यथार्थ रूप में कह दिया।

स्वयंवर-समारोह

दमयन्ती के स्वयंवर में सभी देशों के राजकुमार आए। सत्कुलोत्पन्न वीर राजकुमारी को वरने आए, दुष्कुलोत्पन्न उसे वलात् हरण करने के लिए आए, कुछ स्वयंवर देखने आए और कुछ वहां आए हुओं की सेवा ही करने आए। देव, गन्धर्व, नाग, सभी वहां थे। कुण्डिनपुर में सव का यथोचित सत्कार किया गया। स्वयंवर में नल पहुंचे और कपट-नल-रूप-धारी इन्द्रादि चारों देव भी उपस्थित हुए। आकाश से ऋषि, मुनि तथा देवगण स्वयंवर की शोभा देखते हुए उसकी प्रशंसा कर रहे थे। उस समय नाना लोकों से आए उन युवकों के चरित्र तथा गोत्र का वर्णन

मानव-शक्ति से परे जान कर "पुत्री को इनका परिचय कैसे कराया जाय", यह सोचकर राजा भीम बड़े विषाद में पड़े। उन्होंने एक चित्त से अपने कुलदेव भगवान् चक्रपाणि का स्मरण किया। राजा भीम के चिन्ता करते ही दयालु भगवान् ने मुस्कराते हुए सरस्वती से कहा, "हे देवि, नाना देशों से आए युवकों के कुल, शील, बल को तुम जानती हो। तीनों लोकों के विद्वानों से सुशोभित ऐसी सभा न कभी हुई और न फिर कभी होगी ही। अतः जाकर तुम इनका वर्णन राजकुमारी से करो।" भगवान् विष्णु की आज्ञा सादर ले कर सरस्वती स्वयंवर-सभा में आईं, और अपना परिचय देती हुई राजा भीम से बोलीं, "राजन्, अब विषाद न करो, मैं स्वयं इन राजाओं का परिचय दूँगी।" राजा ने कुमारी दमयन्ती को सभा में बुलाया। उस अनुपम सुन्दरी के रूप को देख कर समस्त स्वयंवर-समाज विमुग्ध हो रहा था।

राजपरिचय

सरस्वती दमयन्ती को सर्वप्रथम देव-समाज की ओर ले गईं। फिर राक्षस, गन्धर्व, विद्याधर तथा यक्षों का परिचय दिया। किन्तु उसकी रुचि उनमें से किसी में न हुई। थोड़े में वासुकि को निपटाया। अब मनुष्य-नरेशों के पास पहुंचीं। उनमें सर्वप्रथम पुष्कर-द्वीपाधिपति सवन का वर्णन किया। राजा सवन वीर था, विद्वत्समाज में अग्रगण्य था, रूप-शृङ्गार में रमणीय था और कलाविद् भी था, किन्तु दमयन्ती को उसमें एक बड़ा दोष यही मिला कि उसका प्यारा नाम 'नल' नहीं था। सरस्वती ने फिर शाकद्वीप के स्वामी हव्य का परिचय देना प्रारम्भ दिया। यद्यपि राजा हव्य का राज्य समृद्ध था, उसकी बाहुओं में लक्ष्मी तथा मुख में सरस्वती का वास था, पर उसमें एक ही बड़ी कमी दिखायी पड़ी कि भगवान् इन्द्र कभी उसके याचक नहीं बने थे। तब सरस्वती ने क्रौञ्च-द्वीप के अधिपति द्युतिमान् का परिचय दिया, पर वह भी दमयन्ती के हृदय को न रिझा सका। कुश-द्वीप के राजा ज्योतिष्मान् में भी उसका अनुराग नहीं हुआ। शाल्मल-द्वीप के स्वामी वपुष्मान् की प्रशंसा सुनकर दमयन्ती को उपेक्षा-पूर्ण जँभुहाई आने लगी। सरस्वती प्लक्ष-द्वीप के नरेश मेधातिथि का वर्णन करने लगीं, किन्तु दमयन्ती के लिए सब नीरस था। अन्त में जम्बूद्वीप के राजाओं में सर्वप्रथम अवन्तिनाथ का वर्णन किया, किन्तु दमयन्ती ने उन्हें देखा तक नहीं। गौडेन्द्र की प्रशंसा सुन कर भी उसकी दृष्टि उन पर उपेक्षापूर्ण तथा भावशून्य ही रही। मथुराधिनाथ पृथु का गुण-वर्णन सुनते समय दमयन्ती दूसरी ओर देख रही थी। काशिराज की विशेषताएं उसे न लुभा सकीं।

उसी समय कुछ और नरेश स्वयंवर समाज में आए। उन नवागतों में सर्वप्रथम अयोध्याधिपति के पास पहुंचकर सरस्वती ने उनका परिचय दिया, किन्तु दमयन्ती ने सिर हिलाकर अपनी असम्मति प्रकट कर दी। पाण्ड्येश्वर की प्रशंसा को दासी ने परिहास में उड़ा दिया। महेन्द्राधिपति के लोकोत्तर गुणों पर आश्चर्य प्रकट करती हुई दमयन्ती ने सरस्वती को मौन धारण करने का सङ्केत किया। काञ्चीपुर-नरेश के वर्णन को सुन कर उसे हंसी आ गयी। नेपाल-नरेश परन्तप की प्रशंसा करते समय चेरी ने व्यङ्ग्यपूर्ण उपहास कर दिया। मलयाधिपति के वर्णन के समय सखी ने उपहास किया। मिथिलानरेश का यश सुन कर दूसरी सखी ने व्यङ्ग्य मारा। कामरूप-नरेश की प्रशंसा के समय ताम्बूलपात्र-वाहिनी ने सरस्वती को पान का वीड़ा देकर व्यङ्ग्य किया। उत्कल-नरेश के यशोगान के समय दमयन्ती ने नल के ध्यान में आंखें ही बन्द कर लीं। वौद्धराज-कीकटाधिप की लम्बी प्रशंसा सुन कर भी दमयन्ती को कोई आकर्षण नहीं हुआ।

पञ्चनली

अन्त में शिविका-वाहक दमयन्ती को उस राजमण्डल से हटाकर नल-रूप धारण किए हुए पांच वीरों के पास ले गए। सरस्वती ने सर्वप्रथम स्वर्गाधिपति इन्द्र को लक्ष्य करके इस प्रकार वर्णन प्रारम्भ किया, जिससे इन्द्र का वोध तो हो, पर साथ ही उनका नल-रूप धारण करने का कपट भी प्रकाशित न हो। दमयन्ती कुछ निर्णय ही न कर सकी कि यह इन्द्र हैं या नल। तव अग्नि की ओर सङ्केत करते हुए सरस्वती ने कहना प्रारम्भ किया। यह वर्णन भी उसी प्रकार श्लेषमय था जिसे सुनकर दमयन्ती के मन में द्वैध भाव हो गया—एक कहता यह नल हैं, दूसरा कहता यह अनल (नल नहीं अग्नि) हैं। दमयन्ती की उलझी चित्तवृत्ति को देख कर सरस्वती ने यमराज का वर्णन प्रारम्भ कर दिया। यम तथा नल में समान रूप से घटित होने वाली सरस्वती की वाग्-रचना ने अनेक नल को देख कर संशयापन्न दमयन्ती के चित्त में जो शङ्का उत्पन्न हुई थी, उसे पुष्ट कर दिया। फिर वरुण की ओर सङ्केत करते हुए देवी ने उनका परिचय दिया। वह परिचय भी पूर्व की भांति संशयकारक ही रहा। उससे भी वरुण और नल दोनों का अर्थ निकलता था। अन्त में उन्होंने वास्तविक नल का भी वर्णन इस ढंग से किया कि नल के साथ कभी इन्द्र का, कभी अग्नि का, कभी यम का, कभी वरुण का अर्थ निकलता था, और एक स्थल में तो पांचों का अर्थ एक साथ। दमयन्ती को वड़ी भ्रान्ति हुई। वह कुछ निर्णय नहीं कर पा रही थी। उसके मन में अनेक सङ्कल्प-विकल्प उठ रहे थे। वेचारी चकित थी।

नल-वरण

अतः विवश हो उसने नल-प्राप्ति के लिए देवताओं को प्रसन्न करना ही श्रेयस्कर समझा। स्वयंवर-मण्डप में ही उनकी पूजा की, और ध्यान किया। देवगण प्रसन्न हो गए। उसके फलस्वरूप दमयन्ती को सरस्वतीकृत पांचों नलों के विषय का वर्णन अत्यन्त स्पष्ट हो गया। उसने पांचवें नल को वास्तविक नल समझा और उसी समय देवों ने भी कपट रूप त्याग कर अपना-अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया। सुन्दरी ने देवों की अनुज्ञा लेकर सात्विक भावों के साथ दूर्वाङ्कुर से सुशोभित मधूकमाला नल के गले में डाल दी। सुन्दरियों के मङ्गल-गान होने लगे, प्रसन्न देव-गण ने वर-वधू को पृथक्-पृथक् अनेक वरदान दिए और सरस्वती-सहित स्वर्गलोक को प्रस्थान किया। अन्य आए हुए नरेश दमयन्ती को न पाने के कारण क्षुब्ध तथा खिन्न थे। अतः सुन्दरी ने अपने पिता से प्रार्थना कर प्रत्येक को अपनी एक-एक सुन्दरी सखी दिलवाई। उधर नल स्वयंवर-मण्डप से अपने निवास-स्थान को गए। इधर विदर्भ-नरेश पुत्री के विवाहोत्सव का समारम्भ करने लगे।

वरयात्रा

ज्योतिषियों से सुन्दर शुभमुहूर्त्त विचरवा कर राजा भीम कन्यादान का उपक्रम करने लगे। नगर की अद्भुत सजावट की गई। विभिन्न प्रकार के वाद्य बजने लगे। सौभाग्यवती स्त्रियों ने वधू दमयन्ती को मङ्गल-स्नान करवाया, फिर उसका विवाहोचित शिख-नख शृंङ्गार किया। अलङ्कृत होकर लज्जा के भार से दबी हुई दमयन्ती ने गुरुजनों, ब्राह्मणों तथा पतिव्रता स्त्रियों को प्रणाम किया। उधर नैपथ्य-कुशल सेवकों ने महाराज नल का भी विवाहोचित शृङ्गार किया। फिर वे वर-यात्रा के लिए वार्ष्णेय नामक सारथि से युक्त रथ पर सानन्द सवार हुए। उस समय विदर्भपुर की अप्सरा-सदृश सुन्दरियां वर को देखने के लिए अलङ्कृत हो अपने-अपने घरों से निकल कर राजमार्ग पर सुशोभित हो रही थीं। कौतुकातिशय के कारण उन्हें अपने देह-वस्त्र की भी कोई सुधबुध नहीं थी। वे हर्षोद्रेक में नल की प्रशंसा कर रही थीं।

विवाह-महोत्सव

महाराज नल अपने पुरोहित गौतम सहित रथ पर विदर्भेश्वर के महल की ओर बढ़े। मृगनयनियां चन्द्र-धवल चामर डुला रही थीं। भीम-पुत्र कुमार दम ने आगे से जाकर बारात का स्वागत किया और नल को सादर ले चले। भीम ने अपने जामाता को गले से लगाया और पाणि-ग्रहण संस्कार यथाविधि सम्पन्न हुआ।

पाणिग्रहण के समय महाराज भीम ने जामाता को अद्भुत दिव्य उपहार दिए, उनमें से वहुत तो उन्हें देवों से प्राप्त हुए थे। विवाह की मुख्य क्रियायें नल करते थे और गौण क्रियाएं पुरोहित ने कीं। इधर कुमार दम भी हास-परिहास के साथ वारातियों का सत्कार कर रहे थे। सुन्दरियों द्वारा उन्हें सुन्दर भोजन करवाते तथा उन्हें हर प्रकार के सुख की सामग्री प्रस्तुत रखते। तीन दिन तक वर-वधू एक साथ शास्त्र-विधि से पूर्ण संयम के साथ रहे। पांच छः रातें विदर्भराज के घर विता कर नल वधू-सहित निषध-देश के लिए चले। महाराज भीम ने उन्हें अपने राज्य की सीमा तक पहुंचाया, फिर पुत्री को यह उपदेश देते हुए, दुःखी हृदय से रोते हुए विदा किया––"वेटी, अव तुम्हारा अपना पुण्य ही पिता है, तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्ति को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होंगे और वेटी! अव से मैं तुम्हारा कोई न रहा।" अपनी नगरी के समीप पहुंचने पर राजा नल ने जिन मन्त्रियों पर राज्य का शासन-भार सौंपा था, उन सवों ने कुतूहल से उत्कण्ठित हो नव-वधू-सहित नल का रास्ते में स्वागत किया। पौराङ्गनाओं ने अट्टालिकाओं से लाज-वर्षा की। आकाश से देवगण यह सव देख रहे थे। इस प्रकार दमयन्ती-सहित नल ने विशेष रूप से निर्मित नूतन राज-प्रासाद में प्रवेश किया।

कलि-प्रसङ्ग

स्वर्ग जाते हुए देवों ने रास्ते में मूर्तिमान् काम, क्रोध, लोभ, मोह के साथ कलि को ससैन्य आते देखा। मर्यादाहीन उमड़े सागर के समान उस कलि-सेना के समीप आने पर किसी ने अत्यन्त कर्कश स्वर में वैदिक आस्तिकवाद का खण्डन प्रारम्भ कर दिया, तथा वड़े ओजस्वी तर्कों के साथ चार्वाक मत का प्रतिपादन किया। उसके तर्कों को सुनकर देवों को वड़ा क्रोध आया और इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण ने दृढ़ प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा ही वैदिक मत की सत्यता सिद्ध की। फिर देवों से दमयन्ती-स्वयंवर को निष्पन्न हुआ जान कलि को वड़ा क्रोध हुआ, क्योंकि वह भी उसी स्वयंवर में जा रहा था। उसने देवों के सम्मुख नल के विषय में प्रतिज्ञा की कि "मैं नल से दमयन्ती तथा उसकी राज्यश्री दोनों छुड़ाकर ही मानूंगा।" इस पर देवों ने उसे वहुत फटकारा किन्तु यह जानकर कि कलि की नल को पीड़ा पहुंचाने की भावना दूर नहीं की जा सकती, उन्होंने विशेष आग्रह करना उचित न समझा और अपने स्वर्ग का रास्ता लिया। इधर ईर्ष्या से अन्धा कलि द्वापर के साथ नल को कष्ट देने के लिए निषध देश पहुंचा। किन्तु उस धर्मशील राज्य में उसे खड़े होने का भी स्थान नहीं मिलता था। राजधानी में सर्वत्र धार्मिक विधियों को की

जाती हुई देख कर तथा पुरवासियों की धर्मानुप्राणित जीवन-चर्या देख कर वह निःशरण हो वड़ा भयभीत हुआ। कहीं स्थित होने के लिए स्थान ढूंढ़ता-भटकता रहा। अन्त में नल की वाटिका में कलि को उसे एक वहेड़े का पेड़ दिखायी दिया, जिसका धार्मिक कार्यों में कोई उपयोग नहीं था। कहा जाता है उस वृक्ष का आश्रय लेकर कलि नल-दमयन्ती के किसी पाप आचरण की ताक में वहुत दिन तक वहां रहा। इधर निषध-राज नव-परिणीता वधू के साथ रमण में प्रवृत्त हुए।

सुरत-क्रीड़ा

दिन-रात दमयन्ती के साथ भोग का आनन्द लेते हुए भी आत्म-ज्ञानी नल को किसी पाप का लेश भी न छू जाता था, क्योंकि जिनका अन्तःकरण ज्ञान से निर्मल हो चुका है उनको कृत्रिम रूप से किए गए विषय-भोगों में कोई आसक्ति ही नहीं होती। नल राज्य का भार मन्त्रियों को सौंप कर सर्व-साधन-सम्पन्न राज-प्रासाद में भगवान् मदन की आराधना करने लगे।

मधुर प्रभात

रात वीतने पर प्रभात होने को हुआ। नल प्रिया का परिरम्भण किए हुए निद्रा की गोद में थे। वैतालिक लोग उन्हें जगाने के लिए श्रुतिमधुर पद सुनाने लगे और उषा, निशा, चन्द्र, तारे, चक्रवाक, भ्रमर, कमल, कुमुद, सूर्य आदि का वर्णन अद्भुत कल्पनाओं के साथ करने लगे। उषा-काल से लेकर दूरारूढ़ अवस्था तक सूर्य का अत्यन्त हृदयहारी क्रमिक वर्णन किया, जिसे सुनकर दमयन्ती ने इन्हें पारितोषिक-रूप में अपने शरीर के अलङ्कार दिए। नल ने प्रभात-स्नान किया फिर यौतक (दहेज) में प्राप्त रथ पर चढ़ कर वाहर आए।

सखी-विनोद

इसके पश्चात् महाराज नल दमयन्ती से पूछ कर अपनी प्राभातिकी अग्नि-होत्रादि क्रियाओं को निपटा कर फिर प्रिया के पास आए। सखियों के सहित दमयन्ती के साथ हास-केलि का सुख लेने लगे। दमयन्ती ने प्रणय में मान किया, उसे भङ्ग करने के लिए नल ने साम, सखी से भेद, विनति आदि कई उपाय किए। सखी-प्रसङ्ग के द्वारा उनकी रतिक्रीड़ा के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ। उसी समय चारण-वनिता ने दोपहर-स्नान करने की सूचना दी। शिव-पूजा की वेला को समीप समझ कर वे स्नान के लिए प्रसन्न मुद्रा में चल दिए।

देवार्चना

वैदर्भी-प्रासाद से नीचे उतर कर राजा नल ने समागत सामन्त नरेशों का उपहार स्वीकृत करते हुए तथा उन्हें प्रत्युपहार से सम्मानित करते हुए विदा किया। फिर विद्या सीखने के लिए आए हुए राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र का भी अभ्यास कराया। इसके अनन्तर शांस्त्रीय विधि से स्नान किया। वस्त्र पहनकर मध्याह्न-सन्ध्योपासन करके पूजा-गृह में गए। वहां सूर्यदेव की अर्चना के पश्चात् शङ्कर की सविधि-पूजा की। फिर पुरुष-सूक्त के अनुसार पुरुषोत्तम भगवान् की बारहों मूर्तियों की "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस द्वादशाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते हुए वन्दना की। फिर विष्णु के अवतारों की स्तुति की। अनेक प्रकार की स्तुतियां करते हुए राजा नल भगवान् विष्णु के ध्यान में सम्प्रज्ञात समाधि में लीन हो गए। भावना में विष्णु का साक्षात्कार करके भक्त्युद्रेक में उन्मत्त हो गाने तथा झूमने लगे। इस प्रकार विष्णु और शङ्कर की पूजा करके ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर अन्त में सिर झुकाए भोजनालय में गए। वहां सुस्वादु भोजन किया और अपने आनन्द-भवन में गए। इधर दमयन्ती भी गौरी आदि देवताओं की पूजा कर पति के पश्चात् भोजन कर, पूर्ण अलङ्कृत हो उसी भवन में जाकर पति की गोद में बैठ गई। सखियों ने आकर वीणा-गान सुनाया। अन्त में सन्ध्या वेला होने पर राजा सुन्दरी को सखियों के साथ विनोद करने के लिए कह कर सायं-सन्ध्योपासन के लिए चले गए।

निशागमन

सन्ध्योपासन समाप्त कर महाराज नल सातवीं अट्टालिका में दमयन्ती के पास पुनः पहुंचे। स्वागत के लिए खड़ी प्रिया को गोद में बैठा कर सन्ध्या का वर्णन करने लगे। मधुर कल्पनाओं के साथ सन्ध्या, तारों, अन्धकार तथा चन्द्रमा का वर्णन किया। दमयन्ती ने भी सस्नेह चन्द्रमा का वर्णन अनूठी कल्पना के साथ सुनाया, जिसे सुनकर नल आनन्द और आश्चर्य से क्षण भर स्तब्ध रह गए और प्रिया की उस वर्णन-शैली की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अन्त में स्वयं भी चन्द्र-वर्णन करते हुए बोले—"प्रिये, कई बार राहु के दांतों के नीचे पड़ने के कारण भगवान् शीतांशु के शरीर में असङ्ख्य छिद्र बन गए हैं जिनसे किरणों के रूप में उनकी सुधा बहा करती है—तो तुम्हारी पूजा में मदन और रति के परिणय करते समय भगवान् चन्द्रदेव सहस्रधार कलश की भांति अमृत-वर्षा करते हुए हम लोगों को सुख दें।"

ख

आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक वृत्त

आचार्यों ने कथावस्तु दो प्रकार की मानी है। प्रथम आधिकारिक (मुख्य) है तथा द्वितीय प्रासङ्गिक (गौण)।[1] कथा के प्रधान फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है और उसके इतिवृत्त को आधिकारिक कहते हैं।[2] प्रसङ्ग-वश आया हुआ जो कथानक आधिकारिक के लिए होता है, उसे प्रासङ्गिक कहते हैं।[3] नैषध में नल-दमयन्ती की कथा तो आधिकारिक है किन्तु हंस-प्रसङ्ग, नारद-इन्द्रसंवाद, देव प्रसङ्ग तथा कलि-प्रसङ्ग आदि सभी प्रासङ्गिक कथानक हैं, जो प्रधान इतिवृत्त के विकास में सहायक होते हैं। इनमें से कलिप्रसङ्ग यद्यपि विशेष सहायक नहीं है पर उसकी भी कोई उपयोगिता है जो आगे अन्य अध्याय में स्पष्ट की जायगी।

आचार्यों ने काव्य के कथानक में नाटक की पांचों अर्थ-प्रकृतियों तथा कार्य की सभी अवस्थाओं एवं पांचों सन्धियों का होना आवश्यक माना है।[4] श्रीहर्ष केवल कवि ही नहीं काव्य-रचना के आचार्य भी थे, क्योंकि नैषध में काव्य की पूर्वोक्त सभी विशेषताएं वर्तमान हैं और साथ ही, वे रस की अभिव्यक्ति में सहायक भी होती हैं, केवल कवि की शास्त्रज्ञता सूचित करने के लिए नहीं सन्निविष्ट की गई हैं।[5]

अर्थप्रकृतियां

अर्थप्रकृतियां मुख्य प्रयोजन के साधन की उपाय कही जाती हैं। नैषध में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य इन पांचों अर्थप्रकृतियों की योजना हुई है।

---

१. वस्तु च द्विधा। तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः। दशरूपक १।११

२. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निवर्त्यमभिव्यापि वृत्तंस्यादाधिकारिकम्॥ दशरूपक १।१२

३. प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः॥ दशरूपक १।१३

४. सर्वेनाटकसन्धयः।

५. सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलयाशास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया॥ ध्वन्यालोक ३।६८

बीज

जिसका पहले अत्यल्प कथन किया जाय, किन्तु आगे चल कर जो अनेक रूप से विस्तार पाए, उसे बीज कहते हैं।[1]

प्रथम सर्ग में दमयन्ती के हृदय में यौवनागम के साथ नल के अद्भुत रूप तथा गुणों को दूतद्विजवन्दिचारणों से सुनने के कारण, एवं नल के हृदय में दमयन्ती के लोकोत्तर गुणों को लोगों से सुनने के कारण परस्पर अनुरागाङ्कुर का उत्पन्न होना 'बीज' अर्थप्रकृति है।

विन्दु

अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है, उसे विन्दु कहते हैं।[2] दमयन्ती-विरह-व्यथित नल जब अनङ्ग-चिह्नों को छिपाने में असमर्थ हो गए तो एकान्त स्थान की इच्छा से उपवन में गए और वहां हंस का प्रसङ्ग आ गया, जिससे उनकी विरह-वेदना कुछ क्षण के लिए विस्मृत-सी हो गई, किन्तु हंस ने ही नल से दमयन्ती के रूप की चर्चा करके भूली कहानी की पुनः याद दिला दी। अतः यह 'विन्दु' अर्थप्रकृति हुई।

पताका

जो प्रासङ्गिक कथा दूर तक चलती रहे, उसे पताका अर्थप्रकृति कहते हैं।[3] इन्द्रादि देवों का दमयन्ती-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना एक दूर-व्यापी कथानक हो जाता है। अतः यह 'पताका' अर्थप्रकृति है।

प्रकरी

प्रसङ्गागत एकदेशस्थित चरित को प्रकरी कहते हैं।[4] प्रकरी-नायक का अपना कोई फलान्तर नहीं होता। नैषध में नारद-इन्द्र-संवाद 'प्रकरी' है।

कार्य

जो प्रधान साध्य होता है, जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाता

---

१. स्वल्पोद्दिष्टस्तुतद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।। दशरूपक १।१७
२. अवान्तरार्थविच्छेदेविन्दुरच्छेदकारणम्।। द० रू० १।१७
३. सानुबन्धंपताकाख्यम्।। द० रू० १।१३
४. प्रकरी च प्रदेशभाक्। द० रू० १।१३

है, जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री एकत्रित की जाती है, उसे कार्य अर्थप्रकृति कहते हैं।[१] दमयन्ती का स्वयंवर में नल को वरना तथा विवाह आदि 'कार्य' हैं।

कार्यावस्थाएं

फल के इच्छुक पुरुषों द्वारा आरम्भ किए गए कार्य की पांच अवस्थाएं होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।[२]

आरम्भ

मुख्यफल की सिद्धि के लिए जो औत्सुक्य होता है उसे आरम्भ अवस्था कहते हैं।[३] हंस की बातों से नल तथा दमयन्ती दोनों के हृदय में परस्पर प्राप्ति की जो उत्सुकता होती है वह 'आरम्भ' अवस्था है। यह प्रथम से तृतीय सर्ग तक चलती है।

यत्न

फल-प्राप्ति न होने पर उसके लिए अत्यन्त-त्वरा-युक्त व्यापार को यत्न कहते हैं।[४] चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती की विरह-व्यथित-दशा को देख कर पिता का स्वयंवर करने का निश्चय करना 'यत्न' अवस्था है।

प्राप्त्याशा

जहां प्राप्ति की आशा उपाय तथा अपाय की आशङ्काओं से घिरी हो, किन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो, उस अवस्था को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं।[५] नल का देवदूत बनकर जाना तथा नल-दमयन्ती संवाद और अन्त में नल का अपने को व्यक्त करना तथा स्वयंवर में आने का वचन देना 'प्राप्त्याशा' अवस्था है।

---

१. अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनम्।
समापनं तु यत्सिध्यै तत्कार्यमितिसम्मतम्॥ सा० द० ६।६९-७०

२. अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्यफलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥ द० रू० १।१९

३. औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभायभूयसे। द० रू० १।२०

४. प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः। द० रू० १।२०

५. उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसम्भवः। द० रू० १।२१

नियताप्ति

अपाय के दूर हो जाने से जो प्राप्ति का निश्चय होता है उसे 'नियताप्ति' कहते हैं।[१] चतुर्दश सर्ग में स्वयंवर में देवपूजा के पश्चात् देवों का प्रसन्न होकर अपने चिह्न प्रकट करना तथा दमयन्ती को वास्तविक नल का स्पष्ट ज्ञान होना 'नियताप्ति' अवस्था है।

फलागम

जहां सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय, उस अवस्था को 'फलयोग' या 'फलागम' कहते हैं।[२] नल को वरमाला पहनाना, विवाह आदि 'फलागम' अवस्था है।

सन्धियां

एक प्रयोजन में अन्वित कथांशों के अवान्तर सम्वन्ध को 'सन्धि' कहते हैं।[३] उक्त अर्थप्रकृतियों की पांच अवस्थाओं के सम्वन्ध से कथानक के विभाग होने पर क्रम से पांच सन्धियां मानी गयी हैं। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहृति।[४]

मुख

जहां अनेक अर्थ और अनेक रसों के व्यञ्जक बीज (अर्थप्रकृति) की उत्पत्ति प्रारम्भ नामक अवस्था के संयोग से हो, उसे 'मुखसन्धि' कहते हैं।[५] नैषध में प्रथम से तृतीय सर्ग तक जहां बीज तथा आरम्भ का संयोग है मुखसंधि है। (विन्दु प्रकृति भी इसी में आ गई है।) हंस-नल तथा हंस-दमयन्ती के संवादों में मुखसन्धि के प्रायः सभी अङ्गों का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

प्रतिमुख

जहां मुखसन्धि में निवेशित फल-प्रधान उपाय का विकास "विन्दु" और

---

१. अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता। द० रू० १।२१
२. समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः। द० रू० १।२१
३. अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति। द० रू० १।२३
४. अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
   यथासंख्येनजायन्तेमुखाद्याः पञ्चसन्धयः॥ द० रू० १।२२, २३
५. मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। द० रू० १।२४

"प्रयत्न" के अनुगम द्वारा कुछ लक्ष्य तथा कुछ अलक्ष्य हो उसे 'प्रतिमुख सन्धि' कहते हैं।[1] चतुर्थ सर्ग का कथांश प्रतिमुख सन्धि है।

गर्भ

जहां पूर्व सन्धियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फल-प्रधान उपाय का ह्रास और अन्वेषण से युक्त वार-बार विकास हो, उसे 'गर्भसन्धि' कहते हैं।[2] नल का देव-दौत्य स्वीकार करना, दूती-दमयन्ती-संवाद तथा दूतरूप-नल-संवाद में उपाय का कई वार ह्रास तथा अन्वेषण होता है, अतः यहां गर्भसन्धि है।

विमर्श

जहां बीजार्थ गर्भ-सन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित हो, किन्तु क्रोधादि के कारण विघ्नयुक्त हो, उसे 'विमर्श सन्धि' कहते हैं।[3] स्वयंवर में नल-दमयन्ती का पति-पत्नी के रूप में संयोग अत्यन्त सम्भव है किन्तु इन्द्रादि चारों देवों का नलरूप में स्थित होना वड़ा भारी विघ्न है। अतः यहां विमर्श सन्धि है।

उपसंहृत

बीज से युक्त मुखादि सन्धियों में विखरे हुए अर्थों का जहां एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वय साधित किया जाय उसे निर्वहण या 'उपसंहृति सन्धि' कहते हैं[4]। अन्त में नल-दमयन्ती-विवाह उपसंहृति या निर्वहण सन्धि है।

नैषध का प्रधान वर्ण्यविषय यौवन और प्रेम (शृङ्गार) है। नल के उदात्त चरित के इन्हीं दो प्रधान अंशों का इसमें वर्णन हुआ है। अतः जहां तक कथानक का सम्बन्ध है, नैषध में वह बहुत परिमित है। इसमें जीवन की अनेक-रूपता नहीं है किन्तु कवि की अद्भुत प्रतिभा तथा समृद्ध कल्पना के कारण उसका इतना विस्तार हुआ है। महाकाव्य-रचना की कुछ रूढ़ियां भी इस विस्तार का कारण बनी हैं।

---

१. लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्यप्रतिमुखं भवेत्। बिन्दुप्रयत्नानुगमात्॥ द० रू० १।३०

२. गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्नवास्यात्प्राप्तिसंभवः॥ द० रू० १।३६

३. क्रोधेनावमृशेद्यत्रव्यसनाद्वाविलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोवमर्षोङ्गसंग्रहः॥ द० रू० १।४३

४. बीजवन्तोमुखाद्यर्थाविप्रकीर्णायथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्रनिर्वहणं हि तत्॥ द० रू० १।४८, ४९

ग

२२ सर्गात्मक नैषध एक पूर्ण काव्य है

स्व० श्री नीलकमल भट्टाचार्य ने वाईस सर्गों में प्राप्त इस प्रचलित नैषध काव्य को अपूर्ण माना है।[१] उनका मत है कि महाभारत में वर्णित नल के सम्पूर्ण कथानक को लेकर "नैषध" काव्य की रचना हुई थी, जिसमें अब केवल ये वाईस सर्ग ही प्राप्त हैं। शेष या तो नष्ट हो गए या अभी तक प्राप्त ही नहीं हुए हैं। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में तीन प्रधान तर्क दिए हैं। उनका प्रथम तर्क इस काव्य के नाम पर ही आधारित है। भट्टाचार्य महोदय के कथन का सार-भाग यह है कि नैषध एक चरित-काव्य है। श्रीहर्ष ने स्वयं इसका "नैषध-चरित" नाम से उल्लेख किया है, और एक चरित काव्य में उसके नायक या नायिका के जीवन की प्रधान घटनाओं का तो अवश्य ही उल्लेख किया जाता है। किन्तु इस प्रचलित नैषध में हमें इस प्रकार की कितनी घटनाओं का उल्लेख मिलता है, इसका सम्पूर्ण वस्तु-तत्त्व नायक के विवाह एवं तत्सम्वन्धी घटनाओं तक ही सीमित है। नल के उत्तरार्द्ध जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं की (जिन्हें हम महाभारत में पाते हैं, जिससे कवि ने भी अपना कथानक लिया है) पूर्णतया उपेक्षा की गई है। यदि मूल-कथा का यथावत् अनुकरण करना कवि को अभीष्ट नहीं था तो उसे इसकी भी स्वतन्त्रता थी कि वह नई घटनाओं की उद्भावना करके अपने काव्य की सङ्गति वनाये रखता। श्री भट्टाचार्य महोदय का यह तर्क वड़ा आकर्षक लगता है, किन्तु नैषध की काव्य-कल्पना की कला पर ध्यान रखते हुए विचार करने पर यह युक्ति-सङ्गत नहीं समझ पड़ता।

राजा नल की कथा चिरकाल से लोकविश्रुत रही है। नल, राम, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि महापुरुषों के जीवन-चरित भारतीय समाज के सनातन से मार्ग-दर्शक रहे हैं। वाल्यकाल से ये कहानियां हिन्दू-घरों में सुनने को मिलती हैं। सुख के समय इनसे मनोविनोद होता है तो दुःख के समय आश्वासन। नल कथा की इस प्रसिद्धि से श्रीहर्ष भलीभांति परिचित थे। नैषध के प्रथम तीन श्लोकों में ही कवि ने इस वात की व्यञ्जना कर दी है कि नल-चरित पहले से ही इतना लोकप्रिय तथा लोक-प्रचलित है कि उसे पूरा कहने की कोई आवश्यकता नहीं। पुण्यश्लोक के उस चरित के जितने ही अंश का स्मरण किया जाता है उतना ही पवित्र करने के लिए पर्याप्त होता है। "अतः मैं भी अपनी दूषित वाणी को उसका

---

१. सरस्वती-भवन स्टडीज (३) १९२४, पृ० १५९-१९४

गान कर पवित्र करूँगा।" प्रथम सर्ग के अन्त में उन्होंने अपने संकल्प की सूचना भी दे दी है कि उनकी यह रचना शृङ्गार-रस की हो रही है।[1] आगे चल कर बीच में फिर एक वार अपने काव्य को शृङ्गार-रस रूपी अमृत का सुधाकर (चन्द्रमा)[2] कहकर इस वात का स्मरण दिलाया है कि उनके नैषध का प्रधान रस शृङ्गार ही है। और काव्य के अन्त में "यथा यूनस्तद्वत् परम-रमणीयापि रमणी" इत्यादि श्लोक से इस वात की स्पष्ट व्यञ्जना कर दी है कि नैषध की शृङ्गार-सूक्ति केवल सहृदयों को आनन्द देने वाली है—अरस पुरुषों के हाथ कुछ लगने का नहीं। अतः इस काव्य का आत्मा शृङ्गार-रस है। और नल-चरित पर यदि हम विचार करें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होगा कि उसका पूर्वार्द्ध (अर्थात् दमयन्ती-विवाह तक) ही शृङ्गार रचना के लिए उपयुक्त कथानक वन सकता है। शेष उत्तरार्द्ध भाग में करुण ही अधिक है, जिसका चित्रण शृङ्गार के प्रतिकूल पड़ता।

जहां तक शृङ्गार-रस का सम्वन्ध है कवि ने उसके संयोग-वियोग दोनों पक्षों का साङ्गोपाङ्ग चित्रण नल के पूर्व जीवन में कर दिया है। द्यूत में हारने पर वनवास एवं अज्ञातवास में पुनः विप्रलम्भ आता है—उसका वर्णन पिष्टपेषण होने के कारण अत्यन्त अरोचक तथा काव्य-सौन्दर्य-हीन होगा। उसी प्रकार उनका दूसरे स्वयंवर में पुनर्मिलन संयोग-शृङ्गार का भी पिष्ट-पेषण ही होगा। नैषध के प्रधान रस का इस सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर कोई भी काव्य-मर्मज्ञ इस वात की कल्पना नहीं कर सकता कि श्रीहर्ष ने नैषध के कथानक में नल का उत्तरार्द्ध जीवन भी रक्खा होगा। इसके अतिरिक्त राजा नल के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास विवाह तक की ही कहानी में हो जाता है—शेष जीवन में भाग्य या दैवी विधानों का (चाहे वे कलिकृत हों या द्वापरकृत) अधिक प्राधान्य रहता है। स्वयं नल भाग्य के हाथ में क्रीडनक-मात्र रहते हैं। यदि हम उत्तरार्द्ध की घटनाओं पर विचार करें तो हमें यह भी मालूम पड़ता है कि उत्तरार्द्ध में नल की अपेक्षा दमयन्ती का चरित अधिक ज्योतिष्मान् है। उसके सतीत्व की दिव्य ज्योति के सामने विपद्ग्रस्त नल के चरित का कोई स्थान नहीं रह जाता। नलोपाख्यान के उत्तरार्द्ध में अथ से इति तक दमयन्ती-चरित ही प्रधान है। उसमें नल का चरित तो अपेक्षाकृत गौण ही है। अतः 'नल-चरित' या 'नैषध-चरित' नामक काव्य में उस अंश की कोई उपयोगिता नहीं। श्रीहर्ष ने इस तत्त्व को ध्यान में रखकर ही 'नैषध' का कथानक केवल विवाह-पर्यन्त ही रखा। इससे यह भी नहीं सोचना चाहिए कि इसमें दमयन्ती-चरित की उपेक्षा

---

१. शृङ्गारभङ्ग्यामहाकाव्ये—इत्यादि—नै० १।१४५

२. शृङ्गारामृतशीतगौ—नै० ११।१३०

की गई है। दमयन्ती का चरित पूर्वार्द्ध में भी अत्यन्त महत् अपितु उत्तरार्द्ध से भी महत्तर चित्रित हुआ है। किन्तु वह नल के व्यक्तित्व के विकास में सहायक ही होता है बाधक नहीं। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में चरित-काव्य-नामक कोई विभाग नहीं है। काव्य-कथानक या तो इतिहासोद्भव होना चाहिए, या किसी सज्जन (महा-पुरुष) के जीवन पर आश्रित।[१] इतिहास-प्रसिद्ध या लोक-प्रसिद्ध नायक के चरित का कोई भी अंश उसका चरित ही कहा जायगा। काव्य में उसका नाम 'चरितांश' नहीं रक्खेंगे। पद्मगुप्त-कृत नवसाहसाङ्क-चरित में उज्जयिनी-नरेश सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) द्वारा शशिप्रभा का लाभमात्र (अट्ठारह सर्गों में) वर्णित है। सिन्धुराज का पूरा चरित नहीं कहा गया। किन्तु उसके चरित्र का सर्वाङ्गीण चित्र इतने में ही हो जाता है। कवि को जितना अंश अभीष्ट होता है वह उतना ही लेता है—उसे पूरे इति-वृत्त का वर्णन करना नहीं रहता—वह इतिहास आदि से जाना जा सकता है।[२] नैषध के इतने ही कथानक में नल के चरित्र की सारी विशेषताएं पूर्ण प्रदर्शित हो जाती हैं। उत्तर जीवन में नल दमयन्ती को वन में अकेली छोड़ कर चले गए थे। किन्तु नैषध में असत्य से डरने वाले नल ने दमयन्ती को वरदान दिया है कि "प्रिये, तुमने अपनी सखियों से अपने भय का एकमात्र कारण मेरा विरह बताया था—अतः मैं तुम्हें वचन देता हूं कि मैं तुम्हें जीवन में कभी अलग न करूंगा।" इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष को उत्तर नल-चरित का वर्णन करना अभीष्ट नहीं था, क्योंकि उसके वर्णन में इस वरदान का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। इस श्लोक में नल के लिए प्रयुक्त 'असत्यकातर' शब्द बड़े महत्त्व का है। दमयन्ती को छोड़ने पर वे अपनी प्रतिज्ञा से गिर जाते और यह 'असत्यकातर' विशेषण व्यर्थ हो जाता।

श्री भट्टाचार्य महोदय ने नैषध की अपूर्णता के लिए दूसरा हेतु नैषध में स्थान-स्थान पर आया हुआ कलि-प्रसङ्ग बताया है। नल के भविष्य जीवन में कलि जो आपत्तियां लाने वाला है उसकी ओर कवि ने कई बार सङ्केत किया है। किन्तु जब कलि के कृत्यों का समय आने को होता है उसके पूर्व ही ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है। गम्भीरता से विचार करने पर यह तर्क भी निर्मूल लगता है। इसका प्रथम

---

१. इतिहासकथोद्भूतमितरद्वासदाश्रयम्। काव्यादर्श १।१५

२. स्फारे तादृशि वैरसेनिनगरे पुण्यैः प्रजानां घनं,
विघ्नं लब्धवतश्चिरादुपनति स्तस्मिन् किलाभूत् कलेः।
एतस्मिन् पुनरन्तरेन्तरमितानन्दः स भैमीनला,
वारादृषुं व्यधित स्मरः श्रुतिशिखावन्दारुचूडं धनुः॥ नै० १७।२२१

समाधान तो यही है कि नल-कथा इतनी प्रसिद्ध है कि कहीं किसी भविष्य प्रसङ्ग का उल्लेख करके भी कवि इसके लिए वाध्य नहीं है कि उसे भी पूरा वर्णित करे। सप्तदश सर्ग में कलि-प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने अन्त में लिखा है कि "नल के उस विशाल नगर में प्रजा के धर्म-वाहुल्य के कारण चिरकाल तक विघ्नों से भटकते रहने पर कलि को उनके उद्यान में आश्रय मिला। कहते हैं, यहां वह वहुत समय तक रहा। और इसी वीच कामदेव ने अत्यन्त प्रसन्न हो नल-दमयन्ती की आराधना के लिए अपने धनुष की प्रत्यञ्चा भी चढ़ाई।" इस एक श्लोक के द्वारा महाकवि ने कई प्रयोजन सिद्ध किए हैं। 'किल' शब्द का प्रयोग करके उन्होंने कलि-प्रसङ्ग को यहीं समाप्त कर दिया—अर्थात् कलि का उस उपवन में टिकना या आगे का उसका कोई कार्य इतिहास-पुराण में अति प्रसिद्ध है, इस काव्य में उसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके साथ ही उन्होंने आगे वर्णित किए जाने वाले सम्भोग-शृङ्गार का उपोद्घात भी इसी में कर दिया—जो कलि कथानक को यहां भुला देने का दूसरा कारण वनता है। कलि-प्रसङ्ग की अन्य उपयोगिता पर आगे के अध्याय में विशेष लिखा जायगा, अतः पुनरुक्तिभय से यहां इतना ही पर्याप्त है।

श्रीभट्टाचार्य ने अपने मत की पुष्टि में तीसरा तर्क यह दिया है कि देवों ने स्वयंवर के अन्त में जो अनेक वरदान दिए वे नैषध-काव्य में नल या दमयन्ती के उपयोग में कहां आते हैं? इनका उपयोग तो नल के उत्तर जीवन में होता है। सम्भवतः विद्वान् समालोचक ने नैषध का पूरा अध्ययन ही नहीं किया था। नल-दमयन्ती को जो वरदान देवों ने दिए थे उनका उपयोग श्रीहर्ष ने वड़ी कुशलता के साथ सम्भोग-शृङ्गार-वर्णन के समय उनकी रति-क्रीड़ाओं में किया है।[1] फिर सखियों के साथ परिहास-कथा में भी उनका उपयोग हुआ है।[2] अतः वरदानों की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए विद्यमान नैषध को अपूर्ण वता कर और सर्गों की कल्पना करना व्यर्थ है।

नैषध की स्वाभाविक पूर्णता का सब से वड़ा प्रमाण स्वयं उसके अन्तिम सर्ग का अन्तिम श्लोक है, जिसमें चन्द्र-वर्णन के प्रसङ्ग में नल दमयन्ती से कहते हैं—"प्रिये, कई वार राहु के दांतों के नीचे पड़ने के कारण भगवान् चन्द्रदेव के शरीर में असङ्ख्य छिद्र बन गए हैं जिनसे किरणों के रूप में अमृत बहा करता है—अब मदन-रति के परिणय का आनन्दाभिषेक (हमारे आलिङ्गन) करते समय भगवान् चन्द्रदेव एक

---

१. नै० १८—६८, ७९, ८७, ८८, ८९, ९२

२. नै० २०—१२५, १२७

सहस्रधार कलश की भांति अमृतवर्षा करते हुए हम लोगों को सुख एवं सन्तोष दें।" सम्भोग-शृङ्गार के प्रसङ्ग में इसे पढ़ने के पश्चात् अब आगे क्या कथानक है, इसके लिए न कोई जिज्ञासा होती है न कौतूहल और ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि कवि को आगे कुछ कहना शेष नहीं है। 'सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्' (सा० द० ६।३२१) के अनुसार पूर्ववर्ती सभी सर्गों के अन्त में अग्रिम सर्ग की कथा का बीजारोपण हो जाता है किन्तु बाईसवें सर्ग का अन्त इस प्रकार किया जाता है कि यहीं ग्रन्थ की भी वास्तविक समाप्ति समझ पड़ती है। अतएव मङ्गलवाची 'श्री' शब्द का भी प्रयोग किया गया, बाइसवें सर्ग के अन्त में रक्खा गया यह मङ्गलार्थ 'श्री' शब्द नैषध की समाप्ति का ही द्योतक है।

नैषध की स्वाभाविक पूर्ति के सब से बड़े प्रमाण अन्त में लिखे हुए कवि-परिचयात्मक चारों श्लोक भी हैं, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखे जा सकते थे। उनमें से कुछ श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य के भी अन्त में लिखे हैं। इन श्लोकों को श्रीहर्ष की अवास्तविक रचना बताने के लिए भट्टाचार्य महोदय ने जितने प्रयत्न किए हैं वे सभी कल्पित और दृढ़मूल न होने के कारण नितान्त उपेक्षणीय एवं उपहासास्पद हैं।

---

१. स्वर्भानुप्रतिवारपारणमिलद्दन्तौघयन्त्रोद्भव,
श्वभ्रालीपतयालुदीधितिसुधासारस्तुषारद्युतिः।
पुष्पेष्वासनतत्प्रियापरिणयानन्दाभिषेकोत्सवे,
देवः प्राप्तसहस्रधारकलशश्रीरस्तुनस्तुष्टये॥ नै० २२-१४८

तृतीय अध्याय

कथानक का औचित्य

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति[1] ।।

काव्य में ऐतिहासिक कथानक का महत्त्व

इतिहास अतीत की घटनाओं को यथासम्भव सत्यरूप में अङ्कित करता है। उसका उत्तरदायित्व केवल उन घटनाओं के प्रति होता है। वह अपने सत्यशुद्ध रूप में यथार्थ को लेकर चलता है। उसमें ऐसी घटनाओं का वर्णन होता है जो इसी लोक में घटित हुई तथा उसमें ऐसे व्यक्तियों का चरित्र होता है जो इसी मानव समाज के अङ्ग थे। अतः समाज उन ऐतिहासिक वृत्तों में अपनी ही कहानी सत्यरूप में कही हुई पाता है—वे उसीके जीवन के प्रतिविम्ब समझ पड़ते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों की प्रसिद्धि तथा प्रियता का प्रधान कारण यही है कि वे मानव-समाज के एक अङ्ग होकर ही मनुष्य-स्वभावानुकूल कुछ ऐसे कार्य कर गए जो समाज के लिए वहुत कुछ पथप्रदर्शक का कार्य करते हैं। समाज का सनातन सत्य स्वरूप अतीत के दर्पण में देखा जा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि इतिहास समाज की बीती कहानी है और समाज इतिहास का प्रतिविम्व। अतीत की स्मृति केवल सुखपूर्ण ही नहीं होती, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शिनी भी होती है। इतिहास द्वारा जिन वातों को हम जानते हैं, जव हम भावना में अपनी कल्पना के आधार पर उनका मूर्त रूप बनाते हैं तो वे और भी मार्मिक हो उठती हैं—हम उनमें लीन हो जाते हैं। सत्य और कल्पना के इस अद्भुत समन्वय की मनोहरता का अनुभव करके ही आचार्यों ने काव्य-कथानक के लिए इतिहासोद्भव वृत्त को प्रधानता दी। या किसी ऐसे सत्पुरुष का भी चरित्र काव्य-कथानक के लिए उपयुक्त बताया जो कल का ऐतिहासिक व्यक्ति होने वाला है।[2] नितान्त कल्पित कथानक को काव्य के लिए उपयोगी नहीं माना—विशेषतः महाकाव्य के लिए। क्योंकि उसमें इस वात की वहुत अधिक सम्भावना

---

१. ध्वन्यालोक ४-११९

२. इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्—काव्यादर्श १–१५

रहती है कि कवि समाज के कल्पित आदर्शों से इधर-उधर बहक जाय और इस प्रकार काव्य के प्रमुख प्रयोजन अथवा प्रधान लक्ष्य (अर्थात कान्तासम्मिततया उपदेश-प्रदत्व) को ही खो बैठे।

इतिहासोद्भव वृत्त काव्य का कथानक बनकर नव्य, भव्य, विश्वसनीय एवं प्रभविष्णु हो जाता है। कथानक की ऐतिहासिकता लोगों में काव्य के प्रति विश्वास उत्पन्न कराती है और इस प्रकार उसका रूप सजीव, स्वाभाविक एवं व्यावहारिक लगने लगता है। पाठक को इस बात का विश्वास हो जाता है, कि काव्यवर्णित यह सत्य इसी लोक का है जिसे इसी लोक के प्राणियों ने अपने इसी जीवन में प्राप्त किया है। ऐतिहासिक वृत्त एवं पात्र साहित्य-सिद्ध आदर्शों को सजीवता से अनुप्राणित कर देते हैं, साहित्यिक कल्पनाओं में यथार्थता ला देते हैं, तथा काव्यगत भावनाओं एवं विचारों को उड़ान के आकाश से संभाव्यता और प्रतीति-योग्यता के धरातल पर ला देते हैं। इतिहास-वर्णित चरित्रों से जनसाधारण का आत्मीय सम्बन्ध संस्कारतः जुड़ा रहता है, जिससे साधारणीकरण तथा तादात्म्य स्थापित करने में बड़ी सुगमता होती है। काव्य में कल्पना का विशेष हाथ रहता ही है किन्तु उस कल्पना-निर्मित काव्यगत जीवन को लोकग्राह्यता अर्थात् व्यावहारिकता के स्तर पर लाने का श्रेय ऐतिहासिक कथानक को ही है। इसीलिए भारतवर्ष ही नहीं संसार के साहित्य में ऐतिहासिक वृत्तों की ही प्रधानता रही है। काव्य में ऐतिहासिक वृत्त रखने का एक और विशेष कारण है। उसमें व्यक्ति के चरित्र का प्रायः समग्र रूप दिखाया जाता है, जो अतीत के आश्रय से ही पूर्णरूपेण जाना जा सकता है। यदि केवल वर्तमान जीवन का आश्रय लिया जाय तो पूरे का चित्रण नहीं हो सकता। क्योंकि पता नहीं आगामी जीवन में किस व्यक्ति के चरित्र में क्या परिवर्तन हो जाय। अतः जब तक जीवन की पूरी कथा न मालूम हो किसी एक अङ्ग या अंश में उसके सम्पूर्ण चरित्र का प्रतिनिधित्व या प्रतिबिम्ब नहीं दिखाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति में गुण-दोष दोनों रहते हैं। न कोई नितान्त भला होता है और न कोई नितान्त बुरा ही। जिसमें अच्छाइयों की अधिक मात्रा होती है उसे अच्छा, जिसमें बुराइयों की अधिक मात्रा होती है उसे बुरा कहा जाता है। काव्य या महाकाव्य में किसी व्यक्ति की सारी कहानी नहीं कही जाती, अपितु उसके जीवन का जितना अंश काव्य-रस-विशेष के लिए उपयोगी समझा जाता है कवि उतने मात्र का वर्णन करता है। अतएव आचार्य आनन्दवर्धन का मत है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव की उचित योजना द्वारा सुन्दर (प्रसिद्ध ऐतिहासिक आदि) या कल्पित कथानक से युक्त प्रबन्ध ही रस का व्यञ्जक होता है। उसमें मनोनीत रस की प्रतिकूल घटनाओं का त्याग तथा अनुकूल घटनाओं की कल्पना भी की जा

सकती है।[1] और उतने ही में वह अपने पात्रों के अभीष्ट एवं मनोनीत चरित्र का समग्र रूप से प्रदर्शन कर सका तो मानों उसने अविकल सफलता प्राप्त कर ली। पात्र का काव्य-वर्णित-मात्र-चरित्र उसके समग्र चरित्र का प्रतीक होना चाहिए, और यह तभी हो सकता है जब पात्रों का चरित्र पूर्ण स्वरूप में विदित हो।

नल-कथा की प्राचीनता

नल-कथा अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध रही है। रामायण एवं महाभारत में उसका उल्लेख देखकर उसकी वैदिक-साहित्य में प्रसिद्धि का भी अनुमान लगाया जा सकता है। वाल्मीकि रामायण में रावण के लिए सीता को डराने वाली राक्षसियों को सीता ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा था—"दीन हो या राज्यहीन हो जो मेरा पति है वही मेरा गुरु है। उसमें मैं उसी प्रकार अनुरक्त हूं जैसे सूर्य में सुवर्चला। भीम कुमारी दमयन्ती जैसे अपने पति नैषध (नल) में अनुरक्त थी उसी प्रकार मैं अपने पति इक्ष्वाकुवंश-शिरोमणि राम में अनुरक्त हूं।"[2] 'महाभारत' में तो नलकथा पूर्ण विस्तार के साथ कही गई है। "नैषधीय-चरित" का वही आधार ही है।

पुराणों में भी इसका उल्लेख हुआ है। उनमें यद्यपि महाभारत की भांति विस्तृत रूप से वर्णित नहीं है, किन्तु उससे उसकी लोकख्याति का पता तो चल ही जाता है।

मत्स्यपुराण में इक्ष्वाकु-वंश-वर्णन के प्रसंग में वीरसेन के पुत्र निषध देश के राजा नल का उल्लेख किया गया है।[3] स्कन्दपुराण में नल का दो बार उल्लेख हुआ है। एक उस समय जब वन में दमयन्ती को अकेली त्यागकर

---

१. विभावभावानुभाव संचार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्यवृत्तस्योत्प्रेक्षितस्यवा॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वा ननुगुणांस्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः॥ ध्वन्यालोक, ३-६६, ६७

२. दीनो वाराज्यहीनोवा योमेभर्तासमेगुरुः।
तं नित्यमनुरक्तास्मियथासूर्यंसुवर्चला॥
नैषधं दमयन्तीव भैमीपतिमनुव्रता।
तथाहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता॥ वा० रा०, सु० का० २४-९, १३
(निर्णय सा० प्रे०)।

३. नलौ द्वावेव विख्यातौ वंशे कश्यपसम्भवे।
वीरसेनसुतस्तद्वन्नैषधश्चनराधिपः॥ म० पु०, अ० १२-५६

दुःखी नल घूमते हुए हाटकेश्वरक्षेत्र पहुंचे और वहां उन्होंने चर्ममुण्डा देवी की स्थापना की और उसी के समीप में शिवलिङ्ग की स्थापना की जो नलेश्वर नाम से विख्यात हुए।[1] दूसरे में केवल नलेश्वर के प्रसङ्ग में नामोल्लेख मात्र हुआ है। कथा विस्तार के साथ नहीं कही गयी है।[2] पहली वार भी प्रथम स्थल में नल का पूर्वार्द्ध जीवन केवल दो श्लोकों में कह दिया गया है। "पुराने समय में वीरसेन के पुत्र नल नाम के राजा हुए। वे सब गुणों से युक्त तथा शत्रुओं का विनाश करने वाले थे। उनकी प्राणों से भी प्रिय भार्या दमयन्ती थी। वह विदर्भ राज की पुत्री थी।"[3] उत्तरार्द्ध का कुछ विस्तार से वर्णन हुआ है क्योंकि वहां उसी से प्रयोजन था। लिङ्ग-पुराण में सूर्यवंशीय राजा ऋतुपर्ण का वर्णन करते हुए उनके मित्र वीरसेन के पुत्र निषधाधिपति नल का उल्लेख हुआ है।[4]

पैशाची भाषा में लिखित गुणाढ्य की वृहत्कथा में भी नलकथा अवश्य कही गई थी। यद्यपि दुर्भाग्य से वृहत्कथा इस समय प्राप्य नहीं है, किन्तु क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी में, सोमदेव भट्ट के कथा-सरित-सागर में तथा जो गुणाढ्य की वृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तर हैं, नल-कथा वर्णित देखकर हम सहज

---

१. स्कन्दपुराण--६--नागरखण्ड, अध्याय ५४, ५५

२. स्कन्द पुराण ७--प्रभासखण्ड, अध्याय ३४५

३. वीरसेनसुतः पूर्वं नलो नाम महीपतिः।
आसीत्सर्वगुणोपेतः सर्वशत्रुक्षयावहः॥
भार्यातस्याभवत्साध्वीप्राणेभ्योऽपिगरीयसी।
दमयन्तीति विख्याता विदर्भाधिपतेः सुता॥ स्कं० पु०, खंड ६, अध्याय ५४--३, ४

४. पुत्रोऽयुतायुषो धीमान् ऋतुपर्णो महायशाः।
दिव्याक्षहृदयज्ञो वै राजा नलसखो बली॥
नलौद्वावेव विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ।
वीरसेनसुतश्चान्यो यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्भवः॥ अध्याय ६६, श्लोक २३-२५

इनके अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी नल नाम का उल्लेख हुआ है। कहीं नैषध नल का, कहीं सूर्यवंशीय नल का और कहीं किसी अन्य नल का। उनमें निषधराज-नल की कथा का यद्यपि कोई सङ्केत नहीं किन्तु नल नाम की प्राचीनता तो सिद्ध ही हो जाती है।

कूर्मपुराण में सूर्यवंशीय 'नल' का उल्लेख हुआ है--

अतिथिस्तु कुशाज्जज्ञे निषधस्तत्सुतोऽभवत्।
नलश्च निषधस्यासीत् नभास्तस्मादजायत॥ अध्याय २१

में उक्त निर्णय पर पहुंचते हैं। क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी में नलकथा अत्यन्त संक्षेप में कही है।[1] प्रारम्भ से विवाह तक की कथा केवल चौदह श्लोकों में कही गई है[2] और उसमें नल द्वारा देवदौत्य का कहीं प्रसङ्ग ही नहीं आया है। सोमदेव ने (१०७० ई०) कथासरित्सागर में नलकथा पर्याप्त विस्तार के साथ सम्पूर्ण कही है।[3] किन्तु पूर्वार्द्ध भाग में ही कथासरित्सागर-गत नलकथा महाभारत से वहुत भिन्न हो जाती है। इसमें हंस नगरसरोवर के किनारे दमयन्ती के चङ्गुल में फंसता है[4] और नलप्राप्ति का प्रलोभन दे कर उससे मुक्ति प्राप्त करता है तत्पश्चात् नल के पास जाता है। दमयन्ती-स्वयंवर में भी वायु को मिला कर पांच देवता आते हैं चार नहीं[5] और स्वयंवर के पूर्व ही नल के दौत्य से प्रसन्न होकर उन्हें अनेकों वर देते हैं।[6] स्वयंवर में पंचनली के स्थान पर षण्नली

अग्निपुराण में भी सूर्यवंशीय 'नल' का उल्लेख हुआ है—

"अतिथिस्तु कुशाज्जज्ञे निषधस्तस्य चात्मजः।

निषधात्तु नलो जज्ञे"—इत्यादि। अध्याय २७३, श्लोक ३६

भागवतपुराण में यदु के पुत्रों में एक 'नल' भी गिनाए गए हैं—

यदोः सहस्रजित् क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुतः—९।२३।२०

मार्कण्डेय पुराण में नाभाग-चरित के वर्णन में एक प्रासङ्गिक उपाख्यान आ गया है जिसमें राजा धूम्राश्व के पुत्र 'नल' का वर्णन हुआ है जो राजा सुदेव का मित्र था और स्वभाव से अत्यन्त दुष्ट था। उसने च्यवन के प्रमति की भार्या का बलात् अपहरण करना चाहा जिस पर प्रमति ने शाप दे दिया और 'नल' भस्म हो गया। शिवपुराण, ज्ञानसंहिता—अध्याय ६२ में भी नल का उल्लेख हुआ है।

देवी भागवत में वीरसेन (स्कन्ध ३, अ० १४, १५ एवं स्कं० ५, अ० १७) तथा दमयन्ती (स्कं० ६, अध्याय २६) नामों का उलेख हुआ है।

१. बृ० क० मं० लम्बक १५—श्लोक ३३१ से ३७१ तक

२. बृ० क० म० लम्बक १५—श्लोक ३३१ से ३४४

३. कथासरित्सागर, लम्बक ९, अलङ्कारवती, तरङ्ग ६, श्लो० २३७ से ४२४ तक। (नि० सा० प्रे० १९३०)

४. बबन्धक्रीडया बाला युक्तिक्षिप्तोत्तरीयका। क० स० सा० ९।६।२४२

५. तेषां च बलभिद्वायुयमाग्निवरुणास्ततः।
संमन्त्र्य दमयन्त्युक्त्वानलस्यैवान्तिकं ययुः॥ क० स० सा० ९।६।२६०

६. तुष्टास्तस्मैददुर्वरान् क० स० सा० ९।६।२६१

का वर्णन हुआ है और सभा में दमयन्ती को राज-परिचय देने वाले उसके भ्राता ही रहते हैं।[१]

दशम शताब्दी के प्रारम्भ में त्रिविक्रम भट्ट ने नलचरित्र को लेकर 'नलचम्पू' अथवा 'दमयन्ती-कथा' की रचना की, जिसके केवल सात उच्छ्वास प्राप्त हैं। इसमें कवि ने अपनी कल्पना को इतना प्राधान्य दिया है कि कथावस्तु भी प्रायः कल्पित-सी लगने लगती है—पुराण वा महाभारत के कथानक से कहीं कोई लगाव ही नहीं समझ पड़ता। कथानक भी नल-दौत्य तक ही है। नवम शताब्दी के उत्तरार्द्ध या दशम के पूर्वार्द्ध में क्षेमीश्वर ने नल-कथा पर नैषधानन्द नामक सात अङ्कों का एक नाटक लिखा।

नैषधकथानक का आधार महाभारत

नैषध के पूर्व नल-कथा पर संस्कृत में अन्य ग्रन्थ भी लिखे गए होंगे, किन्तु वे अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं। श्रीहर्ष के पश्चात् भी नल-विषयक अनेक काव्य-नाटक लिखे गए, जिन पर विचार करना यहां अप्रासङ्गिक होगा। नैषध में नल-विषयक जितना कथानक रक्खा गया है, उसका विवेचन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इसका आधार महाभारत ही है। महाभारत-वर्णित कथानक को यहाँ लिखना उचित न होगा। नल-विवाह तक वह प्रायः नैषध में वर्णित कथानक के समान ही है, जिसका पूर्व अध्याय में विस्तार के साथ वर्णन दिया जा चुका है। अब विचार करना है कि श्रीहर्ष ने महाभारत के उस कथानक में कहां क्या परिवर्तन किया है, और किस प्रयोजन से। क्योंकि इसी बात की सफलता में कवि की प्रबन्ध-कुशलता तथा उसके काव्य की मौलिकता मापी जाती है।

ऐतिहासिक कथानक में परिवर्तन की स्वतन्त्रता

नैषध एक प्रबन्ध-काव्य है। प्रबन्ध-काव्य में जीवन का सरस चित्रण होता है। उसमें जितनी घटनाओं के वर्णन होते हैं वे सभी परस्पर स्वाभाविक क्रम से गुम्फित रहते हैं। उसमें ऐसे प्रसङ्गों का समावेश होना चाहिए जो हृदय को स्पर्श करने वाले हों, जिनसे हृदय में नाना भावों का रसात्मक अनुभव हो। इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता, यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिए घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरङ्ग उठाने में समर्थ हों। अतः कवि को कहीं

---

१. अथैत्य दमयन्ती सा भ्रात्रास्वेनैकशो नृपान्। आवेद्यमानान्—
क० स० सा० ९।६।२७०

तो घटना का सङ्कोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार,[1] और कहीं नितान्त नूतन घटना की उद्भावना करनी पड़ती है। पर नूतन उद्भावना के समय कवि को इस वात के प्रति अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है कि वह नूतन कल्पना काव्यगतरस-सङ्गति के साथ इतिहासगत मुख्य वस्तु-तत्त्व से भिन्न किसी प्रकार न लगे, अपितु उसी का एक विस्तृत रूप प्रतीत हो।[2] काव्यगतरस की व्यञ्जना काव्य-कथानक द्वारा भी होती है। अतः कवि ऐसी कथावस्तु को लेता है जो उसके काव्यरस के लिए अनुकूल हो, और उसमें भी वह अनुपयोगी अंश को छोड़ता चलता है, साथ ही अभीष्ट रस के लिए उपयोगी अंश की कल्पना भी कर लेता है।[3]

नल-कथा को ही अपने काव्य की कथावस्तु वनाने में श्रीहर्ष का कुछ विशेष उद्देश्य था। उन्हें प्रधान रस, शृङ्गार रखना था।[4] अतः उन्होंने नल चरित्र का पूर्व भाग कथानक रूप में लिया। राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या किसी अन्य दिव्य पुरुष के चरित-वर्णन में शृङ्गार-रस का उतना पूर्ण परिपाक न हो पाता, और होता भी तो वह अनुचित होता। आनन्दवर्धन ने कुमारसम्भव में देवीसम्भोग वर्णन के लिए महाकवि (कालिदास) को क्षमा नहीं किया।[5] और यदि श्रीहर्ष किसी समसामयिक

---

१. यदीतिहासादिषु रसवतीषु कथासु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्रविभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदैवग्राह्यम्, नेतरत्। ध्व०, तृतीय उद्योत पृ० २१७, (चौ० सं० सि० १९३७)

२. वृत्तादपि कथाशरीरादुत्प्रेक्षितेविशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात् कवेरव्युत्पत्तिसम्भावनामहती भवति। कविनाप्रबन्धमुपनिबन्धनतासर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्, तां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्।
ध्व० पृ० २१८, २१९

३. विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्यवा॥
इतिवृत्तिवशायातां त्यक्त्वाननुगुणांस्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः॥ ध्व० ३—६६, ६७

४. शृङ्गारभङ्ग्यामहाकाव्ये। नै० १-१४५, शृङ्गारामृतशीलगौ—
नै० ११-१३० इत्यादि।

५. तथाहि—महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतं ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते यथा—कुमार-सम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्। इत्यादि। ध्व० तृतीय उद्योत, पृ० १९१

राजा का वर्णन करते तो वह चाटुकारिता ही होती, तथा उसे इतनी लोक-प्रसिद्धि भी न मिलती। अतः उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति का जीवन-चरित्र अपनाया जो सर्वथा एक नर था, जिसके मानवीय गुण देवों में भी स्पर्धा उत्पन्न करते थे, तथा जिसके नरत्व के सामने देवत्व भी याचक वना था।

इसके अतिरिक्त श्रीहर्ष के पूर्व नल-कथानक पर किसी ने ऐसा कोई महाकाव्य लिखा ही नहीं था जो साहित्य में आदृत हुआ हो। श्रीहर्ष को नलचरित सर्वथा अछूता मिला और उन्होंने इस पर लेखनी चलाने का अच्छा अवसर समझा। 'कवियों द्वारा न देखे हुए मार्ग का पथिक'[१] तथा 'अतिशय नूतन रंचना'[२] आदि उक्तियों से उनका यह भी एक अभिप्राय व्यक्त होता है, अस्तु।

पूर्वराग से प्रारम्भ

नैषध का प्रारम्भ युवा नल-दमयन्ती के पूर्व-राग से होता है। महाभारत में नल-दमयन्ती ने एक दूसरे की प्रशंसा लोगों से सुनी और उनका परस्पर अनुराग वढ़ा।[३] किन्तु नैषध में नल और दमयन्ती के यौवनागम के पश्चात् 'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः' के अनुसार दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति अनुराग पहले जगता है, और वह भी दूतों, द्विजों, वन्दियों तथा चारणों के मुख से वहुशः सुनते रहने के कारण। नल के हृदय में दमयन्ती के प्रति अनुराग वाद में तब उत्पन्न होता है जव उन्होंने लोगों से उसके गुणों को सुना। अनुराग होने पर नल-दमयन्ती की प्रेम-दशाओं का वर्णन यहां अत्यन्त संक्षेप में किया गया है। नल की इस समय की अवस्था का वर्णन श्रीहर्ष ने आगे चल कर हंस द्वारा दमयन्ती के सम्मुख करवाया है[४] वहां उससे विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है। इसे कह कर हंस दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति अङ्कुरित प्रेम को और अधिक दृढ़ करता है। यहां उसका वर्णन अपेक्षित न होता। हां, दमयन्ती की विरहावस्था का तो वड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण चतुर्थ सर्ग दमयन्ती के विरह की ही राम-कहानी है। इस पर यथास्थान विचार करेंगे।

---

१. कविकुलादृष्टाध्वपान्थे—नै० ८, १०९

२. काव्येतिनव्येकृतौ—नै० २१-१६३

३. तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात्। नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः। तयोरदृष्टकामो भूच्छृण्वतोः सततं गुणान्। अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत-हृच्छयः॥　　　　महा०, वन० प०, ५३-१६, १७

४. नै० ३—श्लोक १०० से ११६ तक।

हंस का करुण रोदन तथा करुण-भाव

उपवन विहार के समय नल ने सरोवर के तट पर हंसियों के साथ आनन्दकेलि करते हुए स्वर्णिम हंस को प्रथम वार देखा। उपवन में सरोवर की कल्पना श्रीहर्ष की अपनी है। क्योंकि हंस एक ऐसा पक्षी है जो प्रायः जलाशय के पास ही चरता हुआ दिखायी पड़ता है। फिर, एक चक्रवर्ती के उपवन में क्रीड़ा-सरोवर अवश्य होना चाहिए। वह राजोद्यान कैसा जिसमें क्रीड़ा-सरोवर न हो? महाभारत में सरोवर का कोई उल्लेख नहीं। वहां नल ने वन में चरते हुए स्वर्णिम पंख वाले हंस को देख कर एक को पकड़ लिया।[1] सरोवर की कल्पना कर के श्रीहर्ष ने एक तो काव्य में एक सुन्दर वर्णनीय विषय का अवसरोचित समावेश कर दिया है, क्योंकि उद्यान-वर्णन के प्रसङ्ग में क्रीड़ावापी का भी परिगणन किया गया है,[2] दूसरे कथा-प्रसङ्ग में स्वाभाविकता ला दी है। फिर नल के कर-पञ्जर में पड़े हंस का करुण-रोदन भी श्रीहर्ष की अपनी उद्भावना है। महाभारत में हंस ने नल से केवल इतनी ही प्रार्थना की थी—"राजन्! मुझे न मारिए। मैं आपका प्रिय करूंगा। दमयन्ती के सम्मुख मैं आपका ऐसा वर्णन करूंगा कि वह कभी आपके अतिरिक्त अन्य पुरुष को मानेगी ही नहीं।[3]" किन्तु नैषध में कवि ने उस घटना को स्वाभाविक तथा रसमय बना दिया। हंस पहले तो राजा को इस निर्दय कार्य के लिए धिक्कारता है, और ऐसी बातें करता है कि उनके हृदय में स्वभावतः आश्चर्य, लज्जा एवं करुणा उत्पन्न होती है। और फिर अपने करुण विलापों से तो उनके हृदय को ही द्रवित कर देता है।[4] विपत्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति प्रथम तो पूरी शक्ति के साथ विपत्ति का सामना करता है, फिर विवश एवं निराश होकर अपने भाग्य को कोसता है तथा अपनी अवस्था पर रोता है। पूर्वराग में नल की विरहावस्था का वर्णन हो रहा

---

१. स ददर्श ततो हंसाञ्जातरूपपरिष्कृतान्।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम्॥ महा० भा०, व० प०, ५३-१९

२. उद्यानेसरणिः सर्वफलपुष्पलताद्रुमाः।
पिकालिकेलिहंसाद्याः क्रीडावाप्यध्वगस्थितिः॥
काव्यकल्पलतावृत्ति १।५-६८

३. हन्तव्यो स्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम्।
दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध॥
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित्।.....
म० भा०, व० प०, ५३-२०, २१

४. नै० १—श्लोक १३०-१३४ तक।

था। राजा का हृदय उपवन विहार से और भी भारी हो रहा था। इस समय नल की प्रिया-विरहावस्था चल रही है। विप्रलम्भ की खिन्नता में करुण का अवसाद (आलम्बन के भेद के साथ) और भी गम्भीरतर हो जाता है। प्रिय के वियोग से (चाहे वह पूर्वरागकृत ही क्यों न हो) जो दुःख होता है, उसमें कभी-कभी दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। नैषध में करुणाभाव की यह योजना उपयुक्त अवसर पर की गई है। इकलौते पुत्र की मृत्यु पर वृद्धा जननी की दशा, पति की मृत्यु पर नवप्रसूता तपस्विनी पत्नी की दशा, एवं माता-पिता दोनों की मृत्यु पर नवजात अनाथ शिशुओं की दशा का ध्यान कर किस सहृदय का मन करुणार्द्र न हो जायगा? और एक पक्षी का जीवन तो वैसे ही कृपाश्रय होता है, फिर उसकी करुण कहानी कितनी हृदय-द्रावक होगी? मनुष्य के हृदय की यही विशेषता है कि उसमें केवल मनुष्य ही नहीं अपितु समस्त जड़ चेतन विश्व के लिए भावपूर्ण स्थान रहता है। चराचर में कहीं भी प्रसन्नता देखकर यदि उसका मन आनन्द-मग्न हो उठता है, तो कहीं भी वेदना देखकर उसका भावुक हृदय रो भी उठता है। दुःखी प्राणी जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी—इसे सहृदयों को बताने की आवश्यकता नहीं। संस्कृत-काव्य-साहित्य में करुण-रस का चित्रण प्रायः शृङ्गार के प्रसङ्ग में पति या पत्नी की मृत्यु पर करुण-विलाप के रूप में हुआ है। रघुवंश में इन्दुमती-मृत्यु पर अजविलाप तथा कुमारसम्भव में मदन-मृत्यु पर रति-विलाप उतने हृदयस्पर्शी नहीं हो पाए। क्योंकि एक तो इन्दुमती तथा मदन की मृत्यु में दिव्य शक्तियों का हाथ है तथा वह मृत्यु उनके पूर्वकृत अपराध का दण्ड है, इससे वे उतनी दुखद नहीं लगतीं। फिर वियुक्त मिथुन का भविष्य उतना अन्धकारमय नहीं दिखायी पड़ता। अश्वघोष के बुद्ध-चरित्र में भी कुमार सिद्धार्थ के गृहत्याग कर चले जाने पर यशोधरा तथा शुद्धोदन के विलाप में करुणा का चित्रण हुआ है। किन्तु वहां यह आशा भी हो सकती है कि कौन जाने कुमार कभी वापस ही आ जाय। अतएव वनों में उनका अन्वेषण भी कराया जाता है। अतएव यहां भी करुण नहीं के बराबर ही है।[1] किन्तु नैषध के इस करुण-चित्रण का स्वरूप ही भिन्न है।

नल के मन में हंस द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना

द्वितीय सर्ग में हंस ने नल से दमयन्ती के रूप की बड़ी प्रशंसा की। उसका नख-शिख-वर्णन किया। प्रायः सभी उपमान सुन्दरी के अङ्गों से हीन बताए गए।

---

१. अश्वघोषकृत बुद्धचरित, अष्टम सर्ग।

इस स्थान पर हंस द्वारा दमयन्ती-रूप-वर्णन का विशेष प्रयोजन है। नल के हृदय में दमयन्ती के रूप की प्रतिष्ठा करनी थी, उनके मन को सौन्दर्य-लुब्ध वनाना था। अतः यह आवश्यक था कि हंस उसे नख से शिख तक अद्भुत सौन्दर्यमयी वताता। नैषध में दमयन्ती के रूप का कई वार शिख-नख-वर्णन हुआ है। कभी-कभी वह नीरस आवृत्तिमात्र जान पड़ता है। कुछ विद्वानों ने इसे भी नैषध-काव्य का एक दोष माना है। वर्णन-शैली में कवि की कल्पना का इतना प्राधान्य है कि अलङ्कारों की जगमगाहट में रूपमाधुरी विलुप्त हो जाती है। किन्तु रूपवर्णन के प्रत्येक प्रसङ्ग का पृथक् प्रयोजन है, और पृथक् शैली है। यहां का प्रयोजन दिखा दिया गया है। इसी प्रकार अन्य प्रसङ्गों को भी यथास्थान दिखाया जायगा। इसे आवृत्ति-दोष नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार कुमार-सम्भव में पार्वती का रूप-वर्णन (प्रथम, तृतीय तथा सप्तम सर्गों में) कई वार हुआ है। परन्तु उन स्थलों में न कहीं पुनरुक्ति है न कहीं नवीनता की कमी। वास्तव में एक ही वस्तु का वर्णन अवस्था, देश, काल आदि के भेद से भिन्न प्रतीत होता है और इस भिन्न-प्रतीति में ही सौन्दर्य रहता है।[१]

हंस द्वारा दमयन्ती के सम्मुख अपनी महत्ता का परिचय

सम्पूर्ण तृतीय सर्ग हंस-दमयन्ती के संवाद से भरा हुआ है। कथानक वीज-रूप से महाभारत ही का है, परन्तु श्रीहर्ष की कल्पना ने उसे अत्यन्त स्वाभाविक तथा अभिनव रूप में प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम तो हंस दमयन्ती को दूर एकान्त में ले जाता है, जहां सखियां शीघ्र विघ्न करने नहीं पहुंच सकतीं, क्योंकि वातें वहुत और वहुत रहस्य की करनी थीं। वार्तालाप का प्रारम्भ कितने स्वाभाविक और कलापूर्ण ढंग से किया जाता है। थोड़ी झिड़की के साथ सुन्दरी के मन में गुदगुदी-सी पैदा करता हुआ हंस कहता है—"मेरी आकाश में भी गति है और तुम केवल पृथ्वी पर ही चल सकती हो—फिर सोचो तुम मुझे कैसे पकड़ सकती हो? सुन्दरि, मदन-मित्र यौवन आया पर तुम्हारा शैशव अव भी नहीं गया।"[२] यहां एक वात और ध्यान देने योग्य है कि हंस जिस रूप में नल से वातें (द्वितीय सर्ग में) करता है उसी रूप में दमयन्ती से नहीं। नल के सामने तो वह उपकृत की भांति कृतज्ञता से दवा दिखाई पड़ता है। कहता है—"जगत्पति आपका मुझ पतङ्ग (पक्षी) द्वारा उपकार

---

१. अवस्था-देश-कालादि-विशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापिस्वभावतः॥ ध्व० ४-१११

२. धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या।
अहो शिशुत्वं तव खंडितं न स्मरस्य सख्या वयसाप्यनेन॥ नै० ३-१५

ही क्या हो सकता है।"[१]अपने को किस दीनता के साथ पतङ्ग और राजा को जगत्पति कहता है। इन पतङ्ग और जगत्पति शब्दों में कितनी उत्कृष्ट ध्वनि है ? किन्तु दमयन्ती के मन में वैलक्ष्य एवं विस्मय उत्पन्न करता हुआ हंस सर्वप्रथम अपनी महत्ता का परिचय देता है। "हम कमलासन विधि के वाहन हंसवंश के सहायक पक्षी हैं। हम ऐसों के चाटुप्रिय वचनों का रसामृत स्वर्ग-निवासियों से इतर लोगों के लिए सुलभ नहीं।[२]" महाभारत में तो हंस ने दमयन्ती से कहा है—"दमयन्ति ! निषध देश में नल नामक एक राजा हैं।" इत्यादि।[३] किन्तु यहां दमयन्ती के सामने नल-प्रसङ्ग की अवतारणा अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से की गई है। हंस कहता है "विधि की आज्ञा से हम स्वर्णिम-हंस नैषधीय क्रीड़ा-सरोवर का आनन्द लेने आए हुए थे। मैं भू-लोक देखने के लिए भी उत्सुक था, अतः अकेला ही इधर आ निकला।[४] मुझ दिव्य पक्षी को बांधने में पाश आदि कोई उपकरण समर्थ नहीं हो सकते। हां, स्वर्ग-सुलभ भोगों वाला केवल नल का भाग्य ही मुझे बांधने में समर्थ हो सकता है।"[५] एक ऐसे दिव्य पक्षी के मुख से, जो विधि-वाहन पदक अधिकारी हो, किसी ऐसे राजा की प्रशंसा, जिसका चरित्र पूर्वश्रुत भी हो, एक मुग्धा को क्यों न आकर्षित करेगी ? हंसने नल के रूप तथा ऐश्वर्य का गान किया। प्रथम सर्ग में नल के रूप तथा गुण का वैसा वर्णन नहीं किया गया था। उसे इस अवसर के लिए छोड़ दिया गया था। यहां उससे एक प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, वह है दमयन्ती के मन को नल की ओर आकर्षित करना। वार्तालाप का क्रम अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से चलता है।[६] हंस दमयन्ती को सर्वथा नल के योग्य बताता है। महाभारत में हंस ने कहीं अपने को दिव्य पक्षी नहीं बताया है। किन्तु यहां दमयन्ती के सम्मुख वह केवल दिव्य ही होने का दावा नहीं करता, अपितु साक्षात् विधि से अपना सामीप्य भी

---

१. पतङ्गेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तवकिं प्रभूयते॥ नै० २-१३

२. सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि॥ नै० ३-१६

३. मानुषींगिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत्।
दमयन्ति नलोनाम निषधेषु महीपतिः॥ म० भा०, व० प० ५३-२६, २७

४. धातुर्नियोगादिहनैषधीयं लीलासरः सेवितुमागतेषु।
हेमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामिभूलोकविलोकनोत्कः॥ नै० ३-१८

५. बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित् पाशादिरासादितपौरुषः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य॥ नै० ३-२०

६. नै० ३—२० से ५१

स्थापित करता है। इस विधि-सम्वन्ध के वल पर उसे अपने प्रयोजन की सिद्धि में वड़ी सुगमता पड़ती है। वह दमयन्ती से यह भी कह सकता है कि नल दमयन्ती का संयोग विधाता को भी अभीष्ट है। क्योंकि "एक वार विधि-विमान-वहन करते हुए मैंने ब्रह्मा से नल के योग्य वधू को जानने की जिज्ञासा की थी। उस समय तुम्हारे (दमयन्ती) नाम के-से कुछ अक्षर मेरे कानों में पड़े थे।"[1] और आगे चल कर हंस अपने को दमयन्ती के सारे अभीष्टों के साधने में पूर्ण समर्थ भी वताता है।[2] अतः नल को दमयन्ती से मिलाने में भी वह हर प्रकार से क्षम ही है। फिर नल से उसका परिचय (सामीप्य) भी इतना प्रगाढ़ है कि उनके आनन्द-विलास के समय वह अपने मन्दाकिनी-सीकर-शीतल पंखों से उन्हें शीतल पवन का सुख देता है।[3] अन्त में जव उसे नल के प्रति दमयन्ती के दृढ़ अनुराग पर पूर्ण विश्वास हो जाता है,[4] तव कहीं नल के अनुराग को प्रकाशित करता है।[5] और तभी दमयन्ती के प्रति नल का प्रेम कितना दृढ़ हो चुका है इस रहस्य को खोलता है।[6] जिसकी प्राप्ति के लिए प्रेमी का हृदय अहर्निश तड़फड़ा रहा है, यदि कहीं यह ज्ञात हो जाय कि वह प्रिय भी उसके लिए उसी प्रकार वेचैन है, तो प्रेमी के प्रेम की क्या दशा होगी? हंस अपने वार्तालाप-कौशल से नल-दमयन्ती दोनों के पूर्वराग को मञ्जिष्ठा-राग की दशा तक पहुंचा देता है। हंस के चल देने पर श्रीहर्ष ने दमयन्ती की जो एक झांकी दी है उसी से उसकी समस्त मनोदशा का विवरण मिल जाता है। "दमयन्ती की आँखें नल के प्रियं सुहृत् हंस के पीछे जा रही थीं, पर वाष्पवारि उनके लिए अवधि (सीमा) रूप हो गया। अतः समीप उड़ता हुआ भी हंस दमयन्ती की

---

१. विधिंवधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्योनलकेलियोग्याम्।
त्वन्नामवर्णाइव कर्णपीता मयास्य संक्रीडति चक्रिचक्रे॥ नै० ३—५०

२. पर्यंङ्कतापन्नसरस्वदंङ्कां लंङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवे हिस्वशये शयालु॥ नै० ३–६६

३. सुवर्णशैलादवतीर्यतूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः॥ नै० ३–२२

४. नै० ३—७५-९६

५. इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि तत्त्वं पश्यामितन्नस्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृपं च पञ्चेषुणैवाजनियोजने यम्॥ नै० ३–१००

६. नै० ३—१००-११५

आंखों से ओझल हो गया। किन्तु इसकी चित्तवृत्ति से तो दूर होकर भी ओझल न हुआ।"[१]

काव्य में स्त्रियों की ही विरह-दशा का अधिक वर्णन

पूरे चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती की विरहावस्था का वर्णन है। महाभारत में भी हंस के चले जाने पर दमयन्ती की विरहदशा का कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।[२] श्रीहर्ष ने उसके आधार पर एक सौ बाईस श्लोकों का एक पूरा सर्ग ही रच डाला। महाभारत में यह विवरण न होता तो भी श्रीहर्ष दमयन्ती की विरह-दशा का इतने विस्तार के साथ वर्णन अवश्य करते। साहित्य में विरह की असह्य वेदना स्त्रियों के ही मत्थे अधिक मढ़ी जाती है। नायक के दिन-दिन क्षीण होने, विरह-ताप में भस्म होने आदि के वर्णन में कवियों का जी उतना अधिक नहीं लगता है। बात यह है कि स्त्रियों की शृङ्गार-चेष्टा के वर्णन में पुरुषों को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नहीं, तथापि नायक की दशा की एकान्त उपेक्षा भी नहीं की गई है। कालिदास ने दुष्यन्त के ही मुख से चन्द्र और मदन दोनों को कामिजनों के साथ धोखेबाजी करने का उपालम्भ दिलाया है—मदन को तो कुसुम-बाणों को वज्र-सा कठिन करने के लिए तथा चन्द्रमा को शीतल किरणों से अग्नि बरसाने के लिए[३]।

प्रेम की विकलता

"प्रेम ही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यञ्जना हंसकर भी की जाती है और रोकर

---

१. तस्या दृशौ नृपतिबन्धुमनुव्रजन्त्यास्तंबाष्पवारि न चिरादवधीबभूव।
पार्श्वेपिविप्रचकृषे यदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः॥
नै० ३-१३१

२. दमयन्तीतुतच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत। ततः प्रभृतिन स्वस्था नलं प्रति बभूव स॥
ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा। बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमातदा॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपराबभूवोन्मत्तदर्शना। पाण्डुवर्णक्षणेवाथहृच्छयाविष्टचेतना॥
न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित्।
न नक्तं न दिवाशेते हाहेति रुदती पुनः॥ महा० व० प० ५४—१-४

३. भगवन् कुसुमायुधत्वयाचन्द्रमसा चविश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः।
कुतः तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दौर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजतिहिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारी करोषि॥
शा० अंक—३-३

भी, जिसके व्यञ्जक दीर्घनिःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्ष-पुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनन्दात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं।"[1] "एक ओर तो प्रिय के आनन्द का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनन्द का अनुभव करने लगता है, दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिए आनन्द बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएं उलटा दुःख देने लगती हैं। होते-होते यहां तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनन्द से अलग आनन्द रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनन्द में ही वह अपना आनन्द ढूंढ़ा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। प्रेम का यह रहस्यपूर्ण महत्त्व है।"[2] चन्द्र, मदन दोनों इसी प्रकार के उद्दीपन हैं, जो आलम्बन के रहने पर आनन्दप्रद तथा न रहने पर क्लेशप्रद होते हैं। प्रथम सर्ग में दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति अनुराग अङ्कुरित होता है। तृतीय में उस अनुरागजन्य विकलता का कुछ विस्तार के साथ प्रदर्शन होता है, जैसे—दमयन्ती स्वयं हंस से कहती है—"मैंने उन्हें लोगों से सुना, उन्मादवश उन्हें चारों ओर देखा तथा एकाग्रचित्त से उनका ध्यान किया। अब या तो उनकी मुझे प्राप्ति या मेरे प्राणों का नाश, दो में से एक होना है—और हंस वह तुम्हारे ही हाथ है।"[3] इत्यादि। फिर चतुर्थ में उस वेदना का पूरा चित्रण होता है। पूर्वराग-जन्य विकलता प्रायः दस प्रकार की होती है जिसे आचार्यों ने क्रमशः परिलक्षित होने वाली काम-दशाएं कहा है।[4] चतुर्थ सर्ग में प्रायः सभी अवस्थाओं का चित्रण हुआ है। अन्त में सखियों के साथ "अर्द्ध-समस्या" रूप में किया गया वार्तालाप यद्यपि कुछ अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है, किन्तु वह 'प्रलाप' का ही एक रूप कहा जायगा। और इसी वार्तालाप की मृतिकल्पदशा में दमयन्ती को अपने हृदय में अनल भाव[5] (नल का

---

१. रामचन्द्र शुक्ल कृत 'चिन्तामणि' पृ० ९६।

२. चिन्तामणि, पृ० ८८।

३. श्रुतः स दृष्टश्च हरित्सु मोहाद्ध्यातः स नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
मनाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्तेद्वयमेकशेषः॥ नै० ३-८२

४. दशावस्थःसतत्रादावभिलाषोऽथचिन्तनम्।
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः॥
जडता मरणं चेति दुःखस्थं यथोत्तरम्। द० रू० ४—५१, ५२

५. स्फुटति हारमणौमदनोष्मणा हृदयमप्यनलंङ्कृतमद्य ते।
सखि हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः॥ नै० ४-१०९

अभाव) जानकर मूर्च्छा भी होती है, जो[1] अत्यन्त स्वाभाविक समझ पड़ती है। उसी के कारण उत्पन्न कोलाहल को सुनकर राजा भीम भी अन्तःपुर में आ जाते हैं, और कन्या की अवस्था को देखकर स्वयंवर-समारोह के लिए शीघ्रता करते हैं। महाभारत में भी सखियों से सूचना पाकर राजा को स्वयंवर की चिंता होती है—किन्तु नैषध में उसकी दशा की सूचना अन्तःपुर का अधिकारी (मन्त्रि-प्रवर) और वैद्य (अगदङ्कार) देते हैं, और राजा स्वयं कन्या की दशा प्रत्यक्ष देखते हैं।[2] अतः स्वयंवर के लिए और अधिक शीघ्रता होती है।[3]

नल का अदृश्य रूप से अन्तःपुर में प्रवेश

पांचवें सर्ग का कथानक नल-इन्द्र-संवाद आदि प्रायः महाभारत का ही जैसा है, किन्तु छठा सर्ग सम्पूर्ण रूप से श्रीहर्ष की नूतन कल्पना है। नैषध-कथानक में इस सर्ग का सब से अधिक महत्त्व है। अन्तःपुर में अदृश्य रूप से प्रवेश करते समय नल की मानसिक अवस्था का चित्रण कितना स्वाभाविक हुआ है—"नल के हृदय में द्वार पर शस्त्र-सन्नद्ध रक्षकों के प्रति अवज्ञा हुई। (चोर की भांति) छिप कर चल रहा हूं।" यह सोचकर लज्जा आई। "दमयन्ती को देखूंगा। अतः कुछ सन्तोष हुआ। पर अपने को दूत सोचकर दुःख हो या[4]।"—भाव शबलता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। और फिर "कौन है?" [Who comes there ?]इस प्रकार किसी अन्य को रोकते हुए दौवारिकों का उद्-घोष सुनकर वह राजसिंह ग्रीवाभङ्गी के साथ आश्चर्यस्तिमित नेत्रों से पीछे लङ्घित द्वार की ओर फिर कर देख लेता था।[5] फिर अन्तःपुर का निभृतचित्रण किया गया, जिससे कथानक में अत्यन्त सजीवता आ गयी है, और ऐसे अन्तःपुर में अदृश्यरूप में पहुंचकर भी नल के मन में जो किसी प्रकार विकार नहीं होता, वही नलचरित्र की उदात्तता का सब से बड़ा प्रमाण होता है। अन्तःपुर के विस्तृत विवरण का यही मुख्य प्रयोजन है, जिसमें प्रबन्ध-कल्पना की उत्कृष्ट कला निहित है। विकार-हेतु

---

१. इदमुदीर्य तदैव मुमूर्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका। नै० ४–११०

२. द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम्।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नाम्... नै० ४–११८

३. कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्। नै० ४–१२१

४. हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे लीनश्चरामीतिहृदा ललज्जे।
द्रक्ष्यामि भैमीमितिसंतुतोष दूतंविचिन्त्यस्वमसौशुशोच ॥ नै० ६–१०

५. अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिराविभुद्वारि विभुज्य कण्ठम्।
दृशं ददौ विस्मयनिस्तरङ्गां स लङ्घितायामपि राजसिंहः ॥ नै० ६–१२

के उपस्थित होने पर भी जिसके मन में कोई विकार नहीं होता, वही धीर है।[1] रावण के अन्तःपुर में रात्रि के समय सीता को खोजते हुए हनुमान् को भी विलास-रत सुन्दरियां दिखायी पड़ी थीं। किन्तु उनके मन में विकार नहीं हुआ था[2]। अन्तःपुर की सुन्दरियों की विश्वस्त चेष्टाओं को देखकर नल की मनोदशा के कुछ चित्र उद्धृत किए जाते हैं—कहीं अन्तःपुर में किसी रमणी की आलिङ्गनार्थं खुली जांघों को देखकर नल ने आंखें वन्द कर लीं, जिससे उधर से आती हुई अलक्षित रमणी से टकरा गए। राजा चौंक पड़े।[3] उस समय अन्तःपुर की तरुणियों के सविभ्रम नृत्य, गीत आदि गुणों से सम्पन्न अपना विस्तृत जाल फैलाकर भी मदन नल के सुन्दर श्याम नयन-हरिणों को वांधने में समर्थ न हुआ।[4] और कहीं नल ने केश-वन्धन से व्यस्त किसी तरुणी के वाहुमूल को देखकर आंखें कुछ झुका लीं, फिर अनुलेपन करती हुई उसी सुन्दरी के स्तनों को देख कर आँखें और नीची कर लीं, और अन्त में नीवी-वन्धन ढीला करने वाली उसी की नाभि को देखकर ऊपर से क्रमशः नीचे आती हुई आँखों को एकदम वन्द कर लिया।[5] इसी

---

१. विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। कु० सं० १–५९

२. निरीक्षमाणश्चततस्ताः स्त्रियः स महाकपिः।
जगाम महतीं शंङ्कां धर्मसाध्वसशंङ्कितः॥
परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इदं खलुममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति॥
न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी।
अयं चात्रमया दृष्टः परदारपरिग्रहः॥
कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वास्ता रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसः किंचिद्वैकृत्यमुपपद्यते॥
मनोहि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥
वा० रा० सु० का० ११–३९, से ४३

३. अन्तःपुरान्तः स विलोक्य बालां कांचित् समालब्धुमसंवृतोरुम्।
निमीलिताक्षः परया भ्रमान्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार॥ नै० ६–१३

४. अन्तःपुरे विस्तृतवागुरोऽपि वालावलीनां वलितैर्गुणौघैः।
न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वयं प्रभुर्बद्धमभून्मनोभूः॥ नै० ६–१९

५. दोर्मूलमालोक्य कचंरुत्सो स्ततः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः।
नाभी मथैषश्लथवाससोऽनुमिमील दिक्षुक्रमकृष्टचक्षुः॥ नै० ६–२०

प्रकार आँखें वन्द करने पर यह संघर्ष (टक्कर) तथा आँखें खोलने पर या इन्द्रिय-संयम-दोष दोनों प्रकार से नल की कदर्थना हो रही थी। अतः नल उन्हें कटाक्षों से देखते हुए जाने लगे। किन्तु कटाक्ष-विलोकन में अनुराग का भाव निहित रहता है, यह सोचकर वे अत्यन्त लज्जित हो रहे थे। सत्पुरुषों को अन्य की अपेक्षा स्वयं अपने से अधिक लज्जा होती है।[1] यहां तक कि कोई सुन्दरी वेग के साथ उधर से निकली। नल से उसका संघट्टन हो गया। राजा के आभूषण-हीरक की कोटि (नोक) में सुन्दरी का दुकूल उलझ गया, जिससे उसके वेग से आगे वढ़ने पर, उसका नितम्व दिगम्वर हो गया। नल को अपने इस पाप का वड़ा पश्चात्ताप हुआ।[2]

अन्तःपुर में नल-दमयन्ती के वास्तविक मिलन का उद्देश्य

वहीं घमते हुए भ्रान्तिवश उद्विग्न नल और दमयन्ती का वास्तविक संयोग हो जाता है। इस प्रकार उन्माद में आलिङ्गन आदि सत्य मिलन करा कर श्रीहर्ष ने कई प्रयोजन सिद्ध किए हैं। प्रथम तो उनकी विरहजन्य उन्माद अवस्था की पराकाष्ठा का सुन्दर चित्रण हो जाता है, दूसरे दमयन्ती द्वारा भ्रान्ति में डाली गयी माला का सत्य नल के गले में पड़ने से दमयन्ती नल की परिणीतप्राया पत्नी हो जाती है, जिसके वल पर सरस्वती चौदहवें सर्ग में देवों से कह सकती हैं—"व्रह्मा ने दमयन्ती का स्वयंवर तो पहले ही कर दिया है, और नल से इसका आलिङ्गन भी हो चुका है। तो अव क्या शेप वचा, जिसको न होने देने के लिए आप लोगों का प्रयास चल रहा है?"[3] और इस प्रकार दमयन्ती न कन्या रही न नल के लिए परकीया। अतः सातवें सर्ग में उसका विस्तृत नख-शिख वर्णन भी कर सके—अन्यथा नल के चरित्र में परदारावलोकन वड़ा भारी कलङ्क होता।

दमयन्ती का देवदूतियों को उत्तर

छठें सर्ग के अन्त में देवों द्वारा भेजी गई दूतियों के साथ दमयन्ती के वार्तालाप की भी कल्पना की गई है। स्वाभाविकता के साथ (क्योंकि दूती द्वारा नायिका को मिलाने का प्रयत्न स्वाभाविक ही होता है) इससे जो सव से वड़ा प्रयोजन सिद्ध

---

१. निमीलमस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन्कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशंललज्जे स्वतः सतांह्रीः परतोऽपि गुर्वी॥ नै० ६–२२

२. संघट्टयन्त्या स्तरसात्मभूषाहीरांङ्कुरप्रोतदुकूलहारी।
दिशा नितम्वं परिधाप्य तस्यास्तत्पापसन्तापमवाप भूपः॥ नै० ६–२८

३. भैम्यास्रजः सञ्जनयापथि प्राक्स्वयंवरं सञ्जनयाम्वभूव।
सम्भोगमालिङ्गनयास्य वेधाः शेषं तु कं हन्तुमियद्यतध्वे॥ नै० १४–४४

होता है वह यह कि नल को इस प्रकार प्रच्छन्न रूप में अपन प्रति दमयन्ती के दृढ़ अनुराग का सच्चा प्रमाण प्रत्यक्ष देखने को मिल जाता है। इन्द्रदूती को दमयन्ती ने जिस प्रकार उत्तर दिया[1] उससे बढ़कर उसके सतीत्व एवं नल-प्रेम की पराकाष्ठा का कोई अन्य प्रदर्शन हो ही नहीं सकता था। चतुर दूती (दूत नहीं) पूर्णयुक्ति के साथ समझाए, सखियां समर्थन करें—स्वर्गसाम्राज्य का प्रलोभन हो, फिर भी जो न डिगे वही तो सच्चा प्रेम है।[2] उस समय यह सब सुनते हुए नल के मन में जो प्रतिक्रिया हो रही थी श्रीहर्ष उसे भी ताड़ रहे थे। "मुझे न तो दमयन्ती मिली और न मैंने दूत-कार्य ही किया इस प्रकार नल अत्यन्त चिन्ता में मग्न थे। उस समय उनका हृदय-कमल जो छिन्न-भिन्न न हुआ वह इसलिए कि वे दमयन्ती के मुखचन्द्र को देख रहे थे।"[3] और इस प्रकार न्द्रदूती को फिर से कुछ कह का अवसर ही न रहा। अतः वह वहां से उठ चली। तब नल के चञ्चल हृदय में फिर से प्राण आया, जैसे नशा से मतवाले पुरुष में नशा उतरने पर चेतना आती है।[4] सर्ग के अन्त में स्वयं श्रीहर्ष ने भी इस सारी कल्पना का प्रयोजन कह दिया है—"निषधराज ने दिक्पाल इन्द्र की कृपा से प्राप्त इस प्रकार की अदृश्य शक्ति के कारण अपने ही कर्णपुटों से अपने प्रति दमयन्ती के उन अनुराग-वचनों से संजात आनन्दामृत का छककर पान किया।"[5]

सप्तम सर्ग में दमयन्ती के रूप-वर्णन का उद्देश्य तथा वैशिष्ट्य

सप्तम सर्ग में दमयन्ती का शिख-नख वर्णन है।[6] समालोचकों ने इस सर्ग के प्रति बड़ा आक्षेप किया है। श्री सुशीलकुमार दे महोदय ने लिखा है कि "श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने के लिए सावधान रहते हैं कि शुष्कशास्त्रीयज्ञान के कारण वे

---

१. नै० ६—९१-१००।

२. नै० ६—७७-८५।

३. मैमीं न दूत्यं च न किंचिदापमितिस्वयं भावयतोनलस्य।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्नभिन्नं हृदयारविन्दम्॥ नै० ६-८९

४. इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामपयातवत्याम्।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीबमिवप्रबोधः॥ नै० ६-१११

५. श्रवणपुटयुगेनस्वेन साधूपनीतं दिगधिपकृपयाप्तादीदृशः संविधानात्।
अलभत मधुबालारागवागुत्यमित्थं निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रम्॥
नै० ६-११२

६. इति स चिकुरादारभ्यनखावधिवर्णयन्। नै० ७-१०९

शृङ्गारविलासों के सूक्ष्म विवेचन में किसी प्रकार असमर्थ नहीं हैं। उदाहरणार्थ, सौ से अधिक श्लोकों का समस्त सप्तम सर्ग—जो 'चिकुर' से लेकर 'नखावधि' दमयन्ती के सौन्दर्य का सूक्ष्म एवं वासना-जन्य विवरण मात्र है—कथानक की गति को एकदम अवरुद्ध कर देता है, उसमें भी शिष्टाभिरुचि-हीनता का सवसे वड़ा द्योतक यह है कि यह समग्र वर्णन स्वयं नल द्वारा किया जाता है, जो उसे अदृश्य दूरी से ही देखते हैं। कवि शृङ्गार (विलास) वर्णन के अवसर को कभी नहीं छोड़ता है। कुछ श्लोकों की व्यक्त सरसता श्रीहर्ष के कामशास्त्र संबन्धी ज्ञान का उदाहरण हो सकती है, किन्तु भाषा के अनेकार्थात्मक वैशिष्ट्य के होते हुए भी तमाम श्लोक अनेक स्थलों पर अत्यन्त असुन्दर हैं।"[१] दमयन्ती नल के प्रेम का एकमात्र आलम्बन थी—वह नल की 'प्राणायिता' थी।[२] दमयन्ती के प्रति नल का प्रेम कैसा था इसे हंस के वर्णन द्वारा जाना जा सकता है। स्वयं नल उसे अपने जीवित एवं ऐश्वर्य से कहीं अधिक गरीयसी समझते थे।[३] उसके हित-सम्पादन में अपने प्राणों को भी दे सकते थे।[४] दमयन्ती को पाने पर उससे मिलने, वातें करने, देखने आदि के विषय में चिरकाल से नल के हृदय में तरह-तरह के मनोरथों की परम्परा वना करती थी।[५] दमयन्ती के जिस त्रैलोक्य-सुन्दर रूप को लोगों से वहुशः सुना था, फिर जिसे हंस ने उनके हृदय में साङ्गोपाङ्ग चित्रित ही कर दिया था, उसके प्रत्यङ्ग सौन्दर्य को देखने की नल के हृदय में कितनी उत्कण्ठा होगी इसे शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता। नल की आंखें तो दमयन्ती के प्रत्यङ्ग रूप-माधुर्य को पी जाना चाहती होंगी। नल के नेत्रों के लिए तो दमयन्ती का प्रत्येक अङ्ग आनन्दामृत का सागर ही था, जिसमें वे सदा डूवे ही रहना चाहते थे।[६] उस आनन्द में वे सव कुछ भूल चुके थे। श्रीहर्ष ने नल के उस क्षण के आनन्दोद्रेक की समता व्रह्मानन्द से की है।[७] फिर वे किसी

---

१. डा० दे का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० ३२८-कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९४७।

२. नै० ३—१०५।

३. जीवितादपि धनादपिगुर्वी। नै० ५—८२

४. हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये। नै० ९—१३५

५. अथप्रियासादनशीलनादौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः॥ नै० ७—१

६. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायांममज्जतुस्तस्यदृशौनृपस्य॥ नै० ७—२

७. व्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदं रोमाग्रएवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः।
यथौचितीत्थंतदशेषदृष्टावथस्मराद्वैत मुदं तथासौ॥ नै० ७— ३

अङ्ग को अनदेखा कैसे छोड़ सकते थे। सम्पूर्ण सप्तमसर्ग दमयन्ती के प्रत्यङ्ग के प्रति नल की भावनाओं का समग्र चित्रण मात्र है।[1] नल अकेले थे—बिलकुल अकेले। उन्हें कोई देख भी नहीं सकता था। दमयन्ती उनकी अपनी थी—हंस ने ऐसा ही कहा था। दमयन्ती ने स्वयं माला पहनाई थी। अभी आज निशान्त के समय स्वप्न में भी तो संयोग हुआ था।[2] इन्द्रदूती के सामने भी यही देखा था। अतः उन्हें सुन्दरी के प्रत्येक अङ्ग के भर पेट वर्णन का तथा उसे अपनी प्रिया कहने का अधिकार था। द्वितीय सर्ग में हंस के मुख से जो रूप-वर्णन हुआ है वह इतना विस्तृत नहीं है, क्योंकि उससे अधिक रूप-निरीक्षण का वह अधिकारी नहीं था। दशम सर्ग में स्वयंवर-सभा में दमयन्ती के अवतरित होने पर उसके आभूषणोद्दीपित रूप का वर्णन राजाओं ने किया है—किन्तु उस समय राजाओं के नेत्र सुन्दरी के अलंकारों की ही चकाचौंध में पड़ गये। यह अवसरोचित ही था। विभूषित हुए विना वह आ ही कैसे सकती थी ? वहां भी राजाओं ने उसके सौन्दर्य को जिस रूप में ग्रहण किया उसका अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण हुआ है (इस पर विशेष यथासमय लिखा जायगा)। राजाओं को इससे अधिक रूप देखने का न अवकाश था न अधिकार ही। अतः जहां कहीं दमयन्ती के रूपवर्णन का प्रसङ्ग आया है वहां हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि वह वर्णन किसके द्वारा किस प्रसङ्ग में किया गया है। दमयन्ती का रूप अत्यन्त रमणीय था, 'और जो प्रतिक्षण नवीन प्रतीत हो, सुन्दरता का वही स्वरूप है',[3] के अनुसार जो ही रमणीय रूप को देखता है वही कुछ न कुछ प्रशंसा में कह ही देता है, क्योंकि यदि अद्‌भुत गुण को देखकर मौन ही रहा जाय (उसकी प्रशंसा न की जाय) तो वाणी पाना ही व्यर्थ है।[4] अतएव नैषध में रूप का वर्णन कई वार हुआ भी है। मदनोद्दीपन का हेतु शृङ्गार रस माना गया है।[5] अतः नैषध के शृङ्गार की आलम्बन-भूत वैदर्भी का वर्णन जितना ही सुन्दर होगा वह रस के परिपाक में उतना ही अधिक उपयोगी होगा। इस दीर्घ वर्णन में कथानक की गति अवरुद्ध अवश्य हो जाती है, किन्तु नल उस चिरवाञ्छित रूप को सामने पाकर कैसे भर-आँख न देखते ? फिर काव्य में तो कथानक से अधिक भावचित्रण का महत्त्व होता है, यह रूप-प्रशंसा नल का हर्ष भाव ही तो है। इस सर्ग के विस्तार

---

१. नै० ७–९

२. सम्भुज्यमानाद्यमयानिशान्ते स्वप्नेनुभूताभधुराधरेयम्॥ नैः० ७–४२ ४।

३. क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। शिशुपालवध ४।१७

४. वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्‌भुते वस्तुनि मौनिता चेत्॥ नै० ८।३२

५. शृङ्गंहि मन्मथोद्‌भेदस्तदागमनहेतुकः॥ सा० द० ३।१८३

का एक मुख्य हेतु यह भी है कि इतना अदभुत रूप तथा गुण, जिसे अपनी आँखों से देखकर नल का मन आश्चर्य सागर में गोता लगा रहा था, नल को अपने कर्तव्य पथ से विमुख न कर सका। वल्कि वे तुरन्त प्रत्यक्ष हो कर अत्यन्त अनासक्त भाव से देवों के लिए दमयन्ती को हर प्रकार से समझाने लगते हैं। यह भाव-विरोध भी इस सर्ग के विस्तार का एक प्रयोजन है। नल-चरित्र की महत्ता ही इस सर्ग की ध्वनि है। श्रीहर्ष अनेक शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् थे, किन्तु इससे उनकी सहृदयता में किसी प्रकार वट्टा नहीं लगने पाया है, अपितु शास्त्र-समृद्ध-बुद्धि का योग पाने से हृदय की सच्ची अनुभूतियां और भी निखर उठी हैं, तथा उनका विवरण और अधिक परिष्कृत एव सुसंगत हो जाता है। और फिर, उस युग की धारा ही ऐसी थी कि काव्य में कवि का शास्त्र-ज्ञान अवश्य झलक पड़ना चाहिए। अतः हमें उनकी शास्त्रज्ञता से चिढ़ना उचित नहीं। अवश्य इस शिख-नख वर्णन में वहुत कुछ परम्परा का निर्वाह भी है। आचार्यों ने वर्ण्य-विषय की सूची देते समय देवी (रानी) का वर्णन करने के लिए कुछ मुख्य वस्तुओं की अनुक्रमणिका में वेणी, धम्मिल्ल (केश), सीमन्त, भाल, श्रवण, नासिका, कपोल, अधर, नेत्र, भ्रू, कटाक्ष, दशन, उक्ति (वचन), कण्ठ, वाहु, कर, उरोज, नाभि, मध्य, त्रिवली, रोमालि, नितम्व, जङ्घा, ऊरु, गतिक्रम और नख गिनाए हैं।[1] इसके साथ ही श्रीहर्ष की कल्पना-प्रवणता ने भी वहुत दखल दिया है।

महाभारत में दूतरूप नल का दमयन्ती से संवाद

इसके पश्चात् अष्टम सर्ग में नल-दमयन्ती के संवाद का प्रसङ्ग आता है। महाभारत में नल अन्तःपुर में पहुंचकर दमयन्ती के "हे सुन्दर! मेरे मदन को दीप्त करने वाले तुम कौन हो? हे निष्पाप! तुम देवता की तरह यहां आए हो। मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहती हूँ।"[2] इत्यादि प्रश्न करने पर एक ग्रामीण-सुलभ सरलता के साथ विना कुछ सोचे-समझे अपना नाम-ग्राम सव वता देते हैं। "हे कल्याणि, मैं नल हूँ और यहां देवदूत के रूप में आया हूँ। इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम

---

१. वेणीधम्मिल्लसीमन्तभालश्रवणनासिकाः।
कपोलाधरनेत्र भ्रूकटाक्षदशनोक्तयः॥
कण्ठबाहुकरोरोजनाभ्योमध्यंवलित्रयम्।
रोमालिश्रोणिजङ्घोरुगतिक्रमनखाःक्रमात्॥ का० क० ल० वृ० १।५।५८, ५९

२. कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्द्धन।
प्राप्तोऽस्यमरवद्वीर ज्ञातुमिच्छामितेऽनघ॥ म० भा० व० प० अ० ५५।२०

इन चारों देवताओं को तुम्हारी प्राप्ति की इच्छा है।"[1] जब अपना प्रिय ही आंखों के सामने है तो किसी अन्य के प्रति अनुराग की चर्चा ही कितनी बेतुकी लगेगी। "प्रीतम-छवि नयनन वसी, परछवि कहां समाय"—और यदि कहीं स्वयं प्रिय ही दूसरे के लिए उसे रिझाने लगे तो या तो वह उसमें स्वयं उपहासास्पद होगा, या फिर अन्य किसी भारी अनर्थ की सम्भावना होगी। दमयन्ती ने देवविषयक नल के प्रस्ताव को सुनकर कह ही दिया कि यह सब पचड़ा छोड़ो। "राजन्! मुझसे प्रणय (स्नेह) करो। मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?"[2] इत्यादि। नल को वहां प्रणय करने से केवल एक ही चीज रोक रही थी। वह था देवताओं का भय। एक अत्यन्त कार्य-भीरु की भाँति वे कहते हैं, "देवताओं का अप्रिय करने वाला मनुष्य मृत्यु को प्राप्त करता है। अतः हे सुन्दरि, तुम देवताओं को वरो, और मुझे बचाओ।"[3] देवों को वरने से सुख-भोग मिलेगा और न वरने से दण्ड की शङ्का है। यही दो बातें हैं जो नल की बुद्धि में दमयन्ती को रिझाने के लिए पर्याप्त हैं। दमयन्ती के अधिक आग्रह करने पर उन्हें स्वार्थ-परार्थ का संघर्ष धर्म-सङ्कट में डालने लगता है। पर यदि धर्म भी बच जाय और स्वार्थ भी सिद्ध हो जाय तो वैसा करने के लिए वे सहर्ष तैयार हैं। अतः मूढ़ की भांति दमयन्ती से ही कोई रास्ता निकालने के लिए विनती करते हैं। "यदि यह धर्म और स्वार्थ दोनों सिद्ध हो जाय तो शुभे! मैं अपने स्वार्थ को साधने के लिए तैयार हूं।[4]"

दमयन्ती द्वारा अन्तःपुर में सर्वप्रथम नल का आतिथ्य तथा रूप-प्रशंसन

श्रीहर्ष ने इस कथांश को जिस परिवर्तन, संकोच एवं विस्तार के साथ नैषध में रक्खा है, उससे उनकी काव्य-प्रबंध-पटुता का उत्कृष्ट परिचय मिलता है। इस प्रसङ्ग में नल और दमयन्ती दोनों के चरित्र दीप्तिमान् होते हैं। नल-चरित्र का तो सर्वोत्कृष्ट रूप यही है। घर आए अतिथि का सर्वप्रथम शब्दों द्वारा ही सही, कुछ आतिथ्य अवश्य होना चाहिए। अपना मुखचंद्र

---

१. नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम्।
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोग्निर्वरुणो यमः॥ म०भा०व०प० अ० ५५।२२

२. प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन् किं करवाणि ते। म० भा० व० प०, अ० ६१।१

३. विप्रियं ह्याचरन् मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान्॥ म० भा० व० प०, अ० ५६।७

४. एवं धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम्॥ म० भा० व० प०, अ० ५६।१७

नीचा किए हुए विस्मित दमयन्ती सर्वप्रथम आगन्तुक का स्वागत करती है।[१] फिर वह द्वारपालों की दृष्टि बांध देने के कारण उन्हें नल के समान सुन्दर कोई देवता ही समझ कर आतिथ्य सम्बन्धी प्रिय वचनों के वहाने आगन्तुक में विद्यमान वस्तुतः अपने प्रिय नल के ही सौन्दर्य की प्रशंसा करती है।[२] अभी तक नल के रूप का सुन्दर भावुक चित्रण कहीं नहीं हुआ था—हंस ने दमयन्ती के सम्मुख केवल उनके ऐश्वर्य तथा अन्य गुणों को ही गाया था। नल-सौन्दर्य का वास्तविक अनुशीलन वस्तुतः अभी तक हुआ न था। उसे इसी अवसर के लिए रख छोड़ा गया था। प्रेयसी से अधिक सानुराग प्रेमी के रूप को किसकी आंखें देखेंगी?[३] नल-रूप की यही सार्थकता थी कि उसका वर्णन दमयन्ती करती। किन्तु इसके साथ ही दमयन्ती-चरित्र की रक्षा के लिए भी श्रीहर्ष प्रयत्नशील रहते हैं। नल-कान्ति वाले दूत में भी दमयन्ती अनुराग करेगी ही, तो ऐसा न हो कि उसे कलङ्क लगे, मानों यही सोचकर विधि ने दमयन्ती के प्रति नल का कपट रूप धारण कर इन्द्र को स्वयं दूत न होने दिया।[४] दमयन्ती-चरित्र की रक्षा के लिए श्री हर्ष की यह उक्ति वड़ी श्लाघ्य है। दमयन्ती के विचार से संसार-रूपी सागर में दूत के प्रतिविम्ब-रूप एक नल ही हैं, क्योंकि विम्व-प्रतिविम्व को छोड़कर विधाता की अत्यन्त सारूप्य-रचना कभी देखी ही न गई।[५] वह वस्तुतः नल की प्रशंसा कर रही थीं, दूत की नहीं।[६]

नल का अपने को गुप्त रखने का प्रयोजन

नल अपने वास्तविक रूप का परिचय नहीं देते। दमयन्ती की वाणी रूप-वीणा से उपगीत हो कर भी वे मदन-वश नहीं होते। विवेक की धारा से अनेक प्रकार से पवित्र हुए महापुरुषों के अन्तःकरण को मदन कभी मलिन नहीं कर सकता।[७]

---

१. नै० ८—२०।२३

२. भूयोऽपि वाला नलसुन्दरं तं मत्वामरं रक्षिजनाक्षिवन्धात्।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्यतत्स्थां श्रियंप्रियस्यास्तुतवस्तुतः सा॥ नै० ८—३१

३. लेलीरा वचश्मे मजनूबायददीद—(फ़ारसी कहावत)।

४. दूते नलश्रीभृतिभाविभावा कलङ्किनीयं जनिमेति नूनम्।
न संव्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयन्दूतिमिमां प्रतीन्द्रम्॥ नै० ८—१६

५. संसारसिन्धावनुविम्बमत्र जागर्ति जाने तव वैरसेनिः।
बिम्बानुबिम्बो हि विहाय धातुर्न जातु स्रष्टातिसरूप दृष्टिः॥ नै० ८—४६

६. श्रियंप्रियस्यास्तुतवस्तुतः सा॥ नै० ८—३१

७. विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति। नै० ८—५४

सुन्दरी के उदार आतिथ्य से सत्कृत होकर भी वे स्नेह का कोई लगाव ही नहीं लगाते। बड़ी रुखाई के साथ कहते हैं—"वस करो, सपर्या हो चुकी। वैठो, आसन क्यों छोड़ दिया। सुन्दरि, यदि तुमने मेरे दौत्य-कार्य को सफल कर दिया तो वही मेरा वड़ा आतिथ्य होगा।[1]" अन्त में नाम जानने के लिए दमयन्ती के अत्यधिक आग्रह करने पर यहाँ तक कहते हैं कि "मेरे नाम में कितने अक्षर हैं, और किस क्रम से हैं, तुम्हें यह सब जानने की आवश्यकता नहीं। हम दोनों के प्रत्यक्ष वार्तालाप में तो युष्मद् (तुम) अस्मद् (मैं) द्वारा ही काम चल जायगा।[2]" "और यह शिष्टाचार परम्परा है कि सत्पुरुष अपना नाम नहीं लेते। अतः मैं भी अपना नाम नहीं वताना चाहता, क्योंकि लोग आचार-हीन पुरुष को बुरा कहते हैं।[3]" श्री हर्ष ने नल की ओर से नाम गुप्त रखने का इतना प्रयत्न क्यों किया? वात यह है कि नल को यह भली भाँति विदित था कि वैदर्भी ने पहले ही उन्हें वर निश्चय कर लिया है, और अव उन्हें देवदूत के रूप में देखकर उसे केवल लज्जा ही होगी। देवों को तो वह निश्चय ही स्वीकार न करेगी।[4] अतः हृदय से देव-कार्य को सिद्ध करने की भावना के कारण उन्होंने अपने वास्तविक रूप का परिचय न देना ही श्रेयस्कर समझा। अपना नाम वता देते तो न दमयन्ती देव-सन्देश ही सुनती और न ये ही इतनी दृढ़ता एवं रुखाई के साथ उसकी चित्त-वृत्ति को परिवर्तित करने का प्रयत्न कर सकते। महाभारत की नल-कथा में यही तो हुआ। नैषध में आत्मपरिचय न देकर नल ने अपने हृदय की निष्कपटता, सत्यशीलता, उदारता तथा कर्तव्य-परायणता आदि उदात्त-वृत्तियों का परिचय दिया है। पुण्यश्लोक की महत्ता का यह एक परिचय था।

देव सन्देश का प्रारम्भ दमयन्ती के प्रेम में होनेवाली देवों की कदर्थना से किया जाता है

फिर देव-सन्देश का प्रारम्भ, देव-वरण का प्रस्ताव, भय या प्रलोभन से नहीं होता है अपितु कौमार अवस्था से ही किस प्रकार दमयन्ती के गुणगण इन्द्र,

---

१. विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासनमुज्झितं किम्।
या दूतता नः फलिनाविधेया सैवातिथेयी पृथुरुद्भवित्री॥ नै० ८-५६

२. वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयानुपूर्व्यासमकेतिकेतिच।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदेविधातुं खलु युष्मदस्मदी॥ नै० ९-९

३. महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनामनामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहेपुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥ नै० ९-१३

४. कुण्डिनेन्द्रसुतया किलपूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते।
व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान्॥ नै० ५-११४

वरुण, अग्नि, यम चारों दिक्पालों को विमोहित किए हुए हैं, तथा उसके यौवनागम के साथ किस प्रकार मदन ने उनको अधीर करना प्रारम्भ किया है एवं इस समय वे किस प्रकार उसके विरह में व्यथित तथा विह्वल हैं, इत्यादि विषय के हृदयस्पर्शी चित्रण से होता है।[१] दमयन्ती के प्रेम में वे केवल अधीर ही नहीं हैं अपितु सारी दुर्दशा भोग रहे हैं। देवों की दशा वस्तुतः दयनीय हो गई है।[२] "किसी के हृदय में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रेमी पहले अपने अनुराग को व्यक्त करे। प्रेमासक्त व्यक्ति इस बात के लिए आतुर रहता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय। किसी के हृदय में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए रूप, गुण, ऐश्वर्य आदि न जाने कितनी विशिष्टताएं अपेक्षित होती हैं, और इतने पर भी प्रिय के हृदय में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न होगा ही इसका निश्चय नहीं रहता। अतः उसके हृदय को द्रवित करने के लिए करुणा का आश्रय लिया जाता है। दया का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। दया मनुष्य-मात्र का धर्म है, और प्राणि-मात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह देखने नहीं जाती कि दुखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह प्रिय को अच्छा लगे, और कभी ऐसे उपायों का अवलम्बन करता है जिनसे प्रिय के हृदय में उसके प्रति दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अन्तस् में प्रेम की भूमिका बांधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे-धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह इसीलिए वियोग की दारुण वेदना प्रिय के कानों तक पहुँचाता ही रहता है।[३]" अतएव विप्रलम्भ-वर्णन में करुणा अधिक रहती है। नैषध में यह भली भाँति देखने को मिलता है। नल देवों की विरह-जन्य कदर्थना को ही सर्व प्रथम दमयन्ती के सम्मुख रखते हैं—स्वर्ग का समग्र सुखभोग सुधा, सुराङ्गना, तथा अमरत्व आदि सब कुछ उनके लिए तुच्छ है। दमयन्ती के विरह में दिक्पाल अत्यन्त दयनीय हो रहे हैं।

अन्त में भय द्वारा रिझाने का प्रयत्न

किन्तु इतने पर भी दमयन्ती का हृदय नहीं पिघलता। वह अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा भी सुनाती है कि यदि राजा नल मेरा पाणिग्रहण नहीं करते तो अग्नि, जल, या

---

१. कौमारमारभ्य गणाः गुणानां हरन्ति ते दिक्षु धृताधिपत्यान्।
सुराधिराज्यं सलिलाधिपं च हुताशनं चार्यमनन्दनं च॥ नै० ८-५८
२. नै० ८-६१, ८३, ९१, १०६
३. चि० म०, पृष्ठ ९२, ९३

रज्जु द्वारा अपनी आयु का अन्त कर दूंगी।[1] अब नल ने जान लिया कि यहाँ प्रेम या करुणा का अभिनय काम नहीं देगा, अतः दूसरा उपाय निकाला। इसके चिर मनोनीत प्रिय नल की ही तुच्छता इसके सामने रखकर इसका मन उनसे वितृष्ण किया जाय। कहाँ देवराज इन्द्र और कहाँ एक नर-डिम्भ नल। दमयन्ती को फटकारते हैं—इन्द्र को त्यागकर नल की अभिलाषा करने वाली तुम अपने को पण्डिता कहती हुई लज्जित नहीं होती हो।[2] इत्यादि। और फिर ऐसा भय दिखाते हैं जिससे कि मरकर भी छुटकारा नहीं। यदि नल के विना गला बाँधकर मरी तो आकाशचारियों के स्वामी इन्द्र को,[3] आग में जलकर मरी तो स्वयं अग्निदेव को,[4] जल में डूबकर मरी तो वरुण देव को[5] और किसी अन्य उपाय से मरी तो साक्षात् यमराज को ही प्राप्त होवोगी।[6] भय दिखा कर फिर से देववरण की प्रशंसा करते हैं।[7] भयभीत मन कहीं शरण न पाकर बुरे को भी अच्छा मान लेता है—इस मानसिक क्रिया की सूक्ष्मता को श्रीहर्ष ने भली भाँति परखा है। भय दिखाकर भी फुसलाया जाता है। किन्तु दमयन्ती अपने दृढ़ पातिव्रत्य (नलानुराग) से नहीं डिगती, और हारकर कहती है—"दूत दिगीश्वरों के लिए तुम मुझे किसी प्रकार पीड़ित न करो। मैं हाथ जोड़ रही हूँ। कृपा करके अब ऐसी बातें न करो। इन आखों के आसुओं का ख्याल करो।[8]"

---

१. अपिद्रढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतिं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताशनोद्बन्धनवारिकारितां निजायुषस्तत् करवै स्ववैरिताम्॥ नै० ९-३५

२. हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषिब्रुवा कथम्। नै० ९।४३

३. यदिस्वमुद्बन्धुमना विना नलं भवेर्भवन्तीं हरिरन्तरिक्षगाम्।
दिविस्थितानां प्रथितः पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि कः॥ नै० ९।४६

४. निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदास्मिन्महती दया कृता।
चिरादनेनार्थनयापि दुर्लभं स्वयं त्वयैवाङ्ग यदङ्गमर्प्यते॥ नै० ९।४७

५. जितं जितं तत्खलु पाशपाणिना विना नलं वारि यदि प्रवेक्ष्यसि।
तदात्वदाख्यान्बहिरप्यसूनसौ पयःप्रतिर्वक्षसि वक्ष्यतेतराम्॥ नै० ९।४८

६. करिष्यसे यद्यत एव दूषणादुपायमन्यं विदुषी स्वमृत्यवे।
प्रियातिथिः स्वेन गृहागताकथं न धर्मराजं चरितार्थयिष्यसि॥ नै० ९।४९

७. नै० ९।५०-५९

८. दिगीश्वरार्थं न कथंचन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोयमञ्जलिः।
प्रसद्यतां नाद्यनिगाद्यमीदृशं दृशौ दधेबाष्परयास्पदेभृशम्॥ नै० ९।६९

पर उसके वेदना भरे दीन वचनों से मर्माहत होकर भी नल अपने दूतधर्म से विमुख नहीं होते। देवों के सामर्थ्य को इस रूप में वताते हैं कि यदि वे चाहें तो दमयन्ती को वहीं स्वर्ग में बैठे-बैठे अपनी कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास ऐसे अभिलाषा-पूरक साधन हैं। इन्द्र के कल्पवृक्ष, अग्नि के सार्वकामिक यज्ञ, यम के अगस्त्य मुनि तथा वरुण की कामधेनु उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने में सब प्रकार से समर्थ हैं। देवगण चाहें तो पदे-पदे ऐसे विघ्न उपस्थित कर सकते हैं कि नल दमयन्ती का विवाह-संयोग सदा असम्भव बना रहे। अतः अन्त में दृढ़तापूर्वक उसकी बुद्धि को हिलाते हुए कहते हैं, "दमयन्ति, मैंने तुमसे यह बड़े हित की बात कही है। तुम मोह त्यागकर स्वयं विचार कर लो। भला देवों के विघ्न करने के लिए उतारू होने पर कौन मनुष्य हाथ में धरी वस्तु भी पाने में समर्थ हो सकता है।[१]" यह ऐसा तीर था जिसकी चोट अबला किसी तरह नहीं सह सकती थी। "उस समय वह प्रिय की प्राप्ति के विघात का निश्चय जानकर सोन्माद रोती हुई, सहन शक्ति खोकर, घबड़ा कर, निरानन्द हो, बुद्धिहीन होकर अत्यन्त करुण विलाप करने लगी।[२]" अत्यन्त निराशा में करुण विलाप के अतिरिक्त कोई अवलम्ब ही नहीं। हृदय-सागर आखों के ही रास्ते बहा करता है। दमयन्ती का इस बार का विलाप अत्यन्त करुणापूर्ण था।[३] "नाथ, दमयन्ती तुम्हारे लिए मरी, क्या यह बात तुम्हारे कानों तक न पहुँचेगी, यद्यपि इस समय अनुग्रह नहीं करते तो क्या उस समय भी तुम्हें दया का लेश न होगा?[४] हे याचक कल्पवृक्ष, मेरी तुमसे यही याचना है कि मेरे विदीर्ण होने वाले इस हृदय से निकलने वाले प्राणों के साथ तुम न जाना।[५]" करुणा के तीरों से हृदय में दया का स्रोत बहाकर इन दीन वचनों ने दूत के विरह की मन्मथ वेदना को दबाने के सारे प्रयत्न व्यर्थ कर दिये। विरही उद्भ्रान्त हो गया। इससे अधिक उपयुक्त कोई दूसरा अवसर ही न था कि जब नल

---

१. इदंमहत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति चिन्तय।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः॥ नै० ९।८३

२. अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससंभ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः।
व्यधात्प्रियप्राप्ति-विघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा। नै० ९।८७

३. नै० ९।८८–१००।

४. कथावशेषं तव सा कृतेगतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे तदापि तावद्यदि नाथ नाधुना। नै० ९।९९

५. ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थि-कल्पद्रुमकिञ्चिदर्थये।
भिदांहृदि द्वारमवाप्य मां स मे हतासुभिः प्राणसमः समंगमः॥ नै० ९।१००

अपना वास्तविक परिचय देते। परिचय भी, स्वेच्छा से नहीं विवश होकर देना पड़ता है।

जब तक उनकी चेतना पर उनका अधिकार था उनसे ऐसी गलती कदापि नहीं हो सकती थी। नल की इस विवशता में ही उनके चरित्र की महत्ता है। नल की यह दुर्बलता ही उन्हें महान् बनाती है। इसी नाते वे मानव-समाज के अङ्ग लगते हैं। अन्यथा वे भी देव-कोटि में गिने जाते। महापुरुषों के चरित को कोई दुर्बलता ही उन्हें मनुष्यता के धरातल पर स्थित रखती है। साधारण पुरुष उनकी वह त्रुटि देखकर ही उनमें अपनापन पाता है। सोचता है, वे भी हमी में से थे। सीता के विरह में आर्त्त तथा स्वार्थवश वालि का वध करने के कारण ही राम मानव लगते हैं। उनकी ये दुर्बलताएं ही उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम बनाती हैं, अन्यथा वे साक्षात् विष्णु ही रहते। अतः राम की इन दुर्बलताओं को छिपाने का प्रयत्न करना उचित नहीं। वे दुर्बलताएं ही राम को महान् बनाती हैं। पुनः प्रबोध होने पर नल को अपनी इस त्वरा के लिए बड़ी ग्लानि होती है। उन्हें देवों से भय नहीं है, किन्तु उनके द्वारा दौत्य-धर्म में जो कलङ्क लगा है उसका ही पश्चात्ताप है। पर उनका हृदय शुद्ध है तथा देवों के कार्य में उनका प्रयत्न निष्कपट रहा है, अतः इस त्रुटि के लिए न उन्हें लोकापवाद की परवाह है, न देवों से कोई भय। देवेच्छा ही ऐसी थी जिसने उनकी चेतना को लुप्त कर दिया। विधि-विधान के प्रतिकूल भला कौन जा सकता है? उन्हें इसकी चिन्ता नहीं कि स्वार्थ भी सिद्ध हो जाय और धर्म भी बना रहे—उन्हें चिन्ता इस बात की है कि दौत्य कार्य में विफल होने पर कहीं मेरी कीर्ति में धब्बा न लगे।

अन्तःपुर में नल-दमयन्ती को हंस का प्रत्यक्ष दर्शन

इसी समय श्रीहर्ष ने हंस के प्रत्यक्ष होने की कल्पना की है, क्योंकि यदि कहीं नल अपनी कर्तव्य-परायणता के पीछे ग्लानि ही करते रह जाते तो दमयन्ती की निराशा इतनी सघन हो सकती थी कि बहुत सम्भव था कि उसके प्राण-पखेरू ही उड़ जाते।[1] ऐसे संकट के समय दिव्य हंस के दर्शन से दोनों के प्राण बचे। अन्त में नल के सम्मुख सखी ने दमयन्ती की विरह-दशा का जो चित्र खींचा उससे नल की चलती बार जो प्रेम-भावना जागरित हुई थी वह और भी बढ़ती ही रही।

स्वयंवर वर्णन के विस्तार का प्रयोजन

और फिर शीघ्र ही स्वयंवर का अवसर आता है। नैषध के पाँच सर्गों (१०–१४) में इसका दृश्य वर्णित है। महाभारत में रंगमण्डप का तथा स्वयंवर में आए

---

१. नयादयैनामतिमानिराशतामसून् विहातेयमतःपरंपरम्। नै० ९–१२८

राजाओं का अतिसंक्षिप्त वर्णन है।[1] किन्तु नैषध में इसका वड़ा विस्तार किया गया है जिसके लिए उसके ऊपर भारी आक्षेप हुए हैं। महाभारत की पूर्वोक्त कतिपय पंक्तियों में निर्दिष्ट स्वयंवर वर्णन नैषध में पहुँचकर पाँच-सौ से अधिक छन्दों का महाकाय रूप धारण कर लेता है। साथ ही विशेषता यह कि प्रत्येक पद्य अभिनव मनोरम कल्पनाओं से सम्पन्न है। श्रीहर्ष की प्रतिभा कही हुई वात को दुहराना जानती ही नहीं। महाभारतीय नलकथा का जितना अंश श्रीहर्ष को अपने काव्य में रखना अभीष्ट था वह नल का विवाह एवं वैवाहिक सुख-भोग तक सीमित है। प्रेम और विवाह, जीवन की दो ऐसी घटनाएं हैं जिनमें हृदय की रागात्मक वृत्तियाँ सवसे अधिक रमती हैं। मनुष्य की प्रवल सुखेच्छा ने कल्पना का अवलम्व लेकर स्वर्ग सुख की रचना की है। चतुर्वर्ग में सुख का ही नाम 'काम' है। 'अर्थ' उस सुख का साधन है तथा धर्म परिष्कारक।[2] भोग-भूमि काम ही है—और—'को भोगो रमणीं विना' के अनुसार सांसारिक सुख-भोग का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक स्त्री ही है। अतएव प्रेम और विवाह का जीवन में इतना महत्त्व है। विवाह के पूर्व का पूरा जीवन-भाग एक प्रकार से विवाह के आयोजन का समय होता है और विवाह के पश्चात् का जीवन वैवाहिक सुखों के भोग का। गृहस्थ जीवन में सवसे

---

१. अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौपुण्येक्षणेतथा।
आजुहावमहीपालान् भीमो राजा स्वयंवरे।
तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वेहृच्छयपीडिताः।
त्वरिताःसमुपाजज्मु र्दमयन्तीमभीप्सवः।
कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम्।
विविशुस्ते नृपारङ्गं महासिंह इवाचलम्।
तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।
तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव।
तत्र स्म पीना दृश्यन्ते वाहवः परिघोपमाः।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः।
सुकेशान्तानि चारुणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि।

म० भा०, व० प०, अ० ५७ श्लो० १–७

२. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ—गीता ७–११

अधिक प्रसन्नता का समय होता है विवाह। शृंगार-रसात्मक काव्यों की अधिकता का यही कारण है। उनमें भी स्वयंवर और विवाह का प्रसंग प्रायः आता है। इसमें चित्रित मनुष्य के ऐहिक जीवन के सुख सर्वसाधारण को अतिसुखेन हृदयगम्य हो जाते हैं। वे सब को अपने ही विषय में कहे से लगते हैं। फिर अपना सुख किसे न प्रिय लगेगा ? रघुवंश ऐसे महाकाव्य में जिसमें अनेक राजाओं का समस्त जीवन-चरित वर्णन करना था, कालिदास इन्दुमती के स्वयंवर तथा विवाह के विस्तृत वर्णन का प्रलोभन न रोक सके। एक पूरा सर्ग स्वयंवर में लगा दिया और एक पूरा विवाह में। स्वयंवर का समय ही ऐसा होता है कि उसका वर्णन करने में कवि-कल्पना को स्वतन्त्र विचरने का कुछ अवसर भी मिलता है। नैषध में एक ही राजा का चरित वर्णन करना था और वह भी केवल विवाह पर्यन्त। वर्णन का विस्तार श्रीहर्ष की अपनी कल्पना है, विस्तार भी सप्रयोजन तथा सजीव हुआ है। स्वयंवर में आने वाले भी तो कई प्रकार के रहे होंगे—सद्वंशोत्पन्न योग्य वीर तो राजकुमारी को वरने के लिए आए, अयोग्य वीर उसे बलात् अपहरण करने आए, कुछ स्वयंवर देखने आए, दूसरे वहां आए हुए की सेवा ही करने आए। इस प्रकार सारी दिशाएं सूनी होकर केवल दिशामात्र ही रह गईं।[1] आते समय रास्तों का भी थोड़ा चित्र दिखाया गया।[2] इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण इन चार दिक्पालों के अतिरिक्त अन्य ६ दिक्पाल स्वयंवर में क्यों नहीं आए, इस शङ्का का समाधान श्रीहर्ष की तीक्ष्ण प्रतिभा ने कर ही दिया।[3] महाभारत में दमयन्ती को राज-पंक्ति में अकस्मात् पांच पुरुष एक स्वरूप के दिखाई पड़ते हैं—पांचों नल-रूप।[4] और दमयन्ती की प्रार्थना पर चार अपने वास्तविक रूप में हो जाते हैं, जिससे सत्य नल का स्पष्ट पृथक् भान होने लगता है। श्रीहर्ष ने बड़ी सहृदयता के साथ उनके नल-रूप धारण करने का हेतु बताया है कि कदाचित् नल के भ्रम से ही दमयन्ती हमें स्वीकार कर ले।[5] फिर नल-साम्य पाने के लिए उन्होंने जो कुछ प्रयत्न किया

---

१. योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेनहर्तुम्।
द्रष्टुं परैस्तान्परिकर्तुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः।। नै० १०।३

२. नै० १०।५-९

३. नै० १०।११-१६

४. ततः संकीर्त्यमानेषुराज्ञांनामसु भारत। ददर्श भैमीपुरुषान्पञ्चतुल्याकृतीनिह।।
म० भा० व० प० ५७।१०

५. नलभ्रमेणापि भजेतभैमीकदाचिदस्मानितिशेषिताशाः।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा।। नै० १०।

उसका भी वर्णन किया है।[१] राजमण्डित रङ्गभूमि में जिस समय नल पहुंचे होंगे उस समय उसकी शोभा कितनी अधिक वढ़ गई होगी, तथा नल को देखकर राज-समाज में किस प्रकार ईर्ष्या, प्रशंसा, पराजय आदि भावों का भाव-संकर हुआ होगा, तथा उन्होंने किस प्रकार की वातें आपस में की होंगी, श्रीहर्ष ने इसे सुन्दरता-पूर्वक परखा है।[२] समागत राज-समाज का यथोचित आतिथ्य करना भी श्रीहर्ष नहीं भूले हैं।[३] त्रिभुवन-सुन्दर वीरों से सुशोभित उस समाज के वर्णन का प्रलोभन भी महाकवि न रोक सके। स्वयं वाल्मीकि, वृहस्पति तथा शुक्राचार्य से उसका वर्णन करवाया है।[४]

राज-परिचय के लिए सरस्वती की कल्पना

स्वयंवर-वर्णन में श्रीहर्ष की सरस्वती-विषयिणी कल्पना सव से अधिक कलापूर्ण एवं सफल है। नाना लोकों से आए हुए उन नवयुवकों के गोत्र तथा चरित्र का वर्णन मानव-शक्ति से परे था। उसे न कोई सुनन्दा कर सकती थी न राजकुमारी का भाई ही। केवल श्रीहर्ष की सरस्वती कर सकती थी। राजा भीम का अपने कुलदेव भगवान् चक्रपाणि को सचिन्त स्मरण करना, विष्णु का प्रसन्न होकर सरस्वती को यह कहते हुए भेजना कि—तीनों लोकों के पण्डितों से मण्डित ऐसी सभा न कभी हुई न फिर कभी होगी ही, तुम यहां राजाओं के गुण-वर्णन के वहाने अपनी वाग्रचना पण्डितों को सुनाओ[५] इत्यादि विषय श्रीहर्ष ने स्वयं कल्पित किया है। श्रीहर्ष संस्कृत-साहित्य-रचना के उस युग में हुए थे जव कविता केवल भाव तथा रस से पूर्ण एक लोकोत्तर आनन्द की ही वस्तु नहीं रह गयी थी, अपितु कवि की विभिन्न शास्त्रज्ञता के प्रदर्शन की रङ्गभूमि वन गयी थी। दर्शन, आयुर्वेद, पशु-विज्ञान, संगीत, कामशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सभी विभागों में अधिक उन्नति होने के कारण तात्कालिक कवि को सवसे अभिज्ञ होना पड़ता था, तथा अपनी काव्य रचना में वह यत्नपूर्वक अपनी अभिज्ञता का प्रदर्शन करता था। श्रीहर्ष से कुछ शताब्दी पूर्व ही भारतवर्ष ज्ञान-विकास में अपनी चरम सीमा पर

---

१. नै० १०।१९–२२
२. नै० १०।३८-४८
३. नै० १०।२७-२८
४. नै० १०।५७-६५
५: जगत्रयीपण्डितमण्डितैषासभा न भूता न च भाविनी च।
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन संख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि॥ नै० १०।७२

पहुंच चुका था। अतः अपनी दिव्य प्रतिभा के साथ श्रीहर्ष ने भी नैषध-रचना के पूर्व अपने को हर प्रकार की अपेक्षित अभिज्ञता से पूर्णतया सम्पन्न कर लिया था। नैषध को वे हर प्रकार से समृद्ध काव्य वनाना चाहते थे। यद्यपि नैषध में शास्त्रीय पाण्डित्य-प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं था, क्योंकि उसके लिए तो उन्होंने 'खण्डन' जैसे महाग्रन्थ की रचना पृथक् रूप में की ही थी, परन्तु अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन वे अवश्य करना चाहते थे, साथ ही प्रवन्ध औचित्य में कहीं अव्यवस्था भी नहीं करना चाहते थे—अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए वलात् कोई असङ्गत प्रसङ्ग नहीं लाना चाहते थे। अव स्वयंवर में उन्हें इसका अच्छा अवसर मिला। उस युग की काव्यधारा प्रशस्ति रूप की भी थी। उन शताब्दियों की रचनाओं (काव्यों, लेखों, दानपत्रों आदि) को देखने से पता चलता है कि कविगण आश्रयदाताओं का यशोगान अद्भुत् कल्पनाओं के साथ किया करते थे। राजप्रशस्ति एक काव्यधारा ही वन गयी थी। श्रीहर्ष को स्वयंवर प्रसङ्ग में उस प्रकार की काव्यरचना में भी अपनी सर्वोत्कृष्टता दिखाने का अवसर मिल गया। वह (दमयन्ती-स्वयंवर) सभा श्रीहर्ष के कल्पना-नेत्रों को प्रत्यक्ष-सी थी—उन्होंने स्वयं श्लेष रूप से कहा है—क्या किन्नरों ने सानन्द उसका सेवन नहीं किया? अथवा क्या महर्षियों ने उसे हर्ष (१—आनन्द, २—कवि श्रीहर्ष) के साथ न देखा?[१] स्वयंवर में राज-परिचय के लिए आने वाली सरस्वती श्रीहर्ष की अपनी ही सरस्वती है। उन्होंने उसके स्वरूप का जो रूपक वांधा है,[२] उसके द्वारा अपने अधीत ज्ञान का परिचय दिया है। अव जव स्वयं सरस्वती ही वर्णन कर रही है तो किसी भी प्रकार की दुरूह कल्पना सम्भव हो सकती है, शैली कितनी भी उत्कृष्ट एवं कितनी भी वक्र हो सकती है। भावों के उन्मुक्त आकाश में कल्पना की मनोरम राजहंसी पर श्रीहर्ष की सरस्वती विचरने लगी।

दमयन्ती का स्वयंवर सभा में प्रवेश

राज-समाज में दमयन्ती ने जिस समय प्रवेश किया उस समय श्रीहर्ष ने उसके युव-जन-मोहन रूप का अद्भुत चित्र खींचा है।[३] विभाव के प्रत्यक्ष होने पर आश्रय (राजाओं) में क्या अनुभाव आदि होते हैं इसे भी कवि की आंखों ने भली-भांति देख लिया।[४] स्वयंवर-प्राङ्गण में आई हुई सुन्दरी को देखकर सानुराग विह्वल हो

---

१. सा किन्नरैः किं न रसादसेवि नादर्शिहर्षेण महर्षिणावा? नै० १०।५६
२. नै० १०।७४-८८
३. नै० १०।९३-१०७
४. नै० १०।१०८-११२

राजाओं ने गद्गद् स्वर में उसके रूप की जो प्रशंसा की वह उनके अनुभावों का ही प्रदर्शन था। यह सौन्दर्य-प्रशंसा अत्यन्त अवसरोचित हुई है। यदि यहाँ इसका सन्निवेश न होता तो उस समय के राज्य-समाज की हृदय-हीनता तो व्यक्त ही होती, साथ ही श्रीहर्ष की सरसता में भी वड़ा वट्टा लग जाता। लोगों की उत्कण्ठा का एक चित्र निम्नाङ्कित पद में किस प्रकार सजीव अङ्कित है—

"इयमियमधिरथ्यंयातिनेपथ्यमंजुर्विशतिविशतिवेदीमुर्वशी सेयमुर्व्याः[१]। इयम् इयम् तथा विशति विशति के द्वित्व में कितना कुतूहल है इसे भुक्त-भोगी ही जान सकता है।

राज-परिचय

श्रीहर्ष ने वड़े तर्कपूर्ण औचित्य के साथ दमयन्ती को देव, राक्षस, गन्धर्व, विद्याधर तथा यक्ष के पास से हटाया।[२] थोड़े में वासुकी आदि को निपटाया। फिर मनुष्य-नरेशों के पास पहुंचा कर सर्वप्रथम अन्य द्वीपों के स्वामियों का वर्णन किया। पुराणोक्त ढंग से पुष्कर, शाक, क्रौञ्च, कुश, शाल्मल तथा प्लक्ष द्वीपों के वर्णन कर चुकने के पश्चात् जम्बूद्वीप के राजाओं का वर्णन प्रारम्भ किया। अवन्ति, गौड़, मथुरा तथा काशी के नरेशों का वर्णन एकादश में करते हैं। इसके पश्चात् कुछ नए नरेश और आते हैं, जिनका वर्णन द्वादश में किया जाता है। उनके विलम्वसे आने की कल्पना श्रीहर्ष की है जिससे कथानक में रोचकता आ जाती है। यदि वे भी स्वयंवर में पहले से ही उपस्थित होते तो उनका भी वैसा ही वर्णन पढ़कर जी ऊबने लगता। किन्तु उन्हें नवागत समझ कर कुछ कुतूहल होता है—वे कौन थे और कैसे थे? स्वयंवर में जो नरेश पहले आ चुके थे वे तो हताश होकर लम्बी आहें भर रहे थे, क्योंकि दमयन्ती उन्हें छोड़ कर आगे बढ़ चुकी थी, किन्तु जो नए आए, उन्हें यह आशा थी कि इन पूर्वागतों को नहीं चुना तो दमयन्ती हमी में से किसी को अवश्य वरेगी। अतः उनके हृदय में आनन्द का सागर उमड़ रहा था।[३] राज-वर्णन में प्रायः वही परम्परारूढ़—प्रताप, विजय, शत्रु की दुर्दशा आदि का वर्णन सव के लिए हुआ।[४] राज-परिचय में उन राजाओं के पराक्रम का विशेष गान किया गया

---

१. नै० १०।१३७

२. नै० ११।११, १३, १४

३. ततःस भैम्याववृत्ते वृतं नृपैर्विनिःश्वसद्भिः सदसि स्वयंवरः।
चिरागतैस्तर्कितत‌द्विरागितैः स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवः॥ नै० १२।२

४. प्रयाणरणखड्गादिशस्त्राण्यरिपराजयः।
अरिनाशोऽरिशैलादिवासोऽरिपुरशून्यता॥ काव्यकल्पतावृत्ति १।५, ४८

है। नैषध ही नहीं प्राचीन संस्कृत काव्यों में प्रायः सर्वत्र शृङ्गार के साथ युद्ध-वीर का अधिक समन्वय हुआ है। वहां कभी वीर शृङ्गार के और कभी शृङ्गार वीर के पोषक के रूप में आता है। वीर चार प्रकार के माने गए हैं—दान-वीर, दया-वीर, युद्ध-वीर तथा धर्म-वीर। इनमें औरों के प्रति तो श्रद्धा आदि पूज्य भाव जगते हैं, किन्तु युद्ध-वीर के प्रति एक और भाव भी जगता है जिसे प्रेम कहते हैं। विशेषतया युवतियों के हृदय को युद्ध-वीर सभी वीरों से अधिक आकर्षित करता है। वास्तव में युद्ध-क्षेत्र जीवन की सब से विकट कर्म-भूमि है। वीरत्व का सौन्दर्य जितना यहां देखा जा सकता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। यश तथा दानशीलता का भी वर्णन किसी-किसी के सम्बन्ध में हुआ है, किन्तु सारे वर्णन की विशेषता यह है कि प्रत्येक नितान्त नूतन तथा हृदय-ग्राह्य हुआ है। उदाहरणार्थ—कलिङ्गाधिपति के प्रताप वर्णन के प्रसङ्ग में सरस्वती कहती हैं, इनके भय से अपनी प्रिया को वन में छोड़कर शत्रु-नरेश के प्राण बचा कर भाग जाने पर जब वनवासी कोल भील स्त्रियां उस सुन्दरी से पूछती हैं कि तुम्हारे देश में क्या विचित्रता है? तो वह पति विरह-विधुरा उत्तर देती है, हमारे देश में चन्द्रमा की किरणें शीतल होती हैं, तुम्हारे यहां की तरह उष्ण नहीं।[1] अन्तिम वाक्य में विरह का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। इसके भोलेपन की आह को श्रीहर्ष ही पहचान सके। पण्डितराज जगन्नाथ के उत्तमोत्तम काव्य का यह उत्कृष्टतम स्वरूप है।

चेटी या दासी द्वारा उपहास का प्रयोजन

बीच-बीच में किसी सखी चेटी या दासी द्वारा किया गया व्यङ्ग्य उपहास बड़ा ही समयोचित तथा अनूठा हुआ है। एक नरेश को छोड़कर दूसरे के पास जाने का इससे बढ़कर अन्य कोई बहाना या प्रसङ्ग नहीं था। नरेशों का वर्णन किसी भौगोलिक क्रम से नहीं हुआ है। हो भी नहीं सकता था। स्वयंवर में जो जैसे आए वैसे बैठते गए। कोई क्रम तो रहा न होगा। सम्पूर्ण द्वादश सर्ग श्रीहर्ष की सहृदयता-पूर्ण काव्य-प्रतिभा का परिचायक है।

पांच नलों के परिचय में श्लेष का आश्रय

अब दमयन्ती के सम्मुख नल-रूप-धारी पांच व्यक्तियों के परिचय देने का समय आता है। कठिन समस्या है! महाभारत में दमयन्ती को तुल्य आकृति के

---

१. इतस्त्रसद्विद्रुतभूभृदुज्झिता प्रियाथ दृष्टा वनमानवीजनैः।
शशंसपृष्टाद्भुतमात्मदेशजं शशित्विषः शीतलशीलतां किल॥ नै० १२।२६

पांच पुरुष दिखायी पड़ते हैं।[1] दमयन्ती उनमें से जिस किसी को देखती है उसे ही नल समझती है।[2] वहां परिचय देने वाला कौन था, और उसने उन पाँचों का परिचय किस प्रकार दिया—इसका कोई उल्लेख नहीं है। पर नैषध में तो परिचय का भार श्रीहर्ष ने सरस्वती के ऊपर डाला है। विशेषतया इन पांचों नलों का परिचय तो सरस्वती के सिवा अन्य कोई दे भी नहीं सकता था। पहले तो चार-चार श्लोकों में इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण का पृथक्-पृथक् वर्णन होता है। फिर चार श्लोकों द्वारा नल का वर्णन किया जाता है। साथ ही इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का भी एक-एक में क्रमशः श्लिष्ट वर्णन रहता है। एक श्लोक में तो चारों देवों तथा नल इन पांचों का वर्णन होता है।

श्रीहर्ष ने परिस्थिति को वड़ी निपुणता के साथ संभाला है। इस श्लेष-रचना द्वारा उन्होंने कई उद्देश्य सिद्ध किए हैं। प्रथम तो अपनी काव्य-रचना की प्रौढ़ता सिद्ध की है। चतुर्दश सर्ग में उन्होंने स्वयं कहा है—इन वातों में श्लेष (गुण) का होना सरस्वती की कवित्व-शक्ति का सहज प्रकाश (स्फुरण) है।[3] दूसरे, सरस्वती की प्रतिष्ठा की रक्षा की है, क्योंकि यदि वे वास्तविक वर्णन करतीं तो देवों का भंडाफोड़ हो जाता, और इस प्रकार वे देवों का क्रोध-भाजन वनतीं। तीसरे, श्लेष के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था जिससे उन पांचों का ऐसा वर्णन किया जाता। स्व० श्री कीथ महोदय का कहना है कि "दमयन्ती चाहे संस्कृत जानती भी रही हो, पर देवी की वात को व्याख्या के विना नहीं समझ सकती थी,[4]" तथा श्री सुशीलकुमार दे महोदय का कहना है कि "वेचारी दमयन्ती के लिए इससे एक वड़ी भ्रान्तिकारक परिस्थिति उपस्थित होती थीं, क्योंकि टीका के विना ये श्लोक सम्भवतः उसे वोधगम्य नहीं हो सकते थे।"[5] इन दोनों उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है मानों दोनों विद्वानों ने दमयन्ती के गुण-वर्णनों को प्रायः विस्मृत कर दिया है। इन आलोचकों को हंस से वातें करते समय के ये दो दमयन्ती के वाक्य—

१—"का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषंकथयेदलज्जा।"[6]

---

१. ददर्श भैमी पुरुषान् पञ्चतुल्याकृतीनिह। म० भा० व० प०, ५७-१०

२. यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम्। म० भा०, व० प०, ५७-११

३. श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासाः। नै० १४।१६

४. कीथ—संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पृ० १४१

५. दे—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३२८

६. नै० ३।५९

हे द्विज (पक्षी) कौन निर्लज्ज वाला (स्त्री) राजा से (नल से) पाणिग्रहण की अभिलाषा (शब्दों द्वारा) कहेगी ?

हे द्विजराज (पक्षिराज) कौन निर्लज्ज वाला (स्त्री) (अपने) पाणिग्रहण की अभिलाषा (शब्दों द्वारा) कहेगी ?

कौन निर्लज्ज वाला (स्त्री) द्विजराज (चन्द्रमा) को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा कहेगी ?

तथा २—"चेतोनलंकामयतेमदीयं नान्यत्रकुत्रापि च साभिलाषम्"[1]

मेरा चित्त नल को चाहता है अन्यत्र कहीं भी उसकी अभिलाषा नहीं है।

मेरा चित्त न लंका की ओर जाता है, न तो कहीं अन्यत्र ही उसकी अभिलाषा है। जिनमें श्लेष की अद्‌भुत मनोरम छटा है—संभवतः विस्मृत हो गए। इन्हीं श्लिष्ट वाक्यों से प्रभावित होकर हंस ने दमयन्ती को 'श्लेष-कवि' की उपाधि दी थी।[2] श्रीहर्ष की वैदर्भी पूर्ण विदुषी थी। स्वयं नल के शब्दों में—दमयन्ती के अधरोष्ठों पर अपने अवान्तर भेदों सहित कितनी विद्याएं नाचती रहती हैं, मानों इसे कुतूहली ब्रह्मा ने श्रम के विना ही अधरोष्ठ की इन रेखाओं द्वारा गिना है।[3] और सुन्दरी के दो कानों ने अठारहों विद्याओं के दो (समान) भागों में बांट कर जो आधी-आधी (नौ-नौ) धारण की हैं, क्या यह कानों में बनी गहरी रेखा वाला ९ की संख्या का सूचक अंक उसी आधे की एक नई (अपूर्व) अर्थात् आश्रय रूप संख्या तो नहीं है ?[4] तथा विधाता ने दमयन्ती के कण्ठ में कवित्व, सङ्गीत, प्रिय-वचन तथा सत्य इन चारों को स्थापित किया है, और तीन रेखाओं के बहाने उन्होंने उन चारों के निवास की सीमा विभक्त कर दी है।[5] देव-सन्देश कहते समय नल ने दमयन्ती को कई बार 'विदुषी' कहा है।[6] तो इतने स्थलों में सूचित विविध वैदुष्य के होते हुए भी क्या उसे उन श्लिष्ट श्लोकों का विविध अर्थ

---

१. नै० ३।६७

२. आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्। नै० ३।६९

३. विद्याविदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्तिकत्यन्तरभेदभाजः।
इतीवरेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान् विधाता॥ नै० ७।४१

४. अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दधतुरर्धमर्धम्।
कर्णान्तरुत्कीर्णगभीररेखः किं तस्य संख्यैव नवा नवाङ्कः॥ नै० ७।६३

५. कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम्।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोयं विबभाज सीमाः॥ नै० ७।६७

६. विदुषिब्रुवा—नै० ९।४३, विदुषी नै० ९।४९

समझने के लिए आजकल के पल्लव-ग्राही विद्वानों की भांति किसी टीकाकार की सहायता लेने की अपेक्षा थी? ऐसा तर्क कैसे सङ्गत हो सकता है? यदि उसकी समझ में वह श्लिष्ट वर्णन न आया होता तो वह कैसे कहती, "अज्ञानवश मैं इस प्रकार की व्यर्थ शङ्का क्यों करूं, क्योंकि निश्चय ही यह ऐसा (अनेक नलों की प्रतीति रूप) इन्द्र आदि देवों का छल (माया) ही है। देवी सरस्वती ने भी तो इसी प्रकार का वर्णन किया है, जिससे कि उन दिक्पालों का भी वोध हो जाता है।"[१] अतः इस श्लिष्ट रचना के विषय में ऐसी दुराशङ्का करनी उचित नहीं। और फिर, श्लिष्ट रचना की गूढ़ता का प्रयोजन भी तो यही था कि जिससे व्याकुल होकर दमयन्ती देवशरण में जाय। श्रीहर्ष का यह विश्वास है कि देव-कृपा के विना किसी प्रकार का सुख या शान्ति नहीं मिल सकती। यदि उसकी गूढ़ता उसे स्वयं स्पष्ट हो जाती तो देवकृपा की क्या आवश्यकता रह जाती। वह अपने आप नल की पहिचान कर लेती। कवि को यही अभीष्ट समझ पड़ता है कि वे श्लिष्टार्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप में तव तक उसकी समझ में न आए जव तक उस पर देवों का अनुग्रह न हो जाय। उस समय (देवानुग्रह से पूर्व) सम्भवतः टीकाकार द्वारा भी वह उससे अधिक न समझ पाती। वुद्धि सुधारने का कार्य देवकृपा ही कर सकती है।[२] उस समय सन्देह एवं भ्रान्ति से विकल दमयन्ती की मानसिक दशा का अत्यन्त वास्तविक तथा स्वाभाविक चित्रण हुआ है, "लोगों को कभी-कभी एक ही चन्द्रमा दो समझ पड़ता है किन्तु इस भ्रान्ति का कारण है आँख के कोने पर अंगुली रखना इत्यादि। इसी प्रकार किसी के प्रतिविम्व को दिखायी पड़ने का कारण है उसका दर्पण के समीप पहुंचना, किन्तु इन नलों में एक ही के पांच भेद होने की मेरी भ्रान्ति में कोई भी कारण नहीं समझ पड़ रहा है।[३] अथवा क्या मेरा खिलाड़ी प्रिय नल स्वयं इतने रूप वनाकर मुझसे परिहास तो नहीं कर रहा है? क्योंकि विज्ञानवेत्ता होने के कारण अश्व-हृदयज्ञान की भांति क्या उनमें कई रूप धारण करने की विद्या न होगी?[४]

---

१. मुग्धा दधामि कथमित्यमथापशङ्कां सङ्क्रन्दनादिकपटः स्फुटमीदृशोऽयम्।
देव्यानयैवरचिता हि तथा तयैषां गाथा यथा दिगधिपानपि ताः स्पृशन्ति॥
नै० १३।४६

२. देवा हि नान्यद्वितरन्तिकिन्तु प्रसद्य ते साधुधियंददन्ते। नै० १९।९

३. अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनस्य तत्र भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटीकरणादिरादिः।
स्वच्छोपसर्पणमपि प्रतिमाभिमाने भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम्। नै० १३-४२

४. किंवातनोतिमयिनैषधएवकायव्यूहंविहायपरिहासमसौ विलासी।
विज्ञानवैभवभृतःकिमु तस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव। नै० १३-४३

अथवा इनमें क्या एक नल हैं, दूसरे पुरूरवा हैं, तीसरे कामदेव हैं, तथा शेष दो अश्विनीकुमार हैं। पांचों का रूप सौन्दर्य की पराकाष्ठा होने के कारण एक ही-सा है, क्योंकि पराकाष्ठा (चरम सीमा) तो एक ही होती है। सम्भव है मैं इसी कारण सब को नल समझ बैठी हूं।[१] पहले विरह-विकल होने पर मेरे प्राणेश नल मुझे सब जगह दिखायी पड़ने लगते थे। क्या मेरी वही दशा फिर आ गई है, जिसके कारण मैं इतने असत्य नलों को देख रही हूं।[२] मेरी बुद्धि को भ्रान्त करनेवाले इन पांचों के मध्य में मेरे प्राणेश के मानवीय चिह्न तो अवश्य प्रकाशित होने चाहिए। किन्तु हाय, ये देवगण धूलि न छूना, पलक न गिराना आदि अपने देव-चिह्नों को क्यों नहीं धारण किए हुए हैं?[३] तो क्या मैं देवों से नल के लिए प्रार्थना करूं? किन्तु यह व्यर्थ है, क्योंकि नल-प्राप्ति के लिए प्रतिदिन उन देवों की पूजा करने पर भी कोई फल न हुआ। संभवतः मदन के बाणों ने उनके हृदय के करुणा-वरुणालय को सुखा दिया है, और अब यह सूखे गर्त के समान कठोर तथा सूना हो गया है।"[४] अथवा मैं देवी सरस्वती के ही हाथ में वर माला देकर कह दूं कि इनमें जो निषधेश्वर हों उन्हीं के गले में इसे डाल दो। परन्तु इस प्रकार तो देवी इन देवों की शत्रु बन जायेंगी। तृण रूप अपने लिए मैं रत्न-तुल्य अपने सुहृद् को नष्ट करूँ।[५] अथवा, इनमें जो वास्तविक नल हों वह मेरी इस वरमाला को स्वीकार करें। इस प्रकार कह कर इस माला को वास्तविक नल को पहना दूं। किन्तु लज्जा त्याग कर लोगों के सुनते हुए इसे कैसे करूं,

---

१. एको नलः किमयमन्यतमः किमैलःकामो परःऽकिमुकिमु द्वयमाश्विनेयौ।
किं रूपधेयभरसीमतयासमेषु तेष्वेवनेह नलमोहमहं वहे वा॥ नै० १३।४४

२. पूर्वंमया विरहनिःसहयापि दृष्टः सोऽयं प्रियस्तत इतो निषधाधिराजः।
भूयः किमागतवती मम सा दशेयं पश्यामियद्विलसितेन नलानलीकान्॥
नै० १३।४५

३. एतन्मदीयमतिवञ्चकपञ्चकस्ये नाथेकथं नु मनुजस्य चकास्तु चिह्नम्।
लक्ष्माणि तानि किममी न वहन्ति हन्त बहिर्मुखा घृतरजस्तनुतामुखानि॥
नै० १३।४७

४. याचे नलं किममरानथवा तदर्थं नित्यार्चनादपि ममाफलितैरलं तैः।
कन्दर्प-शोषण-शिलीमुख-पात-पीत-कारुण्य-नीरनिधिगह्वरघोरचित्तैः॥
नै० १३।४८

५. देव्याः करे वरणमाल्यमथार्पयेवा योवैरसेनिरिहतत्रनिवेशयेति।
सैषा मयामखभुजांद्विषती कृता स्यात् स्वस्मै तृणाय तु विहन्मि न बन्धुरत्नम्॥
नै० १३।५२

यह तो भारी उपहास होगा।"[1] जब अपनी बुद्धि तथा विवेक-शक्ति का किसी प्रकार कोई बल नहीं चलता उस समय कर्तव्य-विमूढ़ मन की आतुरता अत्यन्त बढ़ती जाती है, और आतुर मन देवशरण में ही सुख की आशा करता है। अतः दमयन्ती के मानसिक विकल्पों का प्रदर्शन अवसरोचित होने के साथ ही आवश्यक भी है।

दमयन्ती पर देवों की कृपा

महाभारत के अनुसार, आतुर दमयन्ती मन से देवों की शरण में जाती है और उन्हें नमस्कार करके नल के प्रति अपने दृढ़ अनुराग के बल पर देवों से अपने रूप को प्रकट करने के लिए प्रार्थना करती है, जिससे वह पुण्य-श्लोक राजा नल को पहचान सके।[2] किन्तु नैषध में देवगण दमयन्ती की भक्ति से प्रसन्न होकर उसकी बुद्धि को सुधारते हैं, जिससे सरस्वती के श्लेषमय वर्णन का अर्थ उसे अत्यन्त विशद हो जाता है। देवता प्रसन्न होने पर कुछ देते नहीं केवल बुद्धि सुधारते हैं।[3] अब उसने निश्चित रूप से पांचवें नल को निषधेश्वर समझ लिया। देवों के भी लक्षण उसे साफ दिखाई पड़ने लगे। अब तक देव-कृत भ्रम ही उसे सता रहा था। श्रीहर्ष ने देवों के प्रति अपार आस्था व्यक्त की है।

दमयन्ती की ओर से सरस्वती का देवों को प्रसन्न करना

वर-माला डालने के पूर्व सरस्वती के व्यंग्योपहास भी बड़े अवसरोचित कल्पित किए गए हैं। देवी सरस्वती दमयन्ती के उस अभिप्राय को जानकर भी न जानती-सी बोलीं—"सुन्दरि! अपनी लज्जा रूपी जवनिका से तुम अपने भावों को मुझे भी नहीं जानने देती हो।"[4] "तुमने नल के विषय में तो" 'न' कह दिया है, अतः किसी दूसरे का नाम बताओ।" "अथवा नल को केवल 'न' मात्र कहा है आगे का "ल" भी कह डालो।" सरस्वती के इस प्रकार कहने पर लज्जा तथा मदन की

---

१. यः स्यादमीषुपरमार्थनलः स मालामङ्गीकरोतु वरणाय ममेति चैनाम्।
तं प्रापयामि यदि तत्तुविसृज्य लज्जां कुर्वे कथं जगति शृण्वति ही विडम्बः॥
नै० १३।५३

२. महा० भा०, व० प०, ५७।१६-२१

३. प्रसादमासाद्य सुरैः कृतं सा सस्मार सारस्वत-सूक्ति-सृष्टैः।
देवाहि नान्यद्वितरन्ति किन्तु प्रसद्य ते साधुधियं ददन्ते॥ नै० १४।९

४. अजानतीवेदमवोचदेनामाकूतमस्यास्तदवेत्य देवी।
भावस्त्रपोर्मिप्रतिसीरया ते न दीयते लक्षयितुं ममापि॥ नै० १४।३१

द्वन्द्व-भूमि दमयन्ती ने केवल आँखों से नल की ओर सङ्केत कर दिया।[1] मुग्धा वधू की चुटकी लेने में सखियों को आनन्द आता ही है—इस समय सरस्वती देवी भी अन्य स्त्रियों की भांति सचमुच वामा (वक्रा) ही बनी थीं।[2]

अन्त में सुन्दर तर्क के साथ उन्होंने देवों को दमयन्ती के प्रति सन्तुष्ट कर दिया। दमयन्ती को देवों के सम्मुख ले जाकर कहा—"यदि दमयन्ती आप सब को वर लेती तो इसका सतीत्व नष्ट होता, यदि किसी एक को वरती तो दूसरे का अपमान होता। अतः हे दिक्पालों, आप सब के अंशरूप उस राजा को ही यह वर रही है।"[3]

दमयन्ती को सरस्वती के वरदान

वरमाला डालने के बाद के दमयन्ती तथा नल के सात्त्विक भावों को भी श्रीहर्ष ने ताड़ लिया। रोमांच, स्तम्भ, स्वेद, कम्प आदि का सुन्दर चित्रण किया है।[4] फिर देवों का नल-रूप त्याग कर अपने वास्तविक रूप धारण करने का चित्र खींचा है। "मिथ्या नल के रूप को त्यागने वाले इन्द्र के गुप्त सहस्रों नेत्र मानों दमयन्ती के सात्त्विक भाव की शोभा देखने के लिए होड़ के साथ प्रकट हो गए।[5] अग्निदेव का शरीर ऊंची लपटों से युक्त हो गया। मानों कामजनित अपने अविवेक रूप अन्धकार को शान्त करने की इच्छा से उन्होंने दीप जलाया हो।[6] यमराज ने अपना वास्तविक शरीर धारण किया—वे लोहदण्ड हाथ में लिए हुए, लाल नेत्रों के कारण भयावह, अन्धकार फैलाते हुए-से थे। मानों उस समय राजाओं के हृदय में बैठने के लिए क्रोध साक्षात् मूर्ति धारण करके वहीं आ गया हो।[7] उस समय भगवान् वरुण अपने

---

१. त्वत्तः श्रुतं नेति नले मयातः परं वदस्वेत्युदिताथ देव्या।
ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमी भैमी दृशा भाषितनैषधाभूत्॥ नै० १४।३६

२. वामेति नामैव बभाज सार्थं पुरन्ध्रिसाधारण-संविभागम्॥ नै० १४।३३

३. युष्मान् वृणीते न बहून् सतीयं शेषावमानाच्च भवत्सु नैकम्।
तद्वः समेतान् नृपमेनमंशान् वरीतुमन्विष्यति लोकपालाः॥ नै० १४।४३

४. नै० १४, ५३-५९ .

५. माया नलत्वं त्यजतो निलीनैः पूर्वैरहंपूर्विकया मघोनः।
भीमोद्भवासात्त्विकभाव-शोभादिदृक्षयेवाविरभाविनेत्रैः॥ नै० १४।६१

६. स्वकामसम्मोहमहान्धकार-निर्वापमिच्छन्निव दीपिकाभिः।
उद्गत्वरीभिश्छुरितं वितेने निजं वपुर्वायुसखः शिखाभिः॥ नै० १४।६३

७. सदण्डमालक्तकनेत्रचण्डं तमःकिरं कायमधत्त कालः।
तत्कालमन्तःकरणं नृपाणामध्यासितं कोप इवोपनम्रः॥ नै० १४।६५

जल-तत्त्व-प्रधान शरीर को धारण किए हुए सुशोभित हो रहे थे। हांथों में अपना प्रसिद्ध शस्त्र पाश, धारण किए हुए थे। मानों उसी पाश से उन्होंने अपने मन को दमयन्ती से बांध रक्खा था, किन्तु अब दमयन्ती के नल के पास चली जाने से उन्होंने अपने मन को भी उससे मुक्त कर दिया है, और पाश फिर उनके हाथ में आ गया है।[१] सभा में इससे एक प्रकार का अच्छा कौतुक देखने को हो गया।[२] महाभारत में इसका कोई उल्लेख नहीं—देवों के वरदान देने मात्र का उल्लेख किया गया है। यहां देवों का वरदान प्रायः महाभारत जैसा ही है। सरस्वती का वरदान तो उसी प्रकार कवि-कल्पित है जैसे स्वयं सरस्वती। जब सरस्वती भी आईं और दमयन्ती से प्रसन्न थीं, तो उन्हें भी कुछ न कुछ वरदान देना ही चाहिए। अतः कथानक में इसका सन्निवेश अत्यन्त उचित ही है। वस्तुतः तो वह श्रीहर्ष को दिए हुए सरस्वती के वरदानों का ही उल्लेख है। सरस्वती उन्हें चिन्तामणि मन्त्र की सिद्धि का वरदान देती हैं, तथा जैसे नल को वैदर्भी मिलती है, वैसे नल-चरित रचने वाले कवि को वैदर्भी रीति के इष्ट होने का वरदान देती हैं।[३] और अन्त में कहती हैं कि आप के चरित का गान करने वाले मेरी कृपा के पात्र कवि के मुख से आपके विषय में निकले श्लोक लोगों को अतिशय आनन्ददायी होंगे। इस प्रकार पृथ्वी तल पर आप भगवान् विष्णु की भांति लोगों के कलि-पाप-हारी पुण्यकीर्ति होंगे।"[४]

दमयन्ती का प्रत्येक नरेश को एक एक सुन्दरी दिलवाना

स्वयंवर समाप्त होने पर दमयन्ती ने प्रत्येक नरेश को पिता से प्रार्थना करके

---

१. तस्यां मनोबन्धविमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिव प्रचेताः।
पाशं दधानः करबद्धवासंविभुर्बभावाप्यमवाप्य देहम्॥ नै० १४।६७

२. विलोकके नायकमेलकेऽस्मिन् रूपान्यताकौतुकदर्शिभिस्तैः।
बाधा बतेन्द्रादिभिरिन्द्रजाल-विद्याविदां वृत्तिवधाद् व्यधायि॥ नै० १४।७०

३. गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीतिविदितां
रसस्फीतामन्तस्तवचतववृत्तेचकवितुः ।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुम्
परीरम्भक्रीड़ाचरणशरणामन्वहमहम् । नै० १४९१

४. भवद्वृत्तस्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितु
र्मुखात्पुण्यैः श्लोकैस्त्वयिघनमुदेयं जनमुदे।
ततः पुण्यश्लोकःक्षितिभुवन लोकस्यभविता,
भवानाख्यातः सन्कलिकलुषहारीहरिरिव॥ नै० १४।९२

एक-एक स्वसमान सुन्दरी सखी दिलवाई।[1] यह श्रीहर्ष की अपनी उद्भावना है। इसके कारण जैसा "राज-वैशस" इन्दुमती-स्वयंवर के पश्चात् हुआ था तथा जो प्रायः स्वयंवरों में हुआ करता था, वह यहां न हो पाया और इस प्रकार दमयन्ती-चरित्र की महत्ता भी प्रमाणित हो गई।[2]

विवाह तथा अन्य उपक्रम

इसके पश्चात् पन्द्रहवें से बाईसवें सर्ग तक का कथानक श्रीहर्ष की सारी अपनी कल्पना है। महाभारत में विवाह तथा वैवाहिक आनन्द का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया गया है।[3] किन्तु नैषध में उन अवसरों की सूक्ष्मतम घटनाओं को भी हृदयग्राही ढंग से चित्रित किया गया है। विवाह का समारम्भ, नगर की सजावट, विभिन्न वाद्यों का मधुर रव, वर-वधू का विवाहोचित श्रृङ्गार, वर-यात्रा, पौराङ्गनाओं की वर देखने की उत्सुकता में देह-वसन की सुध भूलना आदि ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनकी श्रीहर्ष-ऐसा सहृदय तथा सूक्ष्मदर्शी कवि कभी उपेक्षा नहीं कर सकता था। सम्पूर्ण पञ्चदश सर्ग इन चित्रों की वीथी-जैसा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् विवाहोत्सव का साङ्गोपाङ्ग चित्रण होता है। इससे कथानक में कोई प्रगति नहीं आती है। वर-यात्रा, वर-स्वागत, विवाह-विधियां, यौतक में दी गई वस्तुएं, वरातियों का भोज तथा उपहास, पुत्री की विदाई आदि सारा विवरण इतना विस्तृत एवं विशद दिया गया है कि लगता है मानों श्रीहर्ष स्वयं भी उस बारात में सम्मिलित हुए थे। कवि अपने समय के समाज को एकदम नहीं भुला सकता। प्राचीन की कल्पना वह वर्तमान के आधार पर करता है। नल-विवाह में श्रीहर्ष ने अपने समय के समाज का चित्रण किया है। वर्णन में नीरसता कहीं नहीं आने पाई है।

बरातियों का व्यङ्ग्योपहास

वरातियों के उपहास में अश्लीलता भी आ गई है। इसे कुछ पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने अत्यन्त अनुचित बताया है। डा० सु० कु० दे ने दमयन्ती के भाई कुमार दम द्वारा बरातियों के भोजन कराने के प्रसङ्ग का उल्लेख करते हुए कहा है कि "वाक्पटुता के नाम पर अश्लील वचन-भङ्गियों को भी रखने में श्रीहर्ष ने कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। अतः यदि कोई पाश्चात्य समालोचक अर्वाचीन

---

१. तातेनाभ्यर्थ्य योग्याः समपदि निजसखीर्दापयामासतेभ्यः॥ नै० १४।९७

२. भूभृद्भिर्लम्भितासौकरुणरसनदीमूर्तिमद्देवतात्वम्॥ नै० १४।९७

३. म० भा०, व० प०, ५७।४१, ४२, ४३, ४५।

मापदण्ड से नैषध की आलोचना करते हुए उसे भद्दी रुचि तथा भद्दी शैली की सब प्रकार से पूर्ण रचना कहे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।"[1] आलोचना कटु होते हुए भी वहुत कुछ सत्य है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बरात एक राजा की है, जिसमें विलासियों, चेटों, विटों तथा विदूषकों आदि का ही साम्राज्य रहता है। अवसर भी भोजन का है, जब उपहास अपनी चरम-सीमा पर रहता है; और परोसने वाली वाराङ्गनाएं हैं, जिनसे जन-साधारण को हर समय विनोद करने का पूर्णाधिकार है। अब मज़ाक रुके तो कैसे? वर-पक्ष का प्रत्येक मनुष्य कन्या-पक्ष वाले पुरुषों तक से ऐसा नाता जोड़ता है, जिससे उसे परिहास-विनोद करने का पूर्ण अधिकार हो—फिर स्त्रियों से कैसे न जोड़ेगा? और जब वे वाराङ्गनाएं हों तो क्या कहना! आज भी बरातों में उपहास का वही रूप देखा जा सकता है। भोजन के समय स्त्रियों की प्रिय सरस गालियां आज भी वैसी ही सुनी जा सकती हैं। यदि कहीं नल या दमयन्ती ने इसमें भाग लिया होता तो वह अवश्य मर्यादाहीन हो जाता और सब प्रकार से निन्द्य होता। श्रीहर्ष अपने समाज को चित्रित करने का प्रलोभन न रोक सके। यहां एक बात और ध्यान देने की है कि अश्लीलार्थ वाले पद प्रायः सभी श्लिष्ट ही हैं। उनका एक अर्थ तो अत्यन्त साधारण होता है, जिसमें कोई परिहास नहीं, और दूसरे में गूढ़ परिहास भरा रहता है। साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने अश्लील दोष का विवेचन करते समय सुरतारम्भ गोष्ठी आदि में उसे निर्दोष बताया है, तथा काम-शास्त्र के आचार्यों का मत लेकर ऐसे अवसर पर अश्लीलार्थ वाले पदों को श्लिष्टार्थ रूप में रखने की सलाह दी है। भारतीय साहित्यालोचना के इस सिद्धान्त को ही श्रीहर्ष ने भलीभांति निभाया है। तथापि इसके बिना भी काम चल सकता था। नैषध की प्रबन्ध-कल्पना में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

स्वर्ग लौटते समय देवों का देर तक आकाश में बना रहना

चतुर्दश सर्ग के अनुसार नल-दमयन्ती को वरदान देकर देवगण सरस्वती-सहित स्वर्ग को चल दिए थे।[2] किन्तु षोडश सर्ग के अन्त में पता चलता है कि वे अभी आकाश में ही मंडरा रहे थे। वहां से नल-दमयन्ती का विवाह, उनका एक रथ पर जाना, परस्पर कुछ चकित कटाक्षों से एक दूसरे को देखना आदि सकौतूहल

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३२८।
२. इत्थं वितीर्य वरमम्बरमाश्रयत्सु तेषु क्षणात्। नै० १४।९५

देख रहे थे, और अब हर्षोत्फुल्ल हो स्वर्ग जाने की सोचने लगे।[1] देवों को इतनी देर तक आकाश में बांध रखने का श्रीहर्ष का कोई उद्देश्य-विशेष था। काव्य-प्रबन्ध में उसकी आवश्यकता थी, कलि प्रसङ्ग लाना था। यदि देवगण आँखों से ओझल हो जाते तो इस प्रसङ्ग को लाने का अवसर न मिलता, जिससे श्रीहर्ष के कई प्रयोजन सिद्ध न होते। कलि का देवों के साथ जो शास्त्रार्थ प्रवृत्त होता है वह इस प्रसङ्ग का प्रधान उद्देश्य समझ पड़ता है।

श्रीहर्ष के समय भारतीय दार्शनिक विचारधारा

श्रीहर्ष दार्शनिक थे। उनके समय में दार्शनिक विचारों में बड़ी उथल-पुथल थी। अनीश्वरवादी बौद्ध सम्प्रदाय पूर्ण विकृतावस्था को पहुंच चुका था। कापालिक शैव तथा कालामुख सम्प्रदायों की जीवन-भयङ्करता भी दृष्टिगोचर होती थी। कापालिकों की भोगासक्ति तथा जघन्य-चर्या प्रायः वही हो गई थी जो बौद्ध-भिक्षुओं तथा क्षपणकों की थी। शाक्तों का कौलिक सम्प्रदाय भी पूजा के समय पञ्च-मकार का सेवन किया करता था। एक ओर वेदान्त, न्याय, योग आदि सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे थे, तो दूसरी ओर सांख्य सम्प्रदाय निरीश्वर-वाद के प्रचार में लगा हुआ था। पूर्व-मीमांसक यदि कर्मकाण्ड का प्रतिपादन कर रहे थे, तो वेदान्ती ज्ञान द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति सिद्ध कर रहे थे। इन सब के साथ ही नास्तिक एवं प्रत्यक्ष-प्रधान चार्वाक सम्प्रदाय अक्षुण्ण बना था। बौद्धों ने इसे नष्ट करने का यद्यपि बड़ा प्रयत्न किया था, और श्री शङ्कराचार्य ने इसको निर्मूल-सा ही कर दिया था, किन्तु "जब तक जीवन है सुख से जिये, ऋण करके घी पिये। (चिता पर) जल जाने के बाद इस शरीर का फिर आना कहाँ से।"[2] वाला नारा अब भी उतने ही जोर से सुनाई पड़ता था। आस्तिक-दर्शन के निष्ठावान् विद्वान् होने के नाते श्रीहर्ष ने कलि-प्रसङ्ग लाने को नास्तिकवाद के खण्डन का समुचित अवसर समझा। चार्वाक मत केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है और बौद्धमत प्रत्यक्ष तथा अनुमान, दो को। दोनों ही वेद (शब्द प्रमाण) को प्रमाण नहीं मानते। वेद तथा वेद के अनुयायी शास्त्रों पर नास्तिक मतों का बड़ा कटु कटाक्ष रहा करता है। प्रत्यक्ष

---

१. इति परिणयमित्थंयानमेकत्रयाने दरचकितकटाक्ष-प्रेक्षणं चानयोस्तत्।
दिविदिविषदधीशाः कौतुकेनावलोक्य प्रणिदधुरिवगन्तुं नाकमानन्दसान्द्राः॥
नै० १६।१३०

२. यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

और अनुमान के सहारे शब्द-प्रमाण की खिल्ली उड़ाना ही नास्तिकों की तर्क-शैली रहती आई है। सर्व-साधारण के अनुभव-गोचर होने के कारण प्रत्यक्ष पर आधारित सिद्धान्त बड़े आपातरमणीय तथा ग्राह्य लगते हैं। वितण्डावाद में अत्यन्त प्रवीण खण्डनखण्ड-खाद्य ऐसे ग्रन्थ के रचयिता श्रीहर्ष ने नास्तिकों की इस चाल को भलीभांति जान लिया था। अनुभव-जन्य प्रत्यक्ष और अनुमान के सहारे ही उन्होंने वेद तथा शास्त्रों की प्रामाणिकता सिद्ध की।

चार्वाक के सन्देह तथा उनकी निवृत्ति

चार्वाक की सर्वप्रथम विचिकित्सा यज्ञफल के प्रति होती है[1] "जैसे पत्थर का पानी में तैरना कभी सत्य नहीं उसी प्रकार यज्ञ-फल के प्रति वेदों का वचन सत्य नहीं।[1] उसके विचार से केवल दो ही महापुरुष ऐसे हुए जिन्होंने उचित मत का प्रतिपादन किया। एक बोधिसत्त्व[2] दूसरे जीव[3] (बृहस्पति)। वेद-शास्त्र तथा यज्ञ-फल में अविश्वास, आत्मा, मूर्तिपूजा, परलोक, देव, गो, ब्राह्मण, तीर्थ, वंश-विशुद्धि इत्यादि में पूर्ण अनास्था तथा स्वच्छन्दता एवं कामाचारिता का समर्थन नास्तिक-तर्क के प्रधान विषय हैं। आस्तिक मत का प्रतिनिधित्व करते हुए देवों ने पृथक्-पृथक् सारे नास्तिक तर्कों का खण्डन किया। "वेद ने पाप-परीक्षा के लिए जल, अग्नि, तुला आदि जिन दिव्य विधानों का निर्देश किया है उनको उसी प्रकार घटित होते हुए देखकर भी नास्तिक-बुद्धि बनी है।[4] सब प्रकार से स्वस्थ पति-पत्नी के संयोग होने पर भी जो गर्भ नहीं रहता उसका कारण पूर्व जन्म के कर्म के सिवा और क्या सोचा जा सकता है?[5] पुत्र-प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि, शत्रुमारण के लिए श्येनयाग, वृष्टि के लिए कारीरी (इष्टि) तथा इसी

---

१. ग्रावोन्मज्जनवद् यज्ञफलेऽपिश्रुतिसत्यता—नै० १७।३७

२. केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम्॥ नै० १७।३८

३. अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्।
प्रज्ञापौरुष-निःस्वानां जीवो जल्पति जीविका॥ नै० १७।३९

४. जलानलपरीक्षादौ संवादो वेदवेदिते।
गलहस्तितनास्तिक्यां धिग्धियंकुरुतेऽनते॥ नै० १७।८८

५. सत्येव पतियोगादौ गर्भादिरघ्नुवोदयात्।
आक्षिप्तं नास्तिकाः कर्म न किं मर्म भिनत्तिवः॥ नै० १७।८९

प्रकार अन्य यज्ञ भी प्रत्यक्ष फलप्रद देखे गये हैं। इतने पर भी यज्ञों के प्रति सन्देह बना ही है?[1]

"अपनी कन्या को लोग दूसरे ही को देते हैं। अखिल मानव-समाज की इसमें एक मति है। अपनी कन्या से कोई स्वयं विवाह नहीं करता। क्यों? परलोक के ही भय से न। तो परलोक की सत्ता में किसका मन दृढ़ नहीं।"[2] अन्त में नास्तिक आस्तिक सभी मत वैदिक धर्म के अन्तर्गत ही हैं इसका भी प्रतिपादन कर दिया। "अहिंसा, मातृगमन-निषेध, आदि किसी न किसी सिद्धान्त को तो सभी लोग एकमत होकर मानते हैं—जो कि श्रुति-सम्मत होने के कारण श्रौत धर्म ही कहा जायगा। और बौद्ध आदि सम्प्रदायों में जो सर्वसम्मत धर्म को नहीं मानते तथा जो निन्दित का अनुसरण करते हैं, वे पतित कहे जाते हैं। कुछ वेदविहित धर्म को वे भी विहित तथा वेदनिषिद्ध को वे भी निषिद्ध समझते हैं। फिर तो अन्य विधि-निषेध भी जो कि श्रुतिसम्मत हैं, मान्य होने चाहिएँ।"[3] चार्वाक द्वारा वैदिक धर्म सम्बन्धी जिन विषयों का खण्डन या उपहास किया गया है उनमें, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर, वेद की प्रामाणिकता, यज्ञफल, वर्ण या जाति की प्रामाणिकता, तीर्थफल, श्राद्ध का माहात्म्य तथा परलोक की सत्ता प्रधान है। अतः श्रीहर्ष ने केवल इन्हीं के समर्थन में देवों द्वारा तर्क उपस्थित करवाया है। और इनके समर्थन में जो तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं वे प्रत्यक्ष के ठोस नींव पर आधारित होने के कारण अत्यन्त उपयुक्त उत्तर होते हैं, क्योंकि चार्वाक के सन्देह भी प्रत्यक्ष के आधार पर अवलम्बित हैं। चार्वाक के शेष सन्देहों का यद्यपि श्रीहर्ष ने स्पष्टतया एक-एक करके कोई उत्तर नहीं दिया है, किन्तु पूर्वोक्त बातों का समर्थन हो जाने पर शेष सभी प्रश्नों का समर्थन अपने आप हो जाता है। क्योंकि इन्हीं छः सन्देहों के अन्तर्गत अन्य सभी सन्देह होते हैं। इनमें सबसे प्रधान वेद की प्रामाणिकता है। एक उसी के सिद्ध हो जाने पर फिर सारे सन्देह अपने आप निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि वेद प्रामाणिक मान लिया गया तो शब्द-प्रमाण के आधार पर वेदोक्त सारी बातें ही मान्य हो गईं। फिर सन्देह कहाँ? अतः चार्वाक

---

१. पुत्रेष्टिश्येनकारीरीमुखा दृष्टफला मखाः।
न वः किं धर्म-सन्देह-मन्देहजयभानवः॥ नै० १७।९४

२. स्वकन्यामन्यसात्कर्तुं विश्वानुमतिदृश्वनः।
लोके परत्र लोकस्य कस्य न स्याद् दृढं मनः॥ नै० १७।९९

३. क्वापि सर्वैरवैमत्यात्पातित्यादन्यथा क्वचित्।
स्यातव्यंश्रौतएवंस्याद्धर्मे शेषेऽपि तत्कृतेः॥ नै० १७।१०१

द्वारा प्रस्तुत किए गए सभी पूर्वपक्षों का उत्तर न देख कर, 'श्रीहर्ष को भी वे मान्य थे' ऐसा न समझना चाहिए। उनका उत्तर श्रीहर्ष ने अभिधा-द्वारा नहीं तो व्यञ्जना द्वारा दे दिया है। उनकी 'घर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः'[१] यह गर्वोक्ति पूर्ण सत्य सिद्ध होती है। इस कलि-प्रसङ्ग के बहाने उन्होंने प्रचलित इन्द्रिय-भोग-वाद की अपार्थता भी सिद्ध कर दी है।

नल राज्य की सुव्यवस्था

देवों से विवाद करने के पश्चात् नल के प्रति द्वेष से अन्धा कलि द्वापर को साथ में लेकर नल की राजधानी में पहुँचता है। वहाँ खड़े होने के लिए भी उसे रत्ती भर जगह नहीं मिलती। उसके भटकने के ही वर्णन में श्रीहर्ष ने साठ श्लोक रच डाले हैं। ऊपर से देखने में उनका यह विषय-विस्तार बड़ा सदोष प्रतीत होता है, किन्तु थोड़ा-सा ध्यान देने पर इसका प्रयोजन तथा महत्त्व स्पष्ट होने लगता है, जो इस प्रबन्ध-काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अभी तक जहाँ कहीं नल का वर्णन हुआ है (प्रथम, तृतीय, तथा त्रयोदश में) वहाँ उनके सुन्दर रूप, प्रताप, शत्रु-विजय तथा दानशीलता आदि गुणों की ही प्रशंसा गायी गई है। एक आदर्श प्रजापालक नरेश के रूप में उसका कहीं चित्रण नहीं हुआ है। अतः नल के साम्राज्य में प्रजा की सुख-समृद्धि किस प्रकार की थी, लोगों की क्या दिनचर्य्या थी, समाज की सङ्घटना किस आदर्श पर थी, वर्णाश्रम धर्म का कहाँ तक पालन होता था, वैदिक यज्ञादि विधियों का अनुष्ठान किस प्रकार होता था, तपःस्वाध्याय में प्रजा किस प्रकार रत थी, इत्यादि विषय दिखाने के लिए ही उन्होंने इस प्रसङ्ग को अत्यन्त उचित अवसर समझा। यदि स्वयं कवि ने राजा की प्रशंसा के रूप में यह वर्णन किया होता तो यह उतना रोचक न लगता, किन्तु प्रत्येक वर्णन एक व्यक्ति विशेष (कलि) की अपेक्षा से किया गया है। अतः यह जानने की उत्कण्ठा बनी रहती है कि अमुक व्यवस्था का उस व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा, तथा उसका इस वर्णन से क्या संबंध हुआ? नल के राज्य में विभिन्न यज्ञादि अनुष्ठानों के चित्र कलि की परेशानी की पृष्ठभूमि पर अङ्कित किए गए हैं। अतः वे रोचक ही लगते हैं, न कि उद्वेजक। नल-राज्य की वही कल्पना है जो एक आदर्श रूप भारतीय वैदिक धर्मानुयायी राजा की हो सकती है। वह राज्य राजन्वान् था। नास्तिक धर्म उस राज्य में नाम को भी नहीं था। कलि वहाँ किसी जैनमत के अनुयायी की खोज में था और पाया ब्रह्मचारी का अजिन। चाहता था बौद्ध क्षपणक

---

१. नै० २२।१५३

और पाया राजसूय यज्ञ के पासे में दाव पर रक्खा हुआ धन (अक्ष-पण) जो वेदविहित था।[१]

सत्रहवें सर्ग की कल्पना का एक और विशेष उद्देश्य है। पुण्यश्लोक सत्यसन्ध नल का विरोध करने के कारण इन्द्रादि देवों के प्रति पाठकों के मन में जो एक दुर्भावना वन जाती है उसे दूर करने के लिए श्रीहर्ष ने एक प्रख्यात महापापी की चर्चा कर दी। कलि तथा उसके सारे सहयोगी जनसाधारण के घृणा के पात्र हैं। उसके कुत्सित रूप एवं नल के प्रति उसके अकारण वैर आदि का प्रसङ्ग उपस्थित करके श्रीहर्ष बड़ी कुशलता के साथ नल के प्रति देवों के कुकृत्य एवं प्रतिनायकत्व को भुलावा देते हैं। इस पर विशेष विवेचन चरित्राङ्कन के प्रसङ्ग में किया जायगा।

नैषध में 'काम' पुरुषार्थ

अट्ठारहवें से वाईसवें सर्ग तक नल की दैनिक जीवन-चर्या के ही विभिन्न पहलुओं का सरस चित्रण हुआ है। इन पांच सर्गों में कथानक नहीं के वरावर है। अट्ठारहवें में सम्भोग शृङ्गार का वड़े विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। काव्यों में किसी एक रस की प्रधानता के साथ किसी एक पुरुषार्थ की भी प्रधानता होनी चाहिए। अन्य पुरुषार्थों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि केवल एक में आसक्त व्यक्ति को जघन्य[२] कहा गया है। सफल जीवन वही है जिसमें धर्म, अर्थ और काम तीनों का ठीक सामञ्जस्य रक्खा जाय। अर्थ केवल साधन है। अर्थ से सम्पन्न तथा धर्म से अनुप्राणित काम प्रायः काव्यों का प्रधान पुरुषार्थ रहा है। कुछ शान्त रस-प्रधान काव्यों में मोक्ष पुरुषार्थ भी प्रधान रूप से व्यक्त किया गया है, जैसे महाभारत में।[२] नैषध में वैसे तो काम पुरुषार्थ की ही प्रधानता है किन्तु

---

१. अपश्यञ्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणाम्।
क्षपणर्थीसदीक्षस्य सचाक्षपणमेक्षत॥ नै० १७।१८९

श्रीहर्ष ने यहां व्यञ्जना (उत्तमकाव्य) द्वारा नल का उत्तम नरेश के रूप में चित्रण तो किया ही है, साथ ही अपनी कर्मकाण्ड आदि की विशेषज्ञता का भी पूर्ण परिचय दे दिया है। अतः प्रबन्धकल्पना के विचार से सप्तदश सर्ग अनावश्यक नहीं कहा जा सकता।

२. महाभारतेऽपिशास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वियिनि, वृष्णिपाण्डवविरसावसान-वैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधा

अन्य तीनों का भी उचित स्थान है। अट्ठारहवें सर्ग के प्रारम्भ में श्रीहर्ष ने काम-पुरुषार्थ के वर्णन की सूचना दे दी है। "इस प्रकार ललना-ललाम प्रिया दमयन्ती को पाकर राजा नल काम-समुद्र पार जाने के लिए नौका के समान उस प्रिया से रमण करने में प्रवृत्त हुए।[1]" पर यह काम आसक्ति-रहित जीवन की एक चर्या के रूप में आया है। "दिनरात दमयन्ती के साथ भोग का आनन्द लेते हुए भी आत्मज्ञानी नल को पाप का लेश भी न छू गया। जिनका अन्तःकरण ज्ञान से निर्मल हो चुका है उनको कृत्रिम रूप से किए गए विषय-भोगों में कोई आसक्ति नहीं होती।[2]" काम-वर्णन के पूर्व कवि ने नल का राजवैभव दिखाया है,[3] जिनमें उनकी अर्थपुरुषार्थ-सम्पन्नता दिखाई गई है। तथापि श्रीहर्ष नल दमयन्ती के इस काम-केलि के वर्णन को अपनी सर्वथा मौलिक रचना कहते हुए प्रतीत से होते हैं।[4] विलासोचित प्रासाद का वर्णन काम-शास्त्र के अनुसार हुआ है।[5] इसी कामक्रीड़ा के समय देव-वरदानों का भी प्रयोग हुआ है।[6]

प्रभात-वर्णन

उन्नीसवें सर्ग में महाकाव्यों की प्रचलित परम्परा के अनुसार प्रभात-वर्णन

न्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तोरसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। ततश्चशान्तो रसो रसान्तरैः मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थांतरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते—ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत।

१. सोयमित्यमथभीमनन्दिनीं दारसारमधिगम्य नैषधः।
तांतृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीमरीरमत्॥ नै० १८।१

२. आत्मवित् सह तयादिवानिशं भोगभागपि न पापमापसः।
आहृताहिविषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२

३. नै० १८।३-२७

४. तत्र सौधसुरभूवरे ययोराविरासुरथकामकेलयः।
ये महाकविभिरप्यवीक्षिताः पांसुलाभिरपि ये न शिक्षिताः॥ नै० १८।२९

५. कामसूत्र अ० १८ पृ० २१० नि० सा० प्रे० प्रकाशन।

६. नै० १८।६८।८८

किया गया है। उषःकाल से प्रारम्भ कर दूरारूढ़ सूर्य तक का क्रमिक वर्णन किया गया है। इसका विशेष विवेचन उचित प्रसङ्ग में करेंगे।

प्रणयमान तथा अन्य जीवनचर्या

वीसवें सर्ग में दमयन्ती का प्रणयकृतमान है।[1] उसे भङ्ग करने के लिए नल साम, सखियों में भेद, नति आदि कई उपाय करते हैं।[2] यह सम्भोग-शृङ्गार का एक रूप ही है। सखी का प्रसङ्ग लाकर श्रीहर्ष ने कामशास्त्र के गुह्य रहस्यों के उद्घाटन का अवसर ढूंढ लिया है। राजा ने सखियों के सम्मुख दमयन्ती से अपनी वास्तविकता का परिचय देते हुए जो कहा है[3] उस पर शकुन्तला के पंचम अङ्क का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, जहाँ शकुन्तला ने राजा दुष्यन्त के दरवार में अपने प्रेम की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एकान्त में घटित अतीत की घटनाओं का उल्लेख किया है। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि इस रहस्योद्घाटन के प्रसङ्ग में नल के न केवल शृङ्गारमय जीवन की चर्य्या ज्ञात होती है, अपितु नल के साधारण जीवन की भी थोड़ी झाँकी मिल जाती है।[4] श्रीहर्ष यहाँ कामशास्त्र को कैसे भुला सकते थे? उनके नल स्मरशास्त्रविद् थे।[5] और उन्होंने दमयन्ती को भी कामशास्त्र पढ़ा ही दिया था।[6] इसी सर्ग में उन्होंने नल की प्रभात से मध्याह्न तक की दिनचर्या का भी लेखा दिया है। उन्हें काव्य में नैषध-चरित-वर्णन करना जो था।

अर्थ तथा मोक्ष पुरुषार्थ

अर्थ और मोक्ष पुरुषार्थों का विस्तृत चित्रण इक्कीसवें सर्ग में मिलता है। अधीन नरेशों से अपार धनराशि कर-रूप में नल को मिलती है। साथ ही दान

---

१. तत्र प्रणयमानः स्यात् कोपावसितयोर्द्वयोः॥ द० रू० ४।५८

२. यथोत्तरं गुरुःषड्भिरुपायैस्तामुपाचरेत्।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरे॥ द० रू० ४।६१

३. नै० २०।७३।९६

४. नै० २०।७६, ८१, ८५, ९०, ९१, ९६ इत्यादि।

५. स्मरशास्त्रविदासेयं नवोढा नस्त्वया सखी।
कथं संभुज्यते बाला कथमस्मासु भाषताम्॥ नै० २०।३९

६. स्मरशास्त्रमधीयाना शिक्षितासि मयेव यम्।
अगोपि सोपि कृत्वा किं दाम्पत्यव्यत्ययस्त्वया॥ नै० २०।६४

में उसका त्याग किए जाने से नलचरित्र और भी महान् चित्रित हो उठता है। फिर मध्याह्न-स्नान, देवार्चना, भोजन आदि दिनचर्या होती है। नल के जीवन में मोक्षपुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान दिखाने के लिए ही इस सर्ग की कल्पना की गयी है। देवार्चना का प्रसङ्ग इसी प्रयोजन से उपस्थित किया गया है। श्रीहर्ष एक आस्तिक और भक्त कवि थे। इक्कीसवें सर्ग में उच्चकोटि का स्तुति-काव्य वना है। भक्ति देव-विषयक रति ही है। नल को श्रीहर्ष ने एक ऐसा नायक चित्रित किया है, जिसके जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों की समुचित साधना हुई है। उसे चतुर्वर्ग के फल प्राप्त थे। मध्याह्न भोजन के पश्चात् प्रिया के साथ बैठकर शुक-पिक-प्रलाप का आनन्द लेना कामसूत्र-वर्णित चर्या के अनुसार है।[१]

सन्ध्या एवं चन्द्रवर्णन

वाईसवें सर्ग की रचना काव्य-परम्परा के आधार पर की गई है। सन्ध्या, प्रदोष, ध्वान्त, रजनी, इन्दु, आदि का यथावसर वर्णन कभी-कभी काव्य-सौन्दर्य के लिए आवश्यक भी होता है। चंद्रोपालम्भ के समय चन्द्रमा का हृदयहारी रूप नहीं वर्णित था। एक विरहिणी की दृष्टि में चन्द्रमा प्रिय हो ही कैसे सकता है। किन्तु प्रिय प्रेयसी के संयुक्त होने पर तो शृङ्गार रस का चन्द्रिकानाथ से वढ़कर दूसरा उद्दीपक हो ही नहीं सकता। वह इतना प्रिय लगता है कि उसे देखकर प्रेमी हृदय आनन्द-विह्वल हो नाच उठते हैं। उस समय की कही हुई उक्तियाँ आनन्दमग्न हृदयतंत्री की झङ्कार ही होती हैं। राज-सुख के साथ प्रासाद, अन्य वैभव सुख, एकान्त मधुमय रजनी, सुधासिक्त चन्द्रिका, स्वस्थ यौवन, त्रिभुवन सुन्दर स्वरूप तथा नव-परिणय, इनके अतिरिक्त सम्भोग-शृङ्गार की व्यंजना के लिए और क्या सामग्री चाहिए? नल की दिन की चर्या में श्रीहर्ष ने वड़े कौशल के साथ उनके जीवन-चरित की अन्य चर्या का भी आभास दिया है। किन्तु उनकी रात्रि चर्या के इस अंश से उन्होंने नैषध के अङ्गी (शृङ्गार)-रस के संयोगपक्ष की सुन्दर ध्वनि दी है। दिन की चर्या द्वारा काव्य की समाप्ति करने पर वह सरसता न रहती जो नायक-नायिका द्वारा रात्रि में एकान्त में चन्द्रवर्णन करते-करते समाप्ति करने पर। यहाँ समाप्ति करने पर काव्य की प्रवन्ध-ध्वनि क्या है, यह सहृदयों से छिप नहीं सकता।

---

१. भोजनानन्तरशुकसारिकाप्रलापनव्यापाराः—का० सू० अ० ४, पृ० ४८ नि० सा० प्रेस।

चतुर्थ अध्याय

आदान

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

पूर्वदृष्टा अपिह्यर्थाः काव्ये रस-परिग्रहात्।
सव नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ (आनन्दवर्धन)

क

काव्य में उपजीव्य-उपजीवक-भाव

आचार्य दण्डी ने सहज प्रतिभा, विविध शास्त्र-नैपुण्य तथा सतत अभ्यास को काव्य-सम्पत्ति का कारण माना है।[1] अन्य आचार्यों ने इन्हीं तीनों को दूसरे शव्दों में शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास कहा है।[2] शक्ति का ही दूसरा नाम प्रतिभा है, जो कवित्व का वीज कही जाती है और संस्कार रूप से कवि-हृदय में विद्यमान रहती है। शक्ति जन्मजात है, इसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता, हाँ, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा परिष्कृत अवश्य किया जा सकता है। व्युत्पत्ति वहुज्ञता को कहते हैं।[3] लोकशास्त्र तथा काव्य के पर्यवेक्षण द्वारा व्युत्पत्ति अर्जित की जाती है।[4] व्युत्पन्न प्रतिभावान् कवि ही कवि है। उसी की कविता उत्तम काव्य वनती है।[5] व्युत्पत्ति के साधन लोक, शास्त्र, काव्य आदि से ही कवि को काव्य की प्रेरणा प्राप्त होती है। कहीं कोई मार्मिक वस्तु पढ़कर या जानकर कवि की संस्कार रूप में विद्यमान कवित्व-चेतना उद्‌वुद्ध हो उठती है। उस समय उसके व्युत्पत्ति-समृद्ध भावुक हृदय से भाषा के परिधान में जो स्वर निकलता है, वही सच्ची

---

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ काव्यादर्श १।१०३

२. काव्यमीमांसा, प्रथम अधिकरण, अ० ४, ५ तथा काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

३. बहुज्ञता व्युत्पत्तिः—काव्यमीमांसा १-५

४. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

५. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते—का० मी० १।५

कविता है। एक ही वस्तु का वर्णन पूर्वगामी अनेक कवियों द्वारा किया हुआ होता है। कुछ तो केवल अनुकरण के ढंग पर पहले जैसा ही वर्णन करते हैं, किन्तु कुछ के मर्म को वह वस्तु किसी नितान्त नूतनरूप में स्पर्श करती है, अतः उनके द्वारा उसका वर्णन अभिनव ही होता है। इसी प्रकार निरवधिकाल तक कवि-समुदाय उस वस्तु-विशेष का वर्णन करता चलता है फिर भी वह सदा नूतन प्रतीत होता है। अतएव कहा है:—"सहस्रों वाचस्पतियों द्वारा सहस्रों प्रयत्न करने पर भी प्रकृति का अन्त नहीं मिल सकता।"[1] अपने काव्य में केवल किसी पुरातन कवि द्वारा वर्णित विषय-शैली को अपनाने के कारण हम किसी कवि को उत्कृष्ट कवि की कोटि से नहीं हटा सकते। काव्य की उत्तमता की परीक्षा करते समय हमें उसके मार्मिक पक्ष को प्राथमिकता देनी चाहिए। यदि कवि के भावुक हृदय ने वस्तु-विशेष के मार्मिक पक्ष को वस्तुतः ग्रहण किया है तथा उसके काव्य में उसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है तो हमें निश्चय कर लेना चाहिए कि कवि की कृति नितान्त अभिनव एवं उच्चकोटि की है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किन्हीं दो भिन्न काव्यों में कुछ स्थलों में समान-पद, समान वाक्य, समान अर्थ तथा समान शैली तक देखने को मिलती है। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि एक ने दूसरे का अनुकरण ही किया हो। वात यह है कि किसी विषय के प्रति कभी-कभी एक ही प्रकार के भाव दो या कई कवियों में स्फुरित होते हैं, और उन कवियों में देश-काल आदि का वहुत वड़ा व्यवधान भी रहता है। लोकश्रुति भी है कि महापुरुषों के विचार प्रायः समान ही होते हैं।[2] चिन्तनप्रणाली की यह एकता मनुष्य-जाति में स्वभाव-सिद्ध है। अपनी काव्य-रचना की प्रारम्भिक अवस्था में कवि पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का अध्ययन करता ही है। वाद में ज्ञात या अज्ञात रूप से उसकी अपनी रचना में उनका प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य दिखायी पड़ता है। इस प्रकार के उपजीव्य-उपजीवक-भाव को हम बुरा कह भी नहीं सकते।

श्रीहर्षकालीन संस्कृतसाहित्य की दशा

संयोग से श्रीहर्ष का जीवन-काल उस शताब्दी में पड़ता है, जिसके पूर्व ही संस्कृतवाङ्मय अपनी उन्नति की चरम अवस्था को पहुँच चुका था। "कला विज्ञान आदि संस्कृतवाङ्मय के प्रत्येक विभाग में नूतन सर्जना प्रायः दशम शताब्दी तक

---

१. वाचस्पति-सहस्राणां सहस्रैरपियत्नतः।
निवद्धापिक्षयं नेति प्रकृतिर्जगतामिव। काव्यमीमांसा से उद्धृत

२. संवादास्तु भवन्त्येव वाहुल्येन सुमेधसाम्। काव्यमीमांसा से उद्धृत

समाप्त हो चुकी थी। इसके पश्चात् तो उन्हीं पूर्व कृतियों की टीका तथा उचित एवं सूक्ष्म समालोचना का समय आता है। इससे ज्ञान-प्रसार तथा बौद्धिक क्रियाओं का विस्तार अवश्य हुआ, किन्तु अपनी बारीकियों के कारण वह सर्वोपयोगी नहीं था।"[1] साहित्य रचना में सहज वास्तविकता का अभाव स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा था। काव्य-प्रतिभा का नूतन स्फुरण विलुप्त हो गया। उस काल की काव्य-रचना पूर्वकालीन कवियों की अनुकृतिमात्र रह गई। इधर यद्यपि यदा-कदाचित् विशिष्ट-प्रतिभा-सम्पन्न कृति का दर्शन अवश्य हो जाता है, किन्तु साधारणतया इस दीर्घ-युग की रचनाओं का एक-सा ही स्वरूप रहा। इस समय काव्य-कला की सूक्ष्मता तथा शास्त्रीय पाण्डित्य का ही प्रदर्शन होता है। कविता श्रम-साध्य बन गई। उसमें सहज एवं अभिव्यंजनापूर्ण प्रतिभा का नाम भी न रहा। इस अवांतर काल में यद्यपि सहज प्रतिभा की कमी नहीं थी, किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से वह इस प्रकार आच्छन्न रही कि श्रेष्ठतम-काव्य-कलाभ्यासी को भी कवि नहीं अपितु एक सफल पद्यनिर्माता कहा जा सकता है, जो काव्य रचना की सारी युक्तियों को सीखकर उसका प्रदर्शन कर सकता था।"[2] अतएव राजशेखर ने रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ कवि, अलङ्कार-कवि, उक्ति-कवि आदि काव्य-कवि के आठ प्रकार बताए हैं।"[3] इस समय काव्य-धारा में परिवर्तन करने की क्षमता तो दूर रही पूर्ववर्ती काव्यकला का अनुकरण तथा संयोजन भी ठीक से न हो पाया। जिसमें कभी चेतना-दायिनी शक्ति थी वही अब निश्चेष्ट प्रेरणाहीन यन्त्रबद्ध-सी हो गयी थी। यह प्रगति नहीं निश्चित ही अवनति थी, जिसमें काव्य-प्रतिभा परम्परारूढ़ प्रतिपाद्यविषय तथा पद्धति द्वारा नियंत्रित होकर निष्प्राण हो गई थी। महाकाव्यों की रचना में हमें इस रूढ़ि का पालन विशेष रूप से मिलता है। इस युग में महाकाव्यों की रचना का स्वरूप कालिदास के आदर्श पर नहीं होता था, अपितु उनके कुछ परवर्ती कवियों के आदर्श पर, जिनमें भट्टि तथा माघ सबसे अधिक प्रभविष्णु समझ पड़ते हैं। यद्यपि कालिदास की कविता की प्रशंसा इस युग के आचार्य तथा कवियों ने मुक्तकण्ठ से की है, तथापि ये उनकी कृतियों को अपने काव्य-निर्माण का आदर्श मान कर नहीं चले। इसका सबसे प्रधान कारण यही था कि इन पश्चात्-कालीन कवियों ने कवि-कुल-गुरु की कविता की आत्मा

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३१०

२. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३०४

३. काव्यकविः पुनरष्टधा। तद्यथा रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलङ्कार कविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति—का० मी०, अ० ५

को ही न पहचान पाया। भारवि की काव्य-प्रतिभा उनके स्पर्धालु अनुयायी माघ ने ही आच्छादित कर ली। कुमारदास ने कालिदास की शैली को अपनाया अवश्य, किन्तु वैसी प्रतिभा न होने के कारण उसका भविष्य में कोई प्रभाव न पड़ा। अतः इस पाण्डित्य-प्रदर्शन के युग में भट्टि और माघ ही आदर्श माने गए। क्योंकि इनके आदर्श पर चलकर सहज काव्य-प्रतिभा न रहने पर भी कविगण उस कमी को अपने शास्त्र-ज्ञान तथा अलङ्कार-ज्ञान आदि के प्रदर्शन द्वारा पूरी करने का अवसर पाते थे। फलतः उन्हीं पुराने विषयों पर पुराने ढंग से छंद रचे जाने लगे। अब शब्दों, छंदों तथा अलङ्कारों की कलाबाजी में ही सारी नवीनता प्रतिबद्ध हो गयी। स्वयं माघ में सहज काव्य-प्रतिभा अवश्य थी, किन्तु उनकी कविता में उस प्रतिभा से अधिक कृत्रिमता है, और उसका यह कृत्रिमांश ही उत्तरकालीन काव्यों का आदर्श बन गया। उनके बहुत से अनुयायियों में उस प्रकार की प्रतिभा का गंध भी नहीं मिलता। बाद के चित्र-काव्यों तथा द्वयाश्रय-काव्यों में भी माघ के प्रभाव की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है[1]। शृङ्गार रस की (मुक्तक) रचनाओं में भावों को व्यक्त करने की कुछ वैयक्तिक स्वतन्त्रता अवश्य रहती है। किन्तु वात्स्यायन के "कामसूत्रों" तथा कव कोक के "रतिरहस्य" के आत्यन्तिक प्रभाव के कारण उनमें भी विभिन्न सूक्ष्मताओं का प्रदर्शन ही प्रधान विषय बन गया। सार्वजनीन अनुभूतियों पर विशेष ध्यान न दिया गया। इसके अतिरिक्त "अमरु-शतक" भर्तृहरि-कृत "शृङ्गार शतक" की पद्धति से इधर उधर कोई जा भी नहीं सकता था। हाल की गाथा-सप्तशती का भी शृङ्गार काव्यों (विशेषतया प्रकृति-काव्यों) पर पर्याप्त प्रभाव रहा। यहाँ तक कि स्तोत्र-काव्यों में भी, जहाँ कवि की वाणी स्वतन्त्र भावोद्‌गार का क्षेत्र पा सकती थी, उसी रूढ़ विषय, भाव तथा शैली का अनुकरण होने लगा। नीति तथा विनोद (हास्य) की काव्य-रचनाओं में भी वही अनुकरण-प्रवृत्ति बनी रही[2]। अनेक रीति-ग्रन्थों द्वारा आचार्यों ने कविता को नियमसूत्रों में इस प्रकार यन्त्रित कर दिया था कि उसे मुक्त करने का साहस ही किसी कवि में नहीं हो सकता था, अपितु उन नियमों का जितना अधिक पालन उनकी कविता में हो पाता था, वे अपने को उतना ही सफल समझते थे। अलङ्कार, छन्द, व्याकरण तथा कोष के भी अनेक ग्रन्थ बने। कभी कभी तो शिक्षा देने के लिए उनके नियमों के आधारपर काव्य लिखे गए। जिनका प्रधान उद्देश्य काव्य-रचना नहीं, अपितु अलङ्कार, छंद आदि का ज्ञान कराना था।

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्र० भा० पृ० ३०४-५
२. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्र० भा० पृ० ३०६

ऐसी परिस्थिति में शुद्धकाव्य-सौन्दर्य कैसे दिखलाई पड़ सकता था। फलतः मौलिकता तथा स्वतन्त्र उद्‌भावना का प्रायः ह्रास होने लगा। इसके अतिरिक्त काव्य-लक्षण में जो वर्ण्य विषय परिगणित किए हों, उनको किसी न किसी प्रकार लाने का प्रयत्न तथा उनके वर्णन में अपनी कलाचातुरी दिखाने के श्रम आदि की ओर अधिक ध्यान होने के कारण प्रवन्ध-कल्पना का सौष्ठव कहीं दिखायी ही नहीं पड़ता। इस अवान्तर काल में काव्य-ग्रन्थ तो अनेक वने पर उच्चकोटि की साहित्य-सर्जना नहीं के वरावर ही रही। दर्शन, आयुर्वेद, पशु-विज्ञान, संगीत, कामशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, आदि विभागों में अधिक उन्नति होने के कारण, तात्कालिक कवि इन सभी में अभिज्ञ होकर अपनी रचना द्वारा यत्नपूर्वक अपनी अभिज्ञता का विज्ञापन करता। वर्ण्य विषय पुराना ही रहता, अतः कविगण अन्य वाह्य आडम्वरों द्वारा उनमें नूतनता लाने का प्रयत्न करते। उन्हें विचित्र छन्दों, अद्‌भुत अलङ्कारों, प्रहेलिकाओं, शास्त्रीय विषयों तथा संध्या, सूर्येन्दु,[१] रजनी आदि के सविस्तार वर्णन का ही आश्रय लेना पड़ता। वे उन्हीं में अपनी कला-कुशलता दिखलाते।

प्रचलित काव्य-धारा में उत्तम काव्य का स्थान

साहित्य के क्षेत्रों में क्रमिक विकास का कोई सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। ऐसा देखा गया है कि किसी एक प्रकार की काव्यधारा के युग में कभी-कभी कोई ऐसा भी अपूर्व-प्रतिभा-सम्पन्न कवि हो जाता है जिसकी कृतियाँ उस युग से वहुत आगे तथा लोकोत्तर होती हैं। तात्कालिक काव्य-प्रणाली के विवेचन में उन कृतियों का अन्तर्भाव किया ही नहीं जा सकता। फिर भी उस युग की अधिकांश रचनाओं में कुछ बातों का साम्य देखकर हम उसे उस प्रकार की रचना-प्रणाली का 'युग' कहने लगते हैं[२]। श्रीहर्ष ने यद्यपि अपने नैषध को अतिनव्य कृति कहा है[३]। इसे ऐसे काव्य-मार्ग का पथिक वताया है जिसे अन्य कवियों ने देखा तक नहीं है[४]। इसे सदा अभिनव रचना से सम्पन्न वताया है[५]। तथापि पूर्ववर्ती महाकाव्यों

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, अध्याय ६

२. वही—अध्याय ६

३. नव्ये महाकाव्ये—नै० ५-१३८, काव्येतिनव्ये कृतो नै० २१।१६३

४. कविकुलादृष्टाध्वपान्थेमहाकाव्ये नै० ८।१०९—अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ नै० २०।१२८।१८२

५. एकामत्यजतोनवार्थघटनाम्—नै० १९।६७

के प्रभाव की कुछ न कुछ झलक इतस्ततः मिल ही जाती है। हो सकता है यह साम्य यादृच्छिक ही हो किन्तु उन कृतियों की पुरातनता से यह भी अनुमान सम्भव है कि नैषध-रचना के पूर्व श्रीहर्ष ने उनका अध्ययन अवश्य किया होगा।

कालिदास

कालिदास की विशेषता

कालिदास को "कविकुलगुरु"की उपाधि अत्यन्त उचित दी गयी है। अपनी अपूर्व काव्यकला के कारण तो उनका गुरुत्व है ही, किन्तु कालक्रम से भी वे काव्य-मार्ग के सर्वप्रथम प्रदर्शक ठहरते हैं। वाल्मीकि तया व्यास को हम ऋषि-कोटि में रखते हैं। उन्हें प्रतिपाद्य विषय का अधिक ध्यान था, वर्णन शैली की कोई चिन्ता नहीं। अतः उनकी रचनाओं का आदर इतिहास के रूप में ही अधिक है। यद्यपि आदि-कवि की रचना का लालित्य, भावों का निरूपण, रसों का परिपाक, छन्दों का प्रवाह तथा भाषा का प्रसाद, आदि सभी अद्वितीय हैं, और संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी कवियों ने जहाँ कहीं उनका नाम लिया है, वहाँ पूर्ण श्रद्धा एवं कृतज्ञता के साथ किन्तु उनकी भी रचना में घटनाओं के विवरण का ही प्राधान्य है। उत्कृष्ट रचना करते हुए भी आदि-कवि रचना की सुन्दरता के लिए कहीं भी यत्नशील नहीं जान पड़ते। फिर भी उनकी रचना में अत्यन्त स्वाभाविकता एवं अद्भुत सुषमा है। सम्भवतः इन्हीं सबसे प्रभावित होकर भवभूति ने कहा था:—"आदि ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ स्वयं दौड़ता है[१]।" रामायण में काव्य के भावपक्ष का ही पूर्ण प्रसार है। कलापक्ष पर उतना अधिक आग्रह नहीं। भाव और कला दोनों का पूर्ण तथा मनोरम समन्वय हमें सर्वप्रथम कालिदास की कृति में मिलता है। अश्वघोष की भी रचना उच्च कोटि की हुई है। बौद्ध-मतानुयायी कवियों में तो अश्वघोष अत्यन्त प्रिय थे। और कुछ ने तो अपनी रचनाओं में अश्वघोष की शैली को इस प्रकार अपनाया कि कुछ समय के पश्चात् ये रचनाएं अश्वघोष की ही कही जाने लगीं। और फलतः उन कवियों की कोई पृथक् सत्ता ही न रही सभी अश्वघोष बन बैठे।"[२] किन्तु बौद्धमतावलम्बी तथा अत्यन्त सरल शैली के प्रवर्तक होने के कारण परवर्ती संस्कृत-कवियों ने उनको अपना रचनादर्श न माना। फिर श्रीहर्ष तया अश्वघोष में तो कालकृत व्यवधान भी अत्यन्त दीर्घ पड़ जाता है। तथा तवतक संस्कृत काव्य-रचना-प्रणाली में अनेक धाराएं वहीं।

---

१. ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति—उत्तररामचरित।

२. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७९।

नैषध पर अश्वघोष का विशेष रूप से कोई ऋण नहीं। अतः सर्वप्रथम कालिदास की ही रचना है जिससे श्रीहर्ष का पर्याप्त मात्रा में प्रभावित होना सिद्ध होता है। वास्तव में तो कालिदास के ही प्रवन्ध नैषध की प्रवन्ध-कल्पना के आदर्श रहे हैं। रघुवंश तथा कुमार-सम्भव दोनों ही से श्रीहर्ष ने अपनी प्रवन्ध-रचना की प्रेरणा पाई है। किन्तु नैषध पर कुमार-सम्भव की अपेक्षा रघुवंश का प्रभाव कम है अतः सूची-कटाह न्याय से यहाँ पहले रघुवंश का ही प्रभाव-विचार प्रस्तुत किया जाता है।

– ख –

भाव-साम्य

रघुवंश

इन्दुमती-स्वयंवर

जैसा पूर्वगत अध्याय में कहा जा चुका है रघुवंश में कालिदास को अनेक नरेशों का चरित वर्णन करना था, फिर भी उन्होंने इन्दुमती स्वयंवर में एक पूरा सर्ग लगाया, जो काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अत्युत्तम रचना मानी जाती है। नैषध में दमयन्ती-स्वयंवर प्रायः पाँच सर्गों (१० से १४७ तक) में वर्णित है। यहाँ केवल एक नरेश के चरित का वर्णन करना था, अतः विस्तार स्वाभाविक ही हुआ है। स्वयंवर का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है, किन्तु उसका विस्तृत चित्रण नैषध में ही देखने को मिलता है। श्रीहर्ष ने रघुवंश में विदर्भकुमारी इन्दुमती के स्वयंवर को देखा था, अतः अपनी विदर्भकुमारी दमयन्ती के स्वयंवर की व्यवस्था में उन्हें बड़ी सरलता हुई। रघुवंश की स्वयंवर-सभा से नैषध की स्वयंवर-सभा में महान् अन्तर अवश्य रहा, क्योंकि उसमें केवल नरलोक-पाल आए थे और इसमें जगत्रयी-पण्डित आए थे। कालिदास ने राजपरिचय का भार पुवंत्प्रगल्भा सुनन्दा को दिया, और उसने बड़ी सफलता के साथ उसे निभाया। किन्तु दमयन्ती-स्वयंवर की सभा में वह कार्य किसी मानवी के बूते का नहीं था। अतः श्रीहर्ष को साक्षात् सरस्वती का आवाहन करना पड़ा। संस्कृत-साहित्य में स्वयंवर का प्रसङ्ग अनेक काव्यों में आया है, और कवियों ने बड़े आकर्षक ढंग से उसका चित्रण किया है। हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय में भी स्वयंवर का मनोरम चित्रण हुआ है।[1]

---

१. ध० श० अ० १७वां सर्ग, नि० सा० प्रे० काव्यमाला ११।

किन्तु वह भी इन्दुमती स्वयंवर का अनुकरण ही है। यद्यपि धर्मशर्माभ्युदय का प्रभाव कई प्रकार से नैषध पर अधिक दृष्टिगोचर होता है जिसका विवेचन आगे चल कर इसी अध्याय में किया जायगा किन्तु यहाँ कालिदास की रचना का कितना अनुसरण हुआ है, यह देखना है।

इन्दुमती के स्वयंवर-सभा में प्रवेश करने पर राजाओं की प्रणय-सूचक विविध श्रृङ्गार-चेष्टाओं (अनुभावों) का रघुवंश में अत्यन्त स्वाभाविक एवं हृद्य चित्रण हुआ है।[1] कोई राजा अपने लीला-कमल की नाल अपने दोनों हाथों से पकड़कर बड़ी तेज़ी से घुमा रहा था।[2] कोई राजा अपने सुन्दर मुख को कुछ तिरछा करके कन्धे से खिसकी हुई भुजवन्द के रत्न में फंसी हुई माला को यथास्थान कर रहा था।[3] कोई अपनी पैर की अंगुली से हेमपीठ पर कुछ यों ही लिख-सा रहा था और संभ्रम नेत्रों से उसे देख रहा था।[4] कोई अपनी बांयी भुजा की टेक देकर अपने मित्र से सविलास वार्त्तालाप कर रहा था।[5] कोई राजा अपने रेखाध्वज आदि से चिह्नित अपने कूर-कमल में पाशों को सविलास उछाल रहा था।[6] कोई अपने सुव्यवस्थित किरीट को भी विभ्रम के साथ कुछ हटाकर पुनः यथास्थान रख रहा था[7]। नैषध में उसी प्रकार से स्वयंवर-सभा में दमयन्ती को देखकर "वहाँ कोई ऐसा राजा नहीं था, दमयन्ती के शरीर सौन्दर्य को देखने से उत्पन्न आश्चर्य वाले जिसके अङ्ग रोमाञ्च से पुलकित हो उल्लसित न हुए हों।"[8] दमयन्ती को

---

१. रघु० ६।१३-१९

२. कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार॥ रघु० ६।१३।

३. विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गद-कोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृत-चारु-वक्त्रः॥ रघु० ६।१४।

४. आकुञ्चिताग्राङ्गुलिनाततोऽन्यः किंचित्-समावर्जित-नेत्रशोभः।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम्॥ रघु० ६।१५

५. निवेश्य वामं भुजमासनार्धं तत्सन्निवेशादधिकोन्नतांसः।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषण-तत्परोऽभूत्॥ रघु० ६।१६

६. कुशेशयाताम्रतले न कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान्॥ रघु० ६।१८

७. कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलंङ्घिनीव।
वज्रांशुगर्भांगुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे॥ रघु० ६।१९

८. आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य।
उल्लेसुरङ्गानिमुदान यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि॥ नै० १०।१०९

देखकर किस पुरुष ने अपने हाथ के अंगूठे के अग्रभाग तथा मध्यमा अंगुली के मध्य भाग को मिलाकर उसके नीचे तर्जनी अंगुली को न फोड़ा[१]। उस समाज में खञ्जन-नयनी को देखकर किस राजा ने वार-वार सिर हिलाते हुए अपनी भौंहों को न चलाया।[२] वहाँ विधाता की वह कन्या-रूप अद्भुत सृष्टि सैकड़ों नेत्रों का एक लक्ष्य वनी थी। नरेन्द्रगण उसमें अपने अन्तःकरण से लीन हो गए थे। आसनों पर केवल उनके शरीर स्थित थे।[३] इधर दमयन्ती के स्वयंवर में उसे देखकर वे युवक उस सुन्दरी में न केवल आखों तथा हृदय से ही निमग्न हुए थे, अपितु उसके निर्मल अङ्ग-रूप चित्रभित्तियों में तथा उसके आभूषण-रत्नों में प्रतिविम्वित अपने शरीर के वहाने समस्त शरीर से निमग्न हो गए थे।[४] इन्दुमती को एक राजा के पास से दूसरे के पास जाने का कालिदास ने मनोरम चित्रण किया है। सुनन्दा राजकुमारी को दूसरे राजकुमार के पास उसी प्रकार ले गई जैसे मान-सरोवर में वायु के झोंके से उठी तरङ्ग-परम्परा राजहंसी को एक कमल से दूसरे कमल के पास ले जाती है।[५] नैषध में दमयन्ती का भी ऐसा ही चित्रण है, जिस प्रकार नूतन मेघ हंस पङ्क्ति को समस्त जलाशयों से मानसरोवर की ओर ले जाते हैं, उसी प्रकार शिविका-वाहक अरुणवस्त्र-सदृश रमणीय अधर-चरणों वाली दमयन्ती को देवसमाज से सर्पराज वासुकि के पास ले गए।[६] तथा जिस प्रकार देवगण सेवक की भाँति सुधांशु-कला को भगवान् शंकर के मस्तक पर ले गए थे, उसी प्रकार

---

१. अङ्गुष्ठमूर्ध्ना विनिपीडिताग्रा मध्येन भागेन च मध्यमायाः।
आस्फोटि भैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम॥ नै० १०।११०

२. अस्मिन्समाजे मनुजेश्वराणां तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितरां द्वयी वा॥ नै० १०।१११

३. तस्मिन्विधानातिशये विधातुः, कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तः करणैर्नरेन्द्राः देहैःस्थिता केवलमासनेषु॥ रघु० ६।११

४. तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निज-देहदम्भात्।
दृष्ट्यापरं न हृदयेन न केवलं तैः सर्वात्मनैव सुतनौ युवभिर्ममज्जे ॥ नै० ११।२

५. तां सैव वेत्रग्रहणेनियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्॥ रघु० ६।२६

६. जन्यास्ततः फणभृतामधिपः सुरौघान्माञ्जिष्ठमञ्जिमवगाहिपदोष्ठ-लक्ष्मीम्।
तां मानसं निखिल-वारिचयान्नवीना हंसावलीमिव घना गमयाम्बभूवुः॥
नै० ११।१५

शिविकावाहक दमयन्ती को द्युतिमान्, के पास से एक अन्य राजा के पास ले गए।[१]

श्रीहर्ष ने भाव तथा शब्दावली में भेद अवश्य रक्खा है, किन्तु शैली इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करती है कि यहाँ रघुवंश का अनुकरण किया गया है। सुनन्दा द्वारा कलिङ्गनाथ की प्रशंसा से प्रलोभित की जाने पर भी सुन्दरी इन्दुमती उससे उसी प्रकार विमुख हुई जैसे नीति (पौरुष) द्वारा अर्जित भी लक्ष्मी, भाग्य प्रतिकूल होने के कारण, विमुख हो जाती है।[२] उसी प्रकार "क्रौञ्चद्वीपाधिपति" राजा द्युतिमान् असंख्य गुणों से परिपूर्ण था, पर वह दमयन्ती के हृदय को न रिझा सका। जब भाग्य ही कार्य में बाधक हो जाता है, तो फिर कोई प्रयत्न, कोई पौरुष साधक नहीं हो सकते।[३] शूरसेनाधिपति सुषेण के वर्णन-प्रसङ्ग में सुनन्दा कहती है—"जलक्रीड़ा के समय जिसके अन्तःपुर की सुन्दरियों के स्तन-चन्दन के धुलने से ऐसा प्रतीत होता है मानों मथुरा में ही यमुना के साथ गङ्गा का संगम हो गया है!"[४] उधर मथुराधिनाथ का परिचय देती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती हैं— दमयन्ती, मथुरा की ललनायें जब यमुना में जलक्रीड़ा के समय अपना कस्तूरी आदि का लेप धोती हैं, तब तुम देखोगी कि यमुना इतनी श्याम हो जाती हैं, मानों पृथ्वी की रोम-राजि हो, वहीं पृथ्वी की नाभि के समान ही वह कालियनाग कुण्ड भी तो है।[५] वहाँ चन्दन के संयोग से यमुना में गङ्गा का संङ्गम सा जान पड़ता है, वहाँ कस्तूरी आदि के संयोग से वह इतनी अधिक श्याम हो जाती हैं कि मानों पृथ्वी

---

१. ते निन्यिरे नृपतिमन्यमिमाममुष्मादंसावतंस-शिविकांसभृतः पुमांसः।
रत्नाकरादिव तुषारमयूखलेखां लेखानुजीविपुरुषा गिरिशोत्तमाङ्गम्॥
नै० ११।५६

२. प्रलोभिताऽप्याकृति-लोभनीया विदर्भराजावरजा तमेवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात्॥ रघु० ६।५८

३. तस्मिन्गुणैरपि भृते गणनादरिद्रै स्तन्वी न सा हृदयबन्धमवापभूपे।
दैवेनिरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त प्रयासपरुषाणि न पौरुषाणि।
नै० ११।५५

४. यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरांगतापि गंगोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥ रघु० ६।४८

५. श्यामीकृता मृगमदैरिव माथुरीणां धौतैः कलिन्दतनयाम्धिसध्यदेशम्।
तत्राप्तकालियमहाह्रदनाभिशोभां रोमावलीमिवविलोकयितासिभूमैः॥
नै० ११।१०६

की रोम पंक्ति हो। भ्रम उभयत्र है, कहीं चन्दन के कारण कहीं कस्तूरी के कारण। सुषेण के ही वर्णन प्रसङ्ग के अन्त में सुनन्दा इन्दुमती से प्रस्ताव करती है कि "हे सुन्दरि, इस युवक को अपना भर्ता स्वीकार कर कुबेर के चैत्ररथ के समान सुन्दर वृन्दावन में कोमल प्रवाल तथा पुष्पों की शय्या पर यौवन-श्री का आनन्द लो,"[1] तथा "वर्षाऋतु में गोवर्द्धन की रम्य कन्दराओं में शैलेयपुष्पों की सुगन्धि से सुवासित तथा वर्षा-सीकरों से सिक्त शिलाओं पर बैठकर मयूरों का नृत्य देखो।"[2]

इधर मथुराधिनाथ के लिए सरस्वती दमयन्ती को सलाह देती हैं कि—"सुन्दरि, वृन्दावन में महाराज पृथु के साथ निर्भय वन-विहार का आनन्द लो। समीप में ही गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले मयूरों के कारण सापों का वहां कोई भय नहीं रह गया है। सुगन्धित पुष्पों से वृन्दावन अत्यन्त रमणीय हो रहा है।"[3] अन्त में अज के पास पहुंचने पर इन्दुमती के उदय होने वाले सात्त्विक भावों को जिस प्रकार सुनन्दा की सूक्ष्म दृष्टि ने ताड़ लिया था उसी प्रकार दमयन्ती के सात्त्विकोदय को देवी सरस्वती ने पहिचान लिया। इन्दुमती के अनुराग-भाव को देख कर सुनन्दा ने परिहास के साथ कहा "आर्ये, अब अन्यत्र चलें!" इस पर वधू ने असूया के साथ उसे कुटिल भौहों से देखा।[4] और यहां "सरस्वती जब हँसकर दयमन्ती का हाथ पकड़े उसे महेन्द्र की ओर ले चलीं, उस समय दमयन्ती ने चौंककर अपने हाथ को उसी प्रकार खींच लिया जैसे कोई भ्रमवश सांप के ऊपर रक्खे हाथ को खींचता है।"[5] उपहास का अवसर तथा उद्देश्य उभयत्र समान ही है।

इन्दुमती द्वारा अज के वरे जाने पर जिस प्रकार अन्य नरेश वैदर्भी के प्रति अपने मनोरथ के विफल हो जाने से अज-इन्दुमती के रूप और वेश की निन्दा करते

---

१. सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
बृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवमश्रीः॥ रघु० ६।५०

२. अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥ रघु० ६।५१

३. गोवर्धनाचलकलापिनयप्रचारनिर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूने।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि॥
नै० ११।१०७

४. तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखीं वेत्रभृदावभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यतइत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श॥ रघु० ६।८३

५. विहस्यहस्तेऽथविकृष्यदेवीनेतुं प्रयाताभिमहेन्द्रमेताम्।
भ्रमादियं वत्तमिवाहिदेहे ततश्चमत्कृत्य करं चकर्ष॥ नै० १५।३४

थे।[1] उसी प्रकार नल के वरे जाने पर दूसरे राजाओं के वन्दीजन मात्सर्योद्गार कर रहे थे "देखो तो सभा में स्त्री को लिए हुए इसे लज्जा भी नहीं आती।" "हां, पर, जो अत्यन्त सुन्दर होते हैं वे जीवन में सुखी नहीं रहते"[2] इत्यादि। नैषध में भाव स्थान-स्थान पर रघुवंश से ही लिए गए जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, वन से लौटने पर जिस समय राम ने राजेन्द्र-वेश में अयोध्या में प्रवेश किया था उस समय उनके ऊपर नगर के सौधों से ललनायें लाज-वर्षा कर रही थीं।[3] उसी प्रकार नवोद्वाह करके लौटने पर वधू-सहित नल के ऊपर कुमारियों ने लाज-वर्षा करते हुए तथा जय-कार से उनका अभिनन्दन करते हुए उन्हें नमस्कार किया।[4] उस समय, जैसे सीता को देखकर साकेत की सुन्दरियों ने प्रासादवातायन से प्रणाम किया था[5], वैसे ही "नैषव-राजधानी की सुन्दरियों ने उत्सुकता के साथ प्रासादों की चन्द्रशालाओं से नववधू दमयन्ती को देखा। उस समय पुरललनाओं के मुखचन्द्र से युक्त होकर नगर के महलों की अट्टालिकाओं का "चन्द्रशाला" नाम सार्थक हो गया था।[6] नैषध के नल-दमयन्ती के संयोग-शृङ्गार-वर्णन में भी कहीं-कहीं रघुवंश के उन्नीसवें सर्ग की आभा मिल जाती है। यद्यपि उसकी कल्पना का आधार विशेष रूप से कुमारसम्भव का अष्टम सर्ग तथा कामशास्त्र है, किन्तु इतने कथानक में कहीं-कहीं अग्निवर्ण की रतिक्रीड़ा से भी साम्य मिल जाता है। राज्य-भार सचिवों को सौंप कर जैसे अग्निवर्ण यौवन-सुख भोगने में प्रवृत्त हुआ था[7], उसी भांति नल भी राज्य-

---

१. भोज्यांप्रति व्यर्थमनोरथत्वात् रूपेषुवेषेषुच साभ्यसूयाः॥ रघु० ७।२

२. त्रपास्य नस्यात् सदसिस्त्रियान्वयात् कुतोतिरूपः सुखभाजनं जनः॥
नै० १५।२

३. विवेशसौधोद्गत-लाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम्॥ रघु० १४।१

४. अथपथिपथिलाजैरात्मनो बाहुबल्लीमुकुलकुलसकुल्यैःपूजयन्त्यो जयेति।
क्षितिपतिमुपनेमुस्तं दधाना जनानाममृतजलमृणालीसौकुमार्यं कुमार्यः॥
नै० १६।१२६

५. श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥ रघु० १४।१३

६. अभिनवदमयन्तीकान्तिजालावलोकप्रवणपुरपुरन्ध्रीवक्त्रचन्द्रान्वयेन।
निखिलनगरसौधाट्टावलीचन्द्रशालाः क्षणमिवनिजसंज्ञांसान्वयासन्वभूवन्॥
नै० १६।१२७

७. सन्निवेश्यसचिवेष्वतः परंस्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्॥ रघु० १९।४

कार्य मन्त्रियों पर छोड़ कर प्रिया के साथ मदन-सुख में प्रवृत्त हुए।[1] अग्निवर्ण के रतिसुखोचित प्रासाद की समृद्धि का संकेत कालिदास ने एक श्लोक में किया है—"प्रियाविलास में रत अग्निवर्ण के मृदंग आदि वाद्यों की ध्वनि से पूर्ण प्रासादों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक समृद्धिमान् उत्सव मनाए जाते थे।[2] सम्भवतः इसी संकेत पर श्रीहर्ष ने अपने पुराण तथा कामशास्त्र के ज्ञान के सहारे नल के सौध का विस्तृत वर्णन किया है।[3] श्रीहर्ष ने वर्णन-शैली की प्रेरणा-मात्र रघुवंश से ली है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि नल के विषय-भोग का वही आदर्श था जो अग्निवर्ण का रहा। अग्निवर्ण तो एक क्षण भी इन्द्रिय-सुख के विना रह ही नहीं सकता था, और इसीलिए वह दिनरात भवन के भीतर पड़ा रहता और उत्कण्ठित प्रजा की भी कोई चिन्ता न करता।[4] किन्तु दमयन्ती के साथ दिनरात भोग भोगते हुए भी आत्मज्ञानी नल को कोई पाप का लेश नहीं छू जाता था, क्योंकि जिनका अन्तःकरण ज्ञान से निर्मल हो चुका है उनको कृत्रिम रूप से किए गए भोगों में कोई आसक्ति ही नहीं होती,[5] यहां श्रीहर्ष ने गीता के इस सिद्धान्त का सन्निवेश किया है।:—

रागद्वेषवियुक्तैस्तुविषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसादमधिगच्छति॥ गीता—२।६४

इसके अतिरिक्त रघुवंश का एक और प्रसङ्ग है जिसने नैषध को प्रभावित किया है। वह है पञ्चमसर्ग का प्रभात-वर्णन।

कुमारसम्भव

नैषध पर रघुवंश की अपेक्षा कुमारसम्भव का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। दमयन्ती के शिख-नख रूपवर्णन की प्रेरणा, जिसमें श्रीहर्ष ने एक पूरा सर्ग (सप्तम) लगाया है, कुमारसम्भव के पार्वती-रूप-वर्णन (प्रथम सर्ग) से मिली है।

---

१. न्यस्य मन्त्रिषु सराज्यमादरादारराध मदनंप्रियासखः॥ नै० १८।३

२. कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्यवेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥ रघु० १९।५

३. नै० १८।३-२८ श्लोक

४. इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि सक्षणान्तरम्।
अन्तरेव विहरन् दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः॥ रघु० १९।६

५. आत्मवित्सह तया दिवानिशं भोगभागपि न पापमाप सः।
आहृताहि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२

कालिदास ने पार्वती के कुछ विशेष अङ्गों का ही सौन्दर्य चित्रित किया, किन्तु श्रीहर्ष की आंखें दमयन्ती के प्रत्यवयव पर गईं, जहां नल को आनन्द-सुधाब्धि लहराता मिला, और जहां अवगाहन करके उनमें प्रमोदाश्रु की झड़ी लग गयी।[१] कवि ने नल मुख से दमयन्ती के प्रत्यङ्ग का वर्णन किया और भरपेट किया। पार्वती के चकित विलोचन की उपमा प्रवातकम्पित इन्दीवर से देते हुए कालिदास ने सन्देह किया है कि इस प्रकार का चञ्चल विलोकन क्या पार्वती ने मृगाङ्गनाओं से लिया है, अथवा मृगाङ्गनाओं ने पार्वती से?[२] दमयन्ती की नेत्र-कान्ति को देख कर श्रीहर्ष को भी सन्देह होता है, कि क्या हरिणियों ने दमयन्ती से दोनों नेत्रों की कान्ति ऋणरूप में ली थी, क्योंकि सुन्दरी ने उन भयभीत मृगियों से वह सम्पूर्ण कान्ति कई गुनी कर के वलात् वसूल की है?[३]" कालिदास के विचार से पार्वती की वाहुएँ शिरीष-पुष्प से भी अधिक सुकुमार थीं।[४] श्रीहर्ष को दमयन्ती के अशेष अङ्ग ही शिरीषाधिक कोमल लगे।[५] पार्वती की मुखश्री को पद्म का सौरभ तथा चन्द्र का सौन्दर्य दोनों मिले थे।[६] उसी प्रकार, दिन में सूर्य के भय से चन्द्रमा ने तथा रात्रि में चन्द्रमा के भय से कमल ने अपनी कान्ति दमयन्ती के मुखमण्डल में स्थापित कर दी थी।[७]

पार्वती के ऊरुओं के लिए, कर्कश होने के कारण करिशुण्ड, तथा नितान्त शैत्य के कारण कदली-स्तम्भ, कभी उपमान हो ही नहीं सकते।[८] दमयन्ती की भी जंघाओं से कदली की समता तभी की जा सकती है, जब वह (कदली) अपने शिरोभाग को

---

१. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य॥ नै० ७।२

२. प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततोगृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥ कु० १।४६

३. ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याःसकाशान्नयनद्वयश्रीः।
भूयोगुणेयं सकलाबलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत बिभ्यतीभ्यः॥ नै० ७।३३

४. शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः॥ कु० १।४१

५. शिरीषपुष्पादपिकोमलाया वेधा विधायाङ्गमशेषमस्याः॥ नै० ७।४७

६. चन्द्रं गता पद्मगुणान्नभुङ्क्तेपद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोलाद्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥ कु० १।४३

७. दिवारजन्यौ रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।
आस्ये यदास्याः न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम्॥ नै० ७।५५

८. नागेन्द्रहस्ता स्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
लब्ध्वाऽपि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥ कु० १।३६

नीचे करके तपों द्वारा निःसार ऊपरी वल्कल को त्याग दे तथा अपनी प्रबल जड़ता (शैत्य एवं मौर्ख्य) को दूर कर दे।[1] सुन्दरी के जघन-स्तम्भों के समक्ष करिशुण्ड तो (अपने काठिन्य आदि गुणों के कारण) पराजित है ही। तभी तो गज उन शुण्डादण्डों को लपेटने के बहाने छिपाता फिरता है।[2] पार्वती के स्मित का चित्रण करते हुए कालिदास ने अतिशयोक्ति के सहारे एक अद्‌भुत उपमान की कल्पना की है। "यदि श्वेत पुष्पों की पंक्ति अरुण कोपलों पर लगाई जाय, अथवा मोती के दाने विद्रुमपंक्ति के ऊपर रक्खें जायं, तो उनकी जो कान्ति होगी वही पार्वती के रक्त ओठों के चारों ओर फैली विशद स्मित-प्रभा का अनुकरण कर सकती है।[3]" श्रीहर्ष ने ठीक उसी शैली पर दमयन्ती के मुख के लिए नए उपमान की उद्‌भावना की है, "यदि पूर्णिमा के चन्द्रमा की रक्तवन्धूक तथा नील कमल से अर्चना की जाय, तथा चम्पा की कलिका पूजा में उनके ऊपर चढ़ाई जाय, उस समय उस रम्य पुष्पों से समर्चित पूर्णचन्द्र की जो शोभा होगी उसे भी अपने अरुणाभ अधरोष्ठों, नीलाभ नयनों तथा गौराभ मनःशिला के तिलक से दीप्तिमान् दमयन्ती का मुख-मण्डल अत्यन्त कान्तिहीन कर रहा था।[4]" कालिदास ने शिव-पूजा के लिए आती हुई यौवन-सौन्दर्यावनत पार्वती का चित्रण अत्यन्त भावुक शब्दों द्वारा किया है।[5] उसी के आधार पर श्रीहर्ष ने भी स्वयंवर में प्रवेश करते समय दमयन्ती का अत्यन्त मनोहारी सौन्दर्य चित्रित किया है[6]। इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

"पार्वती पद्मरागमणि की कान्तिवाले अशोकपुष्प, स्वर्णकान्तिवाले कर्णिकार, तथा मुक्ताकान्ति वाले सिन्धुवार आदि वसन्तकालीन पुष्पों का ही आभूषण पहने

---

१. विधाय मूर्द्धानमधश्चरं चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम्।
जाड्यंच नाञ्चेत्कदलीबलीयस्तदायदिस्यादिदमूरुचारुः॥ नै० ७।९४

२. उरुप्रकाण्डद्वितयेन तन्व्याः करः पराजीयतवारणीयः।
युक्तंह्रिया कुण्डलनच्छेलनगोपायति स्वं मुखपुष्करं सः॥ नै० ७।९५

३. पुष्पं प्रवालोपिहितं यदिस्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततो नु कुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचःस्मितस्य॥ कु० १।४४

४. विधायबन्धूकपयोजपूजने कृतां विधोर्गन्धफलीबलिश्रियम्।
निनिन्दलब्धाधरलोचनार्चनं मनः शिलाचित्रकमेत्यतन्मुखम॥ नै० १५।२८

५. कु० सं० ३।५२-५६

६. नै० १०।९२-१०८

हुए थीं।[१]" "सहर्ष-मदन-द्वारा व्याप्त सब अङ्गों वाली, सूक्ष्म अंगुलियों सहित (अथवा नूतन पल्लव तुल्य अतिरक्त) पाणिवाली सखियों से संयुक्त, उन राजाओं द्वारा अभिलषित दमयन्ती ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों सुगन्धित पुष्पों और मलयानिल से सुरभित तथा वालशाखाओं के किसलयों में लीन भ्रमरपङ्क्ति से सुशोभित और कल्पवृक्षों तक की चाही हुई वसन्त-लक्ष्मी हो।[२]" "सुगंधित निःश्वास के लोभी, विम्वाधर के समीप उड़ने वाले, भ्रमर को भयचकित दृष्टि वाली सुन्दरी वार-वार अपने लीलारविन्द से निवारित कर रही थीं।[३]" "दमयन्ती के अङ्गराग-परिमल से आकृष्ट मधुकर सानन्द आकर उसके कर्णोत्पल पर मंडराता हुआ ऐसा प्रतीत होता था मानों मदन-दूत एकान्त में उसके कानों में कुछ कहता है।[४]" इस श्लोक में शाकुन्तल के "रहस्याख्यायीवस्वनसिमृदुकर्णान्तिक चरः" (शा० १।२०) का भी भाव लिया गया समझ पड़ता है। "सुन्दरी नितम्व से वार वार खिसकने वाली वकुलपुष्पों की वनी माला की काञ्ची को यथास्थान व्यवस्थित कर रही थी, वह माला ऐसी प्रतीत होती थी मानों उचित स्थान को जानने वाले कामदेव ने अपने धनुष की द्वितीय प्रत्यञ्चा वहां धरोहर रक्खी है।"[५] सुन्दरी फूल के वाणों से नल को जीतने में असमर्थ जान कर मदन को अपने आभूषण-रत्नों की किरणों से निर्मित इन्द्र-धनुष सा सौंप रही थी।[६]

कामदेव ने शंकर को अपने वश में करने का उस समय को उचित अवसर समझा, जव पार्वती उनके नेत्रों के सम्मुख हों। अतः जव पार्वती ने शिव के चरणों में फूल चढ़ाकर प्रणाम किया, उसी समय कामदेव ने, अपने वाण चलाने का ठीक अवसर

---

१. अशोकनिर्भर्त्सितपद्मराग माकृष्टहेमद्युति कर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं बसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥ कु० ३।५३

२. समोदपुष्पाशुगवासिताङ्गी किशोरशारवाग्रशयालिमालाम्।
वसन्तलक्ष्मीमिव राजभिस्तैः कल्पद्रुमैरप्यभिलष्यमाणाम्॥ नै० १०।९६

३. सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती॥ कु० ३।५६

४. विलेपनामोदमुदागतेन तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च।
रतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णेरहः किंचिदिवोच्यमानाम्॥ नै० १०।९५

५. स्रस्तांनितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतांस्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिवकार्मुकस्य॥ कु० ३।५६

६. स्मरं प्रसूनेन शरासनेन जेतारमश्रद्धतीं नलस्य।
तस्मै स्वभूषादृशदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकमर्पयन्तीम्॥ नै० १०।९९

समझ कर, अग्नि में कूदने वाले पतङ्ग की तरह, उमा की उपस्थिति में ही शिव की ओर वाण का निशाना लगाकर अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को वारवार खींचा।[1] नल को जीतने के लिए मदन को वही क्षण उचित समझ पड़ा जव दमयन्ती के लोकोत्तर रूप तथा गुण को उन्हों (नल) ने लोगों से सुना—जव दमयन्ती उनके कल्पना-नेत्रों के सम्मुख हो। उस समय कामदेव ने, जो नल से सौन्दर्य में पराजित होने के कारण ईर्ष्या-कलुष हो रहा था, अवसर पाकर अपनी मूर्तिमयी अमोघ शक्ति के समान उस सुन्दरी द्वारा निषधराज को जीतना चाहा।[2] नैषध में इस प्रसङ्ग में मदन की चर्चा न करके नल का दमयन्ती-लुब्ध होना ही कहने से भी कोई त्रुटि न होती, किन्तु इस अवसर पर मदन द्वारा नल को जीतने की वात कहने से कुमारसम्भव का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग की शैली पर नैषध का नवम सर्ग एवं सप्तम पर पञ्चदश और अष्टम सर्ग की शैली पर नैषध के १८, १९, २०, २१, २२—पांच सर्गों की रचना समझ पड़ती है। नल-दमयन्ती-संवाद का कथानक महाभारत से लिया गया है किन्तु उसके वर्णन-शैली का आधार कुमारसम्भव का शिवपार्वती-संवाद (पञ्चम सर्ग) ही है। जैसे शंकर ने जटिल तपस्वी का रूप धारण कर पार्वती के तपोवन में प्रवेश किया था, तथा वीच में कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया, उसी प्रकार नल भी अपने नामरूप का परिचय नहीं देते। (महाभारत में तो पहुंचते ही वे 'नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतामिहागतम्' इत्यादि सभी कुछ वता देते हैं) शिव अपने वार्त्तालाप का प्रस्ताव "क्रियानुष्ठान के लिए कुश और इन्धन सुलभ तो हैं? जल तुम्हारे स्नान के योग्य तो हैं?"[3] इत्यादि कुशल-प्रश्न के साथ करते हैं। क्योंकि यही उचित क्रम है। नैषध में नल भी "सुन्दरि! तुम्हारे अङ्ग स्वस्थ तो हैं, चित्त प्रसन्न तो है?"[4] इत्यादि कुशल-जिज्ञासा के साथ देव-संदेश का प्रस्ताव करते हैं। शिव के विचार से यदि पार्वती पति-प्राप्ति के लिए तप कर रही हैं तो व्यर्थ है, क्योंकि रत्न किसी को खोजता नहीं स्वयं खोजा जाता है।[5] उसी प्रकार दूत

---

१. कामस्तुबाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श॥ कु० ३।६४

२. तमेव लब्धावसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्त्या तया विनिर्जेतुमियेषनैषधम्॥ नै० १।४३

३. अपिक्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नान-विधिक्षमाणिते॥ कु० ५।३३

४. कल्याणि कल्यानि तवाङ्गकानि कच्चित्तमांचित्तमनाविलं ते॥ नै० ८।५७

५. अथौपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥ कु० ५।४५

नल भी दमयन्ती द्वारा इन्द्र की उपेक्षा देखकर कहते हैं—"वे देवाधिप अपना मन तुम्हारी ओर लगाएं और तुम उनसे विमुख रहो! महान् आश्चर्य है। कहां तो पद्मादि निधियां स्वयं निर्धन के पास आएं और कहां निर्धन अपनी फटकार के किवाड़ देकर उन्हें वाहर निकाल दे।"[1] ब्रह्मचारि-वेष में प्रच्छन्न शिव की बातों से "क्रुद्ध पार्वती ने वहां से अन्यत्र जाने के लिए पैर उठाया ही था कि मुस्कराते हुए शंकर ने अपना प्रत्यक्ष रूप धारण कर लिया, जिसे देख कर पार्वती में कम्प, स्वेद आदि सात्विक भावों का उदय हो आया, तथा उठाया हुआ पैर उठा ही रह गया। वे न जा सकीं, न लौट सकीं।"[2] उसी प्रकार मध्याह्न में नल को मदनवश देखकर दमयन्ती देहली से वाहर सखियों की ओर चल पड़ीं, किन्तु प्रिय को प्रतिकूल करके आई थी अतः हृदय में दुखी हो रही थीं। पर अब प्रिय को प्रसन्न किए विना सखियों के पास नहीं जा सकती थी, और लज्जा के कारण फिर प्रिय के पास भी नहीं आ सकती थी।[3] शिव के द्वारा तप का उद्देश्य पूछने पर पार्वती शालीनता के कारण स्वयं कुछ उत्तर नहीं दे सकती और अपनी पार्श्ववर्तिनी सखी को इसके लिए नेत्र-संकेत करती हैं। सखी ने देवी का संकेत पाकर शिव को पार्वती के अनुराग का हृदयस्पर्शी विवरण दिया। ब्रह्मचारी के इस प्रकार वास्तविक वात कहने पर पार्वती अपने मन की वात न कह सकीं और उन्होंने समीपस्थ सखी की ओर अञ्जन-रहित नेत्रों से देखा।[4] फिर सखी ने ब्रह्मचारी से कहा—महात्मन् यदि आपको कुतूहल है तो सुनिए, जिस कारण मेरी सखी ने अपने कमल-कोमल शरीर को तपस्या का साधन बनाया है।[5]

नैषध में नल-दमयन्ती-वार्तालाप प्रायः दो सर्गों (८-९) में हुआ है, अतःतीन वार ऐसे प्रसङ्ग आए जब लज्जावश दमयन्ती की वाणी मौन हो जाती है और उसे अपनी सखी का सहारा लेना पड़ता है। प्रथम प्रसङ्ग तव आता है जब आगन्तुक

---

१. अहोमनस्त्वामनुतेऽपि तन्वतेऽत्वमप्यमीभ्योविमुखीतिकौतुकम्।
क्व वानिधिर्निर्धनमेति किं च तं वाक्कवाटं घटयन्निरस्यति॥ नै० ९।३९
२. शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ। कु० ५।८५
३. प्रियस्याप्रियमारभ्यतमन्तर्दूनयानया।
शेके शालीनयाऽलिभ्यो न गन्तुं न निर्वर्तितुम्॥ नै० २०।१५७
४. इतिप्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत॥ कु० ५।५१
५. सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो तव चेत्कुतूहलम्।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपः साधनमेतयावपुः॥ कु० ५।५२

देवदूत से देवों के सन्देश को फिर न कहने का आग्रह करती हुई दमयन्ती उसे अपने नलानुराग का परिचय देना चाहती है। उस समय इतना कहते ही नतमुख हो दमयन्ती के द्वारा कान में लगकर कही जाने पर सखी बोली—"हे दूत, इसने लज्जा वश मेरे हृदय में प्रवृष्ट होकर जो कहा है उसे मेरे मुख के मार्ग से निकलते हुए सुनो।"[1] फिर दूत के रूप में हंस द्वारा चित्रित अपने प्रिय के रूप का साम्य देखकर उसे अगले दिन होने वाले स्वयंवर तक वहीं रुकने का आग्रह सखी द्वारा करती है।[2] वैदर्भी से प्रेरित होकर एक सखी ने कहा—"मेरी सखी दृढ़मौन-व्रत धारण करने वाली अपनी एक जिह्वा से लज्जा देवी की आराधना कर रही है तथा अपनी दूसरी रसना रूप मेरे द्वारा आप से यह कह रही है इत्यादि।[3] और अन्त में जब भावोद्रेकवश नल ने अपने नाम-रूप को प्रकट कर दिया तथा वैदर्भी प्रियके सम्मुख लाज के भार से अत्यन्त दबी जा रही थी (क्योंकि उसने अभी कुछ क्षणपूर्वक निर्लज्जा की भाँति नल से ही मुंह खोलकर बातें की हैं) और जब एकान्त में भी दमयन्ती सखी के कानों में प्रिय को उत्तर न दे सकी, तब सखी ने ही हंसकर नल से कहा—"इस समय आपकी प्रिया ने मौन धारण कर लिया है।[4] फिर नल के विरह (पूर्वराग) में दमयन्ती की विभिन्न व्यथाओं का वैसा ही चित्रण करती है जैसा पार्वती की सखी ने जटिल-वेश-प्रच्छन्न शिव के सम्मुख किया था। अपने नेत्रों के अश्रुप्रवाहों को स्वयं-निर्मित चित्र में अङ्कित तुम्हारे चरणों का अतिथि बताती हुई दमयन्ती, मदन की जो रहस्य-गाथा गाती थी उसे सुनो इत्यादि।"[5] और अन्त में जब शिव-निन्दा सुनकर अत्यन्त क्षुब्ध हो पार्वती अन्यत्र चल पड़ीं उस समय जिस प्रकार भावद्रवित हो भगवान् शंकर अपने को प्रकट करने और "हे सुन्दरि, आज से मैं तपस्या द्वारा खरीदा हुआ तुम्हारा दास हूँ"[6] ऐसा कहने के लिए विवश

---

१. अदो निगद्यैव नतास्यया तयाश्रुतोलगित्वाभिहितालिरालपत्।
प्रविश्य यन्मे हृदयंह्नियाहतद्विनिर्यदाकर्णयमन्मुखाध्वना॥ नै० ९।३०

२. नै० ९।६४-६६

३. तमालिरूचेऽथविदर्भजेरिता प्रगाढ़मौनव्रतयैकया सखी।
त्रपां समाराधयतीयमन्यया भवन्तमाहस्वरसज्ञया मया॥ नै० ९।६४

४. यदापवर्यापि न दातुमुत्तरं शशाक सख्याः श्रवसिप्रियस्यसा।
विहस्य सख्येवतमब्रवीत्तदाह्रियाऽधुनामौनघना भवत्प्रिया॥ नै० ९।१४२

५. पदातिथेयांल्लिखितस्यतेस्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम्।
जगाद यां सैव मुखान्ममत्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम्॥ नै० ९।१४३

६. अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः क्रीतस्तमोभिरिति। कु० ५।८६

हुए उसी प्रकार प्रिय-प्राप्ति के विघात का निश्चय जानकर सोन्माद रोती हुई, सहनशक्ति खोकर, घबड़ाकर, निरानन्द हो तथा बुद्धिहीन होकर अत्यन्त दुःखित दमयन्ती के करुण विलापों[1] को सुनकर नल-हृदय में दवा रक्खी हुई विरह-वेदना उद्बुद् हो उस संयोगावस्था में भी नल को पुनः क्षण भर के लिए उद्भ्रान्त कर देती है। जिससे वे "अयि प्रिये ! तुम किसके कारण रो रही हो ? अपने मुख को क्यों आँसुओं से विलिप्त कर रही हो ? क्या अपने कटाक्ष-विलास से तुमने अपने सामने नत इस नल को नहीं देखा।"[2] इन शब्दों से प्रारम्भ कर "चन्द्रमा की किरणों के लिए रात्रि की भाँति इस नल की तू ही प्राणाधार है"[3] यहाँतक कह डालते हैं। और दमयन्ती की विवाह-विधि तो अथ से इति तक पार्वती के विवाह के अनुसार सम्पन्न की गयी। दोनों विवाहों में पाणिग्रहण संस्कार ज्योतिःशास्त्र सम्मत उत्तम मुहूर्त में किया गया। "शुक्ल पक्ष में जामित्र (लग्न के सप्तम स्थान) के गुण (शुद्धि) से युक्त तिथि में भाई वन्धुओं के साथ हिमवान् ने कन्या के विवाह-संस्कार का अनुष्ठान किया।"[4] नैषध में भी राजा भीम ने वाहर आकर ज्योतिषियों की सभा की, जिसमें उन लोगों ने राजा से शुक्र, गुरु आदि ग्रहों के उदय-अस्त दोषों से निर्मुक्त तथा जामित्र आदि सम्पूर्ण गुणों से संयुक्त मुहूर्त वताया। अतः राजा ने उसी मुहूर्त में कन्या-दान करने का उपक्रम किया।[5] विवाहों में कुछ स्त्री-समयोचित क्रियाएँ होती ही हैं। वे जिस प्रकार ओषधिप्रस्थ में की गईं उसी प्रकार कुण्डिनपुर में भी। "घर घर में स्त्रियाँ विवाह की तैयारी में लगी थीं। और इस प्रकार हिमवान् का पुर तथा अन्तःपुर दोनों एक कुल के समान लगते थे।"[6] कुण्डिनपुर में राजा भीम भी ललनाचार के लिए आदेश देते हुए कहते हैं, "सुन्दरियों, तुम लोग विवाहोचित अपनी ललनाचार की क्रियाएं करो और हम भी वैदिक तथा शास्त्रीय विधियाँ

---

१. नै० ९।८८-१००

२. अयिप्रिये, कस्यकृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः।
पुरस्त्वयालोकि नमन्नयं न किं तिरश्चलल्लोचनलीलयानलः॥ नै० ९।१०३

३. निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्मम त्वमेवासि नलस्य जीवितम्॥ नै० ९।१२०

४. अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।
समेतबन्धुर्हिमवान् सुतायाविवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत्॥ कु० ७।१

५. निरीय भूपेन निरीक्षिताननो शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम्।
गुणैररीणैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे॥ नै० १५।८

६. वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्ध्रिवर्गम्।
आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तः पुरं चैककुलोपमेयम्॥ कु० ७।२

कर रहे हैं।"[1] उस अवसर पर दोनों नगर अपनी सजावट से स्वर्ग की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे थे। "हिमवान् नगर के राजमार्गों पर मन्दार-पुष्प बिखेरे गए थे, भवनोंपर पट्टवस्त्र-निर्मित (रेशमी) पताकाएं फहरा रही थीं, तथा स्वर्णिम तोरणों की कान्ति फैल रही थी। इस प्रकार वह पुर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों स्वर्ग ही दूसरे स्थान पर आकर बस गया हो।"[2] और इधर, कुण्डिनपुरवासी प्रजा-लोग अलङ्कारों से सुशोभित थे, सारे भवन सुन्दर चित्रों से दीप्तिमान् हो रहे थे, उस नगर की भूमि मणि-जटित हो रही थी। इस प्रकार अब तक स्वर्ग उपमान था, भूलोक उपमेय था, पर अब भूलोक ही उपमान बन रहा था।[3]

विवाह के पूर्व पार्वती तथा दमयन्ती दोनों के मङ्गल-स्नान प्रायः एक ही प्रकार के होते हैं। हिमालयपुर की सुन्दरियों ने मोतियों की रचना से युक्त चतुष्क (चार खम्भों वाले) गृह में मरकत की शिला पर बैठाकर, स्वर्णमय कुम्भ के जल से बाजे-गाजे के साथ पार्वती को स्नान कराया।"[4]

और कुण्डिनपुर में भी "इसके पश्चात् सौभाग्यवती स्त्रियों ने सर्वतोभद्र आदि की रचना से सुसज्जित वेदी पर कुल-परम्परा के अनुसार स्वर्णकलशों के जल से राजकुमारी को स्नान कराया।"[5] स्नान के पश्चात् जैसे "मङ्गलस्नान से विशुद्ध-शरीर पति के पास जाने योग्य वस्त्र पहने हुए पार्वती वर्षा के अनन्तर प्रफुल्लकाश-युक्त पृथ्वी के समान शोभित हुई"[6] उसी प्रकार "अभी स्नान करने के कारण आर्द्र तथा श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण शुभ्र-कान्ति दमयन्ती वर्षा और

---

१. सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे विधीनीति स्माह च निर्ययौ चसः॥ नै० १५।७

२. सन्तानकाकीर्णमहापथंतच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्गइवाबभासे॥ कु० ७।३

३. विभूषणैः कञ्चुकिताः बभुः प्रजाः विचित्रचित्रैः स्नपितत्विषो गृहाः।
बभूव तस्मिन्मणिकुट्टिमैः पुरे वपुः स्वनुर्व्यापरिवर्तितोपमम्॥ नै० १५।१५

४. विन्यस्तवैडूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयाम्बभूवुः॥ कु० ७।१०

५. उदस्य कुम्भीरथशातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम्॥ नै० १५।१९

६. सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेवरेजे॥ कु० ७।११

शरद दोनों की मनोरम सन्धि-वेला के समान सुशोभित थी।"[1] दमयन्ती का अलङ्कार-प्रसाधन भी प्रायः उसी प्रकार हुआ है जैसे पार्वती का। "पतिव्रताएँ पार्वती को पकड़ कर उस स्थान से मणिमय चार खम्भों वाले वितान-युक्त कौतुक वेदी के आसन पर ले गयीं।[2] वहां पार्वती को पूर्व-मुख बैठाकर स्त्रियों के नेत्र क्षण भर उसके सहज-सौन्दर्य से आकृष्ट हो गए।[3]"

इधर कुण्डिनपुर में "समस्त कलाओं में चिरकाल से अभ्यास करने के कारण अत्यन्त कुशल सखियों ने दमयन्ती को पवित्र वेदी पर ले जाकर क्षण भर में उसके प्रत्येक अङ्ग का शृङ्गार किया।[4] और अलङ्कारों से विभूषित दमयन्ती की वही शोभा हुई जो पार्वती की हुई थी। "जैसे फूलों के विकसित होने से लता, एक एक करके दिखायी पड़ने वाले तारों से रात्रि तथा किनारे पर एक एक कर के बैठने वाले विहङ्गों से नदी सुशोभित होती है, उसी प्रकार क्रमशः आभूषणों को धारण करने से पार्वती सुशोभित हो रही थीं।"[5] इधर "जैसे स्वयं पावन गङ्गा प्रयाग आदि तीर्थों के कारण और अधिक पावन हो गई हैं, जैसे सहज-राग (स्नेह) के पात्र (पुत्र-आदि) अपने गुणों के कारण और अधिक प्रिय हो जाते हैं तथा जैसे नीति पूर्व-संचित पुण्यों के कारण अधिक सफल होती है, उसी प्रकार दमयन्ती की वह परम शोभा उन आभूषणों से अतिशय बढ़ गयी थी।"[6] "पार्वती का कण्ठ स्तनों से वन्धुर (उन्नत) था, तथा मुक्तामाल स्तन-कंठ पर वर्तुलाकार पड़ी थी। अङ्ग तथा भूषण इस प्रकार परस्पर अन्योन्य-शोभा-विधायक थे।[7] इसी प्रकार "दमयन्ती के

---

१. असौमुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद्वफूलेनसितांशुनोज्ज्वला।
द्वयस्यवर्षाशरदां तदातनींसनाभितां साधु बबन्ध सन्ध्यया॥ नै० १५।२१

२. तस्मात्प्रदेशाच्चवितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन।
पतिव्रताभिः परिगृह्यनिन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम्॥ कु० ७।१२

३. तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः॥ कु० ७।१३

४. अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्याश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्मनिर्ममुः॥ नै० १५।२६

५. सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे॥ कु० ७।२१

६. विशेषतीर्थैरिवजह्नुनन्दिनी गुणैरिवाजानिकरागभूमिता।
जगामभाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैर्विभूषणैस्तत्सुषमा महार्घताम्॥ नै० १५।५४

७. कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभा जननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥ कु० १।४२

अङ्ग स्वयं अति रमणीय थे। तथा परस्पर एक अङ्ग का सौन्दर्य दूसरे अङ्ग को सुन्दर बना रहा था। अतः वे आभूषण, जिन्हें अलं (व्यर्थ) करण (पहिनना) कहा जाता है, उन अङ्गों का क्या सौन्दर्य बढ़ा सकते थे।"[1] और अन्त में जैसे "पार्वती से कार्यकुशल माता ने पूजित देवों को प्रणाम करवा कर क्रम से पतिव्रताओं का चरण स्पर्श करवाया"[2] उसी प्रकार "अलङ्कृत होकर लज्जा के भार से दबी हुई दमयन्ती ने गुरुजनों (माता-पिता), ब्राह्मणों और पतिव्रता स्त्रियों के चरणों में प्रणाम तथा उनके आशीर्वाद प्राप्त किए। प्रसन्न देवों ने उसे जो वरदान दिए थे वे आशीर्वाद भी उन्हीं के समान सत्य तथा सफल थे।"[3] इसके तुरन्त पश्चात् शिव और नल का भी विवाहोचित शृङ्गार समान ही हुआ। कुमार-सम्भव में "उसी समय ब्राह्मी आदि मातृकाओं ने कैलाश पर्वत पर शिव का पाणिग्रहण के अनुरूप संस्कार किया।[4] नैषध में इधर उसी प्रकार शृङ्गार-रचना में कुशल सेवकों ने उस समय अपने प्रभु महाराज नल का भी विवाहोचित शृङ्गार किया।[5] शिव ने अपने अलङ्कृत स्वरूप का प्रतिबिम्ब आसन्न-गणोपनीत खड्ग में देखा था,[6] और नल ने अलङ्कारस्थ मणियों में ही देख लिया।[7]

ईशान-सन्दर्शन की लालसा के वश होने वाली हिमालयपुर की सुन्दरियों की चेष्टाओं का कालिदास ने अति-मनोरम चित्रण किया है। "कोई सुन्दरी हाथ में

---

१. स्वयं तदङ्गेषु गतेषुचारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु।
किमूचिरेऽलङ्करणानि तानितद् वृथैव तेषां करणं बभूव यत्॥ नै० १५।४८

२. तामर्चितभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत् कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्॥ कु० ७।२७

३. अमोघभावेन सनाभितांगताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम्।
ततः प्रणम्याधिजगाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः॥ नै० १५।५६

४. तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम्।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात् पुरशासनस्य॥ कु० ७।३०

५. तथैव तत्कालमथानुजीविभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः।
निजस्यपाणिग्रहणक्षणोचिता कृतानलस्यापि विभोर्विभूषणा॥ नै० १५।५७

६. आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्त-प्रतिमंददर्श॥ कु० ७।३६

७. घने समस्तापयमावलम्बिनां विभूषणानां मणिमण्डलेनलः।
स्वरूपरेखामवलोक्य निष्फलीचकारसेवाचणदर्पणार्पणाम्॥ नै० १५।७०

केश पकड़े,[१] कोई पैर में गीला महावर लगाए,[२] कोई दाहिनी आँख में आँजन एवं वाई में विना आंजन लगाए हाथ में अञ्जन-शलाका लिए,[३] कोई वेग से चलने में छूटी हुई नीवी की गांठ हाथ में पकड़े हुए,[४] कोई सत्वर उठने के कारण रत्नों के गिर जाने से सूत्रमात्र-शेष रसना (करनी) धारण किए हुए खिड़की तक आई।[५] इसी के आधार पर श्रीहर्ष ने भी विदर्भपुर की अप्सरा-तुल्य ललनाओं का नल को देखने के लिए घरघर से समुत्सुक एवं समलंकृत हो राजमार्ग को सुशोभित करना चित्रित किया है।[६] कुण्डिनपुर की सुन्दरियों की चेष्टाएं भी उनकी नल रूप में तन्मयता का प्रमाण रहीं थीं। उनको भी उस समय किसी अन्य बात की सुध-बुध नहीं रह गई थी। एक-दो चित्र पर्याप्त होंगे—"कोई सुन्दरी नल को देखने में इतनी तल्लीन थी कि पवन के झोंके से आधे खुले अपने स्तनों को भी न जान सकी, और इस प्रकार नल की विवाह-यात्रा के लिए आगे खड़ी होकर मानों मङ्गल-कलश का उपहार दिखा रही थी।"[७] किसी सुन्दरी ने नल के देखने में एकाग्रनेत्र होने के कारण हाथ में लिए हुए पान को खाने के वदले मुख में अपना लीला कमल ही डाल लिया। मानों उसे यह क्रोध था कि मेरे मुखरूपी राजा के होते हुए यह कमल राजा क्यों वन रहा है?"[८] उन सुन्दरियों की आपस में बातें भी प्रायः उसी ढंग की

---

१. आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥ कु० ७।५७

२. प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्यकाचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥ कु० ७।५८

३. विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ कु० ७:५९

४. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न वबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेणहस्तेन तस्थाववलम्ब्यवासः॥ कु० ७।६०

५. अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रसना तदानीमंगुंष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥ कु० ७।६१

६. विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्यवीक्षितुं रसोदयादप्सरसस्तमुज्ज्वलम्।
गृहाद्गृहादेत्य धृतप्रसाधना व्यराजयन् राजपथानथाधिकम्॥ नै० १५।७३

७. अजानती कापि विलोकनोत्सुका समीरधूतार्धमपिस्तनांशुकम्।
कुचेन तस्मै चलतेऽकरोत्पुरः पुराङ्गनामङ्गलसुम्भसम्भृतिम्॥ नै० १५।७४

८. करस्थताम्बूलजिघत्सुरेकिका विलोकनैकाग्रविलोचनोत्पला।
मुखे निचिक्षेप मुखद्विराजता-रुषेव लीलाकमलं विलासिनी॥ नै० १५।७७

हो रही थीं जैसी ओषधिप्रस्थ की रमणियों की शंकर को देख कर हुई थी—जैसे "अत्यंत कोमल पार्वती ने ऐसे वर के लिए जो इतनी घोर तपस्या की वह उचित ही थी। इनकी तो जो दासी भी बन पाए वह अपने को कृतार्थ समझेगी, फिर इनकी गोद में बैठने वाली के सौभाग्य को क्या कहना"[1]। उसी प्रकार यहाँ "इस सुन्दर युवक की प्राप्ति के लिए दमयन्ती ने जो देवराज इन्द्र की भी याचना को ठुकरा दिया यह उस गुण-ग्राहिणी ने उचित ही किया।"[2]

विवाह-संस्कार की विधियों का वर्णन भी कुमारसम्भव के ही ढंग का हुआ है। जो कहीं कुछ मतभेद है उसके कई कारण हैं। एक तो कवि अन्धानुकरण नहीं कर सकता, दूसरे कालिदास और श्रीहर्ष में कालकृत व्यवधान भी तो अति दीर्घ है। इस बीच न जाने कितने सामाजिक परिवर्तन हुए होंगे। फिर, संकोच-विस्तार भी कवि अपने अपने ढंग का करते हैं। फिर भी कुछ विशेष विधियों का तो उभयत्र समान ही उल्लेख हुआ है—जैसे लाजमोक्ष (लाजाहोम), अग्निपरिक्रमा, ध्रुवदर्शन, पाणिग्रहण आदि। उदाहरणार्थ, ध्रुवदर्शन के विषय में "सुन्दर सनातन पति ने पार्वती को ध्रुवदर्शन के लिए प्रेरित किया"[3]। तथा "इसके बाद भौंहें उठाकर देखते हुए नल ने ध्रुव की ओर संकेत कर के दमयन्ती को देखने को कहा।"[4]

कुमारसम्भव का अष्टम सर्ग—जैसा पहले कहा जा चुका है—नैषध के अन्तिम पांच सर्गों की रचना-शैली का आदर्श एवं आधार है। इस एक सर्ग में कालिदास ने शिव-पार्वती की रतिक्रीड़ा, सूर्यास्तमय, सन्ध्या, अन्धकार, चन्द्रोदय, चन्द्र तथा चन्द्रिका आदि का वर्णन कर दिया है। कालिदास अपनी कल्पना-प्रौढ़ता को दिखाने के लिए कहीं प्रयत्न नहीं करते। उनकी अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत का रूप-सौन्दर्य और भी निखर उठता है। किसी वस्तु के वर्णन में उनकी कल्पना वहीं तक अपना प्रसार दिखाती है जहां तक उसे हृदय का सहयोग प्राप्त होता है। अतएव उनके भाव अत्यन्त हृदयस्पर्शी लगते हैं तथा उनकी शैली अत्यन्त मनोरम। वे एक बात को अनेक ढंग से नहीं कहते। (गङ्गा-यमुना सङ्गम—वर्णन के अतिरिक्त उन्होंने कहीं एक बात को दो ढंग से नहीं कही है) उन्हें न अपनी काव्य-शक्ति दिखाने की

---

१. स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापितप्तम्।
याऽदास्यमप्यस्यलभेतनारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम्॥ कु० ६।७५

२. अर्थी सर्वसुपर्वणां पतिरसावेतस्ययूनः कृते,
पर्यन्याजिविदर्भराजसुतया युक्तं विशेषज्ञया॥ नै० १५।८४

३. ध्रुवेण भर्त्राध्रुवदर्शनायप्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन। कु० ७।८५

४. ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्यपत्यामिदधे विदर्भजा। नै० १६।३८

अपेक्षा थी न पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा। उनकी एक उक्ति वस्तु का सुन्दरतम स्वरूप सहृदयों के हृदय-तल तक पहुंचने के लिए पर्याप्त थी। इन्हीं कारणों से वे संक्षेप में बहुत कह डालते थे। श्रीहर्ष के समय तक कविता करने के आदर्श तथा उद्देश्य में बहुत परिवर्तन हो चुके थे। काव्य में कल्पना-प्रौढ़ता एवं शास्त्रज्ञता की झलक दिखाने के लिए कवि की वाणी छटपटाने लगती थी। एक वस्तु का वर्णन अनेक ढंग से किया जाता, और हर बार कोई न कोई नई बात कहने का प्रयत्न होता। नैषध के अन्तिम पांच सर्गों की रचना की यही प्रवृत्ति मूल कारण है।

श्रीहर्ष ने दो स्थानों पर शिव-विवाह का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिससे यह और भी प्रमाणित हो जाता है कि नैषध में इन प्रसङ्गों का वर्णन करते समय कुमार-सम्भव का कथानक पूर्णतया उनके ध्यान में था। प्रथम उल्लेख नल-दमयन्ती की रति-क्रीड़ा के समय हुआ है—"गौरी के समान सुन्दरी प्रिया स्वयं भी पंखा चलाना आदि यदि कुछ करना चाहती तो संकेतज्ञ नल उसकी झिझक हटाने के लिए उसी कार्य के लिए दमयन्ती से स्वयं भी कहते। पर मुग्धा अधिक लज्जित हो जाती और अपनी भी इच्छा को दबाकर स्वामी की आज्ञा का उल्लङ्घन कर देती।"[१] और दूसरा सन्ध्या-वर्णन के प्रसङ्ग में "पार्वती-विवाह के अवसर पर पुष्प-सिन्दूरिका के समय शिव ने इसी सन्ध्यारुण पश्चिम-दिग्भाग को वस्त्र के रूप में धारण किया था —दिगम्बर जो ठहरे[२]— तथा सती और पार्वती के विवाहों में पुष्पसिन्दूरिका के समय शिव ने क्रम से प्रभारुणा प्राची तथा सन्ध्यारुणा प्रतीची दिशाओं को अपना अम्बर बनाया था।[३]

कालिदास ने शिव-पार्वती-विवाह के पश्चात् रतिक्रीड़ा के प्रसङ्ग में उद्दीपन रूप में सन्ध्या, रजनी, चन्द्रिका आदि का वर्णन किया है। ठीक इसी भांति श्रीहर्ष ने भी नल-दमयन्ती के विवाह के पश्चात् उनकी रति-क्रीड़ा के प्रसङ्ग में ही प्रकृति के इन मनोरम क्षणों का चित्रण किया है। रतिक्रीड़ा-वर्णन में श्रीहर्ष ने साधारण अनुभूति के साथ कामशास्त्र का भी अधिक आश्रय लिया है। अतः नैषध के वर्णन में विस्तार हो गया है। फिर श्रीहर्ष की कल्पना का भी पूर्ण हस्तक्षेप हुआ है।

---

१. आत्मनापिहरदारसुन्दरी यत्किमप्यभिललाष चेष्टितुम्।
स्वामिना यदि तदर्थमर्थिता मुद्रितस्तदनयातदुद्यमः॥ नै० १८।३७

२. सन्ध्यासरागः ककुभोविभागः शिवाविवाहेविभुनायमेव।
दिग्वाससा पूर्वमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि। नै० २२।१०

३. सतीमुमामुद्वहताच पुष्पसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे।
दिशो द्विसंवीमभिरागशोभे दिग्वाससो किमलम्भिषाताम्॥ नै० २२।११

तथापि दोनों काव्यों के वर्णन में कहीं-कहीं समता आ ही गयी है। सब से बड़ी समता तो कुमारसंभव के अष्टम तथा नैषध के अष्टादश सर्गों में प्रयुक्त छन्दों की ही है, और समान भाव वाले श्लोकों का इतना बाहुल्य है कि हम उसे आकस्मिक किसी प्रकार नहीं कह सकते, अपितु श्रीहर्ष द्वारा कुमारसम्भव से लिया हुआ ही मानते हैं।[१]

---

१. प्रथम समागम के समय जिस प्रकार मुग्धा पार्वती कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देती, वस्त्र छूने पर बाहर चली जाना चाहती है, शय्या पर मुंह फेर कर लेटती, किन्तु फिर भी शिव के लिए वह प्रतिवर्द्धक थी।

व्याहृता प्रतिवचो न संदधेगन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥ कु० ८।२

उसी प्रकार मुग्धा दमयन्ती पहिले तो 'क्या होगा' इस भय के मारे पति के शयन-कक्ष में ही नहीं आती थी, फिर किसी प्रकार सखियों द्वारा पहुंचाई गयी तो शय्या पर ही नहीं बैठती थी, फिर नल ने किसी प्रकार बैठाया तो साथ में लेटती ही नहीं थी और जब किसी प्रकार प्रिय ने साथ में लिटाया तो सामने मुंह ही नहीं करती थी। पाटी पकड़े मुंह दूसरी ओर किए ही पड़ी रही।

वेश्मपत्युरविशत्नसाध्वसाद्वेशितापिशयनं न साऽभजत्।
भाजिताऽपि सविधंनसास्वपत् स्वापिताऽपि न च समुखाभवत्॥
नै० १८।३५

फिर जैसे नाभि-स्थान पर पड़े शंकर के हाथ को पार्वती ने (सात्विकोदय में) कांपते हुए रोका, किंतु तब तक नीवी-बन्धन स्वयं ढीला हो गया,

नाभिदेशनिहितः सकम्पया शङ्करस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम्॥ कु० ८।४

वैसे ही सुन्दरी निद्रा में मग्न पड़ी है, प्रिय ने यही समय उचित समझा और हाथ नीवी पर पहुंचाया। पर नीवी के स्पर्श मात्र से उसमें इतना सात्त्विक भाव उदय हुआ कि हाथ कांपने लगा। उस कम्पन से प्रिया जाग उठी और बेचारा हाथ उस स्थान से हटा दिया गया।

नीविसीम्निनिहितं स निद्रया सुभ्रुवो निशि निषिद्धसंविदः।
कम्पितं शयमपास यन्नयं वोलनैर्जनितबोधयाऽन्यया॥ नै० १८।४६

सूर्यास्त के पश्चात् सायंतनविधि करने के लिए जिस प्रकार शिव शिवा से

तथा--

न स्थली न जलधिर्नकाननं नाद्रिभूर्नविषयो न विष्टपम्।
क्रीडिता न सह यत्र तेन सा साविवैव न यया यया न वा॥ नै० १८।८४

(न कोई ऐसा सुन्दर स्थल बचा, न कोई ऐसा सागर छूटा, न कोई ऐसा वन या पर्वत-प्रदेश रहा, न कोई ऐसा रम्य देश बचा और न ऐसी कोई विधि बची जहां और जैसे दमयन्ती नें प्रिय के साथ रमण न किया हो। सब जगह और सब प्रकार से रमण किया)--कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग के बाईस से अट्ठाइसवें श्लोकों के आधार पर बना समझ पड़ता है, जिनमें सुमेरु, मन्दर, कैलाश, मलय, नदी, नन्दन तथा गन्धमादन पर शिव-पार्वती के विहार-सुख का वर्णन किया गया है।

रति-क्रीड़ा के समय पार्वती तथा दमयन्ती की व्रीड़ा-मुद्राएं तथा चेष्टाएं एक ही ढंग की देखने को मिलती हैं--जैसे, वस्त्र हटानें पर पार्वती अपनें दोनों हाथों से शंकर के दोनों नेत्र बन्द कर देतीं, किन्तु उनका ललाटस्थ तृतीय नेत्र सब देखता ही रहता, मुग्धा का सारा प्रयत्न व्यर्थ जाता।

शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुद्धनयनेंहृतांशुका।
तस्य पश्यतिललाटलोचनें मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत्॥ कु० ८।७।

वैसे ही, "'प्रिया खड़ी है' प्रिय नें उसका वस्त्र खींचा, सुन्दरी अपनें खुले अङ्गों को संभालती हुई झुक जाती है और मुंह से दीपक बुझा देती है, पर मुकुट-मणि से चारों ओर प्रकाश बना ही है--सुन्दरी बड़े आश्चर्य और परेशानी में पड़ती है।"

नम्रयांशुकविकर्षिणिप्रिये वक्त्रवातहत-दीप्तदीपया।
भर्तृमौलिमणिदीपितास्तथा विस्मयेंनककुभो निभालिताः॥नै० १८।८५

मेघदूत के वक्ष्यमाण श्लोकों से तो नैषध के इस पूर्वोक्त श्लोक का भाव-साम्य और भी अधिक है--

नीवी-बन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां।
क्षौमं रागादनिभृतकरेंष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु॥
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्।
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ उत्तरमेघ ५

अनुज्ञा लेकर जाते हैं—"प्रियवादिनि ! तो तुम मुझे उपस्थित नियमों को पूरा करने

"जहां रति-राग से शिथिल नीवी-बन्धन पर प्रिय के हाथ पड़ने पर लज्जा विमूढ़ सुन्दरियां रत्न-दीपकों को धूल फेंक कर बुझाने का विफल प्रयत्न करती हैं।"

फिर धीरे-धीरे झिझक दूर होने पर पार्वती तथा दमयन्ती दोनों का प्रायः एक ही प्रकार का चित्र अङ्कित दिखाई पड़ता है। जैसे, "पार्वती प्रिय का गाढ़ आलिङ्गन करतीं, चुम्बन के समय मुंह न हटातीं तथा मेखला पर पड़े प्रिय के हाथ को धीरे-धीरे रोकतीं।"

सस्वजेप्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमेनन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्यशिथिलं रुरोधसा॥ कु० ८।१४

उसी प्रकार, "प्रिया ने प्रिय के चुम्बन करते समय जो अपना मुंह न हटाया उससे पति का हृदय अमृत से तृप्त हो गया, और स्तन आदि से जो हाथ न हटाया उससे क्या संतोष नहीं मिला?"

चुम्बितं न मुखमाचकर्षयत्पत्युरन्तरमृतं ववर्षतत्।
सा नुनोद न भुजं तदर्पितं तेन तस्य किमभून्नतर्पितम्॥ नै० १८।७०

तथा "प्रथम सम्भोग के समय दमयन्ती ने नीवी पर पड़े हाथों को बल से रोका था, फिर बाद में शिथिल हाथों से रोकती और धीरे-धीरे वह दशा आ गयी कि प्रिय के नीवी खोलते समय केवल शब्दों से 'न न' कर देती।"

नीविसीम्निनिविडं पुरारुणत्पाणिनाऽथशिथिलेन तत्करम्।
साक्रमेण न न नैतिवादिनीविघ्नमाचरदमुष्य केवलम्॥ नै० १८।७८

रति-क्रीड़ा में दन्तक्षत की वेदना उभयत्र प्रायः एकसमान है। जैसे शंकर द्वारा चुम्बन में अधरों को काटने पर वेदना-वश हाथ हिलाती हुई पार्वती उनके चन्द्रकला की शीतलता से उस अधर-वेदना को शान्त करती।

दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः॥ कु० ८।१८

उसी प्रकार "सुख-वेला में भगवान् कामदेव की आज्ञाओं की पूर्ति के सुख में अधर में किए गए प्रिय के दन्तक्षत की वेदना का सुन्दरी को कोई अनुभव ही नहीं हुआ था, पर अब उस पीड़ा का अनुभव होने लगा, बड़े धीरे से उंगलियों

के लिए अनुज्ञा दो। तब तक परिहास-कुशल सखियां तुम्हारा मनोविनोद करेंगी।"[१] उसी प्रकार नल भी प्राभातिक एवं सान्ध्य विधियों के अनुष्ठान के लिए दमयन्ती से अनुज्ञा लेते हैं—प्रिय ने समीप आकर कहा "सुन्दरि! यदि तुम्हारे चित्त में कोई खिन्नता न हो, क्योंकि उस समय तुम्हारा आलिङ्गन न हो सकेगा—तो मैं अग्निहोत्र आदि शेष दैनिक विधियां भी पूरी कर आऊं"[२] तथा "तो प्रिये, कुछ देर तुम सखियों के साथ आनन्द से आंख-मिचौनी खेलो।" इस प्रकार नल दमयन्ती के चित्त में सखियों के साथ क्रीड़ा करने की उत्सुकता उत्पन्न कर स्वयं सायं-सन्ध्या की "उपासना के लिए बाहर चले आए।"[३] "शिव के क्षण-वियोग से भी खिन्ना एवं उन्मना होकर जिस प्रकार ओठों को विचकाकर पति की उपेक्षा करती हुई पार्वती अपने समीपस्थ सखी विजया से कुछ यों ही बातें करने लगीं।"[४] उसी प्रकार "अपमानित-सी होकर दमयन्ती नल के पास से अपनी कमलमुखी सखी के पास गयी, जैसे दिनमें सुषमा कुमुदों के क्षेत्र से निकल कर कमल वनों में चली जाती है।"[५] फिर सन्ध्या-विधि समाप्त कर जैसे शिव ने पार्वती के मान को भङ्ग करने के लिए अनुनय किया, "हे अकारण कोप करने वाली, अपना क्रोध छोड़ो, मैं संध्यावश चला गया था, और किसी कारण से नहीं। क्या तुम चक्रवाक के समान वृत्तिवाले

से उस क्षत को छुआ 'सी' कर उठी।"

सूननायकनिवेशविभ्रमैरप्रतीतचरवेदनोदयम्।
दन्तदंशमधरेऽधिकामुका सास्पृशन्मृदु चमच्चकार च॥ नै० १८।१२९

१. तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसिप्रस्तुताय नियमाय मामपि।
त्वांविनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति॥ कु० ८।४८

२. प्रेयसावादि सा तन्वि त्वदालिङ्गनविघ्नकृत्।
समाप्यतां विधिः शेषः क्लेशश्चेतसि चेन्नते॥ नै० २०।६

३. तदानन्दायत्वत्परिहसतिकन्दायभवती,
निजालीनां लीनां स्थितिमिह मुहूर्तंमृगयताम्।
इतिव्याजात्कृत्वालिषुचलितचित्तां सहचरीं,
स्वयंसोयंसायंतनविधिविधित्सुर्बहिरभूत्॥ नै० २१।१६२

४. निर्विभुज्यदशनच्छदंततो वाचिभर्तुरवधीरणपरा।
शैलराजतनया समीपगामाललापविजयामहेतुकम्॥ कु० ८।४९

५. सावज्ञेवाथ सा राज्ञः सखींपद्ममुखीमगात्।
लक्ष्मीः कुमुदकेदारादारादम्भोजिनीमिव॥ नै० २०।९

मुझको अपना सहधर्मचारी नहीं जानतीं ?"[1] उसी प्रकार प्राभातिक विधिसमाप्त कर नल ने दमयन्ती से मान त्यागने के लिए अनुनय किया। नल ने प्रिया से कहा "प्रिये ! तुम्हारा यह कोप उचित नहीं, क्योंकि जिस तप के प्रसाद से मैं तुम्हें पा सका, तुम्हीं बताओ, मैं उस तप का आदर न करूं ? पूजा करने न जाऊं ?"[2] कभी-कभी पार्वती अपनी सखियों से बात करती रहतीं और शिव पीछे से छिपकर सारी बातें सुन लेते।[3] नल भी देव-वरदान से गुप्तरूप में दमयन्ती की सखियों के साथ की गयी बातें सुनते और फिर हंसते हुए प्रकट हो जाते।[4]

अभिज्ञान शाकुन्तल

यद्यपि नैषध एक पद्यात्मक श्रव्य-काव्य है अतः पूर्ववर्ती श्रव्यकाव्यों की शैली का ही प्रभाव इस पर पड़ना चाहिए। किन्तु, रस एवं कहीं-कहीं कथांश की समानता होने के कारण, कई पूर्ववर्ती दृश्य एवं गद्यकाव्यगत अंशों के समानार्थक भी श्लोक नैषध में मिलते हैं। यहां कालिदास-कृत ग्रन्थों के विवेचन के प्रसङ्ग में उनके शाकुन्तल का भी प्रभाव देख लेना उचित ही होगा। इस दृष्टि से अन्य कवि-ग्रन्थों का विवेचन यथावसर करेंगे। शाकुन्तल का प्रधान रस शृङ्गार है। शृङ्गार के संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों पक्षों का चारुतम निरूपण इसमें हुआ है। नैषध का भी शृङ्गार रस ही (अपने दोनों पक्षों के साथ) आत्मा है। इस नाते शाकुन्तल की संयोग-वियोग दशा की कुछ उक्तियों के भाव दूसरे शब्दों में हमें नैषध में देखने को मिल ही जाते हैं। इसे हम संभवतः शाकुन्तल का नैषध पर कोई प्रभाव नहीं भी कह सकते, क्योंकि जो भी सहृदय कवि जहां कहीं भी शृङ्गार के संयोग-वियोग की बात कहेगा वहां उस प्रकार की उक्ति का होना स्वाभाविक है। किन्तु उनके साम्याधिक्य को देखकर हठात् मुंह से निकल पड़ता है कि शाकुन्तल के भी इन स्थलों से श्रीहर्ष ने अवश्य भाव-ग्रहण किया होगा। उदाहरणार्थ कुछ स्थल उद्धृत किए जाते हैं—मित्र विदूषक से शकुन्तला के अनुच्छिष्ट लोकोत्तर रूप का वर्णन

---

१. मुञ्चकोपमनिमित्तकोपने सन्ध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया।
   किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः॥ कु० ८।५१

२. सावादि सुतनुस्तेन कोपस्तेनायमौचिती।
   त्वां प्रापं यत्प्रसादेन प्रिये तन्नाद्रियते तपः॥ नै० २०।१४

३. त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः॥ कु० ८।५९

४. तां मिथोऽभिदधतीं सखीं प्रियस्यात्मनश्च स निशावचेष्टितम्।
   पार्श्वगः सुखरात्पिधां दधत् दृश्यतां श्रुतकथो हसन्गतः॥ नै० १८।६८

करते हुए दुष्यन्त अन्त में कहते हैं—"पता नहीं विधाता किसको इसका भोक्ता बनाकर समुपस्थित करेंगे?"[1] इसी प्रकार स्वर्ग-सुन्दरियों से भी चारुतर रूप को देखकर हंस के मन में विकल्प उठता है "तब मैंने सोचा कि आखिर ब्रह्मा ने इस त्रैलोक्य-सुन्दरी के लिए किसे पति निश्चित किया है?"[2]

शकुन्तला-प्रेम में विकल दुष्यन्त चन्द्र और मदन दोनों को उपालम्भ देते हैं—"मदन! तुम्हारे फूल के बाण और चन्द्र! तुम्हारी शीतल किरणें ये दोनों हम-ऐसे व्यक्तियों के लिए असत्य ही हैं, क्योंकि चन्द्र अपनी शीतल किरणों से अग्नि बरसाता है और तुम (मदन) अपने फूल के बाणों को वज्र के समान कर लिए हो।"[3] दमयन्ती के पूर्व-राग से जनित वेदना से आकुल नल हंस से अपनी अधीरता बतलाते हुए कुछ इसी प्रकार कहते हैं—"क्यों हंस, यह चन्द्रमा जो प्रत्येक महीने में (अमावस्या के दिन) सूर्य के साथ मिलता है, तो क्या सूर्य से मेरे धैर्य को हरने वाली तीक्ष्ण किरणें लेकर मुझी को जलाने आता है?"[4] "मदन-बाण यदि फूल के हैं तो निश्चित ही वे विष-लता से उत्पन्न होने वाले फूलों के हैं, क्योंकि इन बाणों ने मेरे हृदय को विमूर्च्छित तथा अत्यन्त तृप्त कर दिया है।"[5]

इस प्रकार शाकुन्तल एवं नैषध में संयोगावस्था की कई उक्तियों में भाव-साम्य दृष्टिगोचर होता है। किन्तु वे इतने साधारण अनुभव की हैं कि यहां अनुक्त रूप में उनका विवेचन-विस्तार उचित नहीं समझ पड़ता है।

भारवि

भारवि के किरातार्जुनीय का कथानक तथा रस दोनों नैषध से भिन्न पड़ते हैं। नैषध में किरात के भावों तक की झलक नहीं मिलती। किरात-नैषध का भावसाम्य

---

१. न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ शा० २।१०

२. कतमस्तु विधातुराशयेपतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम्॥ नै० २।४१

३. तवकुसुमशरत्वंशीतरश्मित्वमिन्दो

द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।

विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-

स्त्वमपि कुसुमबाणान् बज्रसारी करोषि॥ शा० ३।३

४. प्रतिमासमसौनिशापतिः खग! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम्।

किमुतीव्रतरैस्ततःकरैर्ममदाहाय स धैर्यतस्करैः॥ नै० २।५८

५. कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानितत्।

हृदयं यदमूमुहन्नमूर्ममयच्चातितरामतीतपन्॥ नै० २।५९

एकाध स्थलों में देखा (पाया) जा सकता है, किन्तु वह भी सर्वथा यादृच्छिक ही कहा जायगा। सन्ध्या के समय चक्रवाक-मिथुनों के वलात् वियुक्त हो जाने पर भारवि की उक्ति है—"अपनी भार्या के साथ वियोग न चाहते हुए भी चक्रवाकों के जोड़े रात में वियुक्त हो जाते हैं, वास्तव में देव-विधान का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता है।[1] श्रीहर्ष ने भी दमयन्ती से कुछ कुछ इसी भाव की उक्ति कहलवाई है—"चक्रवाक दिन में खान-पान आदि सारे कार्य ज्ञानपूर्वक करते रहते हैं, किन्तु सन्ध्या होते ही अपने आप विछुड़ जाते हैं—तो प्राणी सारे कार्य दैवाधीन ही हो कर करता है। इस वात के लिए ये पक्षी प्रत्यक्ष प्रमाण होंगे?"[2]

माघ

ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से संस्कृत-काव्य-रचना पर सव से अधिक प्रभाव माघ का पड़ा। काव्य-रचना की अपूर्व प्रतिभा तथा विभिन्न शास्त्रों के अगाध पाण्डित्य के साथ माघ यदि किरात का इतनी स्पर्धा के साथ अनुकरण न करते तो सम्भवतः उनकी कविता और भी उच्च कोटि की होती। इस अन्धानुकरण ने माघ की मौलिक शक्ति को ही वहुत कुछ कुण्ठित कर दिया। फलतः उन्हें किरात के ढंग की, पर उससे भी श्रेष्ठ, रचना प्रस्तुत करने के लिए वड़ा श्रम करना पड़ा। काव्य-सौन्दर्य से अधिक पाण्डित्य-प्रदर्शन का आश्रय लेना पड़ा, क्योंकि केवल काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से तो किरात स्वयं प्रथम कोटि की रचना था। हां, पाण्डित्य-प्रदर्शन वाली प्रथा का भारवि ने केवल रास्ता भर दिखाया था, उधर विशेष-प्रौढ़ि-प्रदर्शन के लिए उनका उतना आग्रह नहीं हुआ था। यद्यपि चित्रवन्धों की सीमा तक वे पहुंच गए थे, किन्तु उनकी अधिकांश रचना में काव्य का सच्चा माधुर्य अक्षुण्ण वना है। अतः माघ ने भारवि को नीचा दिखाने के लिए इसी एक उपाय का आश्रय लिया। उन्होंने हृदय से अधिक बुद्धि का सहारा लिया, फलतः शिशुपालवध एक पाण्डित्यपूर्ण कठिन काव्य वन गया, जिसमें काव्य-सौन्दर्य की अपेक्षा शास्त्र-वैभव अधिक मात्रा में गोचर होने लगा। इसका प्रभाव परवर्ती कवियों पर अच्छा न पड़ा। उनके सामने शिशुपाल-वध काव्य का माप-दण्ड वन गया। प्रत्येक महाकवि माघ को ही दृष्टि में रखकर उन्हीं की वताई पद्धति पर चलने

---

१. इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनी-विरहिणां विहगानाम्।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः॥ कि० ९।१३

२. अपि विरहमनिष्टमाचरन्तावधिगमपूर्वकपूर्वसर्वचेष्टौ।
इदमहह निदर्शनं विहंगौविधिवशचेतनचेष्टनानुमाने॥ नै० २१।१४७

लगा। अतः नैषध में भी कहीं कहीं माघ की झलक का मिल जाना कोई आश्चर्य नहीं। वैसे तो माघ में मुख्य रस वीर है तथा उसका कथानक घटना-प्रधान है—नैषध से उसकी इन दोनों विषयों (अंशों) में विभिन्नता है। किन्तु कुछ प्रसङ्गों में माघ नैषध के साथ दृष्टिगोचर होता है। माघ के पूर्व इन प्रसङ्गों का ऐसा वर्णन किसी अन्य कवि ने प्रस्तुत नहीं किया है, अतः नैषध के इन स्थलों में माघ का ही प्रभाव समझ पड़ता है।

द्वारका-वर्णन करते हुए माघ ने उसमें समुद्र-प्रतिविम्वित स्वर्गपुरी की उत्प्रेक्षा की है। "वह द्वारकापुरी दर्पण-तल की भांति स्वच्छ समुद्र के जल में मानों स्वर्ग की छाया-सी दिखाई पड़ रही थी।"[1] कुण्डिनपुर के वर्णन में श्रीहर्ष ने भी इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा की है। "वह पुरी किसी जलाशय में प्रतिविम्वित सुरनगरी के समान सुशोभित हो रही थी। उसके चारों ओर जलपूर्ण परिखा उस जलाशय के उस भाग के समान थी, जो प्रतिविम्व के वाहर वढ़ा हुआ हो।"[2] "चांदनी रातों में चन्द्रिका-धवल स्फटिक-विनिर्मित अट्टालिकाओं पर चढ़ी हुई द्वारका की सुन्दरियां भी देवाङ्गनाओं की भांति सुशोभित होती हैं।"[3] "इसी प्रकार कुण्डनपुर की भी सुन्दरी गगनचुम्वी सौध-शिखर से अपने प्राणेश्वर के क्रीड़ागृह में जाती हुई साक्षात् अप्सरा ही प्रतीत होती हैं।"[4] "द्वारकापुरी में चन्द्रकान्त-मणि की वनी अट्टालिकायें जो इतनी ऊंची हैं कि मेघ उनके अधोभाग में रहते हैं, रात्रि में चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से जल-धाराएं वहाया करती हैं।"[5] कुण्डिनपुर में भी भवन की उच्च अट्टालिकाओं की चन्द्रकान्त मणियों से प्रति-चन्द्रोदय के समय इतना जलस्राव होता है कि आकाश गङ्गा (चन्द्रोदय के समय अपने पति सागर की भांति वढ़कर) अपने

---

१. अदृश्यतादर्शतलामलेषुच्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु। मा० ३।३५

२. विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुवम्वितेव या।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत् प्रतिबिम्वानवलम्बिताम्बुनि।। नै० ७९

३. स्फुरत्तुशारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुता स्फाटिक सौधपङ्क्तीः।
आरुह्यनार्यः क्षणदासुयत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन्।। या० ३।४३

४. स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यप्रहायोत्सुकं-
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्यत्कामिनी।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमानएवाभवद्-
यत्र प्रापनिमेषमभ्रतरसायान्ती रसादध्वनि।। नै० २।१०४

५. कान्तेन्दुकान्तोत्पलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र।
उच्चैरधः पातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः।। मा० ३।४४

पातिव्रत धर्म को नहीं छोड़ती–(स्वयं भी पति सहधर्मचारिणी बनती हैं[1])। यादव-रमणियों का शरीर-सौन्दर्य वर्णन करते समय माघ ने एकावली अलङ्कार का सुन्दर प्रदर्शन किया है। "उन यादव-रमणियों के शरीर को सुन्दरता ने अलंकृत किया, उस सुन्दरता को यौवन के आगम ने, उस यौवन के आगम को कामदेव के विलास ने और उस कामविलास को प्रिय-संगम के हर्ष ने अलङ्कृत किया।"[2] श्रीहर्ष ने भी दमयन्ती की चारुता के वर्णन में एक स्थान पर ऐसे ही भाव व्यक्त किए हैं। "पहिले तो ब्रह्मा ने ही इसे लोकोत्तर बनाया, फिर यौवन ने इसे और ऊपर पहुंचाया और अन्त में मदन ने विभ्रम-कलाओं को पढ़ाकर तो अवर्णनीय ही बना डाला।"[3] "राजसूय समाप्त होने पर महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर कि समागत राजमण्डल में प्रथम अर्घ्य किसे दिया जाय, पितामह भीष्म ने "भूमि-देवों तथा नरदेवों में सर्वश्रेष्ठ गुणशाली असुर-विनाशक भगवान् श्रीकृष्ण को ही प्रथम पूजा का एकमात्र अधिकारी बताया।"[4] और भगवान् श्रीकृष्ण का प्रायः २७ श्लोकों में स्तुतिपरक ऐश्वर्य गान किया। उसी प्रसङ्ग में विष्णु के कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, (अमृत वितरण-कालिक) मोहिनी, दत्तात्रेय, परशुराम, राम तथा कृष्ण अवतारों की महिमा भी सुनाई। नैषध में भी राजा नल मध्याह्न अर्चना के प्रसङ्ग में विष्णु के मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि इन दस प्रधान अवतारों की स्तुति गाते हैं, साथ ही दत्तात्रेय अवतार की भी स्तुति करते हैं। इस स्तुति-प्रसंग को नल की दिनचर्या में इतने विस्तार के साथ रखने में श्रीहर्ष बहुत कुछ माघ से प्रभावित समझ पड़ते हैं। माघ परम-वैष्णव कवि थे। भारवि का अन्धानुकरण करते समय भी उन्होंने अपने काव्य का नायक श्रीकृष्ण को ही रक्खा, शिव को नहीं। अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य ही उन्होंने "लक्ष्मीपति का चरित-कीर्तन मात्र बताया है।"[5] उनका भक्त-हृदय

---

१. यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया॥ नै० २।८९

२. चारुतावपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तंपुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसंगमभूषः॥ मा० १०।३३

३. सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत्तस्यापि नीतोपरियौवनेन।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्यपथपारमेव॥ नै० ७।१०८

४ अत्र चैष सकलेऽपि भाति मांप्रत्यशेष गुणबन्धुरर्हति।
भूमिदेवनरदेवसङ्गमे पूर्वदेवरिपुरर्हणां हरिः॥ मा० १४।५८

५. लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु। मा० २०।८४।

कृष्ण-स्तुति गाए बिना बेचैन-सा हो रहा था। वे मानों कोई ऐसा अवसर खोज रहे थे जब भर पेट कृष्ण की भगवत्ता का गान करते। अब तक तो वे प्रबन्ध-निर्वाह में लगे-से थे। अतः चतुर्दश सर्ग से भीष्म-मुखेन उन्होंने बड़े संयत शब्दों में कृष्ण के पूर्व अवतारों का स्मरण कर लिया। इससे अधिक के लिए प्रबन्ध में अवकाश ही नहीं था। यद्यपि इस प्रसंग में भी माघ को किरात में अर्जुन-कृत शिव स्तुति से (किरात १८ सर्ग) प्रेरणा अवश्य मिली, किन्तु इससे यहां उनकी मौलिकता का विघात किसी प्रकार नहीं होता।

श्रीहर्ष तो भक्त ही नहीं समाधि-सिद्ध योगी भी थे।[1] नैषध के एकविंश सर्ग की योजना का भी उनका एकमात्र देवस्तुति गान ही उद्देश्य समझ पड़ता है। अपूर्व प्रतिभा एवं लोकोत्तर कल्पना के साथ श्रीहर्ष ने इस स्तुति-पाठ के लिए ऐसा प्रसंग चुना जिसमें वे अबाधगति से अपने भावोद्रेक को जितना चाहते थे और जैसा चाहते थे, उतना और वैसा व्यक्त कर सके। पर इन्हें प्रेरणा माघ-काव्य से ही प्राप्त हुई।

श्रीहर्ष को माघ से जो सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रेरणा मिली थी वह थी श्लिष्टार्थ-रचना-पद्धति की, जिसके लिए नैषध का त्रयोदश सर्ग तथा सप्तदश सर्ग (श्लोक १५४ से १५७ तक) प्रसिद्ध हैं। श्लेष अलंकार संस्कृत कवियों को प्राचीन काल से प्रिय रहा। गद्यकाव्य रचयिता सुबन्धु, बाण, दण्डी आदि ने श्लेष रचना का अदभुत कौतुक दिखाया है। भारवि ने भी उसका पर्याप्त प्रयोग किया। पर माघ ने तो उसे प्रसंगों में अविच्छिन्न रूप से कई श्लोकों में प्रदर्शित किया, दूसरे शब्दों में उन्होंने दो प्रसंग श्लेष-प्रौढ़ि-प्रदर्शन के लिए ही कल्पित किए। कृष्ण-पूजन से क्रुद्ध हो शिशुपाल ने कृष्ण के प्रति जो अनर्गल दुर्वाद किए उनमें इतनी भर्त्सना तथा कटुता थी कि महाभारत[2] का वह अंश एक भावुक हृदय को कभी प्रिय न लगता और माघ ऐसे कृष्णभक्त के लिए वह कैसे सह्य था। अतः इन्होंने श्लेष का सहारा लेकर उन श्लोकों में[3] द्वितीय अर्थ की सम्भावना रख छोड़ी। यद्यपि प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ उन श्लोकों को प्रक्षिप्त मानते हैं अतएव उन्होंने उन पर टीका भी नहीं की, किन्तु मल्लिनाथ से भी बहुत प्राचीन प्रसिद्ध टीकाकार वल्लभदेव ने अपनी माघ की टीका में उन श्लोकों की यथास्थान समुचित टीका की है। "पण्डित दुर्गाप्रसाद वल्लभदेव का समय ईसा की दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं—वल्लभदेव ने कालिदास के मेघदूत की टीका में जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है

---

१. यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्। नै० २२।१५३

२. महाभारत, सभापर्व अ० ४१

३. माघ सर्ग १५ के श्लोक ३८ और ३९ के मध्य में पठित १ से ३४ पद्य।

वे सब ९०० ई० से पूर्व के ही ठहरते हैं अतः पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा निर्धारित वल्लभदेव का समय ठीक ही समझ पड़ता है।[1] इससे सिद्ध है कि दशम शताब्दी तक ये ३४ पद्य प्रक्षिप्त नहीं समझे जाते थे। इसके अतिरिक्त रचना-प्रौढ़ि को देखते हुए भी ये माघ की ही कृति समझ पड़ते हैं, अतः इन्हें माघ-विरचित ही मानना उचित जान पड़ता है। अस्तु, फिर षोडश सर्ग में युद्ध-सन्नद्ध शिशुपाल का दूत-द्वारा[2] भेजा गया चतुर्दश-पद्यात्मक सन्देश भी प्रिय-अप्रिय दोनों अर्थों का वहन करता है। माघ ने केवल द्व्यर्थ रचना ही नहीं की, अपितु एक श्लोक में तीन अर्थों तक का समावेश किया है।[3] श्रीहर्ष को प्रसिद्ध पञ्चार्थक श्लोक[4] की प्रेरणा यहीं से मिली होगी। माघ ने रैवतक गिरि पर अपनी रमणियों के साथ मस्ती से गाते हुए सिद्धों के स्वर का विशेषण 'भाविक' दिया है।[5] उसी प्रकार श्रीहर्ष भी प्रभात वर्णन करने वाले वैतालिकों के पदों को "भाविक" विशेषण देते हैं।[6]

हरिचन्द्र

हरिचन्द्र-कृत धर्म-शर्माभ्युदय काव्य भी एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। भाव-सौन्दर्य के साथ प्रसाद गुण एवं वैदर्भी रीति के कारण उसकी गणना रघुवंश, किरात एवं माघ की श्रेणी में निःसन्देह की जा सकती है। हरिचन्द्र ने पूर्ववर्ती कवियों, विशेषतः कालिदास, भारवि तथा माघ, के भाव भाषा आदि को यथेष्ट अपनाया है, किन्तु इससे न तो इनकी मौलिकता में बट्टा लगा है और न कविता ही कहीं अरुचिकर होने पाई है। हरिचन्द्र के समय में ही विद्वानों में इस महाकाव्य की समुचित प्रतिष्ठा हो गई थी। कवि की यह उक्ति, "कुशल विद्वानों ने अपने हृदयरूपी निकष पर सैकड़ों बार परीक्षा कर के जिसे अत्यत उत्कृष्ट होने का प्रमाणपत्र दिया, जो अनेक भावों तथा घटनाओं की विचित्र रचना के सौन्दर्य से युक्त है, ऐसा हमारा काव्य रूपी स्वर्णालङ्कार पुण्यशील विद्वानों का कर्णभूषण

---

१. ई० हूल्श, मेघदूत की भूमिका, पृ०९।११, रा०ए०सो० १९११
२. माघ १६।२ से १५ तक।
३. सदामदबलप्रायः समुद्धतरसो बभौ।
प्रतीतविक्रमः श्रीमान् हरिर्हरिरिवापरः॥ मा० १९।११६
४. नै० १३.।.१४
५. प्रगीयतेसिद्धगणैश्चयोषितामुदारमन्ते कलभाविकस्वरैः। मा० ४।३३
६. श्रुतिमधुपदस्त्रग्वैदग्धीविभावितभाविकस्फुटरसभृशाभ्यक्ता वेतालिकैर्जगिरे गिरः। नै० १९।१।

वने",[१] सगर्व नहीं लगती। श्रीहर्ष धर्मशर्माभ्युदय काव्य से पूर्ण परिचित समझ पड़ते हैं। नैषध में एक स्थान पर तो उन्होंने श्लेष के सहारे इसका नामोल्लेख भी किया है। वरुण स्वयंवर के अन्त में नल को वरदान देते हुए कहते हैं "आपके अङ्ग का संयोग पाकर पुष्पों में म्लानि (मुरझाहट) न होगी, और उनमें दिव्य सुगन्ध आ जायगी। मुझे पुष्प के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु न दिखाई पड़ी जो धर्म तथा श्रेय (धर्मशर्म) दोनों का साधक हो।"[२] यद्यपि धर्मशर्म को एक साथ सयुक्त देखकर उससे धर्मशर्माभ्युदय का संकेत समझना द्राविड़-प्राणायाम ही है, किन्तु अनेक स्थलों में भावसाम्य तथा वर्णन-शैली-साम्य देखकर यह अनुमान करना सुसम्भव है। इस महाकाव्य के कुछ उदाहरण आलोचना के लिए पर्याप्त होंगे। रत्नपुराधिपति महासेन की महिषी सुव्रता के रूप-वर्णन के प्रसङ्ग में हरिचन्द्र कहते हैं— "विधाता ने इसका-जैसा सुन्दर शरीर बनाने के लिए कहां से सारगुण नहीं ग्रहण किया—कमल से सुगन्ध, ईख से फल, कस्तूरी से मनोज्ञ प्रभा ली।"[३] इसी प्रकार नैषध में भी दमयन्ती के मुख तथा नेत्र के लिए विधि को अनेक सुन्दर वस्तुओं का सार ग्रहण करना पड़ा। "ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख की रचना के लिए मानों चन्द्रमण्डल का श्रेष्ठ अंश ले लिया था, जिससे कि चन्द्रमा के मध्य में गर्त बन गया और वह गर्त इतना गहरा हुआ कि उससे उस पार के आकाश की नीलिमा दिखलाई पड़ने लगी है।"[४] क्या विधाता ने दमयन्ती के नेत्रों की रचना के लिए बड़े प्रयत्न के साथ इसके पलक रूपी यन्त्र द्वारा, चकोर-नेत्रों से, मृगनयनों से तथा कमलों से अमृत-प्रवाह पूर्ण यह श्रेष्ठ भाग निकाला है?[५] विदर्भाधिपति प्रतापराज की

---

१. दक्षैः साधुपरीक्षितं नवनवोल्लेखार्पणेनादरात्,
यच्चेतः कषपट्टिकासुशतशः प्राप्तप्रकर्षोदयम्।
नानाभंगिविचित्रभावघटनासौभाग्यशोभास्पदम्,
तन्नः काव्यसुवर्णमस्तु कृतिनाकर्णद्वयीभूषणम्। ध० श०

२. अम्लानिरामोदभरश्चदिव्यः पुष्पेषुभूयाद्भवदङ्गसङ्गात्।
दृष्टः प्रसूनोपमयामयान्यन्नधर्मशर्मोभयकर्मठंयत्॥ नै० १४।८५

३. द्रुमोत्पलात्सौरभमिक्षुकाण्डतः फलं मनोज्ञांमृगनाभितः प्रभाम्।
विधातुमस्याइवसुन्दरं वपुः कुतोन सारंगुणमाददे विधिः॥ ध० श० २।६५

४. हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनायवेधसा।
कृतमध्यबिलंविलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥ नै० २।२५

५. चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेषकृष्टः।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयनेविधातुः॥ नै० ७।३२

दुहिता के सौन्दर्य वर्णन के प्रसङ्ग में हरिचन्द्र ने कहा है "मुट्ठी में पकड़े जाने योग्य कटिवाली इस सुन्दरी को अपनी धनुवता वना कर कामदेव ने सारे राजाओं को एक साथ अपने वाणों का लक्ष्य बनाया।"[1] अन्तःपुर में नल को भी दमयन्ती ऐसी ही प्रतीत हुई थी "मुट्ठी में ग्रहण योग्य कटिप्रदेश (क्षीणकटि) वाली यह सुन्दरी मदन की कुसुम-धनु-लता ही है, जो हमें मोहित करने के लिए अपने श्रीमान् अपाङ्गों से कटाक्ष-वाणों की वृष्टि करती है।"[2] "स्वयंवर-मण्डप में राजाओं के नेत्र विदर्भकुमारी (प्रतापराज-दुहिता) के जिस अङ्ग के सौन्दर्य को देखने लगते वहीं डूव-से जाते और अन्य अङ्गों को देखने के लिए वे इन्द्र की भांति सहस्र नेत्रों की स्पृहा करते।"[3] दमयन्ती के रूपमाधुर्य का पान करते समय नल के नेत्रों की भी कुछ ऐसी ही अवस्था हुई थी।[4] (उस समय उन्हें इन्द्र के नेत्रों की लिप्सा नहीं हुई, क्योंकि इन्द्र तो स्वयं उनका याचक वना था। उनकी अपनी वुद्धि ही पर्याप्त थी) दिव्याङ्गनाएं महासेन से अपने आगमन का प्रयोजन पहले सूत्र की भांति संक्षेप में कहती हैं फिर उसका भाष्य की भांति विस्तृत वर्णन करती हैं।[5] दमयन्ती भी देवों को प्रत्युत्तर देते समय दूत-रूप में प्रच्छन्न नल से प्रार्थना करती है कि "मेरी सूत्र-रूप में कही हुई वात के प्रति दूत, तुम भाष्यकार वनना दूषणकार नहीं, क्योंकि मैं अवला उन विद्वानों को उत्तर ही क्या दे सकती हूं।"[6] नायिका की अधीर अवस्था का वर्णन करती हुई सखी (दूती) नायक से कहती है—"सुन्दरी पहले अपूर्व (मदन–) ताप-वश दिन में रात को अच्छा समझती और रात में दिन को अच्छा समझती,

---

१. एतांधनुर्यष्टिमिवैषमुष्टिग्राह्यैकमध्यांसमवाप्यतन्वीम्।
नृपानशेषानपि लाघवेन तुल्यं मनोभूरिषुभिर्जघान॥ ध० श० १७।१४

२. सेयंमृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्यमुष्टिग्रहणार्हमध्या।
तनोतिनः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय यादृष्टिशरौघवृष्टिम्॥ नै० ७।२८

३. यद्यत्र चक्षुःपतितंतदंगे तत्रैव तत्कान्तिजलेनिमग्नम्।
शेषांगमालोकयितुंसहस्रनेत्राय भूपाः स्पृहयाम्बभूवुः॥ ध० श० १७।१४

४. तत्रैवमग्ना यदपश्यदग्रे नास्यादृगस्याङ्गमयास्यदन्यत्।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारां विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेषः॥ नै० ८।९

५. उक्तमागमनिमित्तमात्मनः सूत्रवत्किमपि तत्समासतः।
तस्य भाष्यमिवविस्तरान्मयावर्ण्यमानमवनीपतेशृणु॥ ध० श० ५।३०

६. स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्वितरीतुमुत्तरम्।
तदत्र मद्भावितसूत्रपद्धतौप्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता नते। नै० ९।३७

और अब वह वहां रहना चाहती थी जहां न दिन हो न रात।"[१] दमयन्ती भी दिन में प्रिय-विरह से अधीर होकर रात्रि के कान्त संगम की मधुर-वेला की कामना करती और रात्रि में प्रिय की काम-क्रीड़ाओं से लजाकर दिन का प्रकाश मनाया करती—[२] धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग में धातकीखण्ड द्वीप के राजा दशरथ के राज्य त्याग कर तप के लिए जाने को उद्यत होने पर उनके मन्त्री सुमन्त ने उन्हें चार्वाक मतानुकूल कुछ उपदेश दिया है।[३] श्रीहर्ष को अपने नैषध में चार्वाक मतानुकूल शास्त्रार्थ (१७वां सर्ग) की थोड़ी प्रेरणा मिलनी यहां से भी सम्भव हो सकती है किन्तु उसका वास्तविक उद्गम स्थान कृष्ण-मिश्रकृत प्रबन्ध-चन्द्रोदय ही है।

कृष्णमिश्र

कृष्णमिश्र चन्देल नरेश कीर्तिवर्मा के समकालीन थे, और गोपाल की आज्ञा से कीर्तिवर्मा के विजय-महोत्सव पर उन्होंने प्रबोध-चन्द्रोदय रूपक की रचना की थी। चन्देलराज कीर्तिवर्मा का समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित है, अतः कृष्णमिश्र का भी वही समय निश्चित समझना चाहिए। इस रूपक में मनुष्य के अन्तःकरण की ज्ञान-मूलक सद् तथा अज्ञानमूलक असद्वृत्तियों को नाटकीय पात्रों का रूप देकर उनके संघर्ष का निरूपण बड़े ही दार्शनिक (मनोवैज्ञानिक) ढंग से ६ अङ्कों में किया गया है, और अन्त में महामोहान्धकार का नाश कर प्रबोध-(ज्ञान) रूपी चन्द्र का उदय दिखाया गया है। नैषध में कलि-सैन्य वर्णन तथा चार्वाक-सिद्धान्त आदि दार्शनिक-शास्त्रार्थ के प्रसङ्गों को रखने की प्रेरणा इसी प्रबोध-चन्द्रोदय से मिली प्रतीत होती है।

मन की प्रवृत्ति-निवृत्ति नामक दो पत्नियों में प्रवृत्ति से महामोह का वंश चला और निवृत्ति से विवेक का। महामोह के प्रियवल्लभ काम, दम्भ, अहंकार, क्रोध, लोभ, चार्वाक आदि हैं। नाटक के द्वितीय अङ्कों में इन सब के पृथक् पृथक् स्वरूप से हम परिचित होते हैं। नैषध में भी स्वयंवर से स्वर्ग जाते हुए देवों को रास्ते में कलि अपनी सेना-सहित आता मिला। उसकी सेना के प्रधान सैनिक हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह। प्रबोध-चन्द्रोदय में महामोह राजा के रूप में चित्रित किया जाता है, तथा

---

१. स्तुत्वा दिने रात्रि महश्च रात्रौ स्तौतिस्म सा पूर्वमपूर्वतापात्।
संप्रत्यहो वाञ्छति तत्र तन्वी स्थातुं न यत्रास्ति दिनं न रात्रिः। ध० श० १४।७०

२. वासरे विरहनिःसहा निशां कान्तसङ्गसमयं समैहत।
साह्रिया निशि पुनर्दिनोदयं वाञ्छतिस्म पतिकेलिलज्जिता। नै० १८।५५

३. ध० श० ४।६३-६६

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, अहंकार आदि उसके आश्रित अनुचर के रूप में चित्रित होते हैं, जो उसकी आज्ञा से अपने अपने कार्य में लगे रहते हैं। नैषध में भी मोह को ही काम, क्रोध, लोभ का उसी प्रकार उपजीव्य बताया गया है जैसे गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन तीनों आश्रमों का।[१] क्रोध अपना परिचय देते हुए कहता है "मैं संसार को अन्धा कर देता हूं, धीर को वधिर बना देता हूं, सचेत को चेतनाहीन कर देता हूं और बुद्धिमान् को भी ऐसा कर देता हूं जिससे वह न उचित-कार्य देख सकता है, न हित की बात सुन सकता है और न अपने ज्ञान का उपयोग कर सकता है।[२] श्रीहर्ष ने भी कई श्लोकों में प्रत्येक का परिचय कुछ इसी प्रकार से दिया है।[३] क्रोध के स्वरूप-निरूपण-प्रसङ्ग में प्रबोध-चन्द्रोदय के श्लोक का ही भाव दूसरे शब्दों में हमें नैषध में इस प्रकार मिलता है। "वही क्रोध जो पहले तो अनर्थ में प्रवृत्ति पैदा करता है, फिर शान्त होने पर पश्चात्ताप रूप में अत्यन्त विरक्ति तथा निर्वेद पैदा करता है और जो उद्दीप्त होकर सारी इन्द्रियों की चेष्टाओं को नष्ट करने वाला अज्ञान-रूपी अन्धकार उत्पन्न करता है।"[४]

प्रबोध-चन्द्रोदय के कुछ भावों को नैषध में कई स्थानों पर कहा गया है। मदन अपने बाणों का प्रताप गाता हुआ कहता है, "इन्द्र अहल्या के जार बने, ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे दौड़े, चन्द्रमा ने अपने गुरु की स्त्री का भोग किया; इस प्रकार प्रायः किसको मैंने मार्ग-भ्रष्ट नहीं किया। संसार को व्याकुल करने में मेरे बाणों को श्रम कहां?"[५] श्रीहर्ष ने इन पौराणिक आख्यानों का दो बार उल्लेख किया है। एक तो कलिशास्त्रार्थ के ही प्रसङ्ग में काम-प्रताप का वर्णन करते हुए चार्वाक कहता है,

---

१. ब्रह्मचारिवनस्थायियतयो गृहिणं यथा।
त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवाः॥ नै० १७।३२

२. अन्धीकरोमिभुवनं बधिरीकरोमि धीरं सचेतनमचेतनतांनयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति॥
प्र० च० २।२८

३. नै० १७।१४-३४

४. वैराग्यं यः करोत्युच्चै रञ्जनं जनयन्नपि।
सूते सर्वेन्द्रियाच्छादि प्रज्वलन्नपि यस्तमः॥ नै० १७।२२

५. अहल्यायाः जारः सुरपतिरभूदात्मतनयां
प्रजानाथोयासीदभजतगुरोरिन्दुरबलाम्।
इति प्रायः को वा न पदमपदेऽकार्यत मया
श्रमोमद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु॥ प्र० च० १।१४

" 'परस्त्रीगमन न करना चाहिए' इस प्रकार के पाखण्ड को अहल्या के साथ सम्भोग करने वाले स्वयं इन्द्र न पूरा कर सके, तो और कोई क्या कर सकता है"[१] और "अरे द्विजो, गुरु-स्त्री-गमन में पाप की कोई सम्भावना ही न करो। और की कौन कहे, आप लोगों के स्वामी द्विजराज चन्द्रदेव ने स्वयं गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा में अनुराग किया था।"[२] दूसरे नल के रति-महल के विवरण के प्रसङ्ग में स्वयं कवि की उक्ति है—"राजप्रासाद की भित्ति पर पुराण-प्रसिद्ध ब्रह्मा का अपनी पुत्री के साथ रमण करने का दुस्साहस करना तथा मदन द्वारा उनका उपहास किया जाना आदि सारी कथा क्रम-पूर्वक विस्तार के साथ चित्रित थी।"[३] "उस विलास-भवन की भित्तियों पर गौतम-पत्नी अहल्या के कामुक देवेन्द्र का परस्त्रीगमन का दुस्साहस भी चित्रित था। मानों वह भगवान् कामदेव की विजय-घोषणा हो।"[४] "चन्द्रमा के अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के साथ कामुक व्यवहार के आख्यान को लेकर भरतमुनि-प्रणीत नाटकशास्त्र के अनुसार लिखी गई नाटिका उस प्रासाद के प्राङ्गण में खेली जा रही थी।"[५]

एक श्लोक तो प्रबन्ध-चन्द्रोदय से प्रायः ज्यों का त्यों ले लिया गया है। वेदों की बुद्धि-पौरुष-हीनों की जीविका बताते हुए चार्वाक महाराज-महामोह से कहता है "अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्डधारण तथा भस्म-लेपन यह सब बुद्धि-पौरुष-हीन लोगों की जीविका है, ऐसा बृहस्पति कहते हैं।"[६] नैषध में कलिप्रेरित चार्वाक कहता

---

१. परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः।
अहल्याकेलि-लोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना। नै० १७।४३

२. गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः॥ नै० १७।४४

३. भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दन-सुता-रिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः॥ नै० १८।२०

४. पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतम-कलत्र-कामिनः।
पारदारिक-विलास-साहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भित्तिषु। नै० १८।२१

५. गौरभानु-गुरु-गेहिनी-स्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारती सुधा॥ नै० १८।२३

६. अग्निहोत्रंत्रयोवेदास्त्रिदण्डंभस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ प्र० च० २।२५

है "बृहस्पति ने तो कहा है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड-धारण, भस्म-लेप एवं तिलक-धारण ये सब बुद्धिहीन-दरिद्रों की जीविका के साधन हैं।"[1]

महिम्नः स्तोत्र

पुष्पदन्त-रचित महिम्नः स्तोत्र एक उच्च साहित्यिक कृति है। "राजशेखर की काव्य-मीमांसा तथा जयन्त भट्ट की न्याय मञ्जरी में महिम्नः स्तोत्र का उल्लेख होने के कारण इसे दशम शताब्दी से पूर्व का ही कहा जायगा।"[2] आचार्य पण्डित रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री ने तो पूर्ण प्रमाण के साथ इसका रचना-काल और भी पूर्व बताया है।[3] नैषध में महिम्नः स्तोत्र के भी अनेक भाव मिलते हैं। स्तोत्र के प्रारम्भ में ही क्षमायाचना के रूप में पुष्प-दन्त कहते हैं। "प्रभो, आप की महिमा, वाणी और मन के मार्ग से परे हैं।"[4] इसी प्रकार देवपूजा के प्रसङ्ग में क्षमायाचना करते हुए नल कहते हैं—"प्रभो मन वाणी से परे तुम्हारे रूप की स्तुति हम किस बल पर करें, अतः यदि हम कुछ कहने का साहस करते हैं तो वह तुम्हारी निन्दा ही होती है। तो नाथ, जो धृष्टता करने जा रहा हूं उसे प्रलाप समझकर क्षमा कर देना।"[5] तथा "नाथ भले ही आप वाणी और मन के विषय न हों तो क्या वे इसीलिए आपकी ओर प्रवृत्त न हों—भला चातकों का जोड़ा कहां बादलों तक पहुंच पाता है, पर वह उसी मेघ के लिए उत्कण्ठित रहता है और मेघ भी तो उसे हर प्रकार से सन्तुष्ट करता ही है।"[6] त्रिपुरवध में शिव ने जिन उपकरणों का उपयोग किया था उनका उल्लेख करते हुए पुष्पदन्त कहते हैं—"तृण के समान त्रिपुर को जलाने के लिए आप का यह आडम्बर कैसा ? किन्तु कार्यवस्तु से खेल करने वाली प्रभुओं की बुद्धि किसी के अधीन नहीं होती।"[7] अर्थात् अपना कार्य करने में स्वामी किसी से राय लेने नहीं

---

१. अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वानांजीवोजल्पतिजीविका।। नै० १७।३९

२. सु० कु० दे का संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३८१

३. म० म० डा० गङ्गानाथ झा स्मारक ग्रन्थ—पृ० ४२-४५ की टिप्पणी

४. अतीतः पन्थानं तवचमहिमावाङ्मनसयोः। म० स्तो० २

५. दूरतः स्तुतिरवाग्विषयस्ते रूपमस्मदभिधा तव निन्दा।
तत्क्षमस्व यदहं प्रलपामीत्युक्तिपूर्वमयमेतदवोचत्।। नै० २१।५२

६. मैव वाङ्मनसयोर्विषयो भूस्त्वांपुनर्न कथमुद्दिशतां ते।
उत्कचातकयुगस्यघनः स्यात्तृप्तये घनमनाप्रुवतोऽपि।। नै० २१।५४

७. दिधक्षोस्ते कोऽयंत्रिपुरतृणमाडम्बरविधि
विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः। म० स्तो०

जाते। नल भी हरि-हर रूप की प्रार्थना करते हुए कहते हैं "आपने हरिहर रूप में धड़ के ऊपर भी दो रूप क्यों धारण किए—हरिहर रूप में एक रूप धड़ तक होना चाहिए था और दूसरा सिर—उसी प्रकार फिर नरसिंह-रूप में क्यों सिर और धड़ में भेद कर दिया ? पर स्वतन्त्र सत्ता वाले से किसी बात के बुरे-भले के लिए कौन प्रश्न कर सकता है ?"[१]

भर्तृहरिशतक

भर्तृहरिशतक (७ वीं शताब्दी से पूर्व) की अनेक उक्तियों के भाव नैषध में लिए गए प्रतीत होते हैं। सत्पुरुषों की वृत्ति बताते हुए भर्तृहरि ने उन्हें "अपने स्वार्थ को त्याग कर के भी परार्थ साधने वाला कहा है।"[२] नैषध में उसी उक्ति के आधार पर मदन-व्यथा के सागर में डूबते हुए नल हंस को अपना अवलम्ब बताते हुए कहते हैं "आपको इस काम में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना तो पिष्ट-पेषण ही है, क्योंकि सत्पुरुष स्वयं परार्थ साधने वाले होते हैं।"[३] नीति-शतक की प्रसिद्ध उक्ति है—"महान् अपना विक्रम महान् में ही दिखाता है।"[४] उसी अर्थ की नैषध की उक्ति है "महान अपना पौरुष महान् से ही दिखाता है।"[५] खल तथा सज्जन की मित्रता की समता भर्तृहरि ने क्रम से दिन के पूर्वार्द्ध एवं परार्ध की परछाईं से देते हुए कहा है "दुष्ट की मित्रता पूर्वाह्न काल की परछाईं के समान होती है जो पहले तो बड़ी किन्तु बाद में धीरे धीरे छोटी होती जाती है, और सज्जन की मित्रता पहले छोटी और पीछे बढ़ती हुई अपराह्नकालिक परछाईं के समान होती है।"[६] श्रीहर्ष भी दही के सफेद रायते का वर्णन करते हुए कहते हैं—"जैसे दुष्ट पहले मित्र बाद को

---

१. ऊर्द्ध्वदिक्कदलनां द्विरकार्षीः किं तनुं हरिहरीभवनाय।
किंचतिर्यगभिनो नृहरित्वे कः स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः॥ नै० २१।१०४

२. एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये॥
नी० श० ७४, बाम्बे संस्कृत सीरीज प्रकाशन १८८५

३. अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टिनः।
स्वतएवसतांपरार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता॥ नै० २।६१

४. महान्महत्स्वेव करोतिविक्रमम्। नी० श० १

५. सतांमहत्सम्मुखधावि पौरुषम्—नै० १२।८

६. आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्यपूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम्॥
नी० श०, ६० बाम्बे संस्कृत सीरीज १८८५

शत्रु हो जाते हैं उसी प्रकार सफेद रायता पहले तो कोमल, पर मुख में रखने पर अत्यन्त तीतेपन के कारण असह्य जलन उत्पन्न करने वाला था।"[1] भर्तृहरि ने वैराग्य-शतक में स्त्री-रूप की निन्दा करते हुए लिखा है, "स्तन मांस की ग्रन्थियां हैं, किन्तु उन्हें स्वर्णकलश की उपमा दी गई, मुंह कफ से भरा रहता है, उसे चन्द्रमा समान वताया, मूत्रलिप्त जांघों को हाथी के सूड़ों के समान वताया। कितना निन्द्य स्त्री का रूप है, जिसे कवियों ने इतना ऊंचा उठा दिया है।"[2] नैषध में घृणावादान् पद-द्वारा इसी उक्ति की ओर संकेत करते हुए चार्वाक से देवों को उत्तर दिलाया गया है, स्त्रियों के प्रति "मुखं श्लेष्मागारं", "स्तनौमांस-ग्रन्थी" आदि जो घृणोत्पादक वाक्य कहे जाते हैं उन्हें तृणवत् उपेक्षित कर देना चाहिए, क्योंकि तुम पुरुष भी तो आखिर वैसे ही हो, फिर यह दूसरों को धोखा देने से क्या लाभ?"[3] भगवान् कामदेव का प्रभुत्व वताते हुए भर्तृहरि ने अपने शृङ्गार-शतक की प्रस्तावना में ही कहा है—"जिन्होंने शिव, व्रह्मा और विष्णु को मृगनयनियों का आज्ञापालक दास वनाया ऐसे अनिर्वचनीय-चरित्र वाले भगवान् कुसुमायुध को नमस्कार हैं।"[4] नैषध-गत स्वयंवर-सभा में दमयन्ती को द्वीपाधिपों के मध्य में लाकर देवी सरस्वती ने भी उसी प्रकार सर्वप्रथम भगवान् अनङ्ग का संस्तव करते हुए कहा है—"जिसने व्रह्मा, विष्णु तथा शिव के भी अन्तःप्रशान्त भावों को शृङ्गारमय कर दिया है, अपने पांच वाणों से समस्त विश्व की पांचों (ज्ञान) इन्द्रियों को संक्षुभित करता हुआ वही अनङ्ग आपको आनन्द दे।"[5]

---

१. सितंमुबु प्रागथ दाहदायि तत् खलः सुहृत् पूर्वमिवाहितस्ततः। नै० १६।७४

२. स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपभितो
मुखंश्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघन
महोनिन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम्॥ वैराग्य० श० २०—वे० क० प्रे० १८०६

३. तृणानीव घृणावादान्विधूनय वधूरनु।
तवापि तादृशस्यैव का चिरं जनवञ्चना॥ नै० १७।५८

४. शम्भुस्वयम्भुहरयोहरिणीक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय। वै० श० १

५. लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगताभिषुपञ्चकेन सङ्क्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः।
नै० ११।२५

अनर्घराघव

अनर्घराघव में राम की प्रशंसा करते हुए विभीषण कहते हैं—"आज पाताल लोक में शेषनाग आनन्द-मग्न हो सिर हिलाते हुए आपकी कीर्ति सुन रहे हैं। शेष नाग के कान न होने के कारण कुण्डल आदि आभूषण भी नहीं है, अतः सिर हिलाने से किसी अन्य प्रकार के शब्द द्वारा विघ्न होने की सम्भावना भी नहीं है।[1] फिर दो हजार आंखों वाले शेषनाग मस्ती के साथ अपनी पन्नगियों की गोष्ठी में संगीत प्रसङ्ग में गाई जाने वाली कीर्ति सुनें, क्योंकि वे चक्षुःश्रवा हैं।[2]" श्रीहर्ष ने शेषनाग का आनन्द-मग्न हो सिर हिलाना तथा नेत्रों द्वारा कीर्ति सुनना इन दोनों भावों को थोड़ा परिवर्तन के साथ अपने नैषध में लिया है। काञ्ची-नरेश के वर्णन-प्रसङ्ग में सरस्वती कहती हैं—"इनकी प्रशंसा सुनते हुए भगवान् शेषनाग किस प्रकार अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते होंगे यह समझ में नहीं आता। जब हार्दिक आनन्द से आंसू उमड़ते हैं तो वे आंखें तो बन्द नहीं कर सकते, क्योंकि चक्षुःश्रवा होने के कारण आंखों से ही सुनते हैं, शरीर में रोम न होने के कारण हर्ष-मूल रोमाञ्च भी अपने शरीर को ही फुलाकर व्यक्त करते हैं। तथा पृथ्वी के गिरने के भय से आनन्दातिरेक में सिर भी नहीं हिला सकते।"[3] अनर्घराघव में राम सीता के मुख की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—"जो साक्षात् पद्मयोनि (ब्रह्मा) ने इनके वंश में जन्म लिया, जो प्रातःकाल से प्रारम्भ कर समस्त दिन ये भ्रमरों को प्रसन्न रखते हैं, तथा जो इन्होंने एकाग्र मन से सूर्य की भक्ति की, सुन्दरि उन्हीं पुण्यों के प्रभाव से इन्हें (कमलों को) तुम्हारे मुख से समानता मिली है।"[4] इसी भाव को लेकर श्रीहर्ष हंस

---

१. कर्णाभावनिरस्तकुण्डलरवव्यासङ्गमाधुन्वता
मूर्ध्नः पन्नगपुङ्गवेन सुभगं त्वत्कीर्तिराकर्ण्यते॥ अ० रा० ७।७८

२. भोगीन्द्रः प्रमदोत्तरङ्गमुरगीसङ्गीतगोष्ठीषु ते।
कीर्ति देव शृणोतु विंशतिशतीयच्चक्षुषांववंते।
..........................चक्षुश्रवाः। अ० रा० ७।७९

३. अन्तः सन्तोषबाष्पैः स्थगयति न दृशस्ताभिराकर्णयिष्य-
न्नङ्गेनानस्तिरोमा रचयति पुलकश्रेणिमानन्दकन्दाम्।
नक्षोणीभङ्गभीरुः कलयति च शिरः कम्पनं तन्नविद्मः।
शृण्वन्नेतस्य कीर्तीः कथमुरगपतिः प्रीतिमाविष्करोति॥ नै० १२।३९

४. गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थायं-यदखिलमहः प्रीणयन्तिद्विरेफान्।
एकाग्रं यद्दधति भगवत्युष्णमानौ च भक्तिं
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि॥ अ० रा० ७।८२

द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, "ये दो कमल जो सूर्य की सेवा करने के कारण दमयन्ती के चरण वने हैं।[1] पवित्र सरोवरों और नदियों में निवास कर एवं समाधि (सम्पुटित) अवस्था में सारी रातों को विता कर इन कमलों ने दूसरे जन्म में दमयन्ती के चरण वनने की सुन्दर गति पाई है।"[2] कांचीपुरी के वर्णन में राम सीता से कहते हैं—"द्रविड़-सुन्दरियों के ललाट से टपकने वाले श्रम-जल (पसीने) के कारण कपोलों पर वनी पत्र-रचना के मिट जाने से उनके ये चन्द्र-निर्मल कपोल उनकी विपरीत-रति की सूचना-सी दे रहे हैं।"[3] ललाट से श्रम-विन्दुओं के गिरने, कपोल-स्थली की पत्र-रचना के मिटने आदि भाव श्रीहर्ष ने अनर्घराघव के उक्त श्लोक से लेकर नल की विपरीत रति का वर्णन किया है, साथ ही भावों को कुछ अपनी ओर से परिष्कृत किया है। नल दमयन्ती से विपरीत रति का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं—"उस समय तुम्हारे ललाट तथा कपोल पर लगी कस्तूरी पसीने के साथ तुम्हारी ठुण्ढी पर वूदों के रूप में लटक रही थी। श्मश्रु के समान उसने तुम्हें उस क्षण के योग्य (पुरुष) ही वना दिया था। तुम्हें याद होगा तुमने अपना वह प्रतिविम्व मेरे वक्षःस्थल पर मोतियों के हार के वीच की मणि में भी देखा था।"[4] मुरारि का कहना है कि "लक्ष्मी विष्णु के उरःस्थल को इसलिए नहीं छोड़तीं कि उन्हें वहां अपने भाई कौस्तुभ का साथ मिलता है।"[5] श्रीहर्ष ने इस भाव को कुछ और परिवर्द्धित करके लिया है। नल विष्णु की स्तुति करते हुए कहते हैं—"प्रभो, सागरतनया लक्ष्मी स्वभाव से ही परम-चञ्चला है। पर वह आपके पास सदा स्थिर निवास करती है। क्यों? सम्भवतः आपके निवास-स्थान समुद्र में आपके पास उसने अपने कई वाल-परिचित अथवा सहोदर-वर्ग देखे। गङ्गा आपके चरणों में है, कमल आपके करपल्लव में सुशोभित है, कौस्तुभ आपके वक्षःस्थल पर विराजमान है, तथा चन्द्रमा आपका वाम नेत्र ही है। अतः आपके पास अपने परिवार

---

१. जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः॥ नै० २।३८

२. श्रितपुण्यसरः सरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम्।
जलजंगतिमेतु मञ्जुलां दमयन्ती-पदनाम्निजन्मनि॥ नै० २।३९

३. अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैर्धूतपत्रलेखः।
कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिमद्युतिनिर्मलः कपोलः॥ अ० रा० ७।१०७

४. नीलदाचिवुकं यत्र मदाक्तेन श्रमाम्बुना।
स्मरहारमणौदृष्टं स्वमास्यं तत्क्षणोचितम्॥ नै० २०।९४

५. नाभ्रातृसंगमसुखासिकयाजहाति विष्णोः।
सकौस्तुभमुरश्चपलापिलक्ष्मीः॥ अ० रा० ७।१४२

को पाकर लक्ष्मी का भी मन लग गया है।"[१] अनर्घराघव में वामदेव राजा दशरथ की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—"जिस समय आप इन्द्र के साथ अर्धासन पर बैठे रहते हैं उस समय किन्नरों से आपकी प्रशंसा सुनकर हृदय में डाह रखते हुए भी बाहर से अपने भाव को छिपाने में कुशल इन्द्र आपकी दाहिनी भुजा के रोमांच के गड़ने की पीड़ा के कारण आँखों में उमड़े आँसुओं के द्वारा ही आनन्द का प्रदर्शन करते हैं।"[१] मुरारि के पूर्वोक्त श्लोक से "इन्द्र का पर-प्रशंसा सुन कर साश्रु होना," "उनके पार्श्व में स्थित व्यक्ति का रोमाञ्च होना" इन दो भावों को श्रीहर्ष ने थोड़ी अपनी कल्पना का योग देकर व्यक्त किया है। हंस दमयन्ती से नल की प्रशंसा करते हुए कहता है—"लोकपाल महेन्द्र सपत्नीक बैठे हुए नल का औदार्य आदि गुण सुन रहे थे। इधर इन्द्राणी को सुनकर रोमाञ्च हुआ, उधर इन्द्र की आंखों में आनन्द के आंसू छलक पड़े। और इस प्रकार इन्द्राणी के पुण्य के ही कारण महेन्द्र को उसके रोमाञ्च का पता न चला (क्योंकि पर-पुरुष की प्रशंसा सुनकर पत्नी को रोमाञ्च होता देखकर वे उसे मानसिक व्यभिचार ही समझते)।"[२] विश्वामित्र के यज्ञ-रक्षार्थ राम को मांगने पर दशरथ को महान् मानसिक विकल्प होता है। पर अन्त में कोई उपाय न देखकर वे कहते हैं—"रघुओं का जो वंश परोपकार में विष्णु के कच्छप अवतार, शेषनाग, कुलपर्वत तथा दिग्गजों की कोटि में गिना जाता था, वही अब मुझे उत्पन्न कर परोपकार साधन से क्यों विमुख हो।"[३] इसी श्लोक की शैली पर नैषध के पञ्चम सर्ग में इन्द्रादि देवों तथा नल के वार्त्तालाप की कल्पना की गई है। यहां तक कि पूरे पञ्चम सर्ग में छन्द भी वही रक्खा जो पूर्वोक्त श्लोक का है। श्रीहर्ष ने अपनी कल्पना का योग देकर मुरारि के उक्त श्लोक के भाव को कई प्रकार से अपनाया है।

---

१. जाह्नवीजलजकौस्तुभचन्द्रान् पादपाणिहृदयेक्षणवृत्तीन्।
उत्थिताब्धिसलिलात्वयि लोला किं स्थिता परिचितान्परिचिन्त्य ।।
नै० २१।१०६

२. त्वय्यर्धासनभाजि किन्नरगणोद्गीतैर्भवद्विक्रमै-
रन्तः सम्भृतमत्सरोपिभगवानाकारगुप्तौकृती ।।
उन्मीलद्भवदीयदक्षिणभुजारोमाञ्चविद्धोच्चरद्-
वाष्पैरेव विलोचनैरभिनयत्यानन्दमाखण्डलः ।। अ० रा० १।२९

३. शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन् मुहुर्लोम पुलोमजायाः।
पुण्येन नालोकत लोकपालः प्रमोदवाष्पावृत-नेत्र-मालः ।। नै० ३।२८

४. कूर्मराजभुजगाधिपगोत्रग्रावदिक्करिभिरेकधुरीणः।
मां प्रसूयकथमस्तु विगीतो हा परार्थ-विमुखो रघुवंशः ।। अ० रा० १।३९

उदाहरणार्थ—इन्द्र नल की अस्वीकृति सुनकर कहते हैं—"राजन् चन्द्रवंश में उत्पन्न आप हीं ने अभी यह कहा है !"[1] "विश्व-मुकुट रूप आपके कुल में ऐसा कौन उत्पन्न हुआ है जिसने याचक का अभीष्ट न पूरा किया हो? उस कुल में सर्वप्रथम चन्द्रमा ही कलङ्की हुआ है। खेद है कि आप भी कहीं वैसे ही न हो जायं।"[2] फिर यम उन्हें प्रवोधन देते हैं—"मेरु कठोर पाषाणों का एक पर्वत है, कामधेनु भी पशु ही है, पर इनके याचक कभी निष्फल न गए। हाय वत्स ! आज तुम क्या करना चाहते हो ?"[3] प्रभात सुषमा का वर्णन करता हुआ शुनःशेफ पशुमेद्र से कहता है "कमल की पंखुड़ी रूपी शुक्ति (सीपी) रात्रि की तिमिर-वृष्टि (अन्धकार) रूपी स्वाति की वूंदों को पाकर अव प्रभात में भ्रमरों के रूप में श्याम मोती उगल रही है। क्यों? कारण के गुण कार्य में संक्रान्त होते ही हैं।"[4]

श्रीहर्ष स्वयं एक वड़े भारी दार्शनिक थे। अतः उनके काव्य में दार्शनिक संकेतों का आधार कोई अन्य काव्य नहीं हो सकता, अपितु श्रीहर्ष का पाण्डित्य ही है। किन्तु मुरारि की शैली की समता देखते हुए यह निर्णय निकालना अनुचित नहीं समझ पड़ता कि श्रीहर्ष ने न्याय के "कारण गुणाः कार्य गुणानारभन्ते" वाले सिद्धान्त को नैषध में कई वार कहने की प्रेरणा मुरारि से ही ली है। नैषध के २।३२, ३।१७ तथा ३।३९ में मुरारि के पूर्वोक्त श्लोक का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। इन श्लोकों पर विस्तृत रूप से विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

मुरारि ने चन्द्रमा को अत्रि मुनि का नेत्रमल कहा है।[5] श्रीहर्ष ने यहीं से प्रेरणा लेकर चन्द्रवर्णन करते हुए २२।७३, ९८, ११०, १३३ में कई वार चन्द्रमा को अत्रि-नेत्रोद्भव कहा है। इससे उनकी पुराणज्ञता की कमी न समझनी चाहिए। इस पर विशेष विवेचन "ऐतिहासिक एवं पौराणिक संकेत" वाले अध्याय में

---

१. नाभ्यधायिनृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभुवैव ॥ नै० ५।११७

२. कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन।
इन्दुरादिरजनिष्टकलङ्की कष्टमत्र स भवानपिमाभूत् ॥ नै० ५।११९

३. रोहणः किमपि यः कठिनानांकामधेनुरपि या पशुरेव।
नैनयोरपिवृथाभवदर्थी हा विधित्सुरसिवत्स किमेतत् ॥ नै० ५।१२५

४. पीत्वाभृशंकमलकुड्मलशुक्तिकोषा दोषातनी तिमिरवृष्टिमथस्फुटन्तः।
निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषाद्वमन्ति विभ्रान्तिकारणगुणानिवमौक्तिकानि ॥
अ० रा० २।११

५. आः कीदृगत्रिमुनिलोचनदूषिकायां पीयूषदीधितिरितिप्रथितोऽनुरागाः ॥
आ० रा० २।८३

करेंगे। अनर्घराघव में विश्वामित्र-द्वारा नूतन सृष्टि-रचना का उल्लेख (१।३२, ४७ तथा ३।२२ आदि में) कई वार किया जाता है। किन्तु सव से अधिक विस्तृत विवरण राजा जनक इस प्रकार देते हैं—"जिस समय इन्द्र ने अपने हुंकार से त्रिशङ्कु का अधःपात किया उस समय अपनी अत्यन्त उद्दीप्त क्रोधाग्नि में त्रिलोक की आहुति करने वाले आपके लिए घवड़ा कर आए हुए भगवान् पद्मयोनि की जरा (वृद्धावस्था) से विकल प्रार्थनाएं विघ्न वनी थीं।"[1] श्रीहर्ष ने इस कथानक को प्रायः इसी प्रकार से नैषध में (२।१०२ में) वर्णित किया है। वहां ब्रह्मा के प्रार्थना कर के विघ्न उपस्थित करने का उल्लेख अनर्घराघव के ही आधार पर है। विशेष विवेचन पौराणिक संकेतों के प्रसङ्ग में किया जायगा।

ग

उक्तिसाम्य

नैषध में कुछ उक्तियों तथा शब्दों का प्रयोग भी इस प्रकार हुआ है कि वे पूर्वोक्त काव्य से लिए गए प्रतीत होते हैं। उनका भी विवेचन कालिदास के ही ग्रन्थों से प्रारम्भ किया जाता है।

रघुवंश

शूरसेनाधिपति सुषेण के वर्णन प्रसङ्ग में सुनन्दा कहती है "इस नीपवंशी यज्ञशील राजा के आश्रित गुणों ने अपने परस्पर स्वाभाविक विरोध को उसी प्रकार त्याग दिया है जैसे सिद्धाश्रम में पहुँचकर वन्यपशु अपने सहज वैर को त्याग देते हैं।"[2] नैषध के गुणों की प्रशंसा में श्रीहर्ष ने इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है। नल अपने तेज से अमित्र-(शत्रु-)-जित् होते हुए भी मित्र-(सूर्य-)-जित तथाचार-(दूत-)-दृष्टि होकर विचार (विवेक) दृष्टि थे। मानों विपक्षी राजाओं की

---

१. क्रोधाग्नौ पुरुहूतहुङ्कृतिपराभूतत्रिशङ्कुत्रपा,
सम्पातज्वलितेजगत्त्रयमयींत्वय्याहुतिं जुह्वति।
सम्भ्रान्तोपनतस्यनाटितजरावैक्लव्यशीर्णाक्षराः,
प्रत्यूहायबभूवुरम्बुजभुवोदेवस्यचाटूक्तयः॥ अ० रा० ३।२२

२. नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः॥ रघु० ६।४६

भाँति विरुद्ध स्वभावों ने भी नल के भय से परस्पर विरोध त्याग दिया था।[1] रघुवंश की प्रसिद्ध उक्ति 'लोगों की रुचि विभिन्न होती है' (भिन्नरुचिर्हि लोक[2]) के समान भाव वाली नैषध की "लोगों की विभिन्न स्पृहा (रुचि) होने के कारण प्रत्येक वस्तु के प्रति द्वेषराग की कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती" उक्ति है।[3] निर्वासिता सीता के करुण रोदन को सुनकर निर्जन वन में वाल्मीकि के आने पर भावुक कवि कालिदास ने उनका स्पष्ट नाम न लिख कर अत्यन्त मार्मिक ढंग से उस हृदय-द्रावक घटना का उल्लेख किया है, जहाँ से आदिकवि की वाणी ने सर्वप्रथम काव्य का रूप धारण किया था, "व्याध के द्वारा आहत पक्षी को देखकर जिसकी करुणा श्लोक के रूप में परिणत हो गई थी, कुश और इन्धन के लिए निकले वे ही कवि रोने की आहट पाकर सीता के पास आए।"[4] इसी प्रकार नैषध में भी रामायण रचयिता आदिकवि का स्मरण उसी मर्मस्पर्शी घटना के साथ किया जाता है। वहाँ भी उनका नाम नहीं लिया जाता। विष्णु के रामरूप की वन्दना करते हुए राजा नल कहते हैं—"देव, क्रौञ्चपक्षी के दुःख को देखकर जिस आदिकवि की करुणा श्लोक बन कर उमड़ पड़ी थी उसने प्रिया-विधुर आपके जीवन की करुण कहानी को देखकर करुणार्द्र हो जो चौबीस सहस्र का श्लोक-सागर रच डाला, वह उचित ही था।"[5]

मेघदूत

मेघदूत की प्रसिद्ध उक्ति "कामार्त व्यक्तियों को स्वभावतया जड़-चेतन का ज्ञान नही रहता" के प्रायः समान भाव वाली नैषध की यह उक्ति है "मुग्धेषु कः सत्यमृषा विवेकः" (नै० ८।१८)।

---

१. प्रतीपभूपैरपि किं ततो भिया विरुद्ध-धर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत॥ नै० १।१३

२. रघु० ६।३०

३. भिन्नस्पृहाणां प्रतिचार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम्। नै० ६।१०६

४. तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाययातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ रघु० १४।७०

५. क्रौञ्चदुःखमपि वीक्ष्य शुचा यः श्लोकमेकमसृजत्कविराद्यः।
स त्वदुत्थकरुणः खलु काव्यं श्लोकसिन्धुमुचितं प्रबबन्धः॥ नै० २१।७६

अभिज्ञान शाकुन्तल

कालिदास ने संस्कार रूप में विद्यमान जन्मान्तर के स्नेह को माना है, जो उचित अवसर पाने पर उद्‌बुद्ध होता है। राजा दुष्यन्त हंसपादिका के मधुरगीत को सुनकर स्वयं सोचते हैं "रम्य दृश्यों को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर जो सुखी प्राणी भी विकलता का अनुभव करता है उससे वह अपने भावों में विद्यमान जन्मान्तर के किसी अज्ञात स्नेह का हृदय से स्मरण करता है।"[१]

श्रीहर्ष ने भी स्नेह-विषयक उपर्युक्त सिद्धान्त को दूसरे शब्दों में इस प्रकार स्वीकार किया है "किसी का किसी के प्रति अनुराग पूर्व जन्मों के किए हुए कर्मों के फलरूप में ही होता है।"[२] नव स्नेह में अधीर दुष्यन्त को शकुन्तला का अवलोकन, गमन तथा भाषण सब कुछ अपने लिए ही समझ पड़ता है। वे सोचते हैं— "नेत्रों को अन्यत्र ले जाती हुई भी जो उसने स्नेह से देखा, नितम्ब के भार से जाते समय जो उसने मन्द-मन्द सविलास गमन किया, सखी द्वारा रोकने पर उसने जो असूया के साथ कुछ कहा, उसकी ये सारी चेष्टाएं मेरे लिए ही थीं। कामी "स्वता" को ही देखता है, अर्थात् सब कुछ अपने ही लिए किया गया समझता है।"[३] नैषध की बारात में भी कुछ रसिकों को ऐसी ही "स्वता" का अनुभव होता है। वह मुग्धा कोई आवश्यक कार्य करते समय जो अन्यमनस्क होने के कारण कुछ त्रुटि कर बैठती है, तथा देखने के लिए उत्सुक अपनी आँखों को जो बराबर रोकती रहती है, सुन्दरी की इन दोनों क्रियाओं ने उस कामुक के प्रति उसके सारे अनुराग भावों को व्यक्त कर दिया।"[४] और ग्रीवा-भंग करके सुन्दरी ने जो मुस्करा दिया, लज्जावश मुंह नीचे किए जो चुप खड़ी रही तथा गद्‌गद कंठ से जो मृदुतापूर्वक कुछ शब्द कहे, युवक ने उन तीनों को उसकी प्राप्ति का ही सूचक

---

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपिजन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। शा० ५।२

२. जन्मान्तराधिगतकर्मविपाकजन्मैवोन्मीलति क्वचनकस्यचनानुरागः। नै०।१३।३९

३. स्निग्धंवीक्षितमन्यतोपिनयने यत्प्रेरयन्त्या तथा,
यातं यच्चनितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मागा इत्युपरुद्धयायदपिसा सासूयमुक्तासखी,
सर्वं तत्किलमत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥ शा० २।२

४. कृतंयदन्यत्करणोचितत्यजा दिदृक्षु चक्षुर्यदवारि बालया।
हृदस्तदीयस्यतदेव कामुके जगाद वार्तामखिलां खलं खलु॥ नै० १६।५७

समझा।"[१] मुग्धा शकुन्तला के अभिनव स्नेह की अत्यन्त स्वाभाविक व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—"यद्यपि मेरी बातों से बात नहीं मिलती फिर भी मेरे बोलते समय उसके कान इधर ही रहते हैं। मेरी ओर मुंह करके भले ही न खड़ी हो, फिर भी उसकी दृष्टि किसी दूसरी ओर नहीं जाती।"[२] मुग्धा दमयन्ती का भी आचरण वैसा ही होता है—"दमयन्ती प्रिय को सामने ही नहीं देखती थी, किन्तु द्वार में, रत्न-स्तम्भों में, या जहाँ कहीं नल का प्रतिविम्ब दिखायी पड़ता, उसकी आखें वहीं पहुँच जातीं। इस प्रकार वह प्रिय को अपनी आँखों से देखती भी थी, देखती नहीं भी थी।"[३] शकुन्तला के लोकोत्तर रूप की तुलना इन्दुकला से देते हुए दुष्यन्त कहते हैं:—"अथवा इस रूप की उत्पत्ति किसी मानवी से कैसे सम्भव है? विद्युज्ज्योति पृथ्वीतल से नहीं उदित होती।"[४] इसी प्रकार हंस नल से दमयन्ती के रूप की प्रशंसा करते हुए उसे भी सागरोद्भव शिवभालस्थ इन्दुकला ही बताता है—"महाराज भीम गुणों के सागर हैं, उनसे उत्पन्न कन्या को दूसरी लक्ष्मी ही समझिए। यहाँ वह आप को दृष्टिगोचर नहीं, पर शिवभालस्थ इन्दुकला को तो जानते ही होंगे, अर्थात् दमयन्ती और इन्दुकला को एक ही समझिए।"[५]

किरातार्जुनीय

किरात के साथ भी नैषध का अनेक उक्तियों में भावसाम्य दिखायी पड़ता है। उदाहरणार्थ (किरात का), "संकेतज्ञ अवसर नहीं चूकता।"[६] उसी प्रकार (नैषधका),

---

१. मुखंयदस्मायिविभुज्यसुभ्रुवाह्रियं यदालम्ब्यनतास्यमासितम्।
अवादि वा यन्मृदुगद्गदंयुवा तदेव जग्राह तदाप्तिलग्नकम्॥ नै० १६।६१

२. वाचंनमिश्रयतियद्यपिमद्वचोभिः कर्णंददात्यभिमुखंमयि भाषमाणे।
कामं नतिष्ठति मदाननसंमुखीनाभूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥ शा० १।२७

३. नानया पतिरनायिनेत्रयोर्लक्ष्यतामपि परोक्षतामपि।
वीक्ष्यते स खलु यद्विलोकने तत्र तत्र नयने ददानया॥ नै० १८।५४

४. मानुषीषु कथंवा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलंज्योतिरुदेतिवसुधातलात्॥ शा० १।२२

५. श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहिताम्।
व्यवधावपि वा विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः॥ नै० २।१९

६. नहीङ्गितज्ञोऽवसरेवसीदति॥॥ कि० ४।२०

"बुद्धिमान् के लिए संकेत ही पर्याप्त है,"[१] तथा, "बुद्धिमान् शीघ्र दूसरों के अभि-प्राय को जान जाते हैं।"[२] मार्ग बताने वाले के प्रति भारवि का कहना है "विषम भी नीतिमार्ग उचित निर्देश द्वारा समझा जा सकता है, जैसे बीहड़ जलाशय भी अच्छे घाट द्वारा अवगाहन के योग्य हो जाता है। किन्तु उचित निर्देश करने वाला तथा अच्छा घाट बनाने वाला ही विशेष दुर्लभ है।"[३] श्रीहर्ष ने भी अग्रणी के प्रति इसी प्रकार की उक्ति कही है—"पहले कोई मार्ग भर दिखाये, फिर उसके अनुगामी दुर्लभ नहीं होते।"[४] कुटिल के प्रति कुटिलता भी नीति है, इस विषय में भारवि का मत है "जो मायावियों के प्रति मायावी नहीं होते वे मूढ़बुद्धि पराभव को प्राप्त करते हैं।"[५] श्रीहर्ष का भी यही निर्णय है, "कुटिल के साथ सरलता नहीं करनी चाहिए यह नीति है।"[६] भारवि ने अनार्य-संगम की अपेक्षा महापुरुष के साथ विरोध भी श्रेयस्कर बताया है, यदि उससे विरोध करने वाले का उत्कर्ष होता हो।"[७] किरात के उक्त सिद्धान्तका उपयोग हमें नैषध में दिखायी पड़ता है। वहाँ इसी सिद्धान्त के आधार पर "दमयन्ती के स्तनों के साथ स्पर्धा करने के कारण प्रसिद्ध होने वाला घट शास्त्रों में दृष्टान्त रूप बन गया (शास्त्रों में प्रायः उदाहरण घट का ही दिया जाता है)। और मटका आदि बनाने वाले ने भी "भैमी" के 'स्तन-स्पर्धी कुम्भों को बनाने के कारण ही अपना प्रसिद्ध नाम "कुम्भकार" प्राप्त किया।

धर्मशर्माभ्युदय

'आसेचनक' उस वस्तु को कहते हैं जिसे देखते हुए भी नेत्र कभी तृप्त न हों। ('तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तोयस्य दर्शने'—अमर कोष) क्षीर स्वामी ने इसकी टीका करते हुए लिखा है : आसिच्यते आप्यायते दृगनेन आसेचनकं, यस्य दर्शनात्

---

१. सुज्ञंप्रतीङ्गितविभावनमेववाचः॥ नै० ११।१०१
२. झटितिपराशयवेदिनोहि विज्ञाः। नै० ४।११८
३. विषमोऽपि विगाह्यतेनयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्रविशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥ कि० २।३
४. वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः॥ नै० ५।५५
५. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः॥ कि० १।३०
६. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः॥ नै० ५।१०३
७. समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥ कि० १।८
८. एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम्।
तस्माच्चशिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः॥ नै० ७।७५

दृक् न तृप्यति। बाण ने हर्ष-चरित (प्रथम उच्छ्वास) में इसका प्रयोग इस प्रकार किया है "आसेचनक-दर्शनं....नप्तारम्।" हरिचन्द्र ने भी धर्मशर्माभ्युदय में इसका प्रयोग इसी प्रकार किया है, "उसके सौन्दर्यामृत रूपी आसेचनक का स्त्रियों ने अपने नेत्रों से इच्छा भर पान किया।"[१] नैषध में हंस दमयन्ती से कहता है, "सुन्दरि! अकेला चन्द्रमा तुम्हारे नयनों को किसी प्रकार तृप्ति नहीं दे सकता, अतः नल के मुखचन्द्र के साथ वह तुम्हारे लोचनों का आसेचनक बने।"[२] जड़ी-बूटियों द्वारा किसी के चित्त को वश में करने की क्रिया को 'कार्मण' कहते हैं।[३] हरिचन्द्र ने कार्मण शब्द का प्रयोग दो स्थानों पर इस प्रकार किया है! "प्रेम-रूपी वशीकरण (कार्मण) के वशीभूत-सी होकर सुन्दरी सुरत में किसी प्रकार कष्ट का अनुभव नहीं करती थी।"[४] "तथा वह शृङ्गार रूपी नरेश की राजधानी तथा संसार के मन का एकमात्र वशीकरण (कार्मण) है।"[५] नैषध में शाल्मल द्वीप में द्रोणगिरि पर होने वाली कार्मण ओषधियों का वर्णन करती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती है—,"उस शाल्मल द्वीप में द्रोणगिरि पर वशीकरण (कार्मण) ओषधि भी है, जो बड़े भाग्य से मिलती है। किन्तु द्रोण तुम्हारे लिये उसे उपहार रूप में देगा।"[६] फिर मथुरा के राजा पृथु के हाथ में बंधी हुई मणि की ओर संकेत करती हुई सरस्वती कहती हैं, "पल्लव-रमणीय अधरों वाली सुन्दरि, महाराज पृथु के हाथ में संसार को वश में करने वाली इस कार्मण (मणि) को तो देखो।"[७] कौतूहल के साथ किसी वस्तु को देखने के लिए गर्दन ऊंची करने को 'उद्ग्रीविका' कहते हैं। सुबन्धु ने वासवदत्ता में "उद्ग्रीविका-दान" का प्रयोग किया है।[८] नैषध में स्वयंवर में नल के गले में वरमाला डालने के पश्चात् सात्त्विकोदय के कारण

---

१. तदङ्गरूपामृतमक्षिभाजनैर्यदृक्षयासेचनकं पपुस्त्रियः॥ ध० श० २।४
२. एकः सुधांशुर्न कथञ्चनस्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तुनलास्यशीतद्युतिमद्वितीयः॥ नै० ३।११
३. मूलैरोषधिभिर्यद्वशीकरणंतत्कर्मैव कार्मणं। तद्युक्तात्कर्मणोऽण्।
क्षीरस्वामी
४. ताम्यतिस्म सुरते न कथञ्चित् प्रेमकार्मणवशेवकृशाङ्गी। ध० श० १५।५९
५. शृङ्गारभूवल्लभराजधानी जगन्मनःकार्मणमेकमेव॥ ध० श० १७।१२
६. द्रोणः स तत्रवितरिष्यति भाग्यलभ्यसौभाग्यकार्मणमयीमुपदांगिरिस्ते॥११।६८
७. बाले धराधरितनैकविधप्रवाले, पाणौजगद्विजयकार्मणमस्य पश्य॥ नै० ११।१०४
८. कामिमिथुननिधुवनलीलादर्शनार्थमिवोद्ग्रीविकाशतदानखिन्नेषु—प्रदीपेषु-वासवदत्ता।

दमयन्ती के रोमाञ्चों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने भी एक स्थान पर "उद्ग्रीविका-दान" का ही प्रयोग किया है। "उस समय दमयन्ती का सारा शरीर पुलकित हो रहा था मानों उसके समस्त रोम वाल (वार अथवा शिशु) होने के कारण, वर की शोभा को देखने के लिए उत्सुक हो अपनी गर्दन उठाए हुए थे।"[१] फिर विवाह से लौटने पर नल को "अपनी नगरी पत्नी के समान दिखायी पड़ी, जिसके ऊंचे महल इस प्रकार प्रतीत होते थे मानों उसने अपने प्रिय को देखने के लिए गर्दन उठायी हो।"[२]

अनर्घराघव

विवाह आदि शुभ अवसरों पर स्त्रियां अपने हाथ और मुंह के सहारे एक विशेष प्रकार का शब्द करती हैं, जिसे 'उलूलु' कहते हैं। मुरारि ने अनर्घराघव में सीता के विवाह-प्रसङ्ग में 'उलूलु' का उल्लेख किया है।[३] श्रीहर्ष ने भी स्वयंवर में दमयन्ती द्वारा माला डाले जाने के पश्चात् ही पुराङ्गनाओं की उलूलु-ध्वनि का इस प्रकार वर्णन किया है—"उस समय पुराङ्गनायें आनन्द के साथ उच्च स्वर में मङ्गल गीत गाने लगीं। उनमें इस प्रकार हर्षोद्रेक हुआ कि उनके कण्ठ गद्गद् हो गए, और जो शब्द निकलते थे वे अस्फुट (उलूलु) होते थे।"[४] युवावस्था में भी जिसके शरीर में वाल-सुलभ सुकुमार सौन्दर्य दिखायी पड़े उसे 'गर्भरूप'[५] कहते हैं। अनर्घराघव में मुरारि ने गर्भरूप शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है। राजा दशरथ वामदेव से अपने ऊपर गुरु वशिष्ठ की अनुकम्पा का उल्लेख करते हुए कहते हैं:—"उनकी आज्ञा से प्रजा का पालन करते हुए मेरी वृद्धावस्था आ गयी। जो अब भी मुझे गर्भरूप (वालक) की भाँति सब कुछ सिखाते हैं, यह गुरु का मेरे ऊपर वड़ा पक्षपात ही है।"[६] इसी प्रकार नैषध में प्लक्षद्वीप के स्वामी मेधातिथि के रूप-

---

१. रोमाणिसर्वाण्यपि बालभावाद् वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि।
तस्यास्तदाकण्टकिताङ्गयष्टेरुदग्रीविकादानमिवान्वभूवन्॥ नै० १४।५३

२. ददर्शपश्यामिवनैषधः प्रियामथाश्रितोद्ग्रीविकमुन्नतैर्गृहैः॥ नै० १६।१२२

३. वैदेहीकरबन्धमङ्गलयजुःसूक्तं द्विजानां मुखे।
नारीणां च कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः॥ अनर्घ० ३।५५

४. कापिप्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णैव या मङ्गलगीतिरासाम्।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार॥ नै० १४।५१

५. प्रशस्तोगर्भोगर्भरूपस्तंपूर्ववयसमित्यर्थं। प्रशंसायां रूपम्॥ मल्लिनाथ

६. तस्याज्ञयैवपरिपालयतः प्रजांमे कर्णोपकण्ठिपलितङ्करिणीजरेयम्।
यद्गर्भरूपमिवमामनुशास्तिसर्वमद्यापितन्मयिगुरोर्गुरुपक्षपातः॥ अ० रा० १।१५

वर्णन के प्रसङ्ग में श्रीहर्ष गर्भरूप शब्द का प्रयोग करते हैं[1]। भोजन के बाद जो अंश उच्छिष्ट-रूप में बच जाता है उसे "विघसीकृत" कहते हैं। अनर्घराघव में राम के ऊपर क्रुद्ध हो परशुराम अपने परशु की ओर संकेत करते हुए कहते हैं:—"पहले विनष्ट किए हुए क्षत्रियों से बचे (विघसीभूत) क्षुद्रक्षत्रियों के प्रति भूखा मेरा यह परशु आज इसे खोज रहा है।"[2] इसी प्रकार श्रीहर्ष भी चन्द्रमा की सुधा को देवों द्वारा विघसीकृत (पीने के बाद बची हुई) बताते हैं—"मुझे अब चन्द्रमा के अमृत के प्रति भी घृणा होती है, क्योंकि देवों ने इसे पीकर जूठा कर दिया है।"[3] पुराने समय में किसी लेख या ग्रन्थ की समाप्ति होने पर अन्त में समाप्ति-सूचक गोलाकार चिह्न बना दिए जाते थे। ये चिह्न कभी-कभी नागरी-अक्षर छ के समान भी देखे जाते हैं, उन्हें समाप्ति-लिपि कहते हैं। मुरारि ने विष्णु के सुदर्शन चक्र को सकल-दानव-जीवितव्यविद्यासमाप्तिलिपि कहा है[4]। इसी प्रकार श्रीहर्ष ने सरस्वती के दोनों कुण्डलों को "वृत्तसमाप्तिलिपि" कहा है।[5] और फिर बरातियों के भोजन-प्रसङ्ग में दही-बड़े को, जो अन्त में परोसा गया, भोजन-क्रिया की 'समाप्तिलिपि' कहा है[6]। विनोदशील को 'वैहासिक' कहते हैं। मुरारि ने प्रभात-वर्णन के प्रसङ्ग में सूर्यदेव को 'मृदुमृणालिनी का वनविलास-वैहासिक' (अं०रा०-४।४) कहा है। ठीक इसी प्रकार श्रीहर्ष ने भी प्रभात-वर्णन में सूर्यदेव को 'वनरुहवनीकेलिवैहासिक' (नै० १९।६४) कहा है। व्याकरण शास्त्र में मूल (स्थानी) के स्थान पर होने वाले (आदेश) में मूल का गुण आ जाया करता है, जो स्थानिवद्भाव कहा जाता है। अनर्घराघव में माल्यवान् शूर्पणखा से विश्वामित्र का परिचय देते हुए कहता है—"हे पुत्रि, तपस्या द्वारा अर्जित इस का ब्राह्मणत्व भी स्थानिवद्भाव से क्षत्रियकार्य नहीं छोड़ता।"[7] इसी प्रकार श्रीहर्ष भी इन्द्र को नल

---

१. तं गर्भरूपमपि रूपजितत्रिलोकम्। नै० ११।८०

२. सोऽन्त्यंप्राक्कवलग्रहस्यविघसीभूतेष्वपिक्षत्रिय।
क्षुद्रेषु क्षुधिताश्चिरेणपरशुस्तेनायमन्विष्यते॥ अ० रा० ४।२२

३. निपीय देवैर्विघसीकृतायां घृणां विधोरस्य दधे सुधायाम्॥ नै० २२।११६

४. त्रैविक्रमःसकलदानवजीवितव्यविद्यासमाप्तिलिपिरेषसुदर्शनो मे।अ० रा० ६।७०

५. [ ]कुण्डलीवृत्तसमाप्तिलिप्याः॥ नै० १०।८७

६. समाप्तिलिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्तुलयालयीकृतम्। नै० १६।९८

७. वत्से, तपोभिरस्य ब्राह्मणादेशोऽपि स्थानिवद्भावेनक्षत्रकार्यं न विजहाति।
अ० रा०, अं० ४

का रूप धारण करने पर कहते हैं—१—कार्य साधने के लिए नैषध का रूप बना कर, साक्षात् नल बनकर, भी इन्द्र ने किस प्रकार अपने वास्तविक नीच भाव को धारण किया था—जिससे उन्हें अपनी ही बात की व्याख्या करनी पड़ी। २—विद्वान् इन्द्र ने प्रसिद्ध व्याकरण-शास्त्र के निर्माता होकर भी, (स्वयं 'नहोध:' ८।२।३४ : आदि आदेशों को बनाकर भी) अनल्-विधि में क्या दूषित-स्थानिवद्भाव न किया। (किन्तु स्थानिवद्भाव केवल अनल्विधि में ही होता है—इन्द्र इसे जानकर भी मूढ़ बना था)।[1]

जहाँ से कोई वस्तु पृथक् होती है उसे व्याकरण शास्त्र में अपादान कहते हैं[2] मुरारि ने पदशास्त्र के इस पारिभाषिक शब्द को अपने नाटक में प्रयुक्त किया है। रावण का पुरोहित सौष्कल रावण की प्रशंसा करता हुआ कहता है—"जिसने कैलास पर्वत को उठाकर नागलोक-विजय-यात्रा का मार्ग प्रस्तुत किया, उसकी आपत्तियों का 'अपादान' कैसा ?"[3] इसी के अनुकरण पर श्रीहर्ष ने भी अपादान शब्द का प्रयोग जहाँ से प्रस्थान किया जाय उस स्थान के लिए किया है। देवगण कलि से रास्ते में कहते हैं, "त्रैलोक्य के सुन्दर युवकों के गर्व को नष्ट करने वाला वह स्वयंवर तो कभी का समाप्त हो चुका है, क्योंकि आते हुए हम लोगों का वही तो अपादान है, (अर्थात् हम लोग वहीं से तो आ रहे हैं)।[4] अनर्घराघव में अगस्त्य की महिमा का वर्णन करते हुए सुग्रीव राम से कहते हैं—"जिस समय मुनीन्द्र अगस्त्य ने चारों समुद्रों का "आपोशान" (भोजन के पूर्व आचमन) किया था, उस समय सातों भुवन अपने को मुनि का भक्ष्य समझकर (क्योंकि आपोशान के बाद भक्ष्य खाया जाता है) निश्चय ही काँप गए होंगे"[5]। श्रीहर्ष ने इसी के आधार पर आपोशान शब्द का प्रयोग प्रभात-वर्णन के प्रसंग में इस प्रकार किया है—"प्रभात-वेला में कमलिनी की प्रथम पंखुड़ी को विकसित तथा अन्य पंखुड़ियों को सम्पुटित देख

---

१. स्वं नैषधादेशमहोविधाय कार्यस्य हेतोरपिनानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्तदुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः॥ नै० १०।१३६

२. ध्रुवमपाये अपादानम्—पा० १।४।२५

३. चक्रे वर्त्म च नागलोकजयिनीं यात्रामिवप्रस्तुवन्।
यः कैलाससुदस्य कीदृशमपादानं तु तस्यापदाम्॥ अ० रा० ३।३८

४. अतिवृत्तः स वृत्तान्तस्त्रिजगद्युवगर्वनुत्।
आगच्छतामपादानं स स्वयंवर एव नः॥ नै० १७।११८

५. ध्रुवमिहचतुरम्भोनिधिरचितापोशानकर्मणिमुनीन्द्रे।
भक्ष्यंमन्यानि किमपि चकम्पिरे सप्तभुवनानि॥ अ० रा० ७।९६

कर लोगों के मन में यही ध्यान आता है कि मानों सूर्य की किरणों को खाने के पूर्व कमलिनी आपोशान क्रिया कर रही है।"[1] आपोशान शब्द काव्यग्रन्थों में प्रायः न के बराबर ही प्रयुक्त हुआ है। केवल अनर्घराघव तथा नैषध में इसका प्रयोग देखकर यह अनुमान स्वाभाविक हो जाता है कि श्रीहर्ष को इसे काव्य में प्रयुक्त करने की प्रेरणा मुरारि से मिली होगी। किन्तु श्रीहर्ष ने अगस्त्य के प्रसङ्ग में इसका वर्णन न करके प्रभातकालीन कमल के वर्णन में किया है, और इस प्रकार अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण बनाए रक्खा है।

विश्वामित्र राजा दशरथ की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि "स्वर्गसुन्दरियों के सौभाग्य की रक्षा करना तो इक्ष्वाकु वंश वालों की लिखी-पढ़ी (पक्की की हुई रजिस्टर्ड) वृत्ति है।"[2] श्रीहर्ष को पूर्वोक्त श्लोक का "लिखितपठिता" पद बहुत प्रिय लगा। अतः उन्होंने उसे अपने प्रभात-वर्णन में ज्यों का त्यों रख लिया। वैतालिक कहते हैं—"दिन में कुमुदिनी अपने मुकुलरूपी नेत्रों को बन्दकर अन्धी बन जाती है। सूर्य को वह नहीं देखती, अतः लोग उसे बुरा कहते हैं। अरे भाई समझो तो बात यह है कि कवियों ने राज-दारा के लिए "असूर्यम्पश्या" विशेषण "लिख-पढ़" (रजिस्टर्ड कर) दिया है। तो कुमुदिनी भी तो द्विजराज या उडुराज की दारा है फिर वह "असूर्यम्पश्या" क्यों न हो।"[3]

---

१. मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुं प्रवृत्ततया पुरः कलितचुलुकापोशानस्य ग्रहार्थमियं किमु।
इतिविकसितेनैकेनं प्राग्दलेन सरोजिनी जनयतिमतिसाक्षात्कर्तुर्जनस्यदिनोदये।
नै० १९।२८

२. इक्ष्वाकूणां लिखित-पठितास्वर्वधूगण्डपीठक्रीडापत्रप्रकरमकरीपाशुपाल्यं हि वृत्तिः।
अ० रा० १।३१

३. स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धंभविष्णुतयाजनः किमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टे खेरनवेक्षिकाम्।
लिखितपठिता राज्ञो दाराः कविप्रतिभासु ये शृणुत शृणु तासूर्यम्पश्या न सा किल भाविनी। नै० १९।३६

पञ्चम अध्याय

रस और भाव की अभिव्यक्ति

काव्यानन्द का प्रधान रूप भावानुभूति या रसानुभूति है। किन्तु अलङ्कार-वादी या चमत्कार-वादी के लिए काव्यानन्द वह है जो चमत्कार-जन्य होता है, जिसमें अलङ्कार आदि की प्रधानता रहती है। आचार्यों ने काव्य-रस के चार अवयव माने हैं—१—स्थायी भाव, २—विभाव, ३—अनुभाव और ४—सञ्चारी भाव। मोटे तौर पर हम उन्हें दो पक्षों मे बाँट सकते हैं १—आश्रय-पक्ष, २—आलम्वन-पक्ष। दृश्य अथवा श्रव्य काव्य में जिस पात्र के हृदय में "रति" इत्यादि कोई स्थायीभाव व्यञ्जित होता है, वह पात्र उस भाव का 'आश्रय' कहा जाता है। हृदय में उस भाव की अनुभूति के समय "आश्रय" की जो चेष्टाएं होती हैं उन्हीं को 'अनुभाव' कहते हैं, तथा स्थायी भाव में "उन्मग्न"-"निमग्न" होने वाले अन्य सहभावों को 'सञ्चारी' भाव कहा जाता है। इस प्रकार आश्रय पक्ष में "स्थायी भाव", "अनुभाव" तथा "सञ्चारी भाव" तीनों का अन्तर्भाव हो जाता है। आलम्वन पक्ष में विभाव के दोनों पहलू, आलम्वन तथा उद्दीपन, आ जाते हैं। आश्रय का स्थायी भाव जिस पात्र या वस्तु के प्रति उद्‌बुद्ध हुआ है वह उसका "आलम्वन" है तथा उस पात्र या वस्तु की अवस्था, चेष्टा या अन्य परिस्थितियाँ, जिनके कारण आश्रय में वह भाव-विशेष जागरित होता है 'उद्दीपन' के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। "आलम्वन सजीव या निर्जीव दोनों प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—करुण-रस का आलंवन जिस प्रकार वाल्मीकि के आश्रम में लक्ष्मण द्वारा परित्यक्त, उन्मुक्त रोदन करने वाली सती सीता हो सकती है,[1] उसी प्रकार राम के स्वर्गा-रोहण के पश्चात् कुश-द्वारा परित्यक्त उजड़ी अयोध्या भी हो सकती है।"[2] रस में "आलम्वन" सवसे प्रधान होता है। यदि "आलम्वन" का चित्रण सफल हो गया तो रसोद्‌वोध निश्चित हो जाता है।

---

१. रघुवंश १४ सर्ग

२. रघुवंश १६ सर्ग

शृङ्गाररस

नैषध में शृङ्गार प्रधान रस है और रति प्रधान भाव। किन्तु उत्साह, हास, विस्मय, जुगुप्सा, शोक, क्रोध, वात्सल्य आदि भावों की भी यथास्थान अत्यन्त मनोरम व्यञ्जना हुई है। महाकाव्यों में प्रधान रस के अतिरिक्त अन्य रसों को भी गौण रूप में रखने का नियम रक्खा गया है।[1] क्योंकि जीवन में सदा एक ही रस या भाव नहीं बना रहता है—कभी हास-परिहास है तो कभी रोदन-विलाप, कभी उत्साह है तो कभी अपार शोकावेग, कभी वात्सल्य की सरस धार वहती है तो कभी क्रोध का प्रचण्ड ताण्डव देखने को मिलता है। और इस बहुरङ्गी रूप में ही जीवन का स्वारस्य है। अतः काव्यों में सभी या अनेक रसों की उपलब्धि अथवा उपस्थिति उचित तथा स्वाभाविक ही समझ पड़ती है। नैषध में शृङ्गार के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर साङ्गोपाङ्ग चित्रण हुआ है। वियोग या विप्रलम्भ पक्ष पहिले आया है, संभोग बाद में। नैषध का प्रारम्भ नल-दमयन्ती के पूर्वराग या प्रेम से होता है। संस्कृत-साहित्य के समस्त प्रेमाख्यानों वाले काव्यों में वर्णित प्रेम कुछ नियत प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार का प्रेम वह है जो राम-सीता के जीवन में दिखाया गया है। यह प्रेम विवाह के पश्चात् अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ होता है तथा जीवन की विकट परिस्थितियों के आने पर निखरता चलता है। वनगमन से लेकर लङ्का के भयानक युद्ध तक हमें राम-सीता के "प्रेम" की झांकी दिखायी पड़ती है। इस प्रेम से दाम्पत्य-जीवन में आनन्द, उत्साह तथा शक्ति सब की प्रेरणा मिलती है। यह अत्यन्त शुद्ध, अत्यन्त निर्मल एवं अत्यन्त सात्त्विक होता है। इसमें आनन्द है, पर विलास नहीं, सुख है, पर कामुकता नहीं। आदि-कवि ने अपने रामायण में इसी प्रेम का निरूपण किया है।

दूसरे प्रकार का प्रेम गान्धर्व-विवाह के प्रसंगों में देखा गया है। नायक-नायिका कहीं अकस्मात् मिल जाते हैं। दोनों में नयनानुराग उत्पन्न होता है। फिर प्राप्ति के लिए बेचैनी आती है। ऐसे प्रेम की कथा प्रायः विवाह तक ही चलती है। विवाह हो जाने पर फिर उसकी कोई चर्चा नहीं।

तीसरे प्रकार का प्रेम वही है जो रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमञ्जरी आदि में देखने को मिलता है। यह वास्तव में प्रेम नहीं बल्कि राजाओं के अन्तःपुर में भोग-विलास या रङ्ग-रहस्य का चित्रण मात्र है। इसमें रानियों के मान, ईर्ष्या, कलह, द्वेष, विदूषकों के हास-परिहास तथा राजाओं की स्त्रैणता आदि का ही दर्शन

---

१. अङ्गानिसर्वेऽपि रसाः॥ सा० द० ६।३१७

होता है। इसमें प्रयत्न कहीं नहीं, केवल फल-भोग है। कौशाम्बी-नरेश उदयन का चरित्र प्रायः इसी प्रकार का चित्रित किया गया है।

चौथे प्रकार का प्रेम वह है जो गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन आदि से (प्रायः नायिका के मन में) उत्पन्न होता है। फिर प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है। उषा-अनिरुद्ध का प्रेम इसी प्रकार का है।

नैषध में वर्णित प्रेम वैसे तो चौथे प्रकार का है किन्तु इसमें झलक चारों की मिलती है। महाभारत-आदि में जहाँ कहीं भी नल का चरित्र वर्णित है वहाँ उसमें गाम्भीर्य, क्षमा, सत्यसन्धता तथा शालीनता ओतप्रोत है। साहित्य शास्त्र की भाषा में नल प्रायः सर्वत्र धीरोदात्त नायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं, किन्तु दमयन्ती के अलौकिक अनन्य प्रेम ने उनके सत्यव्रत जीवन में एक अपूर्व सरसता एवं मधुरता उत्पन्न कर दी है। सती ने अपने प्रेम की ऐसी दिव्य दीपशिखा जलाई जिसका आलोक नल के जीवन के विशाल कक्ष के प्रत्येक वातायन से छिटक रहा है। इसमें पड़कर समुद्र-गम्भीर नल प्रेम-भूमि वन गए, तथा नल-चरित अथ से इति तक प्रेम-कहानी वन गया। उस प्रेम की विशेषता यह है कि वह लोक-विमुख ऐकान्तिक प्रेम नहीं होने पाया। उसमें वियोग की आहों के साथ लोक-व्यवहार की चिन्ता भी है, तथा संभोग के हास-परिहास के साथ कर्तव्य का उत्साह भी है। आज-कल की प्रवृत्ति के अनुसार प्रेम अन्धा होता है। किन्तु दमयन्ती का प्रेम सती का प्रेम था। वह दूत में नल-रूप की समता देखकर भी उसे आँख भर इसीलिए नहीं देख सकती थी कि पर पुरुष को देखना उसके सतीत्व के प्रतिकूल पड़ता था।[१] नल की प्राप्ति के लिए वह प्राण भी दे सकती थी किन्तु मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं कर सकती थी। उसने स्वयंवर में देवों को प्रसन्न करके ही नल को वरना निश्चित किया।[२] अपने पिता के यहाँ अन्तःपुर में नल को पाकर भी दमयन्ती, कण्व के आश्रम में दुष्यन्त को पाकर शकुन्तला की भाँति शृङ्गार-चेष्टाओं में नहीं पड़ जाती। प्रेम का अभिनय नहीं करने लगती।

उसी प्रकार नल का प्रेम भी कर्तव्य की आंच से तपा हुआ है। दमयन्ती के प्रेम में वे प्राण देकर भी अनृण होने को तैयार थे। यह उस प्रेम का लोक-मङ्गल पक्ष था। इस पर विशेष विचार स्वभाव-चित्रण करते हुए किया जायगा। इन्द्र आदि

---

१. वृणे दिगीशानिति का कथा तथा त्वयीति नेक्षे नलभासपीहया।
सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्मयः॥ नै० ९।७०

२. व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा॥ नै० ९।१५४

देवों की भी दमयन्ती में आसक्ति है ही। किन्तु इसे प्रेम न कह कर "लोभ या लोलुपता" कहा जाय तो अधिक अच्छा है। उनकी आसक्ति में प्रेमवाली एकनिष्ठता कहाँ है? देवगण दमयन्ती के रूप-सौन्दर्य को अपनाना चाहते थे, चाहे उसका हृदय भले न रीझे। विजयेच्छु राजा की भांति वे साम, दाम, दण्ड, भेद—चारों नीतियों का प्रयोग करना चाहते थे। इन उपायों से भी सफल न होने पर वे छल-कपट पर भी उतारू हो सकते थे। अतः उनका प्रेम लोभ या लोलुपता ही कहा जायगा—वैसा लोभ, जैसा किसी उदरम्भरि का अच्छी मिठाइयों के प्रति हुआ करता है। वस्तुतः प्रेम दो हृदयों का अत्यन्त पावन संबंध है। वहां दो हृदय परस्पर एक दूसरे को पाना चाहते हैं। लोभ किसी वस्तु के प्रति होता है, पर प्रेम व्यक्ति से होता है, क्योंकि उसमें दोनों ओर से सजीवता रहती है।

विप्रलम्भ शृङ्गार

नैषध में शृङ्गार का विप्रलम्भ-पक्ष पहले आया है सम्भोग वाद में। नल-जीवन का पूर्वार्द्ध है भी इसी प्रकार का। विप्रलम्भ (वियोग) चार अथवा पांच प्रकार का माना[1] गया है, जिसका हेतु १—पूर्वराग अथवा अभिलाष, २—मान अथवा ईर्ष्या, ३—प्रवास, ४—करुण तथा ५—शाप होता है। नैषध का वियोग अभिलाष अथवा पूर्वराग के रूप का है। श्रीहर्ष ने काव्य का नाम नल-चरित रक्खा और इसका प्रारम्भ भी नल का परिचय देते हुए किया। नल के जीवन में दमयन्ती की अवतारणा कब और कैसे हुई, इस प्रसङ्ग को महाकवि ने अद्भुत सफलता के साथ कल्पित किया है। कठिनाई इस कारण विशेष थी कि भारतीय प्रेम-पद्धति में नायिका का नायक में अनुराग पहले दिखाया जाता है, नायक का नायिका में बाद को। अब यदि दमयन्ती का परिचय पहले देकर उसके नलानुराग का विवरण देते हुए काव्य का प्रारम्भ करते तो उसमें प्रामुख्य दमयन्ती-चरित का होता, जिससे नलीय-चरित नाम सार्थक न होता। अतः नल का परिचय देता हुआ कवि उनके यश, दान, पराक्रम आदि का विवरण शीघ्रता से देकर वयःसन्धि के समय रूप-सौन्दर्य का बड़ा विस्तृत चित्रण करता है। फिर उस अलोक-सामान्य रूप के प्रति सुन्दरियों की क्या भावना होती है, इसका विवरण देता हुआ अत्यन्त स्वाभाविक

---

१. अपरस्तु अभिलाष-विरहेर्ष्या-प्रवास-शाप-हेतुक इतिपञ्चविधः—

(काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास)

केचित्तु—'पूर्वानुरागमानाख्यप्रवासकरुणात्मना ।

विप्रलम्भविधानोऽयं शृङ्गारः स्याच्चतुर्विधः ॥

ढंग से विदर्भ देश के राजा भीम की कुमारी का उल्लेख करता है। "मेरी रूप-श्री नलकान्ति के योग्य है या नहीं ?" इसे जानने के लिए एक भीम-कुमारी को छोड़ कर, कोई भी सुन्दरी जब हाथ में दर्पण लेती तो उसकी निराशा की आहों से दर्पण ही अन्धा हो जाता।[1] इस एक श्लोक में श्रीहर्ष ने कितनी बातें अत्यन्त उत्कृष्ट व्यञ्जना द्वारा व्यक्त की हैं—नल का अवर्णनीय सौन्दर्य, अन्य किसी सुन्दरी से नल-परिणय की असम्भावना, भीम की कुमारी का अद्‌भुत सौन्दर्य तथा उसके हृदय में नल रूप के प्रति आकर्षण। प्रथम सर्ग में श्रीहर्ष ने दमयन्ती के सौन्दर्य का कहीं भी शब्दों (अभिधा) द्वारा वर्णन नहीं किया है। नल के रूप की विस्तृत प्रशंसा कर के अन्त में केवल इतना कह दिया कि "अपनी रूप संपत्ति के अनुरूप नल में भीमनन्दिनी का मन अनुरक्त होने लगा।"[2] इस परिचय के प्रसंग में एक बात जो विशेष ध्यान देने की है वह यह कि श्रीहर्ष ने पूरे प्रथम सर्ग में कहीं भी दमयन्ती का नाम नहीं लिखा है। अभी तो हमें विदर्भ-देश और वहां के राजा भीम का ही परिचय दिया गया है। दमयन्ती वहाँ की राजकुमारी के रूप में जानी जा सकती है। अतः श्रीहर्ष ने विदर्भजा, भीमनन्दिनी, भैमी आदि शब्दों के द्वारा ही उसका उल्लेख किया है। सुन्दरी का "दमयन्ती" नाम तो सर्वप्रथम द्वितीय सर्ग में हंस के मुख से सुनने को मिलता है जो इस नामकरण का कारण भी बतलाता है।[3]

दमयन्ती का नल में अनुराग कई अत्यन्त स्वाभाविक कारणों से उत्पन्न होता है तथा उसी प्रकार उत्कर्ष पर पहुंचता है। किसी से एक बार सुनकर, कहीं चित्र में एक बार देख कर, या स्वप्न में एक बार साक्षात्कार कर के जो अनुराग उत्पन्न होता है, वह केवल अभिलाष दशा तक ही सीमित रह सकता है। उसमें प्रेमजन्य अन्य वियोग-दशाएँ अत्यन्त अस्वाभाविक लगेंगी। एक तो दमयन्ती की वयः-सन्धि है,[4] जिस अवस्था में कुमारियों के मन में अपने अनुरूप पति की बड़ी कल्पनाएं उठती हैं, फिर नल की रूप-सम्पत्ति के विषय में उसने बहुत तरह से सुना है।[5]

---

१. श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपयाधृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः॥ नै० १।३१

२. नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः॥ नै० १।३३

३. दमनादमनाक्प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात्।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम्॥ नै० २।१७

४. विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥ नै० १।३२

५. नृपेनुरूपे—बहुशः श्रुतिं गते॥ नै० १।३३

अत: अनुराग का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। पूर्वराग में सर्वप्रथम 'मनोभिलाष' होता है। पिता के पास बन्दियों के मुंह से नल की प्रशंसा सुनकर रोमाञ्चित होना,[1] बातचीत के प्रसंग में घास (नरकुल) का भी नल नाम सुन कर चौंक पड़ना,[2] उपमान रूप में नल को ही रखवाना,[3] निषध देश से आए दूत-द्विज-वन्दि-चारणों के मुख से नल के गुणों की प्रशंसा सुन कर विमनस्क हो जाना,[4] चित्रकार से चित्र-भित्ति पर सुन्दर युगल बनवाने के व्याज से नल का और अपना चित्र बनवाना[5] आदि सारी चेष्टाएं दमयन्ती के मनोभिलाष तथा गुणकथन अवस्था की सूचक हैं।

इस पूर्वराग (वियोग) की विभिन्न दशाओं को आचार्यों ने काम-दशा कहा है। पूर्वराग पहले तो रूप-गुण-प्रधान होने के कारण सामान्योन्मुख रहता है। हमें अमुक व्यक्ति-विशेष इसलिए प्रिय लगा कि उसमें वह रूप और वे गुण हैं जो हमें अत्यन्त प्रिय हैं। यहां हमारा अनुराग उस व्यक्ति के लिए नहीं, वल्कि उस रूप और उन गुणों के प्रति है। अतः हम इसे सामान्योन्मुख कहते हैं। पर यही पूर्वराग जब कुछ दिन तक बना रह जाता है तो प्रेम का रूप धारण कर लेता है। प्रेम-व्यक्ति-विशेष के प्रति होता है। अतः विशेषोन्मुख कहा जाता है। फिर उस पूर्वराग में एक-निष्ठता आ जाती है। प्रेम हो जाने पर उस व्यक्ति के न मिलने से अनेक दुःख स्वभावतया भोगने पड़ते हैं। अतः पूर्वराग या प्रेमजन्य वियोग-दशा को काम-दशा कहना अधिक उपयुक्त नहीं समझ पड़ता। कामवेदना ऐसी वेदना है जो व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं होती। वह एक प्रकार से समागम सुख का अभाव-मात्र है। संभवतः प्रिय और प्रेमी के मिलन के समय की दशा का साधारण संयोग-दशा से साम्य देख कर दोनों को वियोग-दशा में भी समान मान लिया गया है।

---

१. उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम्॥ नै० १।३४

२. कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनिश्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥ नै० १।३५

३. स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत्॥ नै० १।३६

४. नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेणदूतद्विजवन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया॥ नै० १।३७

५. प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥ नै० १।३८

हंस से मिलने के पूर्व दमयन्ती के राग की केवल 'चिन्ता', 'स्मृति', 'अभिलाष' तथा 'गुण-कथन' अवस्थाएं ही दिखायी पड़ती हैं। सतत चिन्ता के कारण उसे स्वप्न में नल दिखायी पड़ते—उन्हें वह अपना पति बनाती।[1] नल के विषय में वह सुनती, मोहवश उन्हें देखती तथा निरन्तर उनके ध्यान में रहती।[2] अन्य दशाएं हंस के चले जाने के बाद दिखायी पड़ती हैं। हंस-दमयन्ती-संवाद 'अथ' से 'इति' तक उत्तम व्यञ्जनाओं से भरा पड़ा है। हंस जिस उपोद्घात के साथ दमयन्ती से वार्तालाप प्रारम्भ करता है उसे सुनकर कोई सुन्दरी, जिसने नल का नाम भी कभी नहीं सुना है, उनसे अनुराग करने लगती, फिर दमयन्ती तो पहले से ही नल में अनुरक्त थी, हंस ने अपने आलाप-कौशल से यदि उस अनुराग को प्रगाढ़ प्रेम का रूप दे दिया तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। हंस के द्वारा वह 'पूर्वराग', 'मञ्जिष्ठाराग' की दशा में पहुंच जाता है। अब नल-प्राप्ति के लिए सुन्दरी प्राणों की भी बाजी लगाने को तैयार है।[3] वह हंस को नल से अपने अनुराग के निवेदन करने का जो उचित अवसर तथा विधि बताती है वह उसकी अधीरता का ही व्यक्तीकरण है। प्रिय का समाचार देने वाला भी कितना प्रिय होता है इसका दर्शन दमयन्ती के कृतज्ञता-पूर्ण वाक्यों में देखा जा सकता है—"हे सौम्य, इस बालिका ने जो कुछ भी अनुचित किया हो उसे क्षमा करना। हंस होते हुए भी देवांश होने के कारण तुम उसी प्रकार वन्दनीय हो, जैसे श्रीवत्स से अङ्कित होकर मत्स्य की मूर्ति होती है।[4] मेरी आंखों को तुम्हें देख कर जो आनन्द मिला है उससे भी बढ़ कर किस सुख को तुम मुझे देना चाहते हो? अपनी सुधा-धारा से विश्व नेत्र को शीतल करने के सिवा चन्द्रमा

---

१. मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्॥ नै० १।३९
निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः॥ नै० १।४०

२. श्रुतः स दृष्टश्च हरित्सु मोहाद्ध्यातः स नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेषः॥ नै० ३।८२

३. दत्त्वात्मजीवं त्वयि जीवदेपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।
विधेहि तन्मां त्वदृणात्यशोद्धुमसुप्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम्।
क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्ति तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम्॥ नै० ३।८६-८७

४. अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य! तावत्।
हंसोऽपि देवांशतयासि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः॥ नै० ३।५७

करता ही क्या है ?"[1] अन्त में हंस के चल देने पर दमयन्ती का उसे निर्निमेष अश्रु-विप्लुत नेत्रों से देखना भी स्नेह की ही सूचना देता है।

जब इसका निश्चित पता चल गया कि अपना प्रिय भी उसी भांति प्रेम में अधीर है तो उसके प्रति अपना प्रेम कितना और गाढ़ा होगा इसका अनुमान सहज में लगाया जा सकता है। हंस दमयन्ती को प्रेम की ऐसी माधवी पिला जाता है जिसका नशा दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है।[2] वह प्रिय के विषय में जितना ही सुनती, उसका 'ताप' उतना ही और बढ़ता जाता है। 'ताप' के लक्षण उसके कोमल शरीर में ही देखे जा सकते हैं।[3] चिन्ता की प्रबलता के कारण[4] चिन्ता की अधिकता ही जड़ता हो जाती है।[5] आंखों में निरन्तर अश्रुधार,[6] दीर्घ उष्णनिःश्वास,[7] उन्मादवश सर्वत्र नल-रूप का दिखायी पड़ना[8] शरीर-व्याधि का बढ़ना,[9] आदि स्मरदशाएं

---

१. मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि यातिशेताम्।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम्॥ नै० ३।५८

२. अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशः कुसुमं धनुः।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम्॥ नै० ४।१
यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्॥ नै० ४।२

३. कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम्।
अहरहर्वहदम्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम्॥ नै० ४।६ इत्यादि

४. मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेतयोः।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि॥ नै० ४।१२

५. अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम्।
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः॥ नै० ४।४

६. हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानतेः।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलागमि तन्मुखम्॥ नै० ४।१३

७. सुहृदमग्निमुदन्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः।
अकलि निःश्वसितेन॰ विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता॥ नै० ४।१४

८. विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः॥ नै० ४।१५

९. करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे।
रविमहो बहु पीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसज्यत॥ नै० ४।१७
हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चितार्चिषि॥ नै० ४।२१

स्वाभाविक ही लगती हैं। सुन्दरी की विवशता-पूर्ण करुण दशा का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र देते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"दमयन्ती को कामदेव के वाण-रूपी पन्नगों ने डसा था, जिससे वियोगरूपी विष फैल कर उसे विह्वल कर रहा था। सुन्दरी की दशा सूर्य की किरणों से पीड़ित चन्द्रकला की-सी हो रही थी। उसे देख कर किसका करुणार्णव न उमड़ पड़ता।[1] चन्द्रोपालम्भ[2] तथा मदनोपालम्भ[3] 'प्रलाप' के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं। यद्यपि इन उक्तियों में कहीं-कहीं केवल कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र देखने को मिलती है, हृदय के कोमल भावों का कोई योग नहीं, किन्तु अधिक उक्तियां प्रेम-व्यथित हृदय की ही समझ पड़ती हैं। अर्द्ध-समस्या के रूप में अन्तरङ्ग सखियों के साथ विनोद-वृत्ति के मूल में भी वही रति भावना काम कर रही है। सखियों से वात करते-करते दमयन्ती का मूर्च्छित होना[4] अत्यन्त स्वाभाविक जँचता है। एक तो पहले की दुर्बलता, फिर सखी की निराशा की वातें—अव मूर्च्छा न होगी तो और क्या होगा?

नल-दमयन्ती के पूर्व-राग में सर्वत्र तुल्यानुराग दिखाया गया है। नल ने भी लोगों से ही दमयन्ती के रूप-गुण की प्रशंसा सुनी।[5] एक अविवाहित, विजयी, प्रतापी, युवा राजा के हृदय में किसी अपूर्व सौन्दर्यवाली राजकुमारी के प्रति अनुराग उत्पन्न होना न अनुचित है न अस्वाभाविक। नल को शीघ्र अधीरता, उद्वेग, निद्रानाश आदि[6] दशाओं का अनुभव होने लगता है। पुरुष की यह वेचैनी स्वाभाविक ही है। उद्वेग और प्रलाप भी वढ़ जाता है।[7] उपवन-विहार से मदन-व्यथा और वढ़ जाती है। हंस के सम्मुख नल अपनी सारी कदर्थना अत्यन्त भोले शब्दों में

---

१. इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा ।
शशिकलेव खरांशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ॥ नै० ४।३३

२. नै० ४।४७–७३

३. नै० ४।७४–९९

४. इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका ।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमतिदुःखिता ॥ नै० ४।११०

५. स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युववैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद्गुणोत्करम् ॥ नै० १।४२

६. अपह्नवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधितज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥ नै० १।४९

७. शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छयत्पञ्चममूर्छनासु च ॥ नै० १।५२

कह डालते हैं।[1] हंस दमयन्ती के सम्मुख नल का मदन-ताप भी उतना ही अधिमात्र बताता है जितना दमयन्ती का है।[2] दमयन्ती के प्रेम में नल की एक-निष्ठता की व्यञ्जना हंस किस प्रकार करता है—"नल का चित्त तुममें इस प्रकार लीन है कि उनकी सारी बाह्येन्द्रियां अपने विषयों का भी ग्रहण नहीं कर सकतीं, मानो उन्होंने उपवास का व्रत ले रक्खा है। अब तुम्हें पाकर उन्हें अमृतपान का सुख मिलेगा।" राजा देवांश है हीं, इस अमृतपान से उसका देवांशत्व भी चरितार्थ हो जायगा।"[3] हंस पूर्ण वक्रोक्ति के साथ नल के चक्षू-राग,[4] विषय-निवृत्ति,[5] निःश्वास,[6] संकल्प,[7] निद्रानाश,[8] त्रपानाश,[9]

---

१. शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम।
अमुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम्॥ नै० २।५४ इत्यादि

२. इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृपं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम्॥ नै० ३।१००

३. त्वद्‌बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः।
त्वामद्य लब्ध्वामृततृप्तिभाजां स्वदेवभूयं चरितार्थमस्तु॥ नै० ३।१०१

४. लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपःपिबन्नादरनिर्निमेषः।
चक्षुर्झरैरर्पितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु॥ नै० ३।१०३
पातुर्दृशालेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयास्ते।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः॥ नै० ३।१०४

५. त्वं हृद्‌गता भैमि! बहिर्गतापि प्राणायिता नासिकयास्यगत्या।
न चित्रमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति॥ नै० ३।१०५

६. अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां संकल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान्स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतां तदाप्य॥ नै० ३।१०६

७. हृत्तस्य यन्मन्त्रयते रहस्त्वां तद्व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य॥ नै० ३।१०७

८. स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा॥ नै० ३।१०८

९. त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येष दास्येऽपि न लज्जते यत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य॥ नै० ३।११०
स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोःसिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा॥ नै० ३।१११

उन्माद[1] तथा मूर्छा[2] दशाओं का चित्रण करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों श्रीहर्ष साहित्य-मीमांसा का कोई ग्रन्थ सामने रख कर यह वर्णन और तदुनसार वियोगावस्था की सभी दशाओं का क्रमिक चित्रण कर रहे हों, यहां तक कि अन्त में दसवीं अवस्था का भी उल्लेख कर देते हैं। रस-विच्छेद के भय से कवि-गण मरण का वर्णन नहीं करते। पर श्रीहर्ष ने उसे भी याद कर ही लिया, यद्यपि उसे आकाश-कुसुम ही रक्खा।

हंस के दमयन्ती के पास से लौटने पर नल के स्वरूप की जो एक झांकी दी गयी है, उसी से उनके अनुराग की अधीरता का पता चलता है। नल अपने आप से कह रहे थे—"प्रिये दमयन्ती, मैं तुम्हें कुछ नहीं कह सकता हूं, क्योंकि तुम स्वयं पराधीन हो। हंस, शीघ्र आओ, बोलो, उसने मुझे क्या (संदेसा) कहला भेजा है?[3] और जब हंस ने सन्देश सुना दिया तो—"एक वार कही वात को कई वार कहलवाते और प्रगाढ़ आनन्द की मदिरा से मत्त हो, सुनी वात को, स्वयं भी, सैकड़ों वार, उसी भांति, दुहराते।"[4] किम्-किम्! इस द्विरुक्ति में उत्कंठा का सुन्दर स्वरूप छिपा है।

नैषध में वर्णित प्रेम समाज के आदर्श-भूत नायक-नायिका का होने के कारण अत्यन्त मर्यादित है। प्राप्ति का प्रयत्न नायिका की ओर से अधिक है। नायक की ओर से केवल हंस को भेजने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इससे एक तो दमयन्ती के सतीत्व की परीक्षा हो जाती है, दूसरे नल-चरित्र की गम्भीरता तथा उदात्तता प्रतिष्ठित हो जाती है।

स्वयंवर में पांच नलों के सम्मुख पहुंचने पर दमयन्ती के उद्विग्नता,[5]

---

१. बिभेति रुष्टासि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलापेति हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनु यात्य हेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम्॥ नै० ३।११२

२. भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निःशरण्यः।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भट-कुञ्जरोऽयम्॥ नै० ३।११३

३. परवति दमयन्ति! त्वां न किंचिद्वदामि द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस॥
नै० ३।१३४

४. कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः।
अधिगतमथ सान्द्रानन्दमाध्वीकमत्तः स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथान्वाचचक्षे॥
नै० ३।१२५

५. इन्द्राग्निदक्षिणदिगीश्वरपाशिभिस्तां वाचं नले तरलिताथ समां प्रमाय।
सा सिन्धुवेणिरिव वाडववीतिहोत्रं लावण्यभूः कमपि भीरुसुताप तापम्॥
नै० १३।३५

सन्देह,[1] विकल्प,[2] आदि भावों का अत्यन्त मनोरम चित्रण किया गया है।

संयोग शृङ्गार

नैषध में वियोग-संयोग दोनों पक्षों का चरमोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नल-दमयन्ती के शृङ्गार-रस के सम्भोग-पक्ष का प्रारम्भ स्वयंवर-मण्डल से ही हो जाता है। जब दमयन्ती ने देव-प्रसाद से नल को स्पष्ट रूप में पृथक् देखा तो वरमाला पहिनाने के लिए उसकी मानसी धारा में त्वरा-जनित वेग कुछ वैसा ही हुआ होगा जैसा वर्षा से उमड़ी नदी की धारा में बांध के टूटने पर होता है। किन्तु लज्जा की अर्गला भी वहां उतनी ही प्रबल है। अतः 'त्वरा' और 'त्रपा' के बीच दमयन्ती की अद्भुत दशा हो जाती है।[3] श्रीहर्ष ने सुन्दरी की लज्जा का एक अत्यन्त मनोरम चित्र दिया है—"प्रिय को पहिनाने के लिए माला से सुसज्जित दमयन्ती का हाथ प्रिय के सामने होकर फिर विरत हो गया। उसी प्रकार उसका अति चञ्चल कटाक्ष प्रिय-मुख के आधे-रास्ते तक जाकर ही (लज्जा-वश) वापस लौट आया।[4] माला-सहित हाथ का बार बार उठना तथा साथ ही कटाक्षों का प्रिय के मुख की ओर आधे-रास्ते तक जा कर ही लौट आना ऐसा चित्र है जिसकी परख भावुक हृदय ही कर सकता है। फिर बड़ी कठिनाई से नल के मुख-कमल तक आंखें गयीं भी तो तुरन्त लौटीं और लौटते समय प्रिय सखी सरस्वती के मुख को भी देखती आयीं।[5] मुग्धा की लज्जा का इतना सहृदय एवं सूक्ष्म चित्रीकरण विरले कवियों में मिलता है। यहां लज्जा का एक और चित्र उपस्थित करना अनुपयुक्त न होगा। दमयन्ती सरस्वती से नल की ओर चलने के लिए संकेत द्वारा कहना चाहती है, सरस्वती, परिहास

---

१. अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनस्य तत्र भ्रान्तौ दिगन्तचिपिटीकरणादिरादिः।
स्वच्छोपसर्पगमपि प्रतिमाभिमाने भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम्॥
नै० १३।४२ इत्यादि

२. नै० १३।४६ इत्यादि।

३. नले निधातुं वरणस्रजं तां स्मरः स्म रामां त्वरयत्यथैनाम्।
अत्रत्रपा तां निषिषेध तेन द्वयानुरोधं तुलितं दधौ सा॥ नै० १४।२५

४. करः स्रजा सज्जतरस्तदीयः प्रियोन्मुखः सन्विरराम भूयः।
प्रियाननस्यार्धपथं ययौ च प्रत्याययौ चातिचलः कटाक्षः॥ नै० १४।२८

५. कथं कथंचिन्निषधेश्वरस्य कृत्वास्यपद्मं दरवीक्षितश्रि।
वाग्देवताया वदनेन्दुबिम्बं त्रपावती साकृत सामिदृष्टम्॥ नै० १४।३०

में, उस संकेत को न समझने का अभिनय करती हैं। अब मुग्धा के सामने बड़ी विकट समस्या आती है। 'नल' शब्द का स्पष्ट उच्चारण करना पड़ेगा—क्योंकि वामा सखी सरस्वती खुराफ़ात पर उतारू हो गयी है। मुग्धा बड़ी कठिनाई से 'न' तो कह लेती है फिर 'ल' कहने के पूर्व ही लज्जा उसे इस प्रकार पी जाती है कि वह 'ल' कह ही नहीं सकती। तब अपनी अंगुलियों से सरस्वती की अंगुलियों को दबाती हुई सिर नीचे झुका लेती है।[1] लज्जा द्वारा पी लिया जाना, अंगुली से सखी की अंगुलियों को दबाना, साथ ही सिर झुकाना आदि से बढ़ कर लज्जा भाव की व्यञ्जना का और उत्कृष्ट रूप क्या हो सकता है? उपहास में ही जब सरस्वती उसका हाथ पकड़कर महेन्द्र की ओर ले जाती हैं, उस समय दमयन्ती जिस प्रकार उनसे अपना हाथ छुड़ाती है[2] उसमें प्रेम के सहचारी 'भय' तथा 'सम्भ्रम' की सुन्दर व्यञ्जना है। वरमाला पड़ जाने के बाद प्रेम की पक्की रजिस्ट्री हो गयी, अतः सात्त्विक भावों का उदय अत्यन्त स्वाभाविक लगता है। रोमाञ्च का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"उस समय दमयन्ती का सारा शरीर पुलकित हो रहा था, मानो उसके समस्त रोम, बाल (बार अथवा शिशु) होने के कारण वर की शोभा को देखने के लिए उत्सुक हो अपनी गर्दन उठाए हुए थे।[3] वरमाला पहनाते समय के परस्पर के स्पर्श से दोनों को स्तम्भ हो आया।[4] नल के स्वेद,[5] वेपथु,[6] तथा हर्ष से आंखों के छलकने[7] (अश्रु) का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। पाणिग्रहण विधि के समय भी दोनों को स्वेद,

---

१. देव्याः श्रुतो नेति नलार्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता।
अथाङ्गुलीरङ्गुलिभिर्मृशन्ती दूरं शिरः सा नमयाञ्चकार॥ नै० १४।३२

२. विहस्य हस्तेऽथ विकृष्य देवी नेतुं प्रयाताऽभि महेन्द्रमेताम्।
भ्रमादियं दत्तमिवाहिदेहे ततश्चमत्कृत्य करं चकर्ष॥ नै० १४।३४

३. रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावाद्वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि।
तस्यास्तदा कण्टकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीविकादानमिवान्वभूवन्॥ नै० १४।५३

४. चेष्टा व्यनेशन्नखिलास्तदास्याः स्मरेषु वातैरिव ता विधूताः।
अभ्यर्थ्य नीतः कलिना मुहूर्तं लाभाय तस्या बहु चेष्टितुं वा॥ नै० १४।५५

५. तत्प्रस्तमाल्यस्पृशि यन्नलस्य स्वेदं करे पञ्चशरश्चकार।
भविष्यदुद्वाहमहोत्सवस्य हस्तोदकं तज्जनयाम्बभूव॥ नै० १४।५६

६. तूलेन तस्यास्तुलना मृदोस्तत्कम्प्राऽस्तु सा मन्मथबाणवातैः।
चित्रीयितं तत्तु नलो यदुच्चैरभूत्स भूभृत्पृथुवेपथुस्तैः॥ नै० १४।५७

७. दृशोरपि न्यस्तमिवास्तराज्ञां रागाद् दृगम्बुप्रतिबिम्बि माल्यम्।
नृपस्य तत्पीतवतोरिवाक्ष्णोः प्रालम्ब्यमालम्बनयुक्तमन्तः॥ नै० १४।५८

रोमाञ्च, स्तम्भ[1] तथा दमयन्ती को रथ पर चढ़ाते हुए भी दोनों को रोमाञ्च का अनुभव हुआ।[2]

दमयन्ती का वर्णन सर्वप्रथम एक मुग्धा के रूप में किया जाता है। रतिक्रीड़ा के समय प्रथम मिलन में मुग्धा दमयन्ती की लज्जा का कारण कुछ बीती घटनाएं हैं। दूत-रूप में आए हुए नल के सम्मुख जो उसने मुंह खोल कर बातें की थीं, उस धृष्टता को सोच कर अब वह समझ ही नहीं पाती थी कि क्या करूं।[3] स्वयंवर-सभा में जो उसने लाज छोड़ कर स्वयं नल को वरमाला पहनायी, अपनी उस चञ्चलता को सोच कर तो दमयन्ती नल की ओर ताक भी नहीं सकती थी।[4] इस श्लोक में 'सदसि', 'स्वयं' तथा 'विलोकितुं' में कितनी उत्तम व्यञ्जना है। किवाड़ के पास चित्र-लिखित-सी खड़ी रहना, प्रिय के लाख बुलाने को न सुनना,[5] प्रिय के पास न आना, किसी तरह से लाई जाने पर, बिस्तर पर न बैठना, आदि[6] में मुग्धा की लज्जा का ही चित्रण होता है। नल के सम्मुख वह अभी मुंह खोल कर हंस भी नहीं सकती है। उनकी हंसी की बातों को सुन कर केवल मुस्करा भर देती है।[7] (इस 'स्मित' में उद्दीपन कितना है इसे सहृदय स्वयं समझ सकते हैं) मुग्धा के द्वैधभाव का एक सुन्दर चित्र श्रीहर्ष देते हैं—"मदन-वश सुन्दरी प्रिय को देखे

---

१. अपह्नुतः स्वेदभरः करे तयोस्त्रपाजुषोर्दानजलैर्मिलन्मुहुः।
दृशोरपि प्रस्तुतमश्रुसात्त्विकं घनैः समाधीयत धूमलङ्घनैः॥
नै०।१६।४२ इत्यादि

२. इति स्मरः शीघ्रमतिश्चकारतं वधूं च रोमाञ्चभरेण कर्कशौ।
स्खलिष्यति स्निग्धतनुः प्रियादियं त्रदीयसी पीडनभीरु दोर्युगात्॥ नै० १६।११५

३. दूत्यसङ्गतिगतं यदात्मनः प्रागशिश्रवदियं प्रियं गिरः।
तं विचिन्त्य विनयव्ययं ह्रिया न स्म वेद करवाणि कीदृशम्॥ नै० १८।३१

४. यत्तया सदसि नैषधः स्वयं प्राग्वृतः सपदि वीतलज्जया।
तन्निजं मनसिकृत्य चापलं सा शशाक न विलोकितुं नलम्॥ नै० १८।३२

५. ह्रीसरिन्निजनिमज्जनोचितं मौलिदूरनमनं दधानया।
द्वारि चित्रयुवतिश्रियातया भर्तृहूतिशतमश्रुतीकृतम्॥ नै० १८।३४

६. वेश्म पत्युरविशन्न साध्वसाद्वेशितापि शयनं न साऽभजत्।
भाजितापि सविधं न सास्वपत् स्वापितापि न च सम्मुखाभवत्॥ नै० १८।३५

७. सिष्मिये हसति न स्म तेन सा प्रीणितापि परिहासभाषणैः।
स्वे हि दर्शयति ते परेण कानघ्यंवन्तकुरुविन्दमालिके॥ नै० १८।४९

बिना रह नहीं सकती थी, किन्तु लज्जा उसे देखने नहीं देती थी। प्रिय की ओर आंखें चलतीं पर लज्जावश आधे रास्ते से ही लौट आतीं।[१]

कवियों ने शृङ्गार की संयोगावस्था में स्त्रियों के 'शरीरज' (भाव, हाव, आदि) अयत्नज (शोभा, कान्ति आदि) तथा 'स्वभावज' (लीला, विलास आदि) अलङ्कारों का वर्णन किया है।[२] नैषध में भी रतिक्रीड़ा के समय दमयन्ती के अनेक सत्त्वज अलङ्कारों का वर्णन हुआ है। धीरे-धीरे दमयन्ती का मुग्धात्व चला जाता है, और उसके स्थान पर प्रगल्भता आती है।[३] रति में नायक-नायिका के बीच परिहास स्वाभाविक लगता है। इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा—"नल के ओठों पर नेत्र-चुम्बन के कारण पड़ी हुई कज्जल-रेखा को देखकर दमयन्ती की मुस्कान रोके न रुकती, और नल के पूछने पर वह उनके हाथ में दर्पण दे देती।[४] नल-दमयन्ती का स्नेह इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि क्षण भर का भी वियोग (नल के सन्ध्योपासना के निमित्त थोड़ी देर के लिए बाहर जाने में) दमयन्ती को सह्य नहीं।[५]

शृङ्गार-प्रसङ्ग में सखियों के साथ नायक-नायिका का परिहास भी प्रायः संस्कृत (दृश्य, श्रव्य) काव्यों में देखने को मिलता है। उसमें नायक-नायिका का विनोद होता ही है, साथ ही वह प्रकरण शृङ्गार का उद्दीपन भी बनता है। नैषध में एक पूरे (बीसवें) सर्ग में नल-दमयन्ती का सखियों के साथ हास-परिहास होता है। सम्भवतः संयोग शृङ्गार के इसी अंश की पूर्ति के लिए बीसवें सर्ग की रचना हुई है। सखी-परिहास के बहाने कवि ने रति-रहस्यों का भी उद्‍घाटन कर दिया है। सखियों के

---

१. नाविलोक्य नलमासितुं स्मरो ह्रीर्न वीक्षितुमदत्त सुभ्रुवः।
तद्दृशः पतिदिशाचलन्नथ व्रीडिताः समकुचन्मुहुः पथः॥ नै० १८।५३

२. दशरूपक २।३०-३३

३. चुम्बितं न मुखमाचकर्ष यत्पत्युरन्तरमृतं ववर्ष तत्।
सा नुनोद न भुजं तदर्पितं येन तस्य किमभून्न तर्पितम्॥ नै० १८।७० इत्यादि

४. वीक्ष्य पत्युरधरं कृशोदरी बन्धुजीवमिव भृङ्गसंगतम्।
मञ्जुलं नयनकज्जलैर्निजैः संवरीतुमशकत्स्मितं न सा॥ नै० १८।१२५
तां विलोक्य विमुखश्रितस्मितां पृच्छतो हसितहेतुमीशितुः।
ह्रीमती व्यतरदुत्तरं वधूः पाणिपङ्करुहि दर्पणार्पणम्॥ नै० १८।१२६

५. क्षणविच्छेदकादेव विघ्नैर्मुग्धे! विरज्यसि॥ नै० २०।८

हट जाने के बाद एक बार पुनः एकान्त में उनके स्वेद,[१] वेपथु,[२] स्तम्भ,[३] गद्गद, आदि का प्रदर्शन होता है। काल तथा प्रसंग भिन्न होने के कारण इन भावों का कई बार वर्णन भी जी-उबाने वाला नहीं होता। नैषध के अन्त में एकान्त, निशा, चन्द्रिका, आदि उद्दीपनों की योजना कर के श्रीहर्ष रति भाव की व्यञ्जना के लिए सारी भूमिका तैयार कर देते हैं।

शृङ्गार-रसाभास

नल-दमयन्ती का परस्पर रति-भाव तो साङ्गोपाङ्ग शृङ्गार रस में निष्पन्न हुआ, किन्तु दमयन्ती के प्रति जो इन्द्रादि देवों की तथा स्वयंवर में आए राजाओं की भी रति वर्णित है, वह 'अनुभयनिष्ठ' (तथा प्रतिनायकनिष्ठ भी) होने के कारण रसाभास ही कही जायगी। उसी प्रकार पुराङ्गनाओं का नल के प्रति रति-भाव भी भावाभास है। प्रथम सर्ग में हंस की रतिक्रीड़ा में[५] तथा लता और पवन की क्रीणाओं में[६] शृङ्गार-रसाभास ही है।

देव-विषयक भक्ति भी रति-भाव ही है। नैषध में दमयन्ती द्वारा स्वयंवर[७] में श्रद्धापूर्ण हो देवों को उनका नाम ले लेकर प्रणाम करना आदि में तथा नल द्वारा

---

१. लीन-चीनांशुकं स्वेदि दरालोक्यं विलोकयन्।
तन्नितम्बं स निःश्वस्य निनिन्द दिनदीर्घताम्॥ नै० २०।१४९

२. न्यवारीव यथाशक्ति स्पन्दं मन्दं वितन्वता।
भैमीकुचनितम्बेन नलसम्भोगलोभिना॥ नै० २०।१५४

३. अपिश्रोणिभरस्वैरां धर्तुं तामशकन्न सः।
तदङ्गसंगजस्तम्भो गजस्तम्भो रुजोरपि॥ नै० २०।१५५

४. आलिङ्ग्यालिङ्ग्य तन्वङ्गि मामित्यर्धगिरं प्रियम्।
स्मित्वा निवृत्य पश्यन्ती द्वारपारमगादसौ॥ नै० २०।१५६

५. प्रियासु बालासु रतक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम्।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च॥ नै० १।११८

६. पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदा वृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं ससृजुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ नै० १।९७

७. श्रद्धामयीभूय सुपर्वणस्तान्ननाम नामग्रहणाग्रकं सा।
सुरेषु हि श्रद्दधतां नमस्या सर्वार्थसिध्यङ्गमिथः समस्याः॥ नै० १४।३ इत्यादि

पूजा-सहित देव-प्रार्थना (इक्कीसवें सर्ग)[1] में रति-भाव ही है। ऐसे रति-भाव को आचार्यों ने भाव ही माना है।

पातिव्रत्य

नैषध में पातिव्रत्य की बड़ी विशद व्यञ्जना हुई है। पातिव्रत्य भी प्रेम ही है—पूज्यत्व-भावना-मिश्रित दाम्पत्य-प्रेम। उसमें प्रिय के प्रति रति के साथ पूज्य होने की भावना भी रहती है। वह पूज्य-भाव धर्मानुप्राणित रहता है, वह प्रिय की महत्ता के सामने किसी को नहीं मानता। प्रिय की महत्ता में अपनी आत्मीयता निहित होने से उसमें गर्व भी रहता है। हंस के साथ इन्द्र आदि दिक्पालों की दूतियों के साथ, तदनुकूल रूप न पहुंचे हुए नल तक के साथ, दमयन्ती का जो संवाद है उसमें पातिव्रत्य की उच्चकोटि की व्यञ्जना हुई है। हंस के संदेह करने पर कि—"पिता की आज्ञा से अथवा स्वेच्छा से ही यदि कहीं तुमने किसी दूसरे तरुण को वर लिया तो तुम्हारे लिए याचना करने वाले मेरे विषय में निषधेश्वर का क्या विश्वास रह जायगा?"[2] दमयन्ती किस दृढ़ता के साथ अपने प्रेम की एकनिष्ठा का परिचय देती है।[3] जन्मान्तर में विश्वास होने के कारण हिन्दू-ललना के प्रेम में सतीत्व की ज्योति और भी जगमगा उठती है। उसे तो अपने प्रिय के चरणों का दासीत्व-मात्र चाहिए। इससे बड़े किसी और पद से उसका कोई प्रयोजन नहीं।[4] वह अनर्घ्य चिन्तामणि भी नहीं चाहती, उसके लिए सबसे बड़ी निधि उसका प्रिय है जो उसकी आँखों में तीनों लोकों से सुन्दरतम है।[5] अब या तो प्रिय मिलेगा या ये प्राण ही चले

---

१. दूरतः स्तुतिरवाग्विषयस्ते रूपमस्मदभिदा तव निन्दा।
तत्क्षमस्व　यदहंप्रलपामीत्युक्तिपूर्वमयमेतदवोचत्॥ नै० २१।५२
नो ददासि यदि तत्त्वधियं मे यच्छ मोहमपि तं रघुवीर।
येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मयं जगदपश्यदशेषम्॥ नै० २१।७१ इत्यादि

२. पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे।
त्वदर्थमर्थित्वकृति प्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य॥ नै० ३।७२

३. मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः॥ नै० ३।७५

४. तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण॥ नै० ३।८०

५. तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घ्यम्।
चित्ते ममैकः सकलत्रिलोकी सारो निधिः पद्ममुखः स एव॥ नै० ३।८१

जायेंगे।[1] साथ ही प्रिय की प्राप्ति कराने वाले के प्रति उसके हृदय में कितना सम्मान, कितनी कृतज्ञता है। "जीवनदाता तुमसे मैं अपने प्राणों को देकर शुद्ध हो सकती हूं—पर प्राणाधिक को देने वाले तुमसे किस प्रकार अनृण होऊंगी। अतः तुम मुझे इस प्रकार अपार दारिद्रय-समुद्र में डुबाओ कि मैं तुम्हारे ऋणों से कभी मुक्त न हो सकूं।[2] (प्रिय को मूल्य रूप में दे कर) तुम मेरे जीवन को ही विक्रेय वस्तु के रूप में ले लो और कुछ नहीं तो पुण्य ही सही। मेरे जीवेश-दाता, यदि मैं तुम्हें कुछ दे नहीं सकती, तो तुम्हारा यश तो गा ही सकती हूं।"[3] फिर इन्द्र-दूती के प्रबल प्रलोभन[4] सुन कर भी किस युक्ति के साथ उत्तर देती है—"मैं उन्हीं (इन्द्र) की पति रूप में सुश्रूषा करना चाहती हूँ। मुझे उन्हीं से भोग-सुख मिलेगा, उन्हीं से मेरे पातिव्रत्य का वैभव भी बढ़ेगा। हां, इतनी विशेषता अवश्य होगी कि वे देव-रूप में नहीं होंगे अपितु नृप-रूप में उन्हीं (देव) के एक अंश होंगे।"[5] स्वराज्य को किस अवहेलना-पूर्ण गर्व के साथ (भू-राज्य से ही नहीं) भू-वास से भी तुच्छ बताती है,[6] फिर अपनी नल-वरण की रुचि का किस प्रकार समर्थन करती है?[7] अन्त में किंचित् रोष के साथ इन्द्र-दूती को शपथ देकर इन्द्र के विषय में आगे कुछ भी बोलने से मना कर देती है।[8]

---

१. ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेक शेषः॥ नै० ३।८२

२. दत्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।
विधेहि तन्मां त्वदृगान्यशोद्धुमनुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम्॥ नै० ३।८६

३. क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्ति तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम्॥ नै० ३।८७

४. मन्दाकिनीनन्दयोर्विहारे देवे धवे देवरि माधवे च।
श्रेयः श्रियां यातरि यच्च सख्यां तच्चेतसा भाविनि भावयस्व॥ नै० ६।८३

५. शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह॥ नै० ६।९४

६. स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
शक्या मखेनापि मुदोऽमराणां कथं विहायत्रयमेकमीहे॥ नै० ६।९८ इत्यादि

७. क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः॥ नै० ६।१०४ इत्यादि

८. भूयोऽर्थमेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसेमघोनः।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तर्वरं वज्रिणि मार्जितास्मि॥ नै० ६।११०

अन्त में दूत-रूप नल के सम्मुख तो दमयन्ती के पातिव्रत्य की अग्नि-परीक्षा ही हो जाती है। नल से इन्द्र-विषयक प्रस्ताव को सुनकर पहले तो देवों को इस अभिलाषा के लिए ही मीठे व्यङ्ग्य के साथ तुच्छ बताती है—"देवों की यह वाणी मुझ मनुष्य के प्रति कृपा के साथ भी कैसे निकल पड़ी? अथवा प्रभु लोग सहज भक्ति से नम्र व्यक्ति के प्रति भला किन शब्दों से अपना हर्ष नहीं प्रकट करते।"[1] भला सुराङ्गनाओं के सङ्गम से सुशोभित महेन्द्र की मेरे द्वारा की गयी प्रबल विडम्बना कैसे उचित है? हंसावलियों से सुशोभित सरोवर की बकपङ्क्ति से होने वाली विडम्बना कैसी लगेगी?[2] "देवाङ्गनाओं के समक्ष बताओ मानवी की क्या सत्ता? हाँ, जहाँ वे देवियाँ नहीं हैं, वहाँ मानवी अवश्य सुशोभित हो सकती है। दरिद्र की पत्नी के स्वर्णाभूषणरहित अङ्गों की क्या पीतल के गहनों से शोभा नहीं होगी?"[3] फिर नल के चरणों में अपने चित्त को समर्पित कर देने के कारण वह देवों के विषय में कुछ सोचती हुई भी पातिव्रत्य के भङ्ग होने से डरती है[4]। अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर अपने प्रेम की दृढ़ता का परिचय देती है।[5] उसे अपने प्रिय के अप्रतिम सौन्दर्य पर गर्व है। अच्छा होता यदि दूत भी उसके प्रिय के सौन्दर्य को देख लेता।[6] उसकी विवशता में उसकी दृढ़-निष्ठा का मनोरम प्रदर्शन होता है।[7] और अन्त में घोर निराशा के अन्धकार में दमयन्ती के उन्मुक्त रोदन, विलाप तथा मृत्यु के आह्वान में उसके प्रेम की दृढ़ता प्रकट होती है। अपने हृदय को उपालम्भ देती हुई किन शब्दों

---

१. कथं नु तेषां कृपयापि वागसावसावि मानुष्यकलाञ्छने जने।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा॥ नै० ९।२६

२. अहो महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराङ्गनासंगमशोभिताभृतः।
ह्लदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना॥ नै० ९।२७

३. पुरः सुरीणां भण केव मानवी न यत्र तास्तत्र तु शोभिकापि सा।
अकाञ्चनेऽकिञ्चन-नायिकाङ्गके किमारकूटाभरणेन न श्रियः॥ नै० ९।२८

४. बिभेमि चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात्किल॥ नै० ९।३१

५. अपि द्रढीयः शृणु मत्प्रतिश्रुतिं स पीडयेत्पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताशनोद्बन्धनवारिकारितां निजायुषस्तकरवै स्ववैरिताम्॥ नै० ९।३५

६. दृशोर्द्वयी ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखस्य लक्ष्मीं तव यन्न वीक्षते।
असावपि श्वस्तदिमां नलानने विलोक्य साफल्यमुपैतु जन्मनः॥ नै० ९।६७

७. दिगीश्वरार्थं न कथञ्चन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोऽयमञ्जलिः।
प्रसद्यतां नाथ निगाद्यमीदृशं दृशौ दधे बाष्परयास्पदे भृशम्॥ नै० ९।६९

में अपना विषाद प्रकट करती है— 'मेरे हृदय, यदि तू लौहमय है तो विरहाग्नि से इतना अधिक तप्त होकर भी क्यों नहीं विलीन हो (पिघल) जाता। और तू वज्र भी तो नहीं है,[1] क्योंकि मदन के पुष्प-बाण तुझे भेद देते हैं। फिर बोल हृदय तू क्यों नहीं फट जाता?" स्त्रियाँ अच्छी वस्तु न देख सकने पर या बुरी वस्तु देख लेने पर अपनी आँखों को प्रायः कोसा करती हैं। दमयन्ती की अपनी आँखों के प्रति कैसी असूया है—"मेरे नेत्र, तुम बड़े विशाल थे, फिर भी मेरे पापी मनोरथ ने तुम्हें झूठ में कैसे ठग लिया? अब प्रिय कान्ति के अवलोकन में विघ्नकारी अपने इस पाप को सैकड़ों वर्ष तक अपने ही आंसुओं से धोओ"[2]। इसी प्रकार अपने मन के प्रति उसकी 'असूया', 'उपालम्भ' तथा 'विवशता' का कितना मनोरम चित्रण इन शब्दों में हुआ है। "मेरे मन, न तो तुम्हारे अभिलषित प्रिय को पा रही हूं, और न तुम्हारी अभिलषित मृत्यु को ही। तुम जिस वस्तु की अभिलाषा करते हो वही मेरी नहीं हो पाती। तो अब प्रिय के साथ वियोग की ही इच्छा करो, स्यात् तुम्हारी कृपा से वह मुझे न मिले।"[3] देवों के प्रति उसके उपालम्भ के वाक्यों में किस प्रकार 'दैन्य' का चित्रण होता है—"देव, मेरे उग्र ताप को शान्त करने में जिसकी एक बूंद पर्याप्त थी, तुम्हारा वह करुणा का सागर किसने पी लिया? क्या तुम्हारी इच्छा के लेश-मात्र श्रम से ही मुझसे उत्तम करोड़ों सुन्दरियां तुम्हारे लिए शीघ्र ही नहीं प्रकट हो सकतीं?"[4] उसे ग्लानि केवल इस बात की है कि प्रिय नल ने उसके प्रेम की दृढ़ता को न जान पाया। प्रेमी प्रिय के हृदय में अपने प्रति करुणा या दया उत्पन्न करने के लिए मरण भी श्रेयस्कर समझता है। यदि मरने के पश्चात् प्रिय ने यह जान लिया कि प्रेमी की मृत्यु का कारण मैं ही हूं, और इस प्रकार यदि उसके हृदय में कुछ सहा-नुभूति उत्पन्न हुई तो प्रेमी की मृत्यु भी धन्य है। दमयन्ती कहती है—"नाथ, दमयन्ती मेरे लिए मेरी, क्या यह बात तुम्हारे कानों तक न पहुँचेगी? यदि इस समय अनुग्रह

---

१. भृशं वियोगानलतप्यमान! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि।
स्मरेषुभिर्भेद्य! न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त! कथं न दीर्यसे॥ नै० ९।८९

२. दृशौ! मृषा पातकिनो मनोरथाः कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षालयतं शतं समाः॥ नै० ९।९१

३. प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि।
वियोगमेवेच्छ मनः! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्वसौ मम॥ नै० ९।९२

४. मदुग्रतापव्ययशक्तशीकरः सुराः! स वः केन पपे कृपार्णवः।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमाशु संकल्पकणश्रमेण वः॥ नै० ९।९५

नहीं करते, तो उस समय भी क्या दया के लेश से मुझ पर अनुग्रह नहीं करोगे ?"[1] उसकी इस करुण अभिलाषा में भी उसके प्रेम की गूढ़ अभिव्यक्ति है। अन्त में उसकी विवशता-भरी दीन याचना में उसके सती-प्रेम की कैसी झलक मिलती है—"मेरा यह हृदय विदीर्ण होने वाला है, अतः हे याचक-कल्पवृक्ष, मैं तुमसे कुछ याचना करूंगी कि मेरे हृदय के विदीर्ण होने से निकलने वाले इन अधम प्राणों के साथ तुम मेरे हृदय से न जाना।"[2]

वात्सल्य

अपनी सन्तान या उसी श्रेणी के अन्य प्रिय सम्बन्धी से जो स्नेह होता है उसे वात्सल्य कहते हैं। उसमें भी रति-भाव ही दूर से झांकता समझ पड़ता है। वात्सल्य भी रति-भाव का ही रूपान्तर कहा जा सकता है। नैषध में वात्सल्य की झांकी दो-तीन स्थलों पर मिलती है। चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती की मूर्च्छा सुन कर राजा भीम का घबड़ा कर अन्तःपुर में पहुंचना वात्सल्य-मूलक है। उनके 'भय'[3] तथा घबराहट में वैद्य एवं मन्त्री की बातों को न सुनने में, 'अनिष्टाशङ्का'[4] सञ्चारी भाव है। पुत्री को आशीर्वाद देने में,[5] सखियों को समुचित उपचार के लिए आदेश देने में[6] भी सन्तान-स्नेह का ही दर्शन होता है। वात्सल्य की दूसरी झांकी स्वयंवर से विदा

---

१. कथावशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते।
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यते तदापि तावद्यदि नाथ! नाधुना॥ नै० ९।९९

२. ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम! किञ्चिदर्थये।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मा स मे हतासुभिः प्राणसमः समं गमः॥ नै० ९।१००

३. कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः।
यमधिगम्य सुतालयमीयिवान्धृतदरः स विदर्भपुरन्दरः॥ नै० ४।११५

४. ताभ्यामभूयुगपदप्यभिधीयमानं भेदव्यपाकृति मिथः प्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्न पतेन्न किंचिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य॥
नै० ४।११७

५. उपतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे सहसोन्नमय्य मौलिम्।
दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः॥ नै० ४।११९

६. तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशीनाम्।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याः॥ नै० ४।१२०
कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्।
क्रशिमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्भिराविधाभिः॥ नै० ४।१२१

लेते समय सरस्वती के वार-वार पीछे की ओर घूमकर दमयन्ती को देखने में है[1]। देवी सरस्वती एक प्रकार से दमयन्ती की अभिभावक के रूप में चित्रित की गई है। उन्हें दमयन्ती के हित-साधन की चिन्ता सतत बनी रहती है। अतः दमयन्ती के प्रति उनका स्नेह 'वात्सल्य' ही माना जायगा, साधारण सखी का स्नेह नहीं।

फिर विदर्भराज के पुत्री तथा जामाता को अपनी रानी के सम्मुख ले जाकर भी—"देवि, तुम अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही हो, लो अपने जामाता नल को पहिचानो,[2] जिसके सौन्दर्य के सामने स्वयं मदन भी तृण के समान है, तथा जो अपने उच्च कुल से हमारे भी कुल को पावन करने वाला है, त्रैलोक्य के सुन्दर पुरुषों के सम्मेलन में इस प्रकार के वर को ढूंढ निकालना तुम्हारी पुत्री ही जानती थी"।[3]—यह कहने में भी वात्सल्य-मूलक 'हर्ष' सञ्चारी भाव है। पुत्री को विदा करते समय विदर्भराज के अपने राज्य की सीमा तक पहुंचाने जाने में तथा[4]—'बेटी, अब तुम्हारा अपना पुण्य ही पिता है। तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्तियों को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होंगे और बेटी, अब मैं तुम्हारा कोई न रहा।"[5]—इस कथन के साथ उमड़ते आँसुओं में भी उसी 'वात्सल्य' की झलक है।

रति के अतिरिक्त अन्य भावों की भी व्यञ्जना नैषध में हुई है। अङ्गी न होने के कारण उनकी व्यञ्जना में विभाव, अनुभाव तथा संचारियों की पूर्ण योजना करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। कहीं केवल आलम्बन का चित्रण है, तो कहीं केवल 'आश्रय' का, और कहीं केवल 'अनुभाव' का ही उल्लेख करके भाव की व्यञ्जना कर दी गयी है। इतने पर भी व्यञ्जना बड़ी सफल हुई है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि श्रीहर्ष शृङ्गार के समान ही अन्य रसों में भी सिद्धहस्त थे। प्रसङ्गानुसार यहीं नैषध के अन्य रसों तथा भावों पर भी विचार किया जाता है।

---

१. उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती वाग्देवतापि निजविभ्रमधाम भैमीम्॥
नै० १४।९९

२. विदर्भराजोऽपि समं तनूजया प्रविश्य हृष्यन्नवरोधमात्मनः।
शशंस देवीमनुजातसंशयां प्रतीच्छ जामातरमुत्सुके नलम्॥ नै० १५।५

३. तनुत्विषा यस्य तृणं स मन्मथः कुलश्रिया यः पवितास्मदन्वयम्।
जगत्त्रयीनायक-मेलके वरं सुता परं वेद विवेक्तुमीदृशम्॥ नै० १५।६

४. निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः।
तडाग-कल्लोल इवानिलं तटाद्धृतानतिर्व्यावृते वराटराट्॥ नै० १६।११७

५. पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहमित्यदस्त्ररेष व्यसृजन्निजोरसीम्॥ नै० १६।११८

नहीं करते, तो उस समय भी क्या दया के लेश से मुझ पर अनुग्रह नहीं करोगे ?"[१] उसकी इस करुण अभिलाषा में भी उसके प्रेम की गूढ़ अभिव्यक्ति है। अन्त में उसकी विवशता-भरी दीन याचना में उसके सती-प्रेम की कैसी झलक मिलती है—"मेरा यह हृदय विदीर्ण होने वाला है, अतः हे याचक-कल्पवृक्ष, मैं तुमसे कुछ याचना करूंगी कि मेरे हृदय के विदीर्ण होने से निकलने वाले इन अधम प्राणों के साथ तुम मेरे हृदय से न जाना।"[२]

वात्सल्य

अपनी सन्तान या उसी श्रेणी के अन्य प्रिय सम्बन्धी से जो स्नेह होता है उसे वात्सल्य कहते हैं। उसमें भी रति-भाव ही दूर से झांकता समझ पड़ता है। वात्सल्य भी रति-भाव का ही रूपान्तर कहा जा सकता है। नैषध में वात्सल्य की झांकी दो-तीन स्थलों पर मिलती है। चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती की मूर्च्छा सुन कर राजा भीम का घवड़ा कर अन्तःपुर में पहुंचना वात्सल्य-मूलक है। उनके 'भय'[३] तथा घवराहट में वैद्य एवं मन्त्री की वातों को न सुनने में, 'अनिष्टाशङ्का'[४] सञ्चारी भाव है। पुत्री को आशीर्वाद देने में,[५] सखियों को समुचित उपचार के लिए आदेश देने में[६] भी सन्तान-स्नेह का ही दर्शन होता है। वात्सल्य की दूसरी झांकी स्वयंवर से विदा

---

१. कथावशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते।
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यते तदापि तावद्यदि नाथ! नाधुना॥ नै० ९।९९

२. ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम! किञ्चिदर्थये।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मा स मे हतासुभिः प्राणसमः समं गमः॥ नै० ९।१००

३. कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः।
यमधिगम्य सुतालयमीयिवान्धृतदरः स विदर्भपुरन्दरः॥ नै० ४।११५

४. ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं भेदव्यपाकृति मिथः प्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्न पतेर्न किंचिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य॥
नै० ४।११७

५. उपतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे सहसोन्नमय्य मौलिम्।
दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः॥ नै० ४।११९

६. तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एवहीदृशीनाम्।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याः॥ नै० ४।१२०
कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्।
क्रशिमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्विधाविधाभिः॥ नै० ४।१२१

लेते समय सरस्वती के वार-वार पीछे की ओर घूमकर दमयन्ती को देखने में है[1]। देवी सरस्वती एक प्रकार से दमयन्ती की अभिभावक के रूप में चित्रित की गई हैं। उन्हें दमयन्ती के हित-साधन की चिन्ता सतत वनी रहती है। अतः दमयन्ती के प्रति उनका स्नेह 'वात्सल्य' ही माना जायगा, साधारण सखी का स्नेह नहीं।

फिर विदर्भराज के पुत्री तथा जामाता को अपनी रानी के सम्मुख ले जाकर भी—"देवि, तुम अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही हो, लो अपने जामाता नल को पहिचानों,[2] जिसके सौन्दर्य के सामने स्वयं मदन भी तृण के समान है, तथा जो अपने उच्च कुल से हमारे भी कुल को पावन करने वाला है, त्रैलोक्य के सुन्दर पुरुषों के सम्मेलन में इस प्रकार के वर को ढूंढ निकालना तुम्हारी पुत्री ही जानती थी"।[3]—यह कहने में भी वात्सल्य-मूलक 'हर्ष' सञ्चारी भाव है। पुत्री को विदा करते समय विदर्भराज के अपने राज्य की सीमा तक पहुंचाने जाने में तथा[4]—'बेटी, अव तुम्हारा अपना पुण्य ही पिता है। तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्तियों को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होंगे और वेटी, अब मैं तुम्हारा कोई न रहा।"[5]—इस कथन के साथ उमड़ते आँसुओं में भी उसी 'वात्सल्य' की झलक है।

रति के अतिरिक्त अन्य भावों की भी व्यञ्जना नैषध में हुई है। अङ्गी न होने के कारण उनकी व्यञ्जना में विभाव, अनुभाव तथा संचारियों की पूर्ण योजना करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। कहीं केवल आलम्वन का चित्रण है, तो कहीं केवल 'आश्रय' का, और कहीं केवल 'अनुभाव' का ही उल्लेख करके भाव की व्यञ्जना कर दी गयी है। इतने पर भी व्यञ्जना बड़ी सफल हुई है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि श्रीहर्ष शृङ्गार के समान ही अन्य रसों में भी सिद्धहस्त थे। प्रसङ्गानुसार यहीं नैषध के अन्य रसों तथा भावों पर भी विचार किया जाता है।

---

१. उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती वाग्देवतापि निजविभ्रमवास भैमीम्॥ नै० १४।९९

२. विदर्भराजोऽपि समं तनूजया प्रविश्य हृष्यन्नवरोधमात्मनः।
शशंस देवीमनुजातसंशयां प्रतीच्छ जामातरमुत्सुके नलम्॥ नै० १५।५

३. तनुत्विषा यस्य तृणं स मन्मथः कुलश्रिया यः पवितास्मदन्वयम्।
जगत्त्रयीनायक-मेलके वरं सुता परं वेद विवेक्तुमीदृशम्॥ नै० १५।६

४. निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः।
तडाग-कल्लोल इवानिलं तटाद्धृतानतिर्व्याववृते वराटराट्॥ नै० १६।११७

५. पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहमित्यदस्त्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्॥ नै० १६।११८

वीर-रस

वीर-रस का भी नैषध में अच्छा चित्रण हुआ है। वीर चार प्रकार के माने गए हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर तथा दयावीर। वीरता के ये चारों रूप नल में ही दिखाए गए हैं। धर्मवीरता और युद्धवीरता का साङ्गोपाङ्ग चित्रण नहीं हो पाया है। क्योंकि सिवाय नल की धर्मवृत्ति तथा युद्धविजयों का उल्लेख करने के अतिरिक्त कोई प्रसङ्ग नहीं था। नल की धर्म-परायणता का उल्लेख केवल एक स्थान पर इस रूप में किया गया है—"नल के द्वारा धर्म के चारों पैरों पर स्थिर कर दिए जाने पर उस कृतयुग में भला कौन तप-परायण न था। और की तो बात ही क्या, जब स्वयं अधर्म भी केवल एक पैर से पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ क्षीण हो तपस्वी बन गया था।"[1]

नल की युद्धवीरता का वर्णन कुछ विशेष विस्तार के साथ हुआ है। समर में बाणों की घनघोर वृष्टि करके शत्रुओं की प्रतापाग्नि को शान्त करने[2], दिग्विजय में जलाए गए बहुसंख्यक शत्रु-नगरों की अग्नि से उज्ज्वल निज प्रतापों से जाज्वल्यमान पृथिवी-वलय की प्रदक्षिणा के रूप में विजय की नीराजना (आरती) से सुशोभित होने[3] तथा शत्रु-रमणियों के नेत्रों में टिकने वाली अतिवृष्टि का प्रयोजक बनने इत्यादि[4] में नल विषयक युद्ध-वीर के स्थायी भाव 'उत्साह', आलम्बन शत्रु आदि, संचारी 'अमर्ष' आदि की व्यञ्जना हो जाती है। इक्कीसवें सर्ग में नल के अमित ओज का चित्रण शिष्य राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देने का उल्लेख करके किया गया है।[5] वह भी एक प्रकार से युद्धवीर का ही रूप है।

दया-वीर का प्रसङ्ग प्रथम सर्ग में नल-करपञ्जरस्थ हंस के रोदन में आता

---

१. पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना केन तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्॥ नै० १।७

२. स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजः शिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे॥ नै० १।९

३. अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः॥ नै० १।१०

४. निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यविश्रमाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः॥ नै० १।११

५. अस्त्रशस्त्रखुरलीषु विनिन्ये शैक्ष्यकोपनमितानमितौजाः॥ नै० २१।५

है, जिसे सुन कर नल के आंसू उमड़ पड़ते हैं।[1] और वे हंस को छोड़ देते हैं।[2] यहां नल के अश्रुओं तथा हंस को मुक्त करने में मूलरूप से दयामिश्रित 'उत्साह' ही कहा जा सकता है, शोक नहीं। शोक तो हंस के हृदय में अपने बालवच्चों के प्रति है।

नल की दानवीरता का अत्यन्त विशद चित्रण हुआ है। प्रथम सर्ग में प्रौढ़ोक्ति द्वारा[3] तथा तृतीय सर्ग में कविनिवद्धप्रौढ़ोक्ति द्वारा[4] नल की वदान्यता का वर्णन हुआ है। किन्तु पञ्चम सर्ग में इन्द्रादि दिक्पालों के याचक-रूप में उपस्थित होने पर दानवीर (रस) का अत्यन्त मनोरम साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। वहाँ उत्साह के आश्रय नल हैं, आलम्वन देवगण, उद्दीपन देवों की याञ्चा तथा अन्य चेष्टायें, एवं नल की शारीरिक, मानसिक तथा वाचनिक क्रियाएं अनेक अनुभाव तथा संचारी भाव हैं। नल को इन्द्र के—"हे नल, हम याचक के रूप में तुम्हारे पास आए हैं।"[5] इस वाक्य को सुनकर रोमाञ्च हो आता है,[6] वह उनके अपार उत्साह का द्योतक है। उस समय नल को इन दिगीश्वरों के लिए क्या दुर्लभ है और वह कैसे मेरे अधीन हैं, इत्यादि वितर्क[7], होता है। दानी की संशय-मिश्रित ग्लानि का उदाहरण इन शब्दों में मिलता है—इनके अभीष्ट का कैसे पता चले? विना मांगे क्या दिया जाय? धिक्कार है उस दानी को जो याचक की इच्छा को जानते हुए भी उसके कहने की

---

१. सुताः! कमाहूय चिराय चुंकृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः॥ नै० १।१४२

२. इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयावनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय॥ नै० १।१४३

३. अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषां न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्य दरिद्रतां नलः॥ नै० १।१५
विभज्य मेरुर्न यदीर्थिसात्कृतो न. सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरः स्थितम्॥ नै० १।१६

४. दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेधव्रतमर्थिसार्थे ।
संतुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम्॥ नै० ३।२५

५. अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां नलेति॥ नै० ५।७७

६. अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम्।
अर्चनार्थमिवतच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये॥ नै० ५।७९

७. दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथममहो मदधीनम्।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय॥ नै० ५।८०

प्रतीक्षा करता है।[1] याचक चाटु तथा दीन वाक्यों को कह कर पराभूत होता है और अनेक वार मांगने से अत्यन्त लज्जित होता है। यह पाप दाता को लगता है, जिसका प्रक्षालन दान देने में विलम्ब करने वाला दाता नहीं कर पाता।[2] नल के अनेक प्रकार के विचारों में[3] उनकी 'मति' का पता चलता है। नल के उत्साह की परिचायिका (याचक देवों की कार्यसिद्धि का लक्षण रूप) उनके मुख की उद्दीप्त कान्ति है, जो याचकों को दाता में दुर्दर्शन हुआ करती है।[4] "यह नर-बालक प्राणों या इससे भी अधिक जो अभीष्ट हो, उसके द्वारा आपके चरणों की पूजा करने को प्रस्तुत है, आज्ञा हो, इस प्रकार की वह कौनसी वस्तु है?"[5] नल के इन शब्दों में उनका अदम्य 'उत्साह' ही झलकता है। पर इन्द्र के कपट को सुनकर नल में जो दान-विमुखता का भाव आता है वह 'मति' नामक संचारी में ही गिना जायगा। अन्त में देवों का अनेक भांति समझाना पुनः 'उत्साह' का उद्दीपन माना जायगा, जिससे नल उनकी प्रार्थना को अङ्गीकृत करके उसका पूर्ण परिपालन (निर्वाह) करते हैं। इस प्रकार दानवीर का अविकल चित्र देखने को मिलता है।

अद्भुत-रस

नैषध में अद्भुत का भी कहीं-कहीं चित्रण हुआ है। विचित्र हंस को देख कर नल के मन में जो कौतूहल होता है वह इतना प्रवल है कि प्रिया-वियोग में इतने कातर होते हुए भी उनके मन में एक प्रकार के हर्ष की गुदगुदी-सी अनुभव होने लगती है।[6] यह स्वर्णमय पंखों वाली सुन्दरता पक्षी की नहीं देखी

---

१. मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां कथमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ नै० ५।८३

२. प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम्।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः॥ नै० ५।८४

३. यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय।
सार्थनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छदपमृत्युचिकित्सा॥ नै० ५।८५ इत्यादि

४. एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम्।
अर्थिदुर्लभमवाप्य सहर्षान् याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि॥ नै० ५।९३

५. जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात्।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक्॥ नै० ५।९७

६. महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभत्॥ नै० १।११९

गयी।[1] राजा की इस स्तुति में उनका विस्मयमूलक 'हर्ष' ही निहित है। हंस की बातों से नल के मन का (ग्लानि-कृपा-मिश्रित) 'विस्मय' और भी बढ़ जाता है।[2] (यद्यपि चित्र वैलक्ष्य तथा 'कृपा' शब्दों का प्रयोग करने में "स्वशब्द-वाच्यत्व" दोष आ गया है किन्तु उससे 'विस्मय' भाव में कमी नहीं आने पाती, वे स्ववाचक उसके केवल अनुवादमात्र हैं।)

हंस के कुण्डिनपुर-स्थित दमयन्ती-क्रीड़ावन में अकस्मात् पहुँचने पर उसकी ओर दमयन्ती की सखियों के नेत्र अपनी उन दृश्यमान वस्तुओं को त्यागकर इस प्रकार पहुंचे जैसे योगियों के चित्त अनिर्वचनीय रूप ब्रह्म को पाकर उसमें अन्य सभी विषयों को त्यागकर रमते हैं।[3] यहाँ भी 'विस्मय' ही कारण है।

स्वयंवर में राजवर्णन के प्रसङ्ग में कई बार अद्‌भुत का आलम्बन प्रस्तुत किया गया है। आलम्बन का यदि ऐसा चित्रण हुआ हो कि वह अभिमत स्थायीभाव को उद्‌बुद्ध करने में समर्थ होवे तो वहां रसास्वाद पूरा हो जाता है। कामरूप-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती हैं—"कवच के विना इनके शत्रु समर-भूमि में सारे शरीर में वाणों से विंधकर प्राण-विसर्जन के साथ सूर्यमण्डल का भी भेदन करते हुए भवसागर पार करते हैं। नौकादण्ड, कर्णधार और अनुकूल पवन के विना भी, एवं नौका के टूटने से सागर में डूबकर भी सागर पार करना असीम आश्चर्य का कारण है।"[4] इसी प्रकार कीकटाधिप के वर्णन में[5] अद्‌भुत के आलम्बन का अच्छा निरूपण हुआ है।

---

१. न जातरूपच्छदजातरूपताद्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन्मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा॥ नै० १।१२९

२. इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथी चकार कारुण्यरसापगा गिरः॥ नै० १।१३४

३. नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम्॥ नै० ३।३

४. अकर्णधाराशुगसम्भृताङ्गतां गतैररित्रेण विनास्य वैरिभिः।
विधाय यावत्तरणेर्भिदामहो निमज्ज्य तीर्णः समरे भवार्णवः॥ नै० १२।७१

५. भूशक्रस्य यशांसि विक्रमभरेणोपार्जितानि क्रमा-
देतस्य स्तुमहे महेभरदनस्पर्धीनि कैरक्षरैः।
लिम्पद्भिः कृतकं कृतोऽपि रजतं राज्ञां यशः पारदै-
रस्य स्वर्णगिरिः प्रतापदहनैः स्वर्णपुनर्निर्मितः॥ नै० १२।९१ इत्यादि

अन्त में देवों के नलरूप त्याग कर अपना वास्तविक रूप धारण करते समय तथा सरस्वती के अपना प्राकृत रूप धारण करते समय[1] अद्‌भुत रस की व्यञ्जना मिलती है। यह अद्‌भुत रस निर्वहण सन्धि के समय होने के कारण अत्यन्त उपयुक्त अवसर पर सन्निवेशित हुआ है। विस्मय के साथ सभी भाव अपने उत्कर्ष पर पहुंच जाते हैं। संभवतः इसीलिए कुछ चमत्कारवादी आचार्यों ने अद्‌भुत रस को सर्वव्यापी माना है।[2] फिर 'हर्ष' और 'विस्मय' का तो बड़ा पुराना साथ है। इसीलिए आचार्यों ने नाटकों में निर्वहण (उपसंहृति) के समय अद्‌भुत रस का होना आवश्यक बताया है। (कार्यो निर्वहणेऽद्‌भुतः—सा० द० ६।१०)।

करुण-रस

करुणरस (अथवा भाव) की व्यञ्जना हंस द्वारा करायी गयी है। नल के करपञ्जर में पड़ा हंस कभी राजा को धिक्कारता है,[3] —इस धिक्कार में दुःखी प्राणी की झुंझलाहट छिपी है—कभी दैव को उपालम्भ देता है— 'विधे, तुम्हारे जिन कर-कमलों ने प्रिया की शीतलता तथा मृदुलता को जन्म दिया, उन्हीं से मेरे विषय में 'अपनी प्रिया से वियुक्त होवोगे' इस प्रकार की निष्ठुर अक्षरों वाली लिपि कैसे निकली ?"[4] कभी अपनी वृद्धा माता की असहाय अवस्था का स्मरण[5] और नवप्रसूता वरटा (हंसी) के अकथनीय दुःख वाले क्षण का विकल्प करता है—"प्रिये, मेरे साथियों से जब तुम पूछोगी कि 'शुभ संदेश तथा कमलनालों को लिए मन्दगति से आता हुआ मेरा प्रिय कितनी दूर है ?' उस समय उन्हें रोता देख हाय ! तुम्हारा यह क्षण किस रूप का होगा ?"[6]

---

१. विलोकके नायकमेलकेऽस्मिन्नूधान्यताकौतुकदर्शिभिस्तैः।
बाधा बतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविदां वृत्तिवधाद्व्यधायि।। नै० १४।७०

२. रसेसारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वेसर्वत्राप्यद्भुतोरसः।
तस्मादद्भुतमेवाहकृती नारायणो रसम्——सा० द० ३

३. नै० १।१३० इत्यादि।

४. कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा।। नै० १।१३८

५. मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः सुतशोकसागरः।। नै० १।१३६

६. मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तवक्षणः।। नै० १।१३७

यहां हंसी की रतिमूलक 'उत्सुकता' में 'शोक' का रंग बड़ा गहरा दिखायी पड़ता है। उस समय की उसकी दारुण दशा का चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी हुआ है—प्रिय के करुण वृत्तान्त को सुन कर उस चञ्चलाक्षी को दशों दिशाएं शून्य दिखायी पड़ेंगी।[1] परिणाम में हंस अपने अस्फुटितेक्षण नवजात शावकों की मरणान्त दुर्दशा की कल्पना करता है—"हाय, जिन्हें बड़ी अभिलाषाओं से बहुत दिनों में पाया था, मेरे वे ही अस्फुटित नेत्र शावक क्षुधार्त हो नीड़ के किनारों पर लुढ़क-लुड़क कर क्षण भर में चल बसेंगे।"[2] "मेरे प्यारे बच्चों! अब चूँ-चूँ शब्द करते हुए देर तक किसको बुलाकर चूंगा (भोजन) मांगोगे? किसकी ओर अपने चञ्चल चञ्चु करके गोष्ठी कथा कहोगे? हा! अब तुम कथा-मात्र में शेष रह जाओगे?"[3] यह कल्पना ही इतनी गुरुतम है कि हंस का दुःखित मन उसका बोझ नहीं सह सकता और फलतः 'मूर्छित' हो जाता है।

हास्य

हास्यरस का भी प्रसङ्ग कई बार आया है। प्रथम तो स्वयंवर में पाण्ड्य-नरेश के स्तुति-गान के समय दासी के—"राजकुमारी जी, इधर कौतुक देखिए। प्रासाद के शिखर पर उस फहराती ध्वजा पर भी वह कौवा अपना पैर-जमाना चाहता है।"[4] इस अप्रस्तुत भाषित में हास्य की अच्छी पुट है। फिर—"देवि, आप कब तक इन के गुणों का पृथक् पृथक् गान करती रहेंगी, एक बार एक वाक्य में ही क्यों नहीं कह देतीं कि इतने बड़े विश्व के होते हुए भी सारे गुण इन राजा में भीड़ लगाकर निवास करते हुए स्थान की कमी के कारण कष्ट पा रहे हैं"[5]—नेपाल-नरेश के यशोगान को सुनकर हंसाने वाली चेटी की इस बात में पर्याप्त हास्यच्छटा देखी जाती

---

१. अयि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि॥ नै० १।१३९
२. तवापि हा हा विरहात्क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुण्ठ्य तेषु ते।
चिरेण लब्धाः बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम॥ नै० १।१४१
३. सुताः कमाहूय चिराय चुङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः सुतस्य सेकाद्बुबुधे नृपाश्रुणः॥ नै० १।१४२
४. शशंस दासीङ्गितविद्विदर्भजामितो ननु स्वामिनि! पश्य कौतुकम्।
यदेष सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः॥ नै० १२।२१
५. दमस्वसुश्चित्तमवेत्य हासिका जगाद देवीं कियदस्य वक्ष्यसि।
भग प्रभूते जगति स्थिते गुणैरिहाप्यते सङ्कटवासयातना॥ नै० १२।५०

है। अन्त में सखी द्वारा "इस नरेन्द्र की परार्द्ध से भी अधिक संख्या में गिनी हुई दुष्कीर्तियां कच्छपी के दूध से बने सागर के तट पर गूँगों के परस्पर वार्त्तालाप के समय वन्ध्या के पुत्रों द्वारा अष्टम स्वर में गायी जाती है और उन अपकीर्तियों को जन्मान्ध पुरुष देखता है कि वे घोर अन्धकार के समान रूप वाली भी हैं।"[1] इत्यादि व्याजस्तुति रूप कीकट-नरेश के अकीर्ति-वर्णन में तो विस्मय-मिश्रित हास्य की अच्छी गूढ़ व्यञ्जना मिलती है।

फिर वरातियों के भोजन करते समय तो हास-परिहास का खुलकर प्रयोग हुआ है।—नैषध के १६।४९, १६।५४ इत्यादि स्थलों में निम्न श्रेणी के पात्र रूप वाराङ्गनाओं से संवद्ध निम्नकोटि का अशिष्ट परिहास उपलक्षित होने के अतिरिक्त अच्छे पात्रों का भोजन के अन्त में—"वरातियों ने सुपाड़ी तो मुख में रक्खी पर पान छोड़ दिया। राजकुमार दम ने उन पानों को सुगन्धित लगाया था पर वरातियों ने उन्हें 'विच्छू' समझ लिया और इस प्रकार उनके भ्रम को देख कर सब हंस पड़े"[2]। इस प्रकार का अच्छा उपहास दृष्टिगोचर होता है। उपेक्षा-पूर्ण उपहास का एक दृश्य कलि-संवाद में आता है। कलि की यह वात सुनकर—"कि हम लोग दमयन्ती के परिणय के लिए उसके स्वयंवर महोत्सव में जाने की जल्दी में हैं, तो कृपया उधर जाने का सीधा रास्ता वता दीजिए"[3] —देवों को हंसी आ गयी जिसकी सुन्दर व्यञ्जना मुस्कराते हुए परस्पर एक दूसरे का मुंह देखने तथा उत्तर देने में है—देवगण कलि के इस अकारण अहंकार को जानकर परस्पर एक दूसरे का मुंह देखकर उसकी मूर्खता पर हंसे फिर वड़ी देर के वाद उससे वोले—"[4]। यहां हास्य का आलम्वन कलि है और उद्दीपन उसकी अहंकार-पूर्ण वात कि "हम स्वयंवर के लिए

---

१. अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि॥ नै० १२।१०६

२. मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झितपर्णालिरवेक्ष्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासिताखिलैः॥ नै० १६।११०

३. स्वयंवरमहे भैमीवंरणाय त्वरामहे।
तदस्मानतुमन्यध्वमध्वने तत्र धाविने॥ नै० १७।११४

४. तेऽवज्ञाय तमस्योच्चैरहङ्कारमकारणम्।
ऊचिरेऽतिचिरेणैनं स्मित्वा दृष्टमुखा मिथः॥ नै० १७।११५

जल्दी में हूं।" मूढ को अपनी धुन में इस बात का ध्यान ही नहीं है कि अब तक तो स्वयंवर-मण्डप के खम्भे भी उखड़ चुके होंगे।

रौद्र

'क्रोध' भाव की सुन्दर व्यञ्जना कहीं-कहीं हुई है। देव-कलि-संवाद में भी क्रोध की व्यञ्जना होती है। चार्वाक की अनर्गल बातों को सुनकर 'उच्चस्वर' में इन्द्र का—"यह कौन है जो इस प्रकार धर्म के रहस्यों पर कुठाराघात कर रहा है।"[१] "तीनों लोकों को कर्तव्योपदेश करने के कारण वेद उनका (तीनों लोकों का) तीसरा नेत्र हैं। इस प्रकार वेदानुकूल आचरण करने वाले विश्व का मैं इन्द्र स्वयं शासन करता हूं। मेरे हाथों में वज्र-शक्ति के देदीप्यमान रहते हुए भी कौन अधम इस प्रकार की बातें कर रहा है।"[२]—यह कहना क्रोध को ही प्रकट करता है। यहां कहने वाला 'आलम्बन' तथा उसकी अनर्गल बातें "उद्दीपन" हैं। उसी प्रकार अग्नि के— "क्यों रे नीच तूने हमारे सामने निरर्गल क्या कहा? बोल क्या कहा?"[३]—ऐसा डांटते हुए कहने में 'क्रोध' प्रेरक है, जिसकी व्यञ्जना—"क्या कहा रे? क्या कहा—" इस द्विरुक्ति से अत्यन्त विशद हो गयी है। फिर भगवान् यमराज, जो कलि की बातों को सुनकर मर्माहत-से हो गए थे और अतएव जो क्रुद्ध होकर अपने प्रसिद्ध शस्त्र 'दण्ड' को आकाश में घुमाते हुए आग की चिनगारियां निकाल रहे थे, धाराप्रवाह ढंग से बोलने लगे[४]।—"अरे, ठहर नास्तिक हमारी इस गोष्ठी में इस प्रकार धर्म प्रतिकूल करने वाले तेरे कण्ठ और होंठ दोनों को मैं अभी कुण्ठित करता हूं।"[५] —उनके ये शब्द रौद्ररस के ही निदर्शक हैं। अन्त में वरुण के पाखण्डी,

---

१. इत्थमाकर्ण्य दुर्वर्णं शक्रः सक्रोधतां दधे।
अवोचदुच्चैः कस्कोयं धर्ममर्माणि कृन्तति॥ नै० १७।८४

२. लोकत्रयीं त्रयीनेत्रां वज्रवीर्यस्फुरत्करे।
क इत्थं भाषते पाकशासने मयि शासति॥ नै० १७।८५

३. जज्वाल ज्वलनः क्रोधादाचख्यौ च क्षिपन्नमुम्।
किमात्थ रे किमात्थेदमस्मदग्रे निरर्गलम्॥ नै० १७।९२

४. दण्डताण्डवनैः कुर्वन्स्फुलिङ्गालिङ्गितं नभः।
निर्ममेऽस्य गिरामूर्मीर्भिन्नमर्मेव धर्मराट्॥ नै० १७।९५

५. तिष्ठ भो तिष्ठ कण्ठोष्ठं कुण्ठयामि हठादयम्।
अपष्ठु पठतः पाठ्यमधिगोष्ठि शठस्य ते॥ नै० १७।९६

"तू हमारे इस प्रचण्ड पाश से भी नहीं डर रहा है ?"[१]—ऐसा कहकर अपने पाश का भय दिखाने में भी रौद्र ही कहा जायगा।

बीभत्स

'जुगुप्सा' भाव की भी व्यञ्जना उपवन-विहार के प्रसंग में कहीं-कहीं हुई है। प्रायः वीभत्सरस के वर्णन में आलम्बन का स्वरूप-चित्रण मात्र कर दिया जाता है। आश्रय में उसकी प्रतिक्रिया की परवाह नहीं की जाती। प्रिया-वियोग में खिन्न नल को उपवन की अत्यन्त सुन्दर वस्तुओं के प्रति भी जुगुप्सा की भावना होती थी, उसमें उनका दुःख और वढ़ ही रहा था। घटता कुछ भी नहीं था। वे उन्हें वीभत्स लगती थीं। "नल ने कामदेव के अर्द्धचन्द्र बाण के समान, वियोगियों के हृदय को विदारने वाले तथा दुर्वल पथिकों के मांस का भक्षण करने के कारण यथार्थ नाम वाले 'पलाश' वृक्ष में वियोगियों के कलेजे के टुकड़े के समान फूलों का गुच्छा देखा।"[२] "नल ने चम्पा-कलिकाओं को मदन की वलि-दीपिकाओं के समान देखा। भ्रमर उन दीपशिखाओं की कालिख के समान थे जो मानव पथिक-पतिंगों की हत्या के पुञ्जीभूत पापकर्म थे।"[३] नल ने वन में कलिकाओं से सज्जित श्याम अगस्त्य-वृक्ष को राहु ही समझा। मानो राहु ने कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की जिन कलाओं को निगला था—(जिसे चन्द्रकलाओं का घटना कहा जाता है), वह उन्हें ही अब उगल रहा था[४]।

भयानक

"भय" भाव की व्यञ्जना स्वयंवर में ही मिलती है। वासुकि के पास पहुंचने पर दमयन्ती के भय का चित्रण करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"वासुकि के फन फनाते हुए फणों को देख कर भय के कारण दमयन्ती को 'कम्प' तथा 'रोमाञ्च' ही आया।"[५]

---

१. बभाण वरुणः क्रोधादरुणः करुणोज्झितम्।
किं न प्रचण्डात्पाखण्डपाश ! पाशाद्विभेषि नः।। नै० १७।१०२

२. स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्।। नै० १।८४

३. विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव।। नै० १।८६

४. मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन्।। नै० १।९६

५. तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः कम्पं च वीक्ष्य पुलकं च ततोऽनु तस्याः।।
नै० ११।२१

कलिङ्गाधिपति का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती हैं—"इनके शत्रु ने नगर-वासियों से सुना कि कलिङ्गाधिपति आ पहुंचे। वह भागा और वन में पहुंचा, पर वह भागना व्यर्थ ही हुआ। क्योंकि वहां शुकगण भी 'कलिङ्गाधिपति आ पहुंचे' यही ज्यों का त्यों चिल्ला रहे थे। उस घोषणा को सुन कर बेचारा शत्रु भय से कांप उठता।"[१] भय-भाव का किंचित् दर्शन उत्कल-नरेश के वर्णन में भी होता है—"अपनी धवलता का अहंकार करने वाली सारी वस्तुओं को पराजित करके इसकी भुजाओं के धवलयश के संसार में अपना प्रतिद्वन्द्वी ढूंढ़ने के लिए फैलने पर कुमुद मारे भय के रात भर जागता है, मल्लिका की माला भय से तुम्हारे केश-पाशों में छिपी रहती है, तथा शीतांशु अमृत-प्रस्राव करने के वहाने भय के मारे पसीने से तर रहता है।"[२]

नैषध में भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शान्ति तथा भाव-शवलता के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। "औत्सुक्य" भाव के उदय का एक उदाहरण है—दमयन्ती प्रतिदिन चारणों-द्वारा यशोगान के समय पिता की वन्दना के लिए जाकर उनसे (चारणों से) अन्य राजाओं के चरित-वर्णन के प्रसङ्ग में नल-चरित सुनकर पुलकित हुआ करती[३]। इसी प्रकार शृङ्गार के "गर्व" भाव की शान्ति का एक सुन्दर उदाहरण यह है—"दमयन्ती के अतिरिक्त किस सुन्दरी ने नल को देखकर 'मैं सुन्दरता में नल के योग्य हूं, या नहीं' इसे जानने के लिए अपने रूप को दर्पण में देख गत-दर्प हो हस्तगत दर्पण को आहों से मलिन नहीं किया?"[४] उत्कण्ठा एवं विषाद भावों की सन्धि का सुन्दर चित्रण उस समय हुआ है जब देवों का दौत्यभार स्वीकार करके नल कुण्डिनपुरी के पास पहुँचते हैं। उस समय अहा, यह वही पुरी है जिसकी वीथियाँ दमयन्ती के मृदु चरणों के स्पर्श से कृतार्थ हुई हैं। इस प्रकार उत्कण्ठा-विकल राजा ने क्षण भर उस नगर को सस्पृह देखा। पर देवों द्वारा अपनी आशा को खण्डित सोच

---

१. अयं किलायात इतीरिपौरवाग्भयादयादस्य रिपुर्वृथा वनम्।
श्रुतास्तदुत्स्वापगिरस्तदक्षराः पठद्भिरत्रासि शुकैर्वनेऽपि सः॥ नै० १२।२५

२. दूरं गौरगुणैरहङ्कृतिभृतां जैत्राङ्कारे चर-
त्येतद्दोर्यशसि प्रयाति कुमुदं विस्मयन्न निद्रां निशि।
धम्मिल्ले तव मल्लिकासुमनसां माल्यं भिया लीयते।
पीयूषस्रवकैतवाद्धृतदरः शीतद्युतिः स्विद्यति॥ नै० १२।८४

३. उपासनामेत्य पितुःस्म रज्यते दिनेदिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम्॥ नै० १।३४

४. श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः॥ नै० १।३१

कर एक लम्बा निःश्वास लिया[१]। और जब नल अदृश्य रूप में अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं, उस समय 'उपेक्षा', 'लज्जा', 'सन्तोष' तथा 'विषाद' भावों का मनोरम चित्रण इस प्रकार किया जाता है—नल के हृदय में द्वार पर शस्त्र-सन्नद्ध रक्षकों के प्रति अवज्ञा हुई। उन्हें (चोर की भांति) छिपकर चल रहा हूं, यह सोचकर लज्जा आई। 'दमयन्ती को देखूँगा' अतः कुछ सन्तोष हुआ, पर अपने को दूत सोचकर वे दुःखी हो गए।"[२] 'विषाद' और 'हर्ष' भावों की सन्धि की अद्भुत व्यञ्जना नल के हृदय में तब होती है, जब अदृश्य रूप में वे इन्द्र-दूती का प्रस्ताव सुनते हैं। 'उस समय मुझे न तो दमयन्ती मिली और न मैंने दूत-कार्य ही किया' इस प्रकार नल अत्यन्त गम्भीर चिन्ता में मग्न थे। उस समय उनका हृदय-कमल जो छिन्न-भिन्न न हुआ वह इसीलिए कि वह दमयन्ती के मुखचन्द्र को देख रहे थे।[३]

जिस समय दमयन्ती ने नल को अन्तःपुर में देखा उस समय उसके अनुराग तथा औदास्य भाव क्रम से शान्त और उदय होने लगे। "यह तो नल हैं" यह सोचकर दमयन्ती का उनमें अनुराग हो जाता, फिर "वे यहां कहां?" तत्क्षण यह सोच कर वह उदास हो जाती[४]। 'हर्ष-विषाद' की सन्धि का एक मर्मस्पर्शी चित्रण उत्कल राजा के प्रताप वर्णन में है। सरस्वती कहती हैं "कलिङ्गराज के भय से शत्रु-रमणी सारा दिन पर्वत-कन्दरा में व्यतीत करती। रात्रि हुई, रमणी अपने शिशु के साथ कन्दरा से बाहर आती है। आकाश में स्वच्छ चन्द्रमा प्रकाशमान है। बालक ने समझा वह खिलौने का हंस है। वह अपने खिलौने के लिए हठ करने लगता है। —रमणी-शिशु के हठ से तथा अपनी विपत्ति को सोचकर बहुत रोती है, कपोलों पर बहती अश्रुधारा में बालक को अपने चन्द्र-हंस[५] का प्रति-

---

१. भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम्।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः॥ नै० ६।५

२. हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष दूतं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच॥ नै० ६।१०

३. भैमीं च दूत्यं च न किंचिदापमिति स्वयं भावयतो नलस्य।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखे दोरभून्न भिन्नं हृदयारविन्दम्॥ नै० ६।८९

४. तस्मिन्नलोऽसाविति सान्वरज्यत क्षणं क्षणं क्वेह स इत्युदास्त।
पुनः स्म तस्यां वलतेस्य चित्तं दूत्यादनेनाथ पुनर्न्यवर्ति॥ नै० ८।५

५. एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती।
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभशुप्रार्थितोन्निद्रिचन्द्रा।
आक्रन्दद् भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च॥ नै० १२।२८

बिम्ब दिखायी पड़ता है, वह अपने खिलौने (हंस) को समीप में पाकर प्रसन्न हो जाता है। रमणी शिशु के मिथ्या प्रबोध से अवकाश तो पाती है, पर अपनी दुर्दशा तथा अकिञ्चनता को सोचकर लम्बी आहें भरती है।"

स्वयंवर में जिस समय सरस्वती दमयन्ती का हाथ पकड़ कर इन्द्र की ओर चलीं उस समय स्वर्ग की लक्ष्मी की ललनोचित "असूया" तथा "व्रीड़ा" भावों की सन्धि का श्रीहर्ष ने अनुपम चित्रण किया है। "दमयन्ती को इन्द्र की ओर आती देखकर स्वर्ग-साम्राज्यलक्ष्मी को सचमुच ईर्ष्या हुई, किन्तु, फिर उसे लौटती देखकर, स्वयं इन्द्र में अनुराग करती हुई, वह बड़ी लज्जित हुई[1]। "अनुराग", "उत्सुकता" तथा व्रीड़ा की भाव-शबलता का एक अत्यन्त हृदय-स्पर्शी चित्रण उस समय का है जब नल नवोढ़ा वधू को लिए हुए विदर्भ देश से अपनी नगरी के समीप पहुंचते हैं। उस समय दमयन्ती ने देखा कि "प्रिय अपनी नगरी को देखने में कुछ तल्लीन से हैं, अतः उनसे छिपकर नल को कटाक्षों से देखना चाहा, कि उधर नल का भी ध्यान प्रिया की ओर खिंचा और आंखें भी पुरी की ओर से लौट कर प्रिया की ओर दौड़ीं। बस मार्ग में ही दोनों की आंखें चार हुईं[2]।

---

१. भैमीं निरीक्ष्याभिमुखीं मघोनः स्वाराज्यलक्ष्मीरभृताभ्यसूयाम्।
दृष्ट्वा ततस्तत्परिहारिणीं तां व्रीडं बिडौजः प्रवणाम्भपादि॥ नै० १४।३५

२. पुरीं निरीक्ष्यान्यमना मनागिति प्रियाय भैम्या निभृतं विसर्जितः।
ययौ कटाक्षः सहसा निवर्तिना तदीक्षणेनार्धपथे समागमम्॥ नै० १६।१२३

षष्ठ अध्याय

वस्तु-वर्णन

कवि अपनी सहृदयता तथा वर्णन-कौशल के द्वारा काव्य में आए इतिवृत्तात्मक अंशों को भी सरस बना देता है। संस्कृत कवियों की यह विशेषता रही है कि वे अपने काव्य में एक अत्यन्त नगण्य वस्तु को भी रखते समय उसे अपनी सूक्ष्मदर्शिता के आधार पर कल्पना का ऐसा जामा पहनाते हैं कि श्रोता के मानस-नेत्रों के सम्मुख उसका अत्यन्त आकर्षक चित्र उपस्थित हो जाता है। काव्य में 'आलम्बन' ही मुख्य होता है। कवि अपने काव्य में जिन वस्तुओं का वर्णन करता है वे किसी न किसी रूप में आलम्बन ही मानी जायंगी। काव्य में वर्णित प्रायः प्रत्येक वस्तु किसी न किसी पात्र के किसी न किसी भाव का आलम्बन होती है। जो किसी पात्र के किसी भाव का आलम्बन नहीं होती वह कवि या श्रोता के भाव का आलम्बन होती है। कवि अपनी सहृदयता से उस वस्तु का किसी भाव के साथ ग्रहण करता है, और उसी रूप में पाठ क या श्रोता के सम्मुख रखने का प्रयास करता है, जिससे पाठक या श्रोता को भी उस वस्तु का उसी रूप में ग्रहण हो। यदि कवि ने अपने शब्द-चित्र द्वारा उस वस्तु का वह अभिप्रेत रूप उपस्थित कर दिया जो पाठक या श्रोता के भी उसी भाव को उद्बुद्ध कर दे, तो मानो उसे अपने काव्य में एक बड़ी सफलता मिल गई। उसे उस वस्तु में स्वयं रमना पड़ता है, साथ ही पाठक को भी रमाना उसका कर्तव्य होता है। वन, पर्वत, नदी, ऋतुएं, पुर, विवाह, यात्रा, प्रभा, सन्ध्या, रजनी, चन्द्र, रूप-सौन्दर्य आदि वस्तुएं ऐसी हैं जिनमें मनुष्य-मात्र की रागात्मिका वृत्ति रमती है। ये उसके रागात्मक भावों के आलम्बन हैं। अतः उन वस्तुओं का वर्णन भी रसात्मक ही माना जायगा। जिन वस्तुओं का कवि विस्तृत चित्रण करता है उनमें मनुष्य के रति-भाव की आलम्बनता इसलिए है कि स्वभावतः उनमें शोभा या सौन्दर्य है, और कुछ इसलिए कि उनके साथ मनुष्य का चिर-साहचर्य रहा है। (प्राकृतिक दृश्य इसी प्रकार के आलम्बन हैं)। कुछ वस्तुएं इतनी भव्य विशाल या दीर्घ होती हैं कि वे उसके आश्चर्य का आलम्बन बनती हैं। कुछ का रूप इतना घृणित होता है कि वे उसकी जुगुप्सा का आलम्बन बनती हैं। इसी प्रकार अन्य भावों के भी आलम्बन होते हैं।

वस्तु के वर्णन में कवि कभी तो अभिधावृत्ति के द्वारा वाच्य रूप में किसी भाव को प्रकट करता है, और कभी व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा व्यङ्ग्य अलङ्कार के रूप में। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी उचित है कि कवि दृश्य वर्णन करते समय जो उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, आदि अलङ्कारों के द्वारा प्रस्तुत के मेल में अप्रस्तुत वस्तुओं की योजना करता है उनमें उसका उद्देश्य प्रस्तुत के प्रति उस भाव को तीव्र करना मात्र होता है। अतः अप्रस्तुत की योजना करते समय कवि इस बात के लिए सावधान रहता है कि वे (अप्रस्तुत वस्तुएं) ऐसी हों जो सर्वसाधारण के चित्त में ऐसे भाव जागरित करें जो भाव उस प्रस्तुत से होने चाहिए। कल्पना की ऊंची उड़ान में श्रोता या पाठक की बुद्धि को प्रस्तुत से हटा कर 'शून्य' में छोड़ देना कवि की सफलता नहीं कही जा सकती। कवि को अपनी कल्पना के लिए उतनी ही छूट देनी चाहिए जितनी से वह वस्तु के अतिरम्य भाव-कमल को श्रोता (पाठक) के मानस तल पर विकसित कर सके। उसे इस बात को कभी भूलना न चाहिए कि दृश्य वर्णन में अप्रस्तुत की योजना का गौण स्थान रहता है, प्रस्तुत ही प्रधान होता है।

संस्कृत साहित्य में श्रीहर्ष के समय तक, दुर्भाग्य से, कवियों में वैदुष्य-प्रदर्शन की भावना इतनी प्रबल हो गयी थी कि प्राकृतिक वस्तुओं के साथ उनकी कोमल वृत्तियां रमती ही नहीं थीं। वस्तु-विशेष का वर्णन करते समय वे अपनी बौद्धिक विशेषताओं तथा अधीत विषयों को दिखाने में लग जाते थे, या आचार्यों द्वारा बनाई हुई सूची को पूरा पूरा उतार देते थे। नैषध 'अथ' से 'इति' तक श्रीहर्ष की कल्पनाओं से भरपूर है। कहीं कोई एक भी बात कवि की नूतन उद्भावना के बिना नहीं कही गई है। श्रीहर्ष अत्यन्त सरस कवि थे। नैषध में जिन वस्तुओं का वर्णन उन्होंने किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वयं रमी हुई जान पड़ती है। किन्तु उनकी कल्पना-शक्ति इतनी प्रबल थी तथा उनकी बहुज्ञता इतनी अधिक थी कि कोई बात उनकी लेखनी से सीधे ढंग से निकलती ही नहीं। (विशेष विवेचन के लिए अलङ्कार वाला अध्याय देखिए) पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन उक्तियों में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता नहीं है। वे एक अत्यन्त सरस हृदय से निकली समझ पड़ती हैं। नैषध की एक बड़ी विशेषता है उसकी नाटकीय कथोपकथन-शैली। वर्णन अधिकतर किसी न किसी पात्र के मुँह से हुए हैं, या किसी न किसी पात्र के आलम्बन के रूप में। कवि स्वयं बहुत कम सामने आता है। 'काव्य-कथानक', 'कथानक का औचित्य' तथा 'रसनिरूपण' वाले अध्यायों में प्रायः सभी वस्तुओं के औचित्य का यथावसर विवेचन कर दिया गया है। यहां कुछ विशेष वस्तुओं की वर्णन-शैली की विशेषता को दिखाने का प्रयत्न किया जायगा, जिन पर अब तक विशेष दृष्टि से विचार नहीं किया गया है।

उपवन-वर्णन

दमयन्ती के प्रति पूर्व राग-व्यथित नल मन वहलाने के लिए उपवन में जाते हैं। राजोद्यान होने के कारण उपवन हर प्रकार से सम्पन्न दिखाया गया है। आचार्यों ने उद्यान-वर्णन में कुछ वस्तुओं की सूची निर्धारित की है।[१] श्रीहर्ष ने उनका वर्णन यथास्थान किया है, पर इस ढंग से कि वह 'शास्त्र-स्थिति-प्रदर्शन' मात्र नहीं लगता। उन वस्तुओं का वर्णन किसी विशेष सौन्दर्य को वढ़ाने के प्रसंग में हुआ है, अनायास नहीं। कवि उद्यान की प्रत्येक वस्तु को प्रिया-वियुक्त अनुरागी की आँखों से देखता है। सुन्दर फूल फल सभी क्लेश को वढ़ाते ही हैं, घटाते नहीं। आलम्वनों (पुष्प फल आदि) का चित्रण करते समय कवि ने आश्रय (राजा) के अनुभावों को भी दिखाना चाहा है। ऐसा न होता तो भी पाठक या श्रोता को भाव ग्रहण में कठिनाई न पड़ती। केतकी को देखकर नल मन ही मन झुंझला कर उससे कहते हैं, "कामदेव अपने पुष्पमय धनुष के मधु से गीले हाथ में तुम्हारे पराग की धूलि लगा कर मुझे अपने वाणों का लक्ष्य वनाता है।"[२]

नल के वियोगी हृदय की प्रतिक्रियाओं का कवि को इतना अधिक ध्यान है कि उसने कहीं-कहीं अतिरम्य फूल फल का चित्रण अत्यन्त जुगुप्सामय कर दिया है। उदाहरणार्थ—नल ने कामदेव के अर्द्धचन्द्राकार वाणों के समान, वियोगियों के हृदय को विदारने वाले तथा दुर्वल पथिकों का मांस भक्षण करने के कारण (पल अश्) यथार्थ नाम वाले पलाश वृक्ष में फूलों का गुच्छा देखा[३]। मानो वह (वियोगियों के हृदय में सम्वद्ध) कालखण्ड (नामक उस काले मांस) से निकला हो (जो दाहिने पार्श्व में रहता है)।"

इस उपवन वर्णन में समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का भरपेट प्रयोग हुआ है। 'वायु द्वारा चुम्वित, परागकणों के रूप में रोमाञ्चित, स्मित विकसित कलिकाओं से सुशोभित ईषत्-कम्पित अभिनव लताओं' को नल भय तथा आदर के साथ अपनी

---

१. उद्याने सरणिः सर्वफलपुष्पलताद्रुमाः।
पिकालिकेकिहंसाद्याः क्रीडावाप्यध्वगस्थितिः॥ काव्य-कल्पलता-वृत्ति १।५।६८

२. धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाक्रुश्यत तेन केतकम्॥ नै० १।८१

३. स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्॥ नै० १।८४

आँखों से पी रहे थे[1]। इसी प्रसङ्ग में श्रीहर्ष ने पथिकों का भी उल्लेख किया है। नल को वे चम्पा-कलिकाएं मदन की वलि-दीप-शिखा ही समझ पड़ीं, जो भ्रमर-रूप (दीपशिखा की) कालिख के वहाने मानों पथिक-पतङ्गों के वध रूप पाप कर्मों का अर्जन कर रही थी।"[2] राजोद्यान में पथिकों की चर्चा कवि-परम्परा-भुक्त ही मानी जायगी। चम्पा पर भ्रमर का वैठना भी एक विशेष परम्परा की प्रेरणा है। उपवन में कोकिल की कूक और भ्रमर की गुंजार भी सुनाई पड़ती है, पर अत्यन्त मधुर कल्पना के परिधान में समावृत। कोकिल अपनी कूक में मानों वियोगियों की करुण कथा कह रहा था और वन उस कोकिल से भ्रमरों की गुंजारों के रूप की हुँकारों द्वारा सुन रहा था, तथा करुण-पुष्प करुणरस के समान विकास पा रहे थे।[3] कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का एक सुन्दर उदाहरण देखिए, "नाग-केसर के पुष्प पर भ्रमरों की पङ्क्तियां आ-आ कर बैठतीं थी तथा उनके भ्रमण की गति से पुष्पों के पराग गिरते थ। नल को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों तेजी से चलते हुए श्याम निकष पर मदन-वाण तीक्ष्ण किया जा रहा है, उसके घर्षण से पराग रूपी चिनगारियां[4] निकल रही हैं। श्लोक का पूर्वार्द्ध प्रस्तुत को वड़ी सूक्ष्मता के साथ वर्णित करता है, उत्तरार्द्ध में कवि ने अप्रस्तुत की योजना नल की दृष्टि से की है। समस्त उद्यान-वर्णन में इसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु की झांकी भर मिलती है। तव तक कवि की कल्पना का ऐसा भारी आवरण पड़ जाता है कि पाठक प्रस्तुत को प्रायः भूल ही जाता है। वार-वार पाठक का ध्यान प्रस्तुत से हटा कर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना कभी-कभी अच्छा नहीं समझ पड़ता। अप्रस्तुत की योजना वस्तु का भावपूर्ण समग्र चित्र उपस्थित करने के लिए की जाती है। बार वार कामदेव के वाणों तथा पौराणिक कथानकों की याद मन को उवा देती है। उपवन में वाराङ्गना-कुचोपम पके विल्व-फल, मदन-तूणीर-सदृश पाटल (गुलाव) पुष्प, इन्दुकलानुकारी अगस्त्य पुष्प, मदनशास्त्र-सदृश रक्त पत्तों वाले अशोक, आदि का चमत्कारपूर्ण वर्णन हुआ है। कहीं-कहीं वर्णन अत्यन्त सरस भी हो गया है। वन-पवन का वर्णन करते

---

१. नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे॥ नै० १।८५

२. विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥ नै० १।८६

३. पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे वियोगिनाम्॥ नै० १।८८

४. गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत्॥ नै० १।९२

हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"लता-रमणी का नृत्य-कला-गुरु, पुष्पसौरभ का चोर कुसुम-मकरन्द से सुवासित, जल में सलील तैरने वाला वन-पवन नल की सेवा कर रहा था"[1] पवन के शैत्य, मान्द्य, सौगन्ध्य तीनों गुणों को कवि ने किस निपुणता से व्यञ्जना द्वारा कह दिया है?

इसी उपवन में सरोवर का भी वर्णन है। श्रीहर्ष ने उसे सागर के समान बताया है।[2] उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति आदि के द्वारा सरोवर की प्रत्येक विशेषता सागर की किसी न किसी विशेषता से मिलती है। सरोवर के कमलनाल जल-निलीन ऐरावतों के दांत हैं, जो शेषनाग की पूँछ के समान छवि वाले हैं।[3] श्वेत कमल चन्द्रमा हैं[4] शैवाल बड़वाग्नि की धूमराशि है, आदि।[5]

कुण्डिनपुर-वर्णन

पुरी का दृश्य हंस के नेत्रों के सामने जैसा आया उसी प्रकार वर्णित हुआ है। एक प्रकार से पुरी के प्रति भावों का आश्रय हंस ही लगता है। किन्तु उसका वर्णन इतना सूक्ष्म तथा विस्तृत है कि उसका आश्रय स्वयं कवि अथवा पाठक या श्रोता रूप मानव ही कहा जायगा, हंस को पक्षी होने के कारण उन भावों का आश्रय मानना उचित न होगा। श्रीहर्ष नगर-जीवन से बहुत परिचित समझ पड़ते हैं। पुरी-वर्णन में स्फटिक-मणि-विनिर्मित भवन[6], नीलमणि-रचित राज-प्रासाद,[7] मणिमय गृह[8], कुङ्कुमराग-कषायित-क्रीड़ावापी,[9] जलपूर्णपरिखा,[10] गगनचुम्बी गृहों

---

१. लताबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
   असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥ नै० १।१०६
२. निलीय तस्मिन्निव सन्नपांनिधिर्वने तडाको ददृशेऽवनीभुजा ॥ नै० १।१०७
३. पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसुच्छवीन् ।
   जलार्थरुद्धस्य तदान्तभूमिदो मृणालजालस्य मिषाद्बभार यः ॥ नै० १।१०८
४. सिताम्बुजानां निवहस्ययश्छलात् ....
   ....कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥ नै० १।११०
५. चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
   ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ नै० १।११४
६. स्फटिकोपल विग्रहा गृहाः ॥ नै० २।७४
७. नृपनीलमणीगृहत्विषाम् ॥ नै० २।७५
८. सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे ॥ नै० २।७६
९. सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया ।
   ....वापिका.............. ॥ नै० २।७७
१०. परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि । नै० २।७९

की उन्नतपताकाएं[1] ऊपर नीचे अद्‌भुत वस्तुजात से सम्पन्न भवन,[2] प्रासाद-भित्तियों पर निर्मित पुत्तलिकाएं,[3] कनक-प्राकार,[4] सूर्यकान्त-मणियों वाले भवनों से दिन भर अग्नि ज्वालाओं का निकलना,[5] सागर के समान कोलाहल तथा रत्नादि से पूर्ण बाजार[6], भवन की अट्टालिकाओं पर जटित चन्द्रकान्त मणियों से प्रति चन्द्रोदय के समय जलस्राव[7], गन्धी-बाजार में केशर की दूकानों की वीथियां,[8] दूकानों पर फैलाई अगणित वस्तुएं[9], सूर्यकान्त-मणि-जटित राजमार्गों पर शिशिर की रातों में शीत का अभाव,[10] चन्द्रकान्त-मणि-जटित राजमार्गों पर ग्रीष्म के ताप का अभाव,[11] ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों का मर्यादा-सहित निवास करना,[12] मरकत-रचित क्रीड़ा-पर्वत की ऊंची हरित रश्मियों,[13] आदि का वर्णन है। श्रीहर्ष की दार्शनिकता अलङ्कार-विधान में भी झलक पड़ती है। निशीथ-वेला में नगरी के विषय में क्षण भर के लिए नीरव हो जाने की अवस्था में कवि की उत्प्रेक्षा है—"वह ऐसी प्रतीत होती है मानों प्राकार (चहार-दीवारी) की पङ्क्ति का योगवस्त्र धारण कर

---

१. व्रजते दिवि यद्‌गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम्॥ नै० २।८०

२. क्षितिगर्भवराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरणां पृथक्।
जगतां किल याखिलाद्‌भुताजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः॥ नै० २।८१

३. बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः—इत्यादि॥ नै० २।८३

४. वरणः कनकस्य मानिनीम्.......परिरभ्यानुनयन्नुवास याम्॥ नै० २।८६

५. अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः। नै० २।८७

६. बहुकम्बुमणिः...............।
........पटु दध्वानयदापणार्णवः॥ नै० २।८८

७. यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया॥ नै० २।८९

८. अनुसायमभूर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः॥ नै० २।९०

९. विततं वाणिजापणेऽखिलं पणितुम्......
.....................जगतीवस्तु.....। नै० २।९१

१०. रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम्॥ नै० २।९३

११. विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा............।
शशिकान्तमयं तयागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः॥ नै० २।९४

१२. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या॥ नै० २।९८

१३. वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भैः॥ नै० २।१०५

मणिभवन-रूपी किसी अन्तर्ज्योति की उपासना कर रही है।"[1] राज-प्रासादों की ऊंचाई बताने के लिए कवि एक अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचता है—"सुधा-धवल राज-मन्दिरों के कण्ठ-प्रदेश मेघ-खण्डों के स्पर्श के कारण श्यामवर्ण दिखाई देते हैं। तो वे (राजमन्दिर) (गौरदेह वाले) नीलकण्ठ भगवान् इन्दुमौलि की समता क्यों न पावें ?"[2]

अन्तःपुर-वर्णन

कुण्डिनपुर में दमयन्ती का अन्तःपुर नल के हर्ष-विषाद भावों का आलम्वन है। "अहा, यह वह पुरी है जिसकी वीथियां दमयन्ती के मृदु-चरणों के स्पर्श से कृतार्थ हुई हैं।" इस प्रकार उत्कण्ठा-विकल राजा ने क्षण भर उस नगरी को सस्पृह देखा। पर देवों द्वारा अपनी आशा को खण्डित सोच कर एक लम्वा निःश्वास लिया।[3]

द्वार पर खड़े रक्षकों का, नृत्य-गीत का, तथा नल की मानसिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण हुआ है। अदृश्य नल के अङ्ग से सुन्दरियों का स्पर्श होना, नल के रत्नाभूषण में किसी सुन्दरी के दूकूल का उलझ जाना और उससे उसके नितम्व का दिगम्वर[4] हो जाना, चतुष्पथ पर किसी सुन्दरी की गेंद की चोट लगना, किसी के द्वारा संघर्ष पाकर नखाङ्कित हो जाना, किसी के स्तन-कुङ्कुम से लिप्त हो जाना[5] आदि का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। नल के प्रतिविम्व को हार या दर्पण में देख कर सुन्दरियों का मदनवश होना,[6] उनके अङ्ग-स्पर्श से पुलकित

---

१. क्षगनीखया ययानिशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमिज्यते ॥ नै० २।७८

२. दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतुयत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ नै० २।८२

३. भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम्।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः ॥ नै० ६।५

४. संघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसंतापमवाप भपः ॥ नै० ६।२८

५. हतः कयाचित् पथि कन्दुकेन संघट्टय भिन्नः करजैः कयापि।
कयाचनाक्तः पथि कुङ्कुमेन संभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः ॥ नै० ६।२९

६. छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः।
तच्चिन्तयान्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ॥ नै० ६।३०

होना[१], अत्यन्त भावुक तथा स्वाभाविक लगता है। नल कहीं पर दमयन्ती का चित्र बनाकर ही मन बहलाने लगते हैं[२]—कहीं सुन्दरियां एक दूसरे की यौवन-पूत-कान्ति देख रही हैं—नल उनके बीच से निकल जाते हैं और इस प्रकार क्षण भर का आकस्मिक व्यवधान उत्पन्न कर उन्हें आश्चर्य में डाल देते हैं[३], वहीं नल-दमयन्ती का भ्रान्ति में वास्तविक मिलन भी वर्णित है[४]। सारिका की बातें[५], सखियों के अभिनय[६], प्रतिकर्म[७] (शृङ्गार रचना), मदनपत्र—लेखन,[८] चित्राङ्कन,[९] वीणावादन,[१०] मालाग्रथन,[११] पत्र-रचना,[१२] अक्ष-क्रीड़ा[१३] आदि का अत्यन्त सरस चित्रण कवि के राजाओं के अन्तःपुर-विषयक ज्ञान का परिचय देता है।

---

१. उल्लास्यतां स्पृष्टनलाङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबाऽपि दृष्टिः।
अश्मैव रत्यास्तदर्नाति पत्या छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम॥ नै० ६।३४

२. उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथार्दाशि तथैव भैमी।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय॥ नै० ६।३७

३. तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम्।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय॥ नै० ६।४०

४. अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपि देशे।
आलिङ्गतालीमपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते॥ नै० ६।५१

५. एतं नलं तं दमयन्ति, पश्य............।
श्रुत्वा स नारी करर्वातसारीमुखात्........॥ नै० ६।६०

६. यत्रैकयालीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या।
.................................॥ इत्यादि ॥ नै० ६।६१

७. चन्द्राभ्रमाभ्रं तिलकं दधाना..............इत्यादि॥ नै० ६।६२

८. दलोदरे काञ्चनकेतकस्य...........।
............यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी.....॥ नै० ६।६३

९. विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्या.......इत्यादि॥ नै० ६।६४

१०. भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलि-प्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः॥ नै० ६।६५

११. ....प्रसूनैः।
स्रजं सृजन्त्या..............॥ नै० ६।६७

१२. आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण॥ न० ६।६९

१३. शारीं चरन्तीं सखि! मारयैतामित्यक्षिदाये कथिते कयापि..इत्यादि॥
नै० ६।७१

विवाह-वर्णन

इसमें नगर की सजावट, मङ्गलवाद्य, वधूवर का नख-शिख शृङ्गार, वर-यात्रा, विवाह-विधि, यौतक (दहेज) तथा हास-परिहास के साथ वरातियों के भोजन आदि का विस्तृत चित्रण एवं हृदयहारी वर्णन हुआ है। दमयन्ती की सहज तथा अलङ्कृत शोभा का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"अलङ्करणों के विना भी दमयन्ती स्वयं सुषमा की पराकाष्ठा थी, पर कुशल सखियों ने उसे और भी विशिष्ट प्रकार से अलङ्कृत कर दिया था, जिससे वैदर्भी सीमातीत लगने लगी थी—इसका कौन निर्णय कर सकता था कि भूषणों से दमयन्ती की शोभा हो रही थी, अथवा दमयन्ती से भूषणों की।"[1] शृङ्गार-वर्णन में कहीं भी वात सीधी नहीं कही गई, कोई न कोई उत्प्रेक्षा, रूपक या अतिशयोक्ति अलङ्कार अवश्य जुड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ —अञ्जन-रेखा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—"दमयन्ती के अपाङ्गों तक फैली हुई अञ्जन-रेखा अत्यन्त सुशोभित हो रही थीं, मानो यौवन-श्री ने सुन्दरी के नेत्रों की ओर दीर्घ करने के लिए नापने की डोरी लगाई है।"[2] एक वात को कई ढंग से कहना तो श्रीहर्ष की शैली है। लगता है मानों कवि की कल्पना पहिले के वर्णन से सन्तुष्ट नहीं हुई है। इसी अञ्जन के रेखा के विषय में पूर्वोक्त के सिवा दो और कल्पनाएं देखिए—कवि का वितर्क है कि "यह रेखा अञ्जन की नहीं है। स्यात् वार-वार मदन-भावनाओं से पूर्ण कटाक्षों के चलाने के कारण नेत्र प्रान्त तक जाने वाली दमयन्ती की पुतरी रूप नीलमणि ने अपनी श्याम-प्रभा से यह मार्ग वना लिया है।"[3] फिर "दमयन्ती के नेत्र अञ्जन-रेखा से युक्त हो कर अद्भुत शोभा पा रहे थे—मानों ये मदन के वाण रूप दो नील कमल हैं जो मदन की बाहुओं से धनुष की प्रत्यञ्चा के खींचने से वनी काली चिह्न-रेखा के सहित सुशोभित हैं।"[4]

वरात देखने की उत्कण्ठा स्वाभाविक है। कवियों ने वहुत प्राचीन काल से वरात के प्रसंग में अट्टालिकाओं एवं राजमार्ग से पुराङ्गनाओं का सोत्कण्ठ देखना

---

१. विनापि भूषामवधिः श्रियामियं व्यभूषि विज्ञाभिरदर्शि चाधिका।
न भूषयैषाधिचकास्ति किं तु सानयेती कस्यास्तु विचारचातुरी॥ नै० १५।२७

२. अपाङ्गमालिङ्ग्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या।
अपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयः श्रिया वर्धयितुं विलोचने॥ नै० १५।३४

३. अनङ्गलीलाभिरपाङ्गधाविनः कनीनिकानीलमणेः पुनः पुनः।
तमिस्रवंशप्रभवेन रश्मिना स्वपद्धतिः सा किमरञ्जि नाञ्जनैः॥ नै० १५।३५

४. असेविषातां सुषमां विदर्भजादृशाववाप्याञ्जनरेखयाऽन्वयम्।
भुजद्वयज्याकिणपद्धतिस्पृशोः स्मरेण बाणीकृतयोः पयोजयोः॥ नै० १५।३६

अवश्य वर्णित किया है। श्रीहर्ष ने उनकी तल्लीनता के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ—"किसी सुन्दरी ने नल के देखने में तत्पर-नयना होने के कारण हाथ में लिए हुए पान को खाने के बजाय मुख में अपना नीला कमल ही डाल लिया। मानों उसे यह क्रोध था कि मेरे मुख रूपी राजा के होते हुए यह कमल क्यों राजा बन रहा है।"[1]

स्त्रियों का वर तथा बरात की ओर सङ्केत कर के उन्हें अपनी सखियों को दिखाना अत्यन्त स्वाभाविक तथा सूक्ष्म चित्रण है। उत्कण्ठा तथा तल्लीनता का एक चित्र देखिए—"कोई सुन्दरी नल की ओर संकेत कर के अपनी सखी को दिखा रही थी। वेग से हाथ उठाने पर उसके कङ्कण में उलझ कर मोतियों का हार टूट गया और बिना देखे ही उसके सारे मोती बिखर गए—मानों उसने उस समय नल के लिए आचार-लाज छिटकाए हों।"[2] भीड़ में रसिकों की क्रीड़ाओं का भी उल्लेख हुआ है। वह कवि का अपना निरीक्षण ही है। जब कि सारे समाज की आँखें नल के ऊपर गड़ी हुई हैं, उसी समय किसी पुंश्चली के आए हुए जार से आलिङ्गनों के कारण नल-दर्शन में रह रह कर विघ्न पड़ता है।[3] पुराङ्गनाओं की सर्वात्मना तल्लीनता का एक सुन्दर चित्र और देखने योग्य है। किसी सुन्दरी का आभूषण गिर गया है, दूसरी पास खड़ी उसे उसकी सुध दिला रही है किन्तु "नल को देखने में तल्लीन उन मृगनयनियों के कान भी अपने आभूषण के नील-कमल रूपी आंखों से नल को देखने लगे थे, सम्भवतः इसीलिए वे भी ऐसे बेसुध हो गए थे जिससे वे सखियों की बातें भी न सुन सके।"[4]

विवाह-विधि परम्परागत ढंग से वर्णित है। यौतक में राजविभवोचित वस्तुएं दी गई हैं। कुछ अस्त्र-शस्त्रों के भी नाम हैं जो श्रीहर्ष के वीर-युग में महत्त्वशाली माने जाते थे।

---

१. करस्थताम्बूलजिघत्सुरेकिका विलोकनैकाग्रविलोचनोत्पला।
मुखे निचिक्षेप मुखद्विराजताऋषेव लीलाकमलं विलासिनी॥ नै० १५।७७

२. सखीं नलं दर्शयमानयाङ्गुलौ जवादुदस्तस्य करस्य कङ्कणे।
विषज्य हारैस्त्रुटितैरतर्कितैः कृतं कयापि क्षणलाजमोक्षणम्॥ नै० १५।७५

३. कयापि वीक्षाविमनस्कलोचने समाज एवोपपतेः समीयुषः।
घनं सविघ्नं परिरम्भसाहसैस्तदा तदालोकनमन्वभूयत॥ नै० १५।७८

४. वतंसनीलाम्बुरुहेण किं दृशा विलोकमाने विमनीबभूवतुः।
अपि श्रुती दर्शनसक्तचेतसां न तेन ते शुश्रुवतुर्मृगीदृशाम्॥ नै० १५।८१

वरातियों का भोजन तथा उपहास एक साथ रक्खा गया है—इस उपाय द्वारा भोजन-वर्णन भी सरस तथा रुचिकर हो गया और उपहास भी समयोचित और उपयोगी हो गया। अन्यथा भोजन और उपहास दोनों का वर्णन करना काव्य-शिष्टता के विरुद्ध था। केवल भोजन-पदार्थों का नाम गिनना अरुचिकर होता अथवा कोरा उपहास नीरस होता। भोजन के साथ उपहास के एक दो चित्र पर्याप्त होंगे। "किसी युवक के सामने घी से चिकने चमकते भोजन पात्र में सुन्दरी का प्रतिविम्व पड़ रहा था। युवक ने उस प्रतिविम्व के वक्षःस्थल पर दो लड्डू रखकर उन्हें नख से कुरेदना प्रारम्भ किया और अन्त में सुन्दरी के देखते हुए उन लड्डुओं को निर्दयता के साथ मसल डाला।"[१] "युवक की थाली में खाने को भात है तो भी वह अपने हाथ को पद्म-कोष-सा वनाकर मांगता है कि "इतना चावल दो", सुन्दरियों ने संकेत की व्यञ्जना समझ ली। एक ने दूसरी से कहा "सखी देती क्यों नहीं?" दूसरी ने उत्तर दिया "तू ही क्यों नहीं देती!" इस प्रकार परस्पर विवाद में लग कर सुन्दरियों ने चाहते हुए भी उसे उसकी अभिवाञ्छित वस्तु न दी।"[२]

प्रभात-वर्णन

प्रभात-वेला में राजाओं को जगाने के लिए आज भी चारणों का गान होता है तथा शहनाई वजाई जाती है। नैषध में इसका सन्निवेश अत्यन्त उपयुक्त स्थान पर हुआ है। प्रभात वर्णन के आश्रय वैसे तो नल-दमयन्ती हैं, जो उषा की मधुर स्निग्ध वेला में रतिश्रान्त परिरम्भ किए सोए हुए हैं, किन्तु इस प्रकार के प्राकृतिक दृश्य श्रोता या पाठक के भावों के भी आलम्वन होते हैं।

उषाकाल में प्राची की मुस्कान तथा चन्द्रमा-सहित प्रतीची की खिन्नता पर कवि की कैसी भाव-पूर्ण कल्पना है—"उधर वरुण की भार्या प्रतीची दिशा को पाकर शीतांशु के रश्मि रूप वस्त्र धीरे-धीरे खिसकने लगे हैं—वे निरंकुश होते जा रहे हैं—और इधर इन्द्र की रानी प्राची पर-पुरुष का इस प्रकार परस्त्री-गमन देख कर प्रकाश के वहाने मानों मुस्करा रही हैं।"[३] "प्रभात में छोटे छोटे तारों का न

---

१. घृतप्लुते भोजनभाजने पुरः स्फुरत्पुरन्ध्रिप्रतिविम्बिताकृतेः।
युवानिधायोरसि लड्डुकद्वयं नखैर्लिलेखाथ ममर्द निर्दयम्॥ नै० १६।१०३

२. सरोजकोशाभिनयेन पाणिना स्थितेऽपि कूरे मुहुरेव याचते।
सखि! त्वमस्मै वितर त्वमित्युभे मिथो न वादाद्ददतुः किलौदनम्॥ नै० १६।९१

३. वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुं रुचीनिचयसिचयांशांशभ्रंशक्रमेणनिरंशुकम्।
तुहिनमहसं पश्यन्तीव प्रसादमिषादसौ निजमुखमितः स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित्॥
नै० १९।३

दिखाई पड़ना, सूर्य की किरणों का मानों होड़ लगा कर गगन-प्राङ्गण में पहुँचना तथा चन्द्रमा का मानों रात भर अन्धकार के साथ युद्ध करते हुए क्षीण-तेज दिखाई पड़ना"[1]—ये तीन ऐसे दृश्य हैं जिन पर प्रभात-वेला में एक-साथ दृष्टि पड़ती है। इनका एक-साथ चित्रण करते हुए श्रीहर्ष का हृदय उनमें तल्लीन हो गया प्रतीत होता है।

प्रभात-वर्णन में कवि के सूक्ष्म एवं भावपूर्ण निरीक्षण के एक दो चित्र उपयुक्त ही होंगे। "प्रभात-वेला में सूर्य की किरणें अलक्तक (महावर) से भी अधिक रक्त तथा दीप्तिमान् होती हैं। दूर उन किरणों के साथ अन्धकार का संयोग इस प्रकार का प्रतीत होता है, मानों अनेक श्वेत पक्षियों के रक्तवर्ण चञ्चु श्याम पङ्क के ऊपर पड़ रहे हैं और उन किरणों की संगति से अत्यन्त कृष्णा भ्रमरी की प्रभा भी रक्त-श्याम हो गई है।"[2] और "रात में कुश की नोकों पर पड़ी ओस की बूंदें प्रभात में ऐसी प्रतीत होती हैं, मानों लोहे की सुइयों पर छेद करने के लिए मोती रक्खे हों।"[3] बीच बीच में कवि की बहुज्ञता ने भी पर्याप्त हस्तक्षेप किया है। जिससे कवि का मन प्रभात की रमणीयता से बहक कर वेदों, शास्त्रों और पुराणों के गह्वर में अपनी कल्पना के उपकरण ढूंढ़ने चला जाता है। उदाहरणार्थ—प्रातः तारों के विलुप्त होने तथा चन्द्रमा को रश्मि-रहित होने के प्रति कवि कितनी दूर की गूढ़ कल्पना करता है—"भगवान् सूर्य की प्रभातकालिक किरणें "ऋक्"-रूप मानी गई हैं और प्रत्येक ऋचा के प्रारम्भ में ओङ्कार अवश्य रहता है। तो प्रातः सूर्य की किरण-रूपी ऋचाओंके ओङ्कारों में अनुस्वार सूचक विन्दुओं को लगाने के लिए ही मानों ये आकाश के निर्मल तारे बटोर लिए जाते हैं और उदात्त स्वर की रचना के लिए ही सम्भवतः चन्द्रमण्डल से उदात्त (ऊंची) रश्मियां ले ली जाती

---

१. अमहतितरास्तादृक्तारा न लोचनगोचरास्तरणिकिरणा द्यामञ्चन्ति क्रमाद परस्पराः।
कथयति परिश्रान्तिं रात्रीतमस्सहयुध्वनामयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितस्त्विषाम्॥ नै० १९।४

२. स्फुरति तिमिरस्तोमः पङ्कप्रपञ्च इवोच्चकैः पुरुसितगरुच्चञ्चुपुटस्फुटचुम्बितः।
अपिमधुकरी कालिम्मन्या विराजति धूमलच्छविरिव रवेर्लाक्षालक्ष्मीं करैरतिपातुकैः॥ नै० १९।५

३. रजनिवमथुप्रालेयाम्भः कणक्रमसम्भृतैः कुशकिशलयस्याच्छैरग्रेशयैरुदबिन्दुभिः।
सुषिरकुशलेनायःसूचीशिखाङ्कुरसङ्करं किमपि गमितान्यन्तर्मुक्ताफलान्यवमेनिरे॥ नै० १९।६

हैं।"[1] प्रातःकाल में वेदपाठियों की वेदध्वनि के प्रति यह कल्पना—"चारों वेदों की एक सहस्र शाखाएं ही सूर्य की सहस्र किरणों के रूप में विवर्तित हुई हैं। वे किरणें अब हमारे समीप आ गई हैं। यह प्रातः वेदपाठियों के मुख-रूपी कन्दराओं में इन्हीं वेदशाखा-रूपधारी सूर्यकिरणों की वेद-पद-रूप प्रतिध्वनि ही तो गगन में उड़ती है—"[2] कवि की शास्त्रज्ञता तथा रचना-कौशल का तो अवश्य पूर्ण परिचय देती है किन्तु रविकिरणों अथवा वेद- पाठियों के प्रति क्या भाव उत्पन्न करती है यह कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार कभी रामायण,[3] कभी पुराण,[4] कभी धर्मशास्त्र,[5] और कभी महाभारत,[6] आदि के प्रसंग कवि को दूर खींच ले जाते हैं। किन्तु इस पर भी हम यह कह सकते हैं कि नैषध में प्रभात का सौन्दर्य-वर्णन बड़ी सहृदयता के साथ हुआ है। प्रकृति के दृश्यों में जहां कहीं मानवीकरण (समासोक्ति अलङ्कार) हुआ है, वहां हृदय की कोमल वृत्तियों का और भी पता चलता है। उदाहरणार्थ—कवि की दृष्टि में तारों, निशा तथा शशि का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा एक कुल के लोगों का परस्पर होता है। अतः "प्रभात होते होते अपने स्वामी चन्द्रमा की विपत्ति को देखना न सह सकने के कारण निशा एवं तारे उसके निस्तेज होने के पूर्व ही स्वयं नष्ट हो गए, किन्तु इस चन्द्रमा का हृदय तो निश्चित ही पत्थर का बना है—जैसा कि काले पत्थर की छाया उसके मध्य में दृष्टि-गोचर होकर प्रमाणित कर रही है—जो अपने इन प्रिय जनों

---

१. रविरुचिरुद्धचामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां,
गमयितुममूरुच्चीयन्ते विहायसि तारकाः।
स्वरविरचनायासामुच्चैरुदात्ततया हृताः।
शिशिरमहसो बिम्बादस्मादसंशयमंशवः॥ नै० १९।७
(श्रीहर्ष कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी या कठक संहिता के अनुयायी प्रतीत होते हैं। क्योंकि उदात्तस्वर पर खड़ी रेखा का चिह्न इन्हीं में लगता है, अन्यत्र कहीं नहीं।)

२. दशशतचतुर्वेदीशाखाविवर्तनमूर्तयः सविधमधुनाऽलङ्कुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः।
वदनकुहरेष्वध्येतृणामयं तदुदञ्चति श्रुतिपदमयस्तेषामेव प्रतिध्वनिरध्वनि॥
नै० १९।१०

३. नै० १९।८

४. नै० १९।१५

५. नै० १९।२८

६. नै० १९।४३

(तारे एवं रात्रि) के नष्ट होने पर भी वह शीघ्र विदीर्ण न हो गया।[1] "प्रभात-वर्णन में कवि की दृष्टि भ्रमर, चक्रवाक, कुमुद, कमल की ओर विशेषतः जाती है। ये ही विशेष रूप से उसकी कल्पना के आधार बनते हैं। नैषध में भ्रमर के विषय में बड़ी भावपूर्ण उक्तियां कही गयी हैं। उषा वेला में अभी सरोजिनी का बन्धन अच्छे प्रकार से ढीला नहीं हो पाया है—उसका मुख पूर्ण विकसित नहीं हो पाया है। भ्रमरी अबला है, कोमल है, उसमें प्रवेश करने की शक्ति नहीं है। किन्तु भ्रमर पुरुष है, उसमें पौरुष है, धृष्टता है, बल है,—वह बलात् प्रवेश करता है। सरोजिनी का मकरन्द मुँह में भर कर बाहर लाता है और इस प्रभात वेला में प्रिया को प्रेम से खिलाता है तथा स्वयं भी खाता है।[2] सरोवर के तट-वृक्षों पर रहने वाले पक्षी कलरव करने लगते हैं, जिससे सरोवर में सोई कमलिनी के कमलरूप नेत्र खुल गए। भ्रमर कमलों के मकरन्द को अपनी प्रिया के अधरामृत से मिला कर पी रहा है।[3] चक्रवाक के विषय में कवि की उक्ति है—"रात्रि के समय चक्रवाक को अपनी प्रिया से वियुक्त होना पड़ा था। अब चन्द्रमा अपनी प्रिया रात्रि से वियुक्त हो रहा है। रात्रि में चक्रवाक के हृदय में ताप था, अब प्रभात होने पर वह ताप सूर्य में चला गया। इस प्रकार अब चक्रवाक को न वियोग है, न ताप। अब प्रिया से मिलने की अधीरता है। वियोग-वश उसकी जिह्वा अत्यन्त चञ्चल हो उठी है। विकल हो वह अपनी प्रिया को अनेकों बार नाम लेकर बुला रहा है।[4] प्रभात में कुमुदिनी के

---

१. उडुपरिषदः किं नार्हत्वं निशः किमु नौचिती,
पतिरिह न यद्दृष्टस्ताभ्यां गणेयरुचीगणः।
स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन-
श्च्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि द्रुतं बत न द्रुतम् ॥ नै० १९।१९

२. अनतिशिथिले पुम्भावेन प्रगल्भबलाः खलु,
प्रसभमलयः पाथोजास्ये निविश्य निरित्वराः।
किमपि मुखतः कृत्वा नीतं वितीर्य सरोजिनी,
मधुरसमुषोयोगे जायां नवान्नमचीकरन् ॥ नै० १९।२७

३. तटतरुखगश्रेणीसांराविणैरिव साम्प्रतं ।
सरसि विगलन्निद्रामुद्राजनिष्ट सरोजिनी।
अधरसुधया मध्ये मध्ये वधूमुखलब्धया।
धयति मधुपः स्वादुङ्कारं मधूनि सरोरुहाम् ॥ नै० १९।२९

४. विशति युवतित्यागे रात्रीमुचं मिहिकारुचं
दिनमणिमणिं तापे चित्ताग्निजाप्च्य यियासति।
विरहतरलज्जिह्वां बह्वाह्वयन्त्यतिविह्वला-
मिह सहचरीं नामग्राहं रथाङ्गविहङ्गमाः ॥ नै० १९।३५

मुकुलित होने के प्रति कवि की उक्ति है—"दिन में कुमुदिनी अपने मुकुल-रूपी नेत्रों को वन्दकर अन्धी वन जाती है, वह सूर्य को नहीं देखती, जिससे लोग उसे बुरा कहते हैं। वात यह है कि कवियों ने राजदारा के लिए असूर्यम्पश्या विशेषण निश्चित कर दिया है। तो कुमुदिनी भी तो द्विजराज या उडुराज की दारा है, फिर वह 'असूर्यम्पश्या' क्यों न हो?[1] सूर्य की किरणों, भ्रमरों तथा कमलों के संयोग से सरोवर की शोभा का कवि ने अत्यन्त संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया है—'सरोवर के चारों ओर सूर्य की वालकिरणें फैली हुई हैं, अरुणिमा में वे किरणें कुङ्कुम-कुसुमों को भी मात करती हैं। जव सरोवर के कमलों की सुगन्ध लेकर भ्रमर आनन्द से ऊपर उठते हैं तो उनकी कृष्णिमा से मिलकर (अरुणवर्ण) किरणें गुञ्जाफल की शोभा धारण करती हुई-सी जान पड़ती हैं।'[2] और, सूर्य की वालरश्मियां सरोवर को अरुणिमा दे रही हैं, आने वाले भ्रमरों की श्यामावलियां उसे कृष्णिमा दे रही हैं तथा उसके मध्य में विकसित कलियों वाले धवल कमल उसे श्वेतिमा दे रहे हैं—इस प्रकार सरोवर 'श्वेत-श्याम-रतनार' हो गया है।[3] अन्त में सूर्य के विषय में अनेकों कल्पनाएं की गयी हैं, किन्तु साथ ही कवि का सूक्ष्म निरीक्षण एवं भावुक हृदय भी झलकता दिखायी पड़ता है। गवाक्षों से होकर आने वाली वाल सूर्य की किरणों में वड़ी द्रुतगति से घूमने वाले त्रसरेणुओं के प्रति वन्दीजन कहते हैं—"राजन्, भवन की गवाक्षों से प्रविष्ट होने वाली सूर्य की किरण रूपी रक्ताङ्गुलियों को सादर देखिए। वे ऐसी प्रतीत हो रहीं हैं मानो आप के नयन-कमल की अरुणनाल हों। इन किरणों में रजः-परमाणु तेजी से घूमते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों स्वर्ग के वढ़ई

---

१. स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धंभविष्णुतया जनः,
किनु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टे खेरनवेक्षिकाम्।
लिखितपठिता राज्ञो दाराः कविप्रतिभासुधे
श्रृणुत श्रृणुतासूर्यम्पश्या न सा किल भाविनी॥ नै० १९।३६

२. घुसृणसुमनःश्रेणीश्रीणामनादरिभिः सरः।
परिसरचरैर्भासां भर्तुः कुमारतरैः करैः।
अजनि जलजामोदानन्दोत्पतिष्णुमधुव्रता।
वलिशवलनाद् गुञ्जापुञ्जश्रियं गृहयालुभिः॥ नै० १९।३८

३. रचयति रुचिः शोणीमेतां कुमारितरा रवे,
र्यदलिपटली नीलीकर्तुं व्यवस्यति पातुका।
अजनि सरसी कल्माषी तद्ध्रुवं धवलस्फुटत्
कमलकलिकाषण्डैः पाण्डूकृतोदरमण्डला॥ नै० १९।३९

विश्वकर्मा ने सूर्यदेव को फिर से शाण पर चढ़ाया हो, और ये उसी के स्फुलिङ्ग निकल रहे हों।[1] डूबते हुए चन्द्रमा के प्रति कवि की उक्ति है—"पश्चिम में आधा डूबा हुआ चन्द्रमा मानों शङ्ख को काटने के लिए आरा हो, जो जल में भिगोए हुए श्वेतशङ्ख को काटने के कारण उसके श्वेतपङ्क से पाण्डु-वर्ण हो गया है।[2] इसी चन्द्र-रूपी आरे ने विशाखा नक्षत्र के शङ्खाकार तारों को लुप्त कर दिया है। तथा जलोत्पन्न शङ्ख को काटने के लिए बड़े वेग के साथ हाथ से चलाया जा रहा है। कवि ने कमल, कुमुद तथा भ्रमरों का एक साथ मनोहर चित्र दिया है—(कमल के) सरोवर में अपने पंखुड़ी-रूपी नेत्रों को खोले हुए जो कुमुद संतरी की भांति रात भर सरोवर की सम्पत्ति (कमल) की रखवाली करता रहा, अब दिन होने पर वही रात का जागा प्रहरी सुख की नींद सोने लगा है। भीतरमधुपों का गुंजार ही उस शयालु का घुर्‌घुर् शब्द हो रहा है[3]। —प्रभात में कौओं की कांव-कांव, कोयल की कूक तथा सिर हिलाते हुए कबूतर की 'घू-घू' की ओर भी श्रीहर्ष ने ध्यान दिया है, और उन्हें अपनी कल्पना से सुन्दर सजाकर चित्रित किया है।[4]

---

१. नय नयनयोर्द्राक्पेयत्वं प्रविष्टवतीरम-
भवनवलभीजालान्नाला इवार्ककराङ्गुलीः।
भ्रमदणुगणकान्ता भान्तिभ्रमत्य इवाशु याः
पुनरपि धृता कुन्दे किं वा न वर्धकिना दिवः॥ नै० १९।५४

२. ताराशङ्खविलोपकस्य जलजं तीक्ष्णत्विषो भिन्दतः।
सारम्भं चलता करेण निविडां निष्पीडनां लम्भितः।
छेदार्थोपहृताम्बुकम्बुजरजोजम्बालपाण्डूभव-
च्छङ्खच्छिन्नकरपत्रतामिह वहन्नस्तङ्गतार्धो विधुः॥ नै० १९।५७

३. अवैमि कमलाकरे निखिलयामिनीयामिक
श्रियं श्रयति यत् पुरा विततपत्रनेत्रोदरम्।
तदेव कुमुदं पुनर्दिनमवाप्य गर्भभ्रमद्,
द्विरेफरवघोरणाघनमुपैति निद्रामुदम्॥ नै० १९।५९

४. इह किमुषसि पृच्छाशंसिकिंशब्दरूपे प्रतिनियमितवाचा वायसेनैष पृष्टः।
भग फणिभत्रशास्त्रे तातङः स्थनिनौ काविति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोभूत्॥
नै० १९।६०

दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत् कोऽप्यधीती कपोतः,
कण्ठेशब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषानुयातः ।
सर्वं विस्मृत्य दैवात् स्मृतिमुषसि गतां घोषयन्घो घुसंज्ञां,
प्राक् संस्कारेण सम्प्रत्यपि धुवति शिरः पट्टिकापाठजेन॥ नै० १९।६१

प्रभात का समय तभी तक रमणीय रहता है जब तक सूर्यमण्डल अपनी रक्तिमा लिए रहता है। सूर्यमण्डल के श्वेत हो जाने पर तो प्रभात का अनुराग ही नष्ट हो जाता है, और वह 'दिन' हो जाता है। श्रीहर्ष के भावुक नेत्र प्रभात के सौन्दर्य की इस सीमा को अच्छी तरह पहचानते थे। अतएव वन्दीजन प्रभात-वर्णन के अन्त में कहते हैं, "तिमिर सागर का बड़वानल तथा दुःखी कमलिनियों का आनन्द-दाता सूर्य ऊपर चढ़ आया है। पर अब भी सूर्य अपनी भास्वर-शुक्लता नहीं धारण कर रहे हैं? सूर्य-रश्मियां अब भी आकाश को रक्त किए हुए हैं"।[1]

इसके बाद शीघ्र ही सूर्य-किरणों की प्रचण्डिमा प्रारम्भ हो जायगी, अतः वर्णन यहीं समाप्त हो जाता है।—वह समाप्ति भी पुरस्कार-दान-द्वारा की जाती है, वन्दीजनों के अकस्मात् चुप हो जाने से नहीं। काव्य की यह अभिनयात्मकता उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण है। सम्पूर्ण वर्णन पढ़ने से यही प्रतीत होता है, मानो उसे कवि ने स्वयं जगकर उषःकाल से दूरारूढ़ सूर्य तक का सानन्द निरीक्षण करते हुए लिखा है।

सन्ध्या-वर्णन

इसके अतिरिक्त सूर्यास्त, अन्धकार, तारे, चन्द्रोदय, चन्द्रिका तथा चन्द्रमा आदि का वर्णन हुआ है। नल-दमयन्ती एकान्त में प्रासाद के शिखर पर बैठे हुए यह वर्णन कर रहे हैं, अतः यह उनके भावों का उद्दीपनमात्र कहा जायगा।

सूर्यास्त के समय अरुणाभ प्रतीची दिशा के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—इसे 'अलक्तक' (महावर) से धोकर कुङ्कुम से पूर दिया गया है[2]। इसी विषय में एक और उत्प्रेक्षा देखिए—"आकाश रूपी पर्वत के उच्च शिखर से सूर्य-रूप गैरिक की वृहत् शिला पश्चिम दिशा की ओर गिरी। गिर कर चूर हो जाने पर उसी की धूल ऊपर उठ कर यह सन्ध्या की रक्तिमा के रूप में फैली है[3]। कभी-कभी श्रीहर्ष अपनी कल्पना की झोंक में विरुद्धरस की भी झांकी दे देते हैं। सन्ध्या की अरुणिमा

---

१. दूरारूढस्तिमिरजलधेर्वाडवश्चित्रभानु-
भानुस्ताम्यद्वनरुहवनीकेलिवैहासिकोऽयम्।
न स्वात्मीयं किमपि दधते भास्वरश्वेतिमानं-
द्यामद्यापि द्युमणिकिरणश्रेणयः शोणयन्ति॥ नै० १९।६४

२. आक्षालि लाक्षापयसेव येयमपूरि पङ्कैरिवकुङ्कुमस्य॥ नै० २२।३

३. उच्चैस्तरादम्बरशैलमौलेश्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैलः।
तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य सन्ध्यारजोराजिरिहोज्जिहीते॥ नै० २२।४

के प्रति कवि की उक्ति है—"काल-रूपी व्याध ने दिन-रूपी महागज का वध कर डाला है। उसी मृतगज की शोणित-धारा रक्त-सन्ध्या के रूप में फैली है[१], तथा उसकी गज-मुक्ताएं तारिकाओं के रूप में आकाश में छिटक पड़ी हैं[१]। एक भाव को दो या कई बार में थोड़े परिवर्तन के साथ कहने की श्रीहर्ष की शैली है। सन्ध्या की अरुणिमा के प्रति कवि का कहना है—"पार्वती-विवाह के अवसर पर पुष्प-सिन्दूरिका के समय शिव ने सन्ध्यारुण इसी पश्चिम दिग्भाग को धारण किया था, दिगम्बर जो ठहरे[२]। उसी समय कवि को प्रभातकालीन सन्ध्या की भी अरुणिमा का ध्यान आ गया। सौभाग्य से शङ्कर ने दो बार विवाह किया था, अतः कवि को किसी बात के लिए दूर नहीं जाना पड़ा। उसने अपनी बात को थोड़े संस्कार के साथ फिर दुहराया—सती तथा पार्वती के विवाहों में पुष्प सिन्दूरिका के लिए दिगम्बर (शिव) ने क्रम से प्रभातारुणा प्राची तथा सन्ध्यारुणा प्रतीची को रक्तवर्ण की शोभा वाले दो वस्त्रों के रूप में धारण किया था[३]।

सूर्य के अस्त हो जाने पर जो रक्तिमा पश्चिम दिशा में छाई रहती है, उसके विषय में कवि की कैसी अनुपम उक्ति है—"अपने पारिपार्श्विक-रूप वेणुदण्ड को धारण कर सूर्य-रूपी परिव्राट् समस्त दिशाओं में घूमता रहा, और अन्त में संध्या के समय सागर में गोता लगाते हुए उसने सान्ध्यगगन-रूप काषाय वस्त्र को ऊपर रख दिया है"।[४] तारों का वर्णन भी अनेक सूझों से भरा पड़ा है। कभी तारे कामदेव के वाण प्रतीत होते हैं, कभी आकाश-गङ्गा के कछुए, मछली, आदि; कभी कुछ, कभी कुछ। तारों के प्रति एक अत्यन्त अछूती, सरस कल्पना है—"आकाश-गङ्गा के किनारे वाले, रात में विरह से व्याकुल चक्रवाकों की आंसुओं की बूंदें ये तारिकाएं हैं—और उनकी धार जब कभी पृथ्वी पर आती है तो वही उल्कापात के रूप में दिखायी पड़ती है"।[५] नभो-मण्डल में चमकते हुए तारों के प्रति कवि की उक्ति

---

१. कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य।
तस्यैव सन्ध्या रुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थल-मौक्तिकानि॥ नै० २२।९

२. सन्ध्यासरागः ककुभो विभागः शिवाविवाहे विभुनायमेव।
दिग्वाससा पूर्वमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि॥ नै० २२।१०

३. सतीमुमामुद्वहता च पुष्पसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे।
दिशौ द्विसन्धीमभि रागशोभे दिग्वाससोभे किमलम्भिषाताम्॥ नै० २२।११

४. आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्तसायम्॥ नै० २२।१२

५. नभोनदीकूलकुलायचक्रीकुलस्य नक्तं विरहाकुलस्य।
दृशोरपां सन्ति पृषन्ति ताराः पतन्ति तत्सङ्क्रमणानिधाराः॥ नै० २२।१९

है—"यह ब्रह्माण्ड सृष्टि के आदि में निर्मित एक मण्डप-रूप है, अति प्राचीन होने के कारण इस मण्डप के काष्ठों में घुन लग गए हैं—ये तारे उन्हीं घुनों के छिद्र हैं तथा इन तारों की किरणें, उन छिद्रों से निकलने वाली, जीर्णकाष्ठ की श्वेत धूलि है[1]।

अन्धकार के विषय में भी उसी प्रकार कल्पना पर कल्पना होती चली गयी है। चारों दिशाओं में फैले अन्धकार के प्रति कवि की उक्ति है। "पूर्व में ऐरावत के श्याम मदजल[2], दक्षिण में यमराज का महिष[3], पश्चिम में सूर्य रूपी महाकाल के फल का कृष्ण वीज[4] तथा उत्तर में उदीची-रूपी नायिका की चैत्ररथ (कुबेर-वन) नाम की पत्र-रचना की सामग्री-रूप कस्तूरी[5] ही उन उन दिशाओं में अन्धकार के नाम से अभिहित है, अन्धकार कोई पृथक् वस्तु नहीं है।" उसी प्रकार दिन में भगवान् सूर्यदेव अपने सहस्रकरों से नील-गगन को ऊपर उठाए हुए थे। अव उनके अस्त हो जाने से वही श्याम-गगन निराधार होने के कारण चारों ओर फैलता हुआ नीचे चला आ रहा है, वही अन्धकार है, वैसे अन्धकार कोई अन्य वस्तु नहीं है[6]। अन्धकार पर उक्तियों की कल्पना करते हुए कवि को औलूक (वैशेषिक) दर्शन में प्रतिपादित तमस् का ध्यान आ गया। उलूक और तमस् का सम्वन्ध सोच कर कवि को यह विस्मृत हो गया कि वह सन्ध्या या रात्रि के अन्धकार का वर्णन कर रहा है। उसके सामने केवल अन्धकार रह गया। उसे ध्यान आया कि दिन में जव ग्रहाधीश भगवान् सूर्यदेव के तेज से सारे तारागण नष्ट-कान्ति हो जाते हैं, तथा समस्त वस्तुजात नेत्रगोचर होने लगते हैं, उस समय उलूक-गणों को चारों ओर अन्धकार ही

---

१. लोकाश्रयो मण्डपमादिसृष्टि ब्रह्माण्डमाभात्यनुकाष्ठमस्य।
स्वकान्तिरेणूत्करवान्तिमन्तिघुणव्रणद्वारनिभानि भानि॥ नै० २२।२५

२. शचीसपत्न्यां दिशि पश्य भैमी! शक्रेभदानद्रवनिर्झरस्य।
पोप्लूयते वासरसेतुनाशादुच्छृङ्खलः पूर इवान्धकारः॥ नै० २२।२६

३. रामालिरोमावलि दिग्विगाहि ध्वान्तायतेवाहनमन्तकस्य।
यद्वीक्ष्य दूरादिव विभ्यतः स्वानश्वान्गृहीत्वापसृतो विवस्वान्॥ नै० २२।२७

४. पक्वं महाकालफलं किलासीत् प्रत्यग्गिरेःसानुनि भानुबिम्बम्।
भिन्नस्य तस्यैव दृशन्निपाताद्वीजानि जानामितमां तमांसि॥ नै० २२।२८

५. पत्युर्गिरीशामयशःसुमेरुप्रदक्षिणाद्भास्वदनादृतस्य।
दिशस्तमश्चैत्ररथान्यनामपत्रच्छटाया मृगनाभिशोभि॥ नै० २२।२९

६. ऊर्ध्वं धृतं व्योमसहस्ररश्मेर्दिवा सहस्रेण करैरिवासीत्।
पतत्तदेवांशमता विनेदं नेदिष्ठतामेति कुतस्तमिस्रम्॥ नै० २२।३०

दिखायी पड़ता है[1]। इस वर्णन की उपयुक्तता का निर्णय विद्वान् सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं। इसके पश्चात् यथाक्रम चन्द्रोदय तथा चन्द्र-वर्णन आता है। चन्द्रोदय होने के थोड़ा पहिले प्राची की ओर एक सुन्दर आभा फैल जाती है। कवि उसका निरीक्षण स्वयं करता हुआ-सा कहता है—"अभी चन्द्रदेव उदयगिरि-शिखर-माला की जवनिका की ओट में ही हैं, पर उनकी प्रथम चन्द्रिकाएं ही चकोरों के चञ्चुपुटों को तृप्त कर रही हैं[2]। चन्द्रमा की प्रथम किरणें वृक्ष की ऊंची,चोटियों पर झलकती हैं, कवि की कल्पना है—"वृक्षों की शाखाएं अभिसारिकाओं की भांति अन्धकार में मानों नील वस्त्र पहन कर संकेत स्थान पर आई थीं, और अब चन्द्रोदय होने पर अपने नीले वस्त्रों को परछाईं के रूप में वृक्षों के नीचे फेंक कर तुरन्त चन्द्रिका-रूपी साड़ी पहन लीं, जिससे चन्द्र ज्योत्स्ना में अलग न समझ पड़ें और पकड़ी न जायं[3]। उदय के समय चन्द्रमा अरुण वर्ण रहता है। कवि उस अरुणिमा के प्रति अनेक कल्पनायें करता है। कभी कहता है कि "प्राची में चन्द्रमा के सहोदर ऐरावत ने चन्द्रमा को अपने सिन्दूर-मण्डित मस्तक पर उठा लिया है, इसी कारण से उसमें अरुणाई आ गयी है।[4] कभी देवाङ्गनाओं के द्वारा अपने मुख की समानता के कारण प्रेम से शशि के चूमे जाने पर उनके अधरालक्तक के लगने से उसका रक्तवर्ण हो उदय होना बताया है।[5]

फिर धवल शीतांशु का भरपेट वर्णन किया गया। 'चन्द्रमा बालक-रूपी दोष का चांदी का चकई भौंरा' है। बालक ने लाल डोरे से इसे लपेट रक्खा था, अब घुमा कर लाल डोरे खींच लिए और यह खिलौना (आकाश में नाचता, चढ़ता हुआ) ललाई छोड़ता जा रहा है।[6]

---

१ मूर्धाभिषिक्तः खलु यो ग्रहाणां तद्भासमास्कन्दितऋक्षशोभम्।
दिवान्धकारं स्फुटलब्धरूपमालोकतालोकमुलूकलोकः॥ नै० २२।३७

२. पश्यावृतोऽप्येष निमेषमद्रे रधित्यकाभूमितिरस्करिण्या।
प्रवर्षति प्रेयसि! चन्द्रिकाभिश्चकोरचञ्चूचुलुकप्रमिन्दुः॥ नै० २२।४०

३. ध्वान्ते द्रुमान्तानभिसारिकास्त्वं शङ्कस्व संकेतनिकेतमाप्ताः।
छायाच्छलादुज्झितनीलचेला ज्योत्स्नानुकूलैश्चरिता दुकूलैः॥ नै० २२।४१

४. निजानुजेनातिथितामुपेतः प्राचीपतेर्वाहनवारणेन।
सिन्दूरसान्द्रे किमकारि मूर्ध्नि तेनारुणश्रीरयमुज्जिहीते॥ नै० २२।४४

५. यत्प्रीतिमद्भिर्वदनैः स्वसाम्यादचुम्बि नाकाधिपनायिकानाम्।
ततस्तदीयाधरयावयोगादुदेति बिम्बारुणबिम्ब एषः॥ नै० २२।४५

६. बालेन नक्तं समयेन मुक्तं रौप्यं लसद्विम्बमिवेन्दुबिम्बम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृत्तिं मुञ्चति शोणिमानम्॥ नै० २२।५१

रात्रि यमुना के समान है, और अन्धकार उसके श्याम जलप्रवाह के समान। उस अन्धकार-प्रवाह के चले जाने पर चन्द्रिका बालू के अन्तरीप के समान लगती है तथा चन्द्रमा उस पर जलता हुआ दीपक-सा।[१] शिव तथा मदन से चन्द्रमा का कई प्रकार से सम्बन्ध बताया गया है। चन्द्रमा का देवों को अमृत देना तथा चकोरों को चन्द्रिका देना भी कवि-सम्प्रदाय में प्रशस्त कार्य माना गया है। श्रीहर्ष की उक्ति है—"चन्द्रमा चकोरों को कान्ति, देव-जाति को अमृत तथा शिव को अपनी कला देता हुआ सर्वोत्कृष्टता से प्रकाशमान है। क्यों न हो, कल्प-वृक्ष का सहोदर जो ठहरा। इसके लिए तो इतना भी थोड़ा ही है।"[२]

चन्द्रिका तथा चन्द्र-कलङ्क पर भी अनूठी उक्तियां कही गयी हैं। "पृथ्वी पर की वस्तुओं की श्याम छाया चन्द्र ज्योत्स्ना के साथ मिलकर इस प्रकार लगती हैं मानों चन्द्रिका चन्द्र कलङ्क की नीलकान्ति के साथ मिल रही हो।"[३] चन्द्रमा के अमृत के प्रति कवि को शङ्का हो रही है। उसकी उक्ति है—"चन्द्रमा के तेजमें सुधा रहती है यह प्रवाद नितान्त असत्य है। अथवा चन्द्र-तेज में जो अमृत रहता है वह निश्चय ही जरा-मरण को दूर करने वाला नहीं है, अन्यथा इन्दुरश्मियों को पीने वाले ये चकोर क्यों न अजर अमर हो जाते।"[४] शरन्निर्मल चन्द्रमा में उसका कलङ्क और निखर उठता है। कवि का निरूपण है कि "जिस शरद् ऋतु में वर्षा के अपार मेघों की कालिमा को दूर करने का सामर्थ्य है—जिस शरद् के आते ही वर्षा के काले मेघ धवल हो जाते हैं—वह भी चन्द्रमा की इस थोड़ी सी कालिमा को नहीं मिटा सकती—प्रत्युत शरद् में कृष्णिमा और भी दीप्त हो उठती है।"[५] सागर, अत्रि तथा शंकर तीनों का चन्द्रमा से घनिष्ठ सबन्ध विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है। राहु भी उतना ही महत्त्व का है। चन्द्रमा से बढ़ कर कवि की कल्पना

---

१. ज्योत्स्नामयं रात्रिकलिन्दकन्यापूरानुकारेऽपसृतेऽन्धकारे।
परिस्फुरन्निर्मलदीप्तिदीपं व्यक्तायते सैकतमन्तरीपम्॥ नै० २२।६०

२. त्विषं चकोराय सुधां सुराय कलामपि स्वावयवं हराय।
ददज्जयत्येष समस्तमस्य कल्पद्रुमभ्रातुरथाल्पमेतत्॥ नै० २२।६३

३. ज्योत्स्नापटाः क्ष्मातटवास्तुवस्तुच्छायाच्छलच्छिद्रधरा धरायाम्।
शुभ्रांशुशुभ्रांशकराः कलङ्कनीलप्रभामिश्रविभा विभान्ति॥ नै० २२।७०

४. मृषा निशानाथमहः सुधा वा हरेदसौ वा न जराविनाशी।
पीत्वा कथं नापरथा चकोरा विधोर्मरीचीनजरामराः स्युः॥ नै० २२।१००

५. पयोमुचां मेचकिमानमुच्चैरुच्चाटयामास ऋतुः शरद्या।
अपारि वामोरु! तयापि किञ्चिन्न प्रोञ्छितुं लाञ्छनकालिमास्य॥ नै० २२।११२

का आधार और कौन पदार्थ हो ही सकता है? उत्सुकता का सुन्दर चित्र खींचा गया है। नल दमयन्ती से कहते हैं—"देखो, चन्द्रमा का धवल प्रान्त भाग कितना शोभाशाली है? वह देखो, चन्द्रमा के अन्तस् में हरिण किस प्रकार कलङ्क बन रहा है।" और इस प्रकार नल सुन्दरी को कभी चन्द्रमा का अन्त (पर्यन्त भाग) दिखाते कभी अन्तस् (मध्यभाग)[१]। चन्द्रमा के गोल आकार तथा नील कलङ्क के प्रति कवि की एक अद्‌भुत कल्पना है एक साथ सप्रेम मधुपान करने के लिए ताराओं की एक परिषद् बैठी है और मध्य में चन्द्ररूप यह सूर्यकान्त-मणिका बना हुआ एक विशाल मटका रक्खा हुआ है। इसके नील कलङ्क को देखकर कवि लोगों की यह उत्प्रेक्षा बड़ी सरल हो जाती है कि मानो उस विशाल मटके के ऊपर शशक नाम का एक नीलमणियों का बना हुआ चषक रक्खा हुआ है।[२]

---

१. अन्तः संलक्ष्मीक्रियते सुधांशो रूपेण पश्ये! हरिणेन पश्य।
इत्येष भैमीमदर्शदस्य कदाचिदन्तं स कदाचिदन्तः॥ नै० २२।१३२

२. सपीतेः संप्रीतेरजनि रजनीशः परिषदा
परीतस्ताराणां दिनमणिमणिग्रावमणिकः।
प्रिये! पश्योत्प्रेक्षाकविभिरभिधानाय सुशकः
सुधामस्युद्धर्तुं धृतशशकनीलाश्मचषकः॥ नै० २२।१४४

सप्तम अध्याय

प्रकृति (पात्र-स्वभाव) चित्रण

संस्कृत प्रबन्ध-काव्यों में पात्रों का चरित्र प्रायः विशेष प्रकार के बने साँचे में ढला हुआ होता है। प्रत्येक पात्र कुछ विशेष रूप से निर्धारित आदर्शों का पालन करता हुआ-सा प्रतीत होता है। भरत, धनञ्जय आदि पूर्व आचार्यों ने नायक-नायिका, प्रतिनायक, दूत, सखी, विदूषक आदि सब का स्वरूप तथा कार्य निर्धारित कर दिया है। परवर्ती कवि अपने नाटकों तथा काव्यों में उन निर्धारित आदर्शों का यथासंभव पालन करने का प्रयत्न करते रहे। एक बात और ध्यान देने की है कि साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने पात्रों के स्वभाव आदि का निरूपण रस के प्रसङ्ग में किया है। वे पात्रों द्वारा रस की अभिव्यक्ति को मुख्य मानते थे, अतः पात्र का स्वभाव या चरित्र साध्य रूप में आता था। किन्तु साथ ही रस के एक व्यङ्ग्य वस्तु होने के कारण, तथा पात्रों द्वारा उसकी उत्तम अभिव्यञ्जना होने के कारण, कवि अपने काव्य में पात्रों के स्वभाव तथा चरित्र के चित्रण में अत्यन्त सावधान रहते थे। स्वभाव की व्यञ्जना प्रायः पात्रों के वचन तथा कार्यों द्वारा ही की गयी है, कवि उसका साक्षात् वर्णन बहुत कम करता है, क्योंकि ऐसा वर्णन नीरस और अतएव असफल भी होता है। संस्कृत काव्यों में पात्रों द्वारा किसी नियत आदर्श का ही पालन विशेष देखा जाता है, अजायबघर के जन्तुओं की भांति वहां अपनी वैयक्तिक विचित्रताएं लिए पात्र नहीं आते। इसका अर्थ यह नहीं कि पात्रों की वैयक्तिक विशेषता बिल्कुल विलुप्त रहती है। पात्रों के इतिहास अथवा लोकवृत्त में प्रसिद्ध रूप को परिवर्तित करना तो कवि के लिए बड़ा भारी अपराध माना जाता है। राम का प्रसन्न गम्भीर चरित्र, लक्ष्मण का उदण्ड 'वावदूक' स्वभाव, अर्जुन का वीर अनुशिष्ट सत्यसन्ध रूप, भीम का उद्धत आचरण, देवों का स्वार्थ, असुरों का अनाचार आदि ऐसी विशेषताएं हैं, जो कुछ कहे बिना ही पात्र के नाम-मात्र से श्रोता या पाठक को प्रत्यक्ष हो जाती हैं। अब यदि कवि इन पात्रों के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित रूप के नितान्त विपरीत रूप का चित्रण कर तो यह उसके काव्य का बड़ा भारी दोष होगा। वह उन पात्रों के नए कल्पित रूप के साथ श्रोता या पाठक का साधारणीकरण कर ही न पाएगा। जैसे—अनर्घराघव में विश्वामित्र से मिथिला चलने का

समाचार सुन कर जब राम वीर-क्षत्रिय कुमारोचित ढंग से लक्ष्मण से शिवशरासन देखने की उत्कण्ठा प्रकट करते हैं तब लक्ष्मण का उपहास-पूर्वक—"और वह उत्कण्ठा राजकुमारी के प्रति भी है–[1]" यह कहना सहृदयों को खटकता है, क्योंकि लक्ष्मण राम को पितृ-तुल्य ही मानते आ रहे हैं—ऐसा ही उनका चरित्र सर्वत्र चित्रित किया गया है। अतः मुरारि की उक्ति लक्ष्मण के विषय में प्रतिष्ठित आदर्श के विरुद्ध जाती है।

इसका अर्थ यह भी नहीं कि संस्कृत-काव्यों में यथार्थ की उपेक्षा है। प्रत्येक पात्र अपने विशिष्ट वैयक्तिक स्वभाव के अनुकूल ही आचरण करेगा, किन्तु होगा किसी न किसी वर्ग ही के भीतर, जो किसी न किसी आदर्श का पालन करता हुआ पाया जाएगा।

नल

नैषध में एक राजा की प्रेमकथा का वर्णन है—ऐसे राजा की, जो परम पुण्यश्लोक माना जाता था, जिसका प्रातःकाल तथा प्रस्थान-वेला में नाम लेना अत्यन्त शुभावह माना जाता था, और जिसका आदर्श-चरित्र समाज में पहले ही प्रतिष्ठित हो चुका था। श्रीहर्ष ने ऐसे नरेश के सम्पूर्ण चरित्र का परिचय उसके जीवन की एक अत्यन्त लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण घटना के भीतर बड़े कौशल के साथ दिया है। नल एक धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित किए गए हैं। आचार्यों द्वारा निरूपित नायक के सभी गुण नल में पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ—धनञ्जय ने नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, लोकप्रिय, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, उत्साही, स्मृतिमान्, प्रज्ञावान्, कलाशील, मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु, तथा धर्मपरायण बताया है।[2] धीरोदात्त नायक में पूर्वोक्त गुणों के साथ कुछ और गुण गिनाए गए हैं। वह महासत्त्व होता है—उसके अन्तस् को शोक, क्रोध आदि अभिभूत नहीं कर सकते। उसमें आत्म-प्रशंसा नहीं

---

१. लक्ष्मणः–(सपरिहासम्) आर्यायामयोनिजन्मनि राजकन्यकायामपि।

अ० रा०–अ० २

२. नेता विनीतोमधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रुढवंशःस्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ द० रू० २।१, २

होती। उसमें विनय के साथ स्वाभिमान बना रहता है, वह स्थिर तथा दृढ़-व्रत होता है।[१]

श्रीहर्ष ने नल को रूप, गुण तथा सुशीलता—तीनों का अधिष्ठान बताया है। अपने इस आदर्श का व्यक्तीकरण उन्होंने नल के मुख से हंस के प्रति कराया है—

"हे हंस तुम्हारा रूप अतुलनीय है तथा तुम्हारी सुशीलता अवर्णनीय। रूप में गुण भी होते हैं, सामुद्रिक-शास्त्र के इस सिद्धान्त के तुम्हीं उदाहरण हो।"[२]

नैषध में नल का चरित्र 'अथ' से 'इति' तक एक-रूप रहा है। उसकी समरसता का कहीं भी भङ्ग नहीं होने पाया है। प्रारम्भ में ही कवि ने नल को पुण्यशील,[३] विद्वान्,[४] शास्त्रचक्षु,[५] शूर,[६] त्यागी,[७] तथा गुणानुरागी,[८] के रूप में चित्रित किया है। दमयन्ती के अनुराग में अत्यन्त स्मर-तप्त हो कर भी नल अपनी ओर से अन्य साधारण नरेशों की भांति विदर्भराज से उनकी कन्या के पाणि-ग्रहण का प्रस्ताव नहीं करते।[९] उनकी मान-शीलता का यह उदाहरण है।

दमयन्ती के प्रति प्रेम ने उनकी समस्त चेतना पर अधिकार कर लिया था—कहीं भी रहते, उनका कोई न कोई अनङ्ग-चिह्न प्रकट हो ही जाता। किन्तु वे अपनी दशा को छिपाते ही फिरते हैं। कभी भूल कर भी किसी से नहीं कहते कि मुझे दमयन्ती से प्रेम हो गया है—न कहीं किसी प्रकार ऐसा कोई संकेत देते हैं कि जिससे उनका दमयन्ती के प्रति प्रेम व्यञ्जित हो जाय। बल्कि जब अत्यन्त अधीर हो जाते हैं तब उपवन-विहार के बहाने निर्जन स्थान में जाने की अभिलाषा करते हैं।

---

१. महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥ द० रू० २।४

२. न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रकसारमुद्रणा॥ नै० २।५१

३. नै० १।१

४. नै० १।४

५. नै० १।६

६. नै० १।१०

७. नै० १।१५, १६

८. नै० १।१७

९. नै० १।५०

हंस का करुण-विलाप सुनकर उनका हृदय दया तथा करुणा से भर जाता है—अश्रु-धारा नेत्रों से उमड़ पड़ती है।[1] नल की दया का हंस पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। जिसके प्रति दया या करुणा दिखायी जाय उसके हृदय में करुणा दिखाने वाले के प्रति श्रद्धा तथा आदर हो ही जाता है। हंस का पुनः नल के हाथ पर वापस आना नल की उस बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार की निर्मलता को प्रमाणित करता है, जिसे देख कर चराचर आकृष्ट हो जाया करते हैं। उस हाथ के स्पर्श में उसे इतनी आश्वस्तता मिली थी कि वह उस पर इस प्रकार जाकर बैठ गया, मानो चिरकाल से पालन-पोषण के कारण राजा से वह अत्यन्त विश्वस्त हो गया था।[2] फिर हंस ने जिन शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट की है उसमें हंस-चरित की विशेषता का जो परिचय मिलता है, वह तो है ही, साथ ही नल के उदार चरित की प्रभविष्णुता प्रमाणित हो जाती है। हंस को उपकारी का प्रत्युपकार करने की उतनी उतावली नहीं है, जितनी उस पाप के प्रायश्चित्त की, जो उसने ऐसे महापुरुष को कटु वचन कहकर अर्जित किया था।[3] हंस के इस अनुताप में नल की महत्ता ही साफ झलकती दिखायी पड़ती है।

हंस ही एक ऐसा प्राणी मिला जिससे नल अपने प्रेम की कथा और व्यथा कह सके। एक तो वह पक्षी था, दूसरे उसी ने प्रस्ताव को रक्खा था। पर अपनी प्रेम-कथा को कहते हुए वे अपनी अधीरता को धिक्कारते हैं[4] और अत्यन्त संक्षेप में ही अपनी बात कह कर उसे विसर्जित करते हैं।

देवों की (कपट) याच्ञा सुनकर नल को जो संशय तथा वितर्क हुआ उससे उनकी त्याग-शीलता, वदान्यता तथा अत्यन्त सरल-हृदयता का पता चलता है। देखिए, उनके इस वितर्क में उनका हृदय किस प्रकार दर्पण की भांति झलकता है—"किसी याचक के मांगने पर मेरा प्राण-पर्यन्त सब कुछ देय है। किन्तु जब देवों के अधीश्वर याचक हों, तो क्या देकर चित्त को संतोष हो?[5] फिर "इनके अभीष्ट का कैसे पता चले? बिना मांगे क्या दिया जाय? धिक्कार है उस दानी को जो याचक की इच्छा जानते हुए भी उसके कहने की प्रतीक्षा करता है।"[6]

---

१. नै० १।१४२
२. नै० २।७
३. नै० २।११
४. नै० २।५६
५. नै० ५।८१
६. नै० ५।८३

फिर नल देवों से उनकी इच्छा पूरी करने का जो वचन देते हैं[1] उसमें न अभिमान है, न विवशता; न देवभय है, न कोरी भावुकता। उसमें क्षत्रियोचित विनय है, और साथ ही स्वाभिमान की गूढ़ भावना। वे कहते हैं—"प्राणों तक, या इससे भी कोई बढ़कर, जो आप के इस मनुष्य बालक (नरडिम्भ) से अभीष्ट हो, उसके द्वारा यह आपके चरणों की पूजा करे। बोलिए, (ब्रूत) वह वस्तु कौन-सी है?

देखिए 'नरडिम्भ'[2] में कितनी विनय तथा 'ब्रूत' में कितना महत्त्वपूर्ण स्वाभिमान भरा हुआ है? उन्होंने देवों की याचना में उनका कपट समझ लिया। इसके बाद उन्हें जो उत्तर दिया[3] उसमें नल की बुद्धिमत्ता ही झलकती है, क्योंकि "कुटिल के साथ सरलता नीति नहीं है।"[4] यदि देवों का कपट समझ कर भी नल कुछ न बोलते तो हम उन्हें दानी एवं सत्यसन्ध तो भले ही कहते, पर यह भी निश्चय कर लेते कि वे इतने सीधे थे कि बुद्धूपने की कोटि तक पहुंच गए थे। साथ ही वे देवों की याचना को सीधे शब्दों में अस्वीकृत नहीं करते, उसके लिए उचित तर्क देते हैं। उस याचना को पूरी करने में असाध्य कठिनाइयाँ बतलाते हैं। यदि किसी भी भांति नल से देवों की याचना पूरी होनी संभव होती, तो वे देवों के कपट के लिए धिक्कार कर निश्चय उनकी अभिलाषा अवश्य पूरी करते। परन्तु यह कार्य ही उनकी मानव-शक्ति के लिए असाध्य था।

और जब वे दौत्य-भार ले लेते हैं तो उनके सामने केवल कर्तव्य-पालन रह जाता है—न दमयन्ती, न दमयन्ती का प्रेम। तब तो, जैसे अगस्त्य ने समुद्र-पान के समय दुर्धर्ष बड़वाग्नि की कोई परवाह नहीं की थी, उसी प्रकार नल भी दूत-धर्म के निर्वाह में दमयन्ती की विरहाग्नि को कुछ नहीं समझते।[5] कुण्डिनपुर में दमयन्ती के अन्तःपुर में स्त्रियों की सविश्रम्भ एकान्त-चेष्टाओं को देखकर नल को जो लज्जा, ग्लानि आदि होती हैं[6] वह उनकी शालीनता, महापुरुषता तथा चरित्र-बल का बहुत बड़ा प्रमाण है। सत्पुरुषों को दूसरे से अधिक स्वयं अपने से लज्जा होती है। दमयन्ती

---

१. नै० ५।९४-९७

२. जीवितावधिकिमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात्।
तेन वश्चरणमर्चतु सोयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तुकिमीदक्॥ नै० ५।९७

३. नै० ५।९७

४. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः॥—नै० ५।१०३

५. नै० ६।२

६. नै० ६।१८, २०, २१, २७, २८

के प्रति नल का प्रेम केवल इन्द्रियार्थ-लोभ नहीं था, वह हृदय का पवित्र प्रेम था। अन्तःपुर में "अप्सरा-समान सुन्दरी कन्याएँ दिखायी पड़ती हैं पर उनमें नल का कोई अनुराग नहीं होता है। यहां तक कि कल्पित दमयन्ती की सत्ता के विषय में मिथ्या भ्रम होने पर भी नल को उन अन्य सुन्दरियों में दमयन्ती-भ्रम नहीं होता—श्रीहर्ष के शब्दों में, मिथ्या दमयन्ती के साथ दिखायी पड़ने वाली अन्य कन्या रूपी अप्सराओं में नल का कोई अनुराग नहीं होता था।[1] इसमें 'कन्या' तथा 'अप्सरस्' दोनों शब्दों की ध्वनि है, कि उनमें यदि अनुराग भी होता तो कोई अनुचित नहीं था, किन्तु पुण्य श्लोक के एकनिष्ठ प्रेम में इतनी भी च्युति कैसे हो सकती थी ?

दमयन्ती के सामने उसकी वाणी-रूप वीणा से उपगीत होकर भी नल का धैर्य नहीं डिगता। उनमें मदन का कोई विकार नहीं आने पाता। यह थी उनकी विवेक-शक्ति।[2] वे दमयन्ती से इन्द्रादि देवों के संदेश को अपने प्राणों से भी बढ़कर बताते हैं,[3] जिसकी व्यञ्जना यह है कि दमयन्ती को नल प्रिय है, किन्तु नल के लिए अपने प्राणों से भी बढ़ कर देव-संदेश है। अतः दमयन्ती को, नल के लिए ही सही, उस संदेश का आदर करना चाहिए। वहाँ वे जो रुखाई दिखाते हैं, वह अपने प्रेम के प्रति ललकार है। वे हर प्रकार से निष्कपटभाव से दमयन्ती का हृदय नल से विमुख कर देवों की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। अन्त में उन्माद-वश अपने को प्रकट करने के कारण उन्हें जो ग्लानि होती है,[4] वह भी उनकी हृदय-स्वच्छता की ही परिचायिका है। जैसा पहले कहा गया है—नल का प्रेम इन्द्रिय-भोग की परिधि से बहुत ऊंचे उठ गया था। दमयन्ती के प्रति उनका हृदय लोभी नहीं था, प्रेम की पावन भावना से आपूरित था। दमयन्ती के हित-साधन में यदि उनके प्राण भी चले जायं तो वे अपने को अनृण ही समझेंगे।[5] उन्हें देवों से किसी प्रकार का भय नहीं है। जब वे दौत्य में असफल रह कर लौटते हैं, तो उस समय सिर नीचा किए ही आते हैं।[6] नल का नत-मौलि होना उनकी उस लज्जा को द्योतित करता है,

---

१. अलीकभैमीसहदर्शनान्न तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय॥ नै० ६।१५

२. नै० ८।५४

३. नै० ८।५५

४. नै० ९।१२३-१२६

५. नै० ९।१३५

६. नै० ९।१५७

जो एक सत्यसन्ध को अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करने पर होती है। ऐसा भाव निर्मल हृदय में ही दिखाई पड़ सकता है।

प्रेमी के ही रूप में नहीं, पूरे अट्ठारहवें तथा वीसवें सर्ग में एक सफल गृहस्थ के रूप में भी नल का चित्रण किया गया है। और अन्त में उनके आदर्श वत्सल चक्रवर्ती नरेश-रूप की भी झांकी दी गयी है। राजाओं से उपहार लेकर पुनः उन्हीं को देना,[1] उनसे कुशल-प्रश्न करना,[2] नल की वत्सलता का ही द्योतक है। शिष्य राजकुमारों को शस्त्रोपदेश देना[3] उनके शौर्य का द्योतक है।

वस्तुतः नैषध में नल सब प्रकार से पूर्ण महापुरुष के रूप में चित्रित किए गए हैं। अतः नल के विषय में हंस की यह उक्ति कि—

"यदि महापुरुषों को श्रेणियों में विभक्त किया जाय तो वह व्यक्ति (नल) प्रथम माना जायगा, जो अपने ओजोवल से असंख्य शत्रुओं के पदों को अपने अधीन करने में पूर्ण समर्थ हुआ है—"[4] सर्वथा सार्थक है।

दमयन्ती

दमयन्ती काव्य की नायिका है। श्रीहर्ष ने उसे एक परम आदर्श सती के रूप में चित्रित किया है। उसका प्रथम दर्शन पिता की सेवा के प्रसङ्ग में होता है।[5] इस प्रकार श्रीहर्ष उसके चरित्र का प्रथम परिचय विनयशील के रूप में देते हैं। इस विनयार्जव का पुनः परिचय तव होता है, जव सुन्दरी हंस से कुछ अपराध न करने पर भी क्षमा मांगती हुई कहती है—"हे सौम्य, इस कुमारी (मैं) ने जो कुछ अशिष्ट व्यवहार किया हो, उसे क्षमा करना। हंस होते हुए भी देवांश होने के कारण तुम उसी भाँति वन्दनीय हो, जैसे श्रीवत्स से अङ्कित होने के कारण (नारायण की) मत्स्य-मूर्ति वन्दनीय होती है'[6]—विनय, आर्जव तथा माधुर्य का कितना सुन्दर सम्मिश्रण है। कौमार-सुलभ मुग्धता के साथ निरीहता का सुन्दर चित्रण दमयन्ती

---

१. नै० २१।४

२. नै० २१।५

३. नै० २१।६

४. क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत् क्षमा नामपदं वहुस्यात्॥ नै० ३।२३

५. नै० १।३४

६. अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान् मम क्षाम्यतु सौम्य तावत्।
हंसोऽपि देवांशतयासि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः॥ नै० ३।५७

के इन शब्दों में है—"हे हंस, तुम्हें देखकर मेरी आंखों को जो आनन्द मिला है, उससे भी बढ़ कर किस सुख को तुम मुझे देना चाहते हो। अपनी सुधा-धारा से विश्व-नेत्र को शीतल करने के सिवा चन्द्रमा करता ही क्या है ?[१]

हंस से जो उसने "का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा" नै० ३।५९ तथा "चेतोनलङ्कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्" नै० ३।६७ कहा, इस धृष्टता का कारण वह पक्षी ही था—क्योंकि पक्षी किसी से लज्जा नहीं करता है, अतः कोई पक्षी से भी नहीं लजाता है।[२] श्रीहर्ष अपनी दमयन्ती की इस धृष्टता के लिए स्वयं भी अन्त में क्षमा मांगते हैं—इस प्रकार कहने में सुन्दरी ने जो लज्जा का परित्याग किया वह हमारे हृदय में अनुचित न प्रतीत होना चाहिए।—क्योंकि उसके निर्दोष होने में स्वयं कामदेव साक्षी हैं, जिसने उसे उन्मत्त कर इस प्रकार कहलवाया।[३] दमयन्ती के प्रेम में भारतीय सती नारी की पति-भक्ति है, युवतियों की उद्दाम काम-वासना नहीं। वह नल की केवल दासी होना चाहती है, उससे बड़े किसी अन्य पद की उसे कोई अभिलाषा नहीं। वह हंस से कहती है कि उनके (नल के) दासी पद से भी बड़े मेरे किसी अभीष्ट-विशेष की साधने की आपकी इच्छा को धन्यवाद।[४] उसने नल को पाने के लिए प्राणों की बाजी लगा दी है—अब मुझे या तो वे (नल) मिलेंगे, या मेरे प्राण ही जायेंगे[५]। "और उस प्रिय की प्राप्त करने में साधक रूप हंस के प्रति उसकी कितनी कृतज्ञता है, वह उसके इन शब्दों में प्रकट है। वह हंस से कहती है "हंस मेरे प्रिय को मूल्य रूप में देकर तुम मेरे जीवन को खरीद लो। मेरे जीवन से और कुछ लाभ न सही तो तुम एक पुण्य कार्य तो कर लोगे। मेरे जीवनेशदाता, यदि मैं तुम्हें कुछ नहीं दे सकती तो तुम्हारा यश तो गा ही सकती हूं।"[६] अन्त में वह हंस को जिस प्रकार अपना सन्देश कहने के लिए उचित अवसर आदि का उपदेश देती है उसमें उसकी बुद्धि, मान, धैर्य आदि का दर्शन होता है—प्रेम में कामान्धता का नहीं।

---

१. मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि यातिशेताम्।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम्॥ नै० ३।५८
२. जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपितिर्यक् कश्चित् तिरश्चस्त्रपते न तेन॥ नै० ३।४३
३. इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा सानौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम्॥ नै० ३।९७
४. तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते॥ नै० ३।८०
५. ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा॥ नै० ३।८२
६. क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्ति तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम्॥ नै० ३।८७

चन्द्रोपालम्भ के प्रसङ्ग में जो विरह-व्यथा की तीक्ष्णता से वह मूच्छित हो जाती है, किन्तु पिता के आने पर तुरन्त विरह-चिह्नों को छिपा कर उनके चरणों में प्रणाम करती है, उसमें एक भारतीय नारी का सहज सुन्दर उदात्त चरित्र लक्षित होता है। दमयन्ती के चरित्र में और शकुन्तला, पार्वती आदि कालिदास की प्रेम-कथानक वाली नायिकाओं के चरित्र में यह एक विशेष अन्तर है कि दमयन्ती लोक-मर्यादा के अनुसार, गुरुजनों की अनुमति से, अपने प्रेम की पूर्ति चाहती है, किन्तु वे अपने ईप्सित अर्थ के लिए अपने मन को स्वयं इस प्रकार दृढ़ कर लेती हैं कि फिर न किसी के फेरे फिरती हैं, न किसी की परवाह ही करती हैं।

दमयन्ती के देदीप्यमान् चरित्र की ज्योति इन्द्र-दूती द्वारा तथा नल-द्वारा देववरण के लिए किए गए प्रस्तावों के निराकरण में दिखायी पड़ती है। इन्द्र-दूती द्वारा किए गए प्रस्ताव का वह किस 'गूढ़मान', 'आत्मविश्वास' तथा निर्भयता के साथ उत्तर देती है—"भला देवेन्द्र की आज्ञा के प्रति किसकी जिह्वा 'न' कहने की कठोरता धारण कर सकती है? फिर भी उस आज्ञा रूपी माला को शिर से धारण कर यह परम विनीत वालिका कुछ कहने का अपराध करेगी।"[1] उसकी युक्तिमत्ता का सुन्दर दर्शन इन शव्दों में प्राप्त होता है।—"मैं उन्हीं (इन्द्रदेव) की पति रूप में शुश्रूषा करना चाहती हूं। उन्हीं से भोग-सुख मिलेगा, और उन्हीं से मेरे पातिव्रत्य का वैभव भी वढ़ेगा। हां, इतनी विशेषता अवश्य होगी कि वे देव रूप में नहीं होंगे। अपितु नृप रूप में उन्हीं का एक अंश होगा।"[2] अपने नल-प्रेम (तथा इन्द्र की उपेक्षा) का समर्थन भी युक्ति के साथ करती है—"कोमलाभिलाषी प्राणी ऊँट की निन्दा करता है, और कण्टक-प्रेमी ऊँट उस कोमलेच्छु को वुरा कहता है। अपनी अपनी अभिरुचि के अनुकूल वस्तु का उपभोग करने वाले उन दोनों की अपनी वस्तु में समान प्रीति होने के कारण उसके लिए किसी एक का उपहास करना उचित नहीं। अपितु इस विषय में मध्यस्थता ही होनी चाहिए।[3]

उसके प्रेम में एकनिष्ठता है, रूप या ऐश्वर्य का लोभ नहीं। नल मनुष्य हैं। इन्द्र स्वर्ग के अधिपति हैं, अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी। पर इससे दमयन्ती के नल-प्रेम

---

१. आज्ञां तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुपैतु जिह्वा।
प्रह्वा तु तां मूर्ध्नि विधाय मालां वालापराध्यामि विशेषवाग्भिः॥ नै० ६।९२

२. शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि।
विशेष लेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह॥ नै० ६।९४

३. क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः॥ नै० ६।१०४

में कोई च्युति नहीं हो सकती।[1] उसके हठ-धर्म में सती की निष्ठा है। कीट से लेकर नारायण पर्यन्त सभी को अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में एक-सी कृत-कृत्यता होती है।[2] दमयन्ती को सतीत्व पर अमिट विश्वास है। उस अमोघ शस्त्र के बल पर उसे इन्द्र आदि किसी से भय नहीं है। उसके सारे अपराध उसके सतीत्व की अग्नि में भस्म हो जायेंगे, ऐसा उसका दृढ़ विश्वास है।[3]

श्रीहर्ष अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में स्वयं सतर्क समझ पड़ते हैं। दमयन्ती के चरित्र की रक्षा उन्होंने स्थान-स्थान पर की है। इन्द्र स्वयं नल का रूप बना कर दमयन्ती के अन्तःपुर में जा सकते थे, और अपने विषय में दौत्य कर सकते थे। इस कार्य के लिए व्यर्थ नल से क्यों याचना की। यह सन्देह अत्यन्त अवसरोचित ही है। दैवविधान का अटल पक्षपाती कवि इसका समर्थन अत्यन्त मार्मिक युक्ति के साथ करता है। "नल के समान सौन्दर्य वाले दूत में दमयन्ती का अनुराग उत्पन्न होगा ही, तो ऐसा न हो कि उसके चरित्र में यह कलङ्क बन जाय, मानो यही सोचकर विधाता ने दमयन्ती के प्रति स्वयं इन्द्र को नल का कपट रूप धारण कर दूत न होने दिया।"[4]

दमयन्ती एक साधारण स्त्री के रूप में नहीं चित्रित हुई है। उसमें कुछ विशेषताएं ऐसी हैं जो साधारण स्त्रियों में नहीं पायी जाती। अन्तःपुर में नल के अकस्मात् प्रकट होने पर भय के कारण सारी सखियाँ स्तब्ध हो जाती हैं, किन्तु दमयन्ती अपनी चेतना को पूर्ण स्वस्थ रखती हुई अपनी प्रतिभा से स्वयं वार्तालाप प्रारम्भ करती है।[5] नल के सामने आतिथ्य का प्रस्ताव कर वह अपने हृदय की उदारता का परिचय देती है।[6]

दमयन्ती नल के रूप की सानुराग प्रशंसा करती है। अज्ञात पुरुष के रूप की प्रशंसा भले ही उसकी सहृदयता घोषित करती हो, किन्तु उसके सतीत्व में घातक

---

१. गुणा हरन्तोपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहापयन्ति।
न लोकमालोकयथापवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम्॥ नै० ६।१०५
२. आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम्॥ नै० ६।१०६
३. सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तर्वरं वज्रिणि मार्जितास्मि॥ नै० ६।११०
४. दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनि मेति नूनम्।
न संव्यधात्तैषधकायमायं विधिः स्वयं दूतमिमां प्रतीन्द्रम्॥ नै० ८।१६
५. नै० ८।१९
६. नै० ८।१९-२३

हो सकती है, अतः श्रीहर्ष सुन्दरी की बुद्धि तथा हृदय का विश्लेषण करते हैं—"दमयन्ती-आतिथ्य सम्बन्धी चाटु वचनों के बहाने उनमें विद्यमान वस्तुतः अपने प्रिय नल की ही सौन्दर्य-प्रशंसा करने लगी।"[१]

देवों के प्रति उसकी उपेक्षा की झलक इसी में मिलती है कि वह नल की लम्बी भूमिका[२] को सुनकर भी उसे अनसुनी-सी कर देती है[३] और बार-बार नल से उनका नाम-ग्राम ही पूछती रह जाती है।[४] उसके दृढ़ सतीत्व तथा एकनिष्ठ प्रेम का सब से बड़ा प्रमाण तब मिलता है जब वह कहती है कि "यदि स्वप्न में भी मेरे मन को किसी अन्य ने स्पर्श किया हो, तो देवगण समस्त लोक के सारे वृत्तों के साक्षी अपनी बुद्धि से ही क्यों नहीं पूछ लेते?[५] एक भोली मुग्धा अपने हृदय को और किस रूप में दिखा सकती है। अपनी प्रतिज्ञा में तो उसने सतीत्व का चरम रूप दे दिया—"यदि राजा नल ने मेरा पाणिग्रहण न किया तो आग में जल कर, या गला बाँध कर, अथवा पानी में डूब कर मैं स्वयं अपनी आयु के साथ शत्रुता करूंगी।"[६] अन्त में नल से की गयी "दूत, दिगीश्वरों के लिए तुम मुझे किसी प्रकार पीड़ित न करो। देखो, मैं हाथ जोड़ रही हूँ, कृपा कर के अब आज ऐसी बातें न करो।"[७] आदि प्रार्थना में तथा अधीर विलाप में,[८] पतिव्रता की ऐसी विवशता झलकती है जिसके सामने पाषाण-हृदय भी पिघल जाय।

स्वयंवर-मण्डप में दमयन्ती के कुछ और अति-मानव गुण देखने को मिलते हैं। पांच नलों को देखकर उसे महान् विकल्प होता है। "अथवा मैं देवी सरस्वती के ही हाथ में वरमाला देकर कह दूं कि इनमें जो निषधेश्वर हों, उन्हीं के गले में इसे डाल दीजिए, किन्तु इस प्रकार देवी देवों की कोप-भाजन बन जायँगी। तृण-

---

१. भूयोऽपि बाला नल-सुन्दरं तं मत्वामरं रक्षिजनाक्षिबन्धात्।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्थां श्रियं प्रियस्यास्तुत वस्तुतः सा॥ नै० ८।३१

२. नै० ८।५७-१०८

३. नै० ९।२

४. नै० ९।३,४

५. समाशयः स्वप्नदशाज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यति।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते॥ नै० ९।३२

६. नै० ९।३५

७. नै० ९।६९

८. नै० ९।८६, १००

रूप अपने लिये मैं रत्न-तुल्य अपने सुहृद् को क्यों मारूं?"[1] अपने को तृण तथा मित्र को रत्न बताना दमयन्ती की उदारता, सहृदयता तथा त्याग के परमोच्च उदाहरण हैं। उसकी शालीनता एक अन्य विकल्प में झलकती है। वह सोचती है "अथवा इनमें जो वास्तविक नल हों वह मेरी इस वरमाला को स्वीकार करें, इस प्रकार कह कर इस माला को वास्तविक नल को पहना दूं। किन्तु लज्जा त्याग कर लोगों के सुनते हुए ऐसा कैसे करूं, यह तो भारी उपहास होगा।"[2]

प्रत्यक्ष रूप में इतना अपकार करने वाले देवों के प्रति भी उसकी श्रद्धा बनी रहती है।[3] विदुषी होने के कारण वह देवों के स्वार्थी तथा लोभी स्वभाव को भली भांति जानती है। साथ ही दूत रूप में आए नल ने भी एक हित की बात का दृढ़ता से संकेत किया था कि "देवों के विघ्न करने के लिए उतारू होने पर कौन मनुष्य हाथ में धरी वस्तु भी पा सकता है?"[4] अतः विवश दमयन्ती अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए देवभक्ति का सहारा लेती है, देव-कृपा के बिना पञ्चनली का दुर्ग तोड़ा ही नहीं जा सकता था। माला पहिनाने में दमयन्ती को अपने व्रीडा, त्वरा आदि भावों से जो संघर्ष करना पड़ा वह उसकी शालीनता का ही परिचायक है।[5]

स्वयंवर के अन्त में दमयन्ती ने राजाओं की आहों के कारण करुणरस से द्रवित होकर अपने पिता से प्रार्थना कर के अपनी सुन्दर सखियाँ उन्हें दिलवाईं। दमयन्ती को न पाने के कारण उन राजाओं के जो प्राण ग्लानिवश शरीर से चल देना चाहते थे वे दमयन्ती के समान ही कला-कौशल निपुण इन सुन्दरियों को पाने से रुक गये।[6] संस्कृत साहित्य में किसी कवि ने अपनी नायिका के इस प्रकार के उदार रूप की कल्पना नहीं की है। वास्तव में दमयन्ती के इस चरित्र की कल्पना श्रीहर्ष की संस्कृत-साहित्य को अद्वितीय देन है।

---

१. देव्याः करे वरणमाल्यमथार्पये वा यो वैरसेनिरिह तत्र निवेशयेति।
सैषा मया मखभुजां द्विषती कृता स्यात्स्वस्मै तृणाय तु विहन्मि न बन्धुरत्नम्॥
नै० १३।५२

२. यः स्यादमीषु परमार्थनलः स मालामङ्गीकरोतु वरणाय ममेति चैनाम्।
तं प्रापयामि यदि तत्तु विसृज्य लज्जां कुर्वे कथं जगति शृण्वति ही विडम्बः॥
नै० १३।५३

३. नै० १४।१

४. सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः॥ नै० ९।८३

५. नै० १४।२६, २८, ३६

६. नै० १४।९७

अंत में वह पति-परायणा गृहिणी के रूप में भी दिखायी पड़ती है। देवपूजा, करना, पति के भोजन के पश्चात् भोजन करना आदि[1] हिंदू नारी का सहज आदर्श है। दमयन्ती के प्रति देवर्षि ने इन्द्र से कितने उचित शब्दों में कहा था कि—

"सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी। (नै० ५।२६)"

हंस

भारतीय प्रेम काव्यों में प्रेम-सन्देश प्रायः मनुष्येतर प्राणियों से ही भिजवाया जाता है। इससे दो बातें हुई हैं, एक तो प्रेमी राम अथवा गोपियों की भांति चेतन अचेतन में भेद न कर के अपनी प्रेम-वेदना की उत्कृष्टता व्यञ्जित कर देता है, दूसरे पशु-पक्षियों या अन्य किसी वस्तु में मानवीय भावनाओं का आरोप कर के प्रेम सन्देश भेजने में उसकी मधुरता और भी बढ़ जाती है। प्रेम-सन्देश-वाहक प्रायः वे ही पशु-पक्षी अथवा अन्य कोई प्राणी बनाये जाते हैं, जो मनुष्य की संयोग या वियोग की दशा में किसी न किसी भाव के आलम्बन रहते हैं। कौए की कांव-कांव में प्रिय के आगमन की सूचना होती है, कोयल की कूक में विरही हृदय की कराह रहती है, पपीहे की पुकार में प्रेम की कसक सुनाई पड़ती है, मयूर की वाणी (केका) वियुक्त हृदय के प्रति सहानुभूति प्रकट करती है, राजहंस प्रिय-संयोग का स्वरूप है, चक्र-वाक-मिथुन प्रेमी हृदयों के अपने मूर्त रूप हैं, भ्रमर-सन्देश सुनाता है, मेघ सन्देश सुनाकर प्रिय को आने के लिए उत्सुक करता है, मलयानिल कुछ कहने आता है— आदि। अतः कवि इन्हें प्रेम-कथानक में रखकर प्रेम की अनुभूति को और तीव्र बना देता है। यदि वह सन्देश मनुष्य द्वारा भेजा जाय, तो सन्देश-वाहक का व्यक्तित्व उसमें हस्तक्षेप करके सन्देश को उसी रूप में न व्यक्त करेगा। चाहे उसमें परिष्कार भले कर दे, किन्तु निश्चय ही उसके भोलेपन को नहीं व्यक्त कर सकेगा, क्योंकि उस संदेश-हारक के हृदय में तो वे भाव हैं नहीं। अतः वह स्वभावतः उन्हें उसी रूप में नहीं व्यक्त कर सकता, जिस रूप में प्रेमी ने उससे कहा था। वह प्रेमी के हृदय का सच्चा रूप नहीं रख सकता। उद्धव इसी कारण गोपियों के प्रति प्रेम-सन्देश में असफल रह गए। किन्तु ये मनुष्येतर प्राणी उसमें अपना कोई व्यक्तित्व नहीं मिलाएंगे और स्वयं प्रेम की उस विशेष भावना के प्रतीक होने के कारण प्रेमी के भावों को प्रिय के सम्मुख पूर्ण रूप से व्यक्त कर देंगे। अतएव हंस को देखकर दमयन्ती के मुंह से अपने आप निकल जाता है—"यह हंस मेरे भावी प्रिय का आवेदक (सूचक)

---

१. नै० २१।१२१

है।[1]" श्रीहर्ष इस प्रेम-विषयक रहस्य को अच्छी तरह जानते थे, अतः उन्होंने अपने हंस को पक्षी ही रक्खा उसे मनुष्य नहीं बनाया। मनुष्य द्वारा भेजा गया सन्देश तो नैषध में भी असफल ही बना रहा। देवों का सन्देश चतुर दूतियाँ ले गयीं, स्वयं नल ले गये, पर कोई फल न हुआ। अस्तु।

श्रीहर्ष हंस का प्रथम परिचय ही एक अत्यन्त सरस सहृदय प्रेमी के रूप में देते हैं—"उसका अनुराग-वृक्ष वाला-मुग्धाओं के प्रति रक्तचञ्चु के रूप में अभी केवल दो पत्तों वाला, तथा सुरतसह प्रौढ़ाओं के प्रति दोनों रक्त चरणों के रूप में अनेक पत्तों वाला समझ पड़ता था—मुग्धाओं के प्रति केवल चुम्बनादि के लिए चञ्चु ही पर्याप्त होती, किन्तु प्रौढ़ाओं के साथ हाथ-पैर सब का प्रयोग किया जाता है।"[2] उत्तमोत्तम ध्वनि युक्त इस एक श्लोक द्वारा कवि पाठक के हृदय में हंस का ऐसा स्वरूप प्रतिष्ठित कर देता है कि वह नायक के समान प्रिय लगने लगता है। वह राजा को अपने वाङ्मय से विलक्षित करके[3] अपनी व्युत्पन्नता का भी परिचय दे देता है। हंस एक सहृदय के रूप में दिखायी पड़ता है। मातृभक्त पुत्र के नाते विपत्ति के समय उसका ध्यान सर्वप्रथम अपने इकलौते बेटे वाली वृद्धा माता के कष्टों की ओर जाता है।[4] वह अपने मरने की चिन्ता नहीं करता, पर वृद्धा माता किस प्रकार सुत-शोक-सागर पार करेगी[5] इसकी चिन्ता उसे विशेष रूप से है।

वह पति है—एक सहृदय प्रेमी-पति। पत्नी के विपन्न रूप का ध्यान कर वह विकल हो उठता है।[6] उसके हृदय में वात्सल्य है। नवजात शिशुओं का कष्ट वह सोच भी नहीं सकता। उस चिन्ता के आघात से वह मूर्च्छित हो जाता है।[7]

हंस के चरित्र की सब से बड़ी विशेषता उसकी कृतज्ञता है। वह प्रेम-काव्य के साधारण दूत के रूप में नहीं रक्खा गया है। उसका हृदय उत्तम तत्त्वों से बना है। उसने ऐसे राजा को अप्रिय कहा जो नितान्त दयालु है, अतः वह उस अपराध का

---

१. मे भाविप्रियावेदक एष हंसः॥ नै० ३।९

२. प्रियासु बालासुरतक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम्।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च॥ नै० १।११८

३. नै० १।१३४

४. नै० १।१३५

५. नै० १।१३६

६. नै० १।१३६, १३७

७. नै० १।१४२

प्रतीकार राजा का कुछ हित कर के करना चाहता है,[१] "क्योंकि अपने उपकारी का यथा-साध्य प्रत्युपकार शीघ्र करना चाहिए। वह प्रत्युपकार छोटा हो या वड़ा, विद्वानों को इसका विशेष विचार नहीं"।[२] यह प्रेम-दौत्य उसने स्वयं अपने ऊपर लिया है, उसे किसी ने सौंपा नहीं। उसके हृदय की उच्चता का तव और भी गुरुतर प्रमाण मिलता है जव वह कहता है—"राजन्, केवल आपकी अनुमति लेने के लिए मैंने जो यह विज्ञापना की उसके लिए मैं वड़ा लज्जित हूं—सत्पुरुष कार्य-द्वारा अपनी उपयोगिता वताते हैं, केवल वचन-द्वारा नहीं।"[३]

फिर कर्तव्य-भार को उठा लेने पर उसे किसी प्रकार के सुख आनन्द की परवाह नहीं रह जाती। जव तक वह कार्य न हो जाय उसे चैन नहीं मिलता। नल का सन्देश लेकर कुण्डिनपुर जाते हुए मार्ग में न तो उसने विशाल वृक्षों से सुशोभित किसी भी वन में आश्रय लिया और न अपनी जाति के लोगों की ध्वनि का प्रतिशब्द ही किया।[४] और उस दौत्य-कार्य को उसने वड़ी सफलता से पूरा किया। नायक-नायिका के भावों को जानकर जो स्वयं अपनी ऊहा से अवसरोचित व्यवहार करता हुआ दौत्यकार्य को सफलता के साथ सम्पन्न करे उसे आचार्यों ने निसृष्टार्थ-दूत कहा है।[५] नल में अनुरक्त दमयन्ती के मन को सभी उपायों द्वारा वह हंस और भी दृढ़ कर देता है। उसकी कुशलता का एक उदाहरण देखिए। सर्व-प्रथम विना पूछे ही दमयन्ती के सम्मुख नल की प्रशंसा का पुल वाँधता है, फिर विधाता को भी नल-दमयन्ती-संयोग अभीसिप्त है इसकी भी सूचना दे देता है। इतनी भूमिका तैयार कर के दमयन्ती के चित्त के भावों को जानने के लिए, उपेक्षा का अभिनय करता हुआ कहता है—"अच्छा यह अप्रासङ्गिक चिन्ता छोड़ें। सुन्दरि, मैंने तुम्हें वहुत श्रान्त किया (थकाया)। मैं उस अपराध का परिमार्जन करना चाहता हूं—वोलो, तुम्हारा क्या अभीष्ट साधूं?[६]" दमयन्ती के हृदय को जानने के लिए एक परम कुशल मनोविज्ञान-वेत्ता क्या इससे भी अच्छा मार्ग सोच सकता था?

---

१ नै० २।११
२. नै० २।१४
३. नै० २।४८
४. नै० २।७२
५. उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः॥ सा० द० ३।४८
६. आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयालं मयासि तन्वि श्रमितातिवेलम्।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामः किमीप्सितं ते विदधेऽभिधेहि॥ नै० ३।५२

जब दमयन्ती के अनुराग को दृढ़ जान लेता है तब कहता है—"राजकुमारी, यदि यह सत्य है तो अब मुझे कुछ करना शेष नहीं रह जाता, क्योंकि तुम्हें तथा उस राजा को परस्पर-प्रेम में तपाने वाले कामदेव ने पहले से ही यह योजना तैयार कर रखी है।[1]" यदि पहुंचते ही दमयन्ती के प्रति नल की मदन कृत कदर्थनाओं का रोना रोने लगता (जैसा कि प्रेमी प्रिया के सम्मुख किया करता है) तो सम्भवतः दमयन्ती की दृष्टि में नल उतने ऊंचे न जंचते। कभी कभी उपेक्षा की आंच पर तपाने से प्रेमघट और भी खरा उतरता है। अतः हंस पहले तो नल-प्रेम की चर्चा ही नहीं करता, और जब देख लेता है कि दमयन्ती का प्रेम नल में सच्चा है, तभी नल-प्रेम के रहस्य को खोलता है—सत्पुरुष गम्भीर कुण्ड तथा गम्भीर हृदय का अवगाहन करके ही उचित कार्योपन्यास की बात करते हैं।[2] इससे दमयन्ती का प्रेम और भी प्रगाढ़ हो जाता है—जब प्रिय भी मुझसे प्रेम करता है, तो फिर मुझसे बढ़ कर और कौन?

सफलतापूर्वक दौत्य पूर्ण करने के साथ वह अपने उपकारी की विपत्ति में भी सहायक होता है। जिस समय अन्तःपुर में दूत नल स्वयं उन्मादवश अपने को प्रकाशित करने का पश्चात्ताप कर रहे हैं, उस समय पहिले की भाँति व्यथा में मग्न हुए उनके उद्धार की इच्छा से वह दयालु हंस शीघ्र वहां पहुंच जाता है।[3] और नल को बल देता है कि 'देवों की कार्य-सिद्धि के लिए इतना प्रयास कर के भी उनके प्रति अपना अपराध सोचकर आपको झूठा साक्षी बनाना उचित नहीं—सत्पुरुषों की चित्त-शुद्धि स्वयं अपना साक्षी होती है।'[4] नैषध में हंस का जितना चरित्र चित्रित किया गया है उतना अत्यन्त उदात्त तथा आदर्श रूप है। नल ने हंस के प्रति उचित ही कहा था—

"प्रिय हंस, तुम्हारा रूप अतुलनीय है, तुम्हारी सुशीलता अवर्णनीय है, तथा "रूप में गुण भी होते हैं", सामुद्रिक शास्त्र के इस सिद्धान्त के तुम्हीं प्रत्यक्ष उदाहरण हो।[5]"

---

१. इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता, नृपं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम्॥ नै० ३।१००

२. ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः॥ नै० ३।५२

३. इति स्वयं मोहमहोर्मिनिर्मितं प्रकाशनं शोचति नैषधे निजम्।
तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेम-हंसराट्॥ नै० ९।१२७

४. नै० ९।१२९

५. न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रकसारमुद्रणा॥ नै० २।५१

इन्द्र तथा अन्य देवगण

नैषध में इन्द्रादि देवों की चेष्टाएं प्रारम्भ से ही काव्य के नायक नल के प्रधान-कार्य दमयन्ती-परिणय के विरुद्ध होती हैं। यद्यपि वे अन्त में प्रसन्न होते हैं, किन्तु उस प्रसन्नता में उनकी विवशता ही समझ पड़ती है—जब उनकी सारी माया निष्फल हो जाती है तो वे अपने पराजय को प्रसन्न हो कर वर देने में ही छिपाने लगते हैं, अतः उन्हें प्रतिनायक ही कहा जा सकता है। साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों में प्रतिनायक को लोभी, दर्पी, मात्सर्ययुक्त, मायी, कपटी, अहङ्कारी, चल-स्वभाव, क्रोधी, आत्म-श्लाघा-पर, हठी, पाप-शील, व्यसनी तथा प्रधान नायक का शत्रु कहा गया है।[1]

नैषध में इन्द्र सर्वप्रथम देवर्षिनारद का आतिथ्य करते हुए मिलते हैं। देवर्षि का ऐसा चरित्र ही रहा है कि देव-दानव, सुर-असुर, नर, सभी की श्रद्धा उनके प्रति रहती है। अतः उनका आतिथ्य कर के इन्द्र आतिथ्य-परायण नहीं कहे जा सकते। फिर नारद से राजाओं के स्वर्ग जाने के कारण को जानने की इच्छा से उनके "भगवन्, अब वे अतिथि-गण मुझे अभिशाप-युक्त-सा समझ कर जो मेरे पास नहीं आते इसी कारण केवल स्वोदर-पूर्ति-मात्र फल वाले इस अपने कुत्सित वैभव के प्रति मेरा अधिक आदर-भाव नहीं रह गया।[2] ये लक्ष्मी-सुख पूर्वोपार्जित पुण्यैश्वर्य के व्यय करने पर ही प्राप्त होते हैं। वास्तव में तो इन्हें विपत्ति ही कहा गया है। अतः इनको सत्पात्र के कर-कमल में समर्पित करना ही उन विपत्तियों में शास्त्र-सङ्गत शान्तिक-विधि बताया गया है।[3]" इत्यादि कहने में भी विनयाच्छन्न अभिमान की ही झलक मिलती है।

नारद द्वारा निश्चित सूचना पाकर भी कि—"दमयन्ती किसी अतिशय सुकृती युवक में अनुरक्त है" उसकी प्राप्ति के लिए चल देना 'लुब्धता' का ज्वलन्त उदाहरण है। शची-सी पत्नी और रम्भा, घृताची, तिलोत्तमा, मेनका, उर्वशी-जैसी अप्सराओं के होते हुए भी इन्द्र का एक मानवी के लिए पागल होकर चल देना,

---

१. प्रतिनायकः—लुब्धो, धीरोद्धतः, स्तब्धः पापकृत् व्यसनी रिपुः। द०रू०२।९
धीरोद्धतः—दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥ द० रू० २।५

२. साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयन्ति।
तेन न श्रियमिमां बहु मन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम्॥ नै० ५।१६

३. पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः श्रीभरा विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ नै० ५।१७

यदि पापशीलता नहीं, तो और क्या है? स्वर्ग सुन्दरियों में जो खलवली मची वह इन्द्र के चरित्र के प्रति उनकी उचित प्रतिक्रिया थी।

इन्द्र की 'माया' और 'कपट' का स्पष्ट रूप नल के सामने दिखायी पड़ता है। जव वे कपट के साथ कुशल पूछते हैं और कहते हैं—"नल, हम देवगण तुम्हारे पास याचक के रूप में आए हैं।[1] और नल के कुछ भी दे डालने का वचन देने पर किस प्रकार सीधे शव्दों में कहते हैं—"हे महीन्द्रो, हम दमयन्ती का पाणिग्रहण करना चाहते हैं। तुम मदन-भय छोड़ कर हमारा दौत्य करो।"[2] इन सीधे शव्दों में कितना कपट भरा हुआ है?

अपने को विश्व-साक्षी वताते हुए भी—यह जानते हुए भी कि दमयन्ती नल से प्रेम करती है—उनका यह कहना कितनी धृष्टतापूर्ण निर्लज्जता का द्योतक है कि 'नल, इस विश्वस्त कार्य में तुम्हें प्रयुक्त किए विना हम सव को सन्तोप नहीं हो सकता।[3]'

जव नल उनके कपट को समझ कर दौत्य-भार लेने के लिए तैयार नहीं होते तो वे दूसरी चाल चलते हैं। देवगण दान तथा यश की महत्ता वता कर चाटुकारिता तथा अपयश का भय दिखा कर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन्हें तैयार कर ही लेते हैं।[4] देवों के विरोध तथा कृतघ्नता का सव से कुत्सित रूप तव देखने को मिलता है, जव निष्कपट भाव से अपना सम्पूर्ण वुद्धि-वल लगाकर दौत्य करने वाले नल के उपकार को भूलकर वे नल का ही रूप धारण कर स्वयंवर में उपस्थित होते हैं। उन्हें अव भली-भांति विदित हो गया है कि दमयन्ती नल को चाहती है—केवल नल को। देवों को वह किसी भी हालत में स्वीकार नहीं कर सकती, चाहे उसके प्राण ही निकल जाएं। वह पर-कलत्र हो चुकी है। किन्तु उनका लोभ, उनकी कामुकता इतनी प्रवल है कि वे चारों, 'कदाचित् नल के भ्रम से ही दमयन्ती हमें स्वीकार कर ले', इस अवशिष्ट आशाकण का अवलंवन ले कर नल का अद्भुत मिथ्या रूप धारण करते हैं।[5] इसमें उनकी कृतघ्नता, मात्सर्य, स्तव्धता, पापशीलता,

---

१. अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां नलेति॥ नै० ५।७७

२. पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर! चिरस्य निरस्य॥ नै० ५।९९

३. त्वामिहैवमनिवेश्य रहस्ये निर्वृत्तिं न हि लभेमहि सर्वे॥ नै० ५।१०१

४. नै० ५।११७-१३७

५. नलभ्रमेणापि भजते भैमी कदाचिदस्मानितिशेषिताशाः।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा॥ नै० १०।१८

व्यसन तथा (काव्य-) नायक के प्रति शत्रुता एक-साथ व्यक्त हो जाती ह। स्वयंवर में बैठे देवगण पाठक की श्रद्धा के नहीं घृणा के ही पात्र होते हैं।

अन्त में दमयन्ती की प्रार्थनाओं से प्रसन्न होकर वे अपना रूप धारण कर लेते हैं। यह उनकी पराजित अवस्था वाली विवशता थी। सती के तेज के सामने यह छलना कब तक टिक सकती थी। इसका भण्डाफोड़ निश्चय ही होता। महाभारत में यही तो हुआ। वहाँ दमयन्ती द्वारा अपने सतीत्व की दुहाई देने पर देवों को विवश होकर अपना वास्तविक रूप धारण करना पड़ा।[1] सीता के सतीत्व के सामने अग्नि को भी शीतल होना पड़ा था, सावित्री के सतीत्व ने यम से सत्यवान् के प्राण वापस ले लिए थे, शाण्डिली के सतीत्व ने सूर्योदय ही रोक दिया था, अनसूया के सतीत्व से मन्दाकिनी को चित्रकूट के पास बहना पड़ा था। फिर सतीत्व की अपरिमेय-शक्ति के सामने इन्द्रादि देवों की माया की कितनी सत्ता थी? अतः ऐसा क्यों न माना जाय कि उन देवों का यह रूप प्रकट करना तथा नल को वरदान देना, अपना 'मुंह पीट कर लाल करना' था। स्वर्ग लौटते हुए आनन्द प्रकट करना[2] तथा कलि के सम्मुख नल की प्रशंसा करना भी मुंह की लगी हुई कालिख धोना था। किन्तु इतना छिपाने पर भी उनकी लज्जा को कलि ताड़ ही गया।[3] देवी सरस्वती की इस वकालत में कि "देवगण स्वयंवर में नल को यश और दमयन्ती देने तथा वरदान देने गए थे। स्वयं दमयन्ती से विवाह करने नहीं गए थे[4]" कितना सत्य है, पाठक उसे स्वयं समझ सकते हैं। कलि से अपनी स्पष्ट प्रतीत होने वाली लज्जा का देवगण जो समर्थन देते हैं, उसमें उनके हृदय की विवशता का और भी पता चल जाता है। उनका कहना है कि "कले, तुम्हारी बुद्धि हमें आश्चर्य में डाल रही है। तुमने हमारी लज्जा को ठीक पहचाना। वास्तव में महान् को यदि थोड़ी वस्तु दान में दी जाय तो अपने ही को लज्जा होती है।"[5] श्रीहर्ष ने भी वस्तुतः इन्द्रादि देवों को प्रतिनायक ही चित्रित किया है। इसीलिए स्वयंवर में बैठे इन्द्र के प्रति उनकी उक्ति है—

---

१. महाभारत, वनपर्व ५७, १७-२३

२. नै० १६।१३०

३. नै० १७।१४२-१५२

४. नै० १७।१३४

५. विस्मेयमतिरस्मासु साधुर्वैलक्ष्यमीक्षसे।
यद्दन्तेऽल्पमनल्पाय तद्दत्ते ह्रियमात्मनः ॥ नै० १७।१४१

"कार्य साधने के लिए नैषध का रूप बनाकर, साक्षात् नल बन कर भी इन्द्र ने किस प्रकार अपने वास्तविक नीच भाव को धारण किया था, जिससे उन्हें अपनी ही बात की व्याख्या करनी पड़ी।"[1]

सरस्वती

वैसे तो सरस्वती केवल राज-परिचय कराने के लिए अवतरित की जाती हैं, किन्तु कवि यथावसर उनके स्त्री-सुलभ चरित्र का भी स्वरूप दिखाता गया है। आते ही उन्होंने राजा भीम से जिस रूप में अपना परिचय दिया वह अत्यन्त सुखद तथा कष्ट से मुक्तिप्रद था। उनके इन वचनों में कितना आश्वासन है:—"राजन्, यह तुम्हारे प्रसन्न होने का अवसर है। अब विषाद बहुत हो चुका। इन राजाओं के विचित्र वंश तथा चरित्र का वर्णन मैं करूंगी।"[2] श्रीहर्ष ने जिस प्रकार एक लम्बे रूपक द्वारा सरस्वती के रूप की कल्पना की है उससे देवी के प्रति अपने आप श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। स्वयंवर में राज-परिचय देते हुए उनकी प्रगल्भता तो उनके तत्कालीन व्यवसाय के लिए उचित ही है। दमयन्ती से उनका ललनोचित परिहास भी देखने को मिलता है। दमयन्ती सरस्वती से नल के पास चलने के लिए कहती है, किन्तु सरस्वती परिहास करती हैं—"सुन्दरि, तुमने नल के विषय में तो 'न' कह ही दिया है, अतः किसी दूसरे का नाम बताओ, अथवा नल का 'न' मात्र कहा आगे का 'ल' भी कह डालो।" सरस्वती के इस प्रकार कहने पर लज्जा तथा मदन की द्वन्द्व-भूमि दमयन्ती ने केवल आंखों से नल की ओर संकेत कर दिया।[3] देवी में ललना-सुलभ वत्सलता भी ओत-प्रोत है। दमयन्ती को उन्होंने अपनी पुत्री के रूप में मान लिया था। देवों से दमयन्ती की ओर से क्षमा मांगना, नल-दमयन्ती के संयोग का समर्थन करना,[4] देवी की वत्सलता के ही उदाहरण हैं। कवि स्वर्ग जाती हुई देवी के परम वत्सल हृदय का चित्रण करता है—

---

१. स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्तदुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः॥ नै० १०।१३६

२. भीमस्तयागद्यत मोदितुं ते वेला किलेयं तदलं विषद्य।
मया निगाद्यं जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रं च विचित्रमेषाम्॥ नै० १०।८९

३. त्वत्तः श्रुतं नेति नले मयातः परं वदस्वेत्युदिताथ देव्या।
ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमी भैमी दृशा भावितनैषधाभूत्॥ नै० १४।३६

४. नै० १४।४०-४५

"सरस्वती भी जाती हुई उत्कण्ठित होकर वार वार अपनी वचन-चातुरी की आधारभूत दमयन्ती को घूमकर देखती जाती थीं।"[१]

विदर्भराज

नैषध में राजा भीम एक वत्सल पिता के रूप में चित्रित हुए हैं। पुत्री की व्यथा से उनका चित्त अधीर हो उठता है तथा वे शीघ्र स्वयंवर का आयोजन करने लगते हैं।[२] स्वयंवर में आए राजाओं का वे पूर्ण आतिथ्य करते हैं। दान, दया, सूनृत वचन तथा आतिथेयी ये चार भीम के अन्तःपुर के रक्षक हैं।[३] राजाओं का परिचय देने के लिए उनकी चिन्ता के मूल में भी वत्सलता ही है।[४] साथ ही उनका हृदय आस्तिक है।[५] कष्ट के समय अपने कुलदेव का स्मरण होता है।[५]

स्वयंवर में दमयन्ती द्वारा नल-वरण होने पर विदर्भ-नरेश के हर्षोत्फुल्ल वत्सल हृदय का थोड़ा दर्शन होता है। वे अपनी पुत्री के साथ अन्तःपुर में जाते हैं, और वहां दमयन्ती के पतिवरण के विषय में अनेक सन्देह करती हुई महारानी से कहते हैं—"देवि, तुम अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही हो, लो अपने जामाता नल को पहिचानो।"[६] और पुत्री को विदा करते समय उनके उपदेश में पितृ-हृदय भावों से उमड़ता दिखायी पड़ता है। वे रोते रोते पुत्री को विदा करते हुए कहते हैं—

"वेटी, अव तुम्हारा पुण्य ही पिता है, तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्तियों को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होंगे, और वेटी, अव से मैं तुम्हारा कोई न रहा।"[७]

कलि

कलि हर प्रकार से प्रतिनायक के रूप में आता है। नैषध के कथानक में यद्यपि नल से कलि को विरोध करने का कोई कारण नहीं, और न उसकी कोई ऐसी क्रिया

---

१. उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती वाग्देवतापि निजविभ्रमधाम भैमीम्।।
नै० १४।९९

२. नै० ४।११५, १२१

३. नै० १०।२७, २८

४. नै० १०।६८

५. नै० १०।६९

६. नै० १५।५

७. पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमाः धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि ! न कोऽपि तेऽहम्................।। नै० १६।११८

होती है जिससे उसके विरोध का नायक के ऊपर कोई प्रभाव पड़े, तथापि इन्द्रादि देवों की कलुशता को लघु बनाने की ही भावना से कवि ने इस विख्यात महाकलुषित चरित्र का समावेश किया है। कलि का सहज धर्म पाप-परायणता है और महाभारतानुसार नल के उत्तरार्द्ध जीवन में वह महान् कष्टकारक बना हुआ है, अतः कवि ने इन्द्रादि देवों को प्रतिनायक के रूप में रखते हुए भी, समाज में उनके देवत्व के प्रति अनास्था न हो, इस विचार से नल के इस अकारण शत्रु के चरित्र का चित्रण किया है। कलि के सामने देवों की दुष्टता पाठक को प्रायः भूल-सी जाती है। यहाँ नल से उसका विरोध अकारण ही है। वह देवों से कहता है—"देव-गण, अब हम लोगों ने दमयन्ती के प्रति अपनी अभिलाषा को त्याग दिया है। किन्तु उस नल के प्रति तो हममें दया का लेश भी नहीं है।"[1] कलि के अपने दुष्ट स्वभाव के सिवा इस वैर का कोई कारण नहीं समझ पड़ता। उसके प्रति-नायकत्व का प्रमाण उसकी एक प्रतिज्ञा है, जो वह नल के विषय में करता है—

"विज्ञजनो, नल के विषय में मुझ कलि की इस प्रतिज्ञा को जान लो। मैं नल से दमयन्ती तथा पृथ्वी दोनों ही छुड़वाऊंगा, और उस पर विजय प्राप्त करूँगा।"[2]

इनके अतिरिक्त, दूती, सखियाँ तथा बन्दीजन भी हैं। किन्तु उनके चरित्र का कोई विकास नहीं दिखाया जाता है। उनका केवल वही व्यवसाय-गत रूप देखने को मिलता है, जिसे साहित्य-लक्षण-ग्रन्थों के आचार्यों ने निर्धारित किया है।

---

१. प्रौज्झि वाञ्छितमस्माभिरपि तां प्रति संप्रति।
तस्मिन्नले न लेशोऽपि कारुण्यस्यास्ति नः पुनः॥ नै० १७।१३६

२. प्रतिज्ञेयं नलेविज्ञाः कलेर्विज्ञायतां मम।
तेनभैमीं च भूमिं च त्याजयामि जयामि तम्॥ नै० १७।१३८

अष्टम अध्याय

दोष-निरूपण

काव्य-कल्पना में सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी कवि को कुछ नियमों अथवा बन्धनों के भीतर ही रहना पड़ता है। उसकी स्वच्छन्दता की कुछ नियत सीमाएं होती हैं। उनकी उपेक्षा करना उसका प्रमाद कहा जाता है, और कवि के उस प्रमाद के कारण काव्य-सौन्दर्य में ही कुछ न्यूनता प्रतीत होने लगती है। अतएव आचार्यों ने थोड़ी भी त्रुटि के लिए सर्वोच्च महाकवियों को भी क्षमा नहीं दी। दोषों का विवेचन करते समय उन्होंने भारवि, माघ तथा कालिदास तक की कृतियों से अनेक उदाहरण दिए। श्रीहर्ष और मम्मट के सम्बन्ध वाली किंवदन्ती तो नैषध को पूर्ण 'दोषाकर' ही सिद्ध करती है। पर संयोग से वह किंवदन्ती-मात्र ही रह गई है। सम्भवतः नैषध की ग्रन्थियों को न सुलझा सकने के कारण किसी पण्डितम्मन्य 'खल' ने चिढ़ कर इस किंवदन्ती को गढ़ लिया था। क्योंकि श्रीहर्ष के परवर्ती साहित्य के समालोचक आचार्यों ने गुण, रीति, अलङ्कार आदि के प्रकरण में तो नैषध के अनेक उदाहरण दिए, किन्तु दोषों का विवेचन करते समय कहीं किसी आचार्य ने नैषध की एकाध पंक्ति शायद ही कहीं उद्धृत की हो।[1]

---

१. पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा के दोष का विवेचन करते हुए वाक्यार्थ के असंष्ठुलता रूप सामान्य-दोष से नैषध के श्लोक—

"उपासनामेत्य पितुःस्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्र रोमाजनि शृण्वती नलम् ॥१।३४"

को क्रमेलकवत् ग्रस्त बताया है। और उसी वाक्यार्थ की प्रकारान्तर से योजना कर के श्लोक को इस प्रकार सुन्दरतर रूप दिया है—

उपासनार्थं पितुरागतापिसा, निविष्टचित्तावचनेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्र-रोमाजनि शृण्वती नलम् ॥

किन्तु 'दिनेदिने' 'रज्यतेस्म' तथा 'अवसरेषु' में जो उच्च-कोटि की व्यञ्जना है, वह पण्डितराज के काट-छाँट कर व्याकरण की एक वाक्यता के

आचार्यों की इस मनोवृत्ति का केवल यही कारण प्रतीत होता है कि उन्हें नैषध में गुण, अलङ्कार आदि अच्छाइयाँ इतनी अधिक मात्रा में मिलीं, तथा श्रीहर्ष की प्रतिभा से वे इतने अभिभूत हो गए कि इस काव्य के दोषों की ओर, जो यों भी अत्यन्त नगण्य थे, उनका ध्यान ही न गया। नैषध में कहीं कुछ दोष भी हैं, किन्तु उसी रूप में जैसे रत्न में कहीं कहीं कीटानुवेध (कीड़े का छेद) आदि दोष हो जाते हैं। किसी श्लोक का कोई दोष भले ही कुछ खटकता हो, पर उसी श्लोक में अन्य गुण इतनी अधिक मात्रा में होते हैं कि उसके सौन्दर्य में उस दोष से कोई विशेष क्षति नहीं आने पाती।[1]

यहाँ नैषध के कुछ स्थलों का उल्लेख किया जा रहा है जो स्थूल दृष्टि से देखने में सदोष प्रतीत होते हैं, किन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचारने पर निर्दोष ही सिद्ध होते हैं। अतः इन्हें नैषध के दोष न कह कर दोषाभास ही कहना उपयुक्त होगा। एकाध स्थल यदि वस्तुतः सदोष हैं भी तो वे न होने के बराबर ही माने जायेंगे। अस्तु !

ख्यातिविरुद्धता अथवा प्रसिद्धिहत

जहाँ कवि ख्याति अथवा प्रसिद्धि के विरुद्ध कोई योजना करता है, वहां ख्याति-विरुद्धता अथवा प्रसिद्धिहत दोष माना जाता है। "उपवन-विहार करते समय नल ने चम्पक-कलिकाओं को देखा, जो कामदेव की बलिदीपशिखाओं के समान प्रतीत हो रही थीं। उन कलियों पर बैठे भ्रमर ही उन दीपशिखाओं के कज्जल थे, जो इस प्रकार प्रतीत होते थे मानों पान्थ (प्रवासी) रूपी पतंगों (कीड़ों)

अनुसार रचे हुए इस नीरस पद में कहाँ से आ सकती है, इसका सहृदय-पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं, अस्तु।

उसी प्रकार आचार्य रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री नैषध के—

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छतिलाञ्छनोन्मृजाम्।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः॥ नै० ९।१४६

श्लोक को—मदङ्गनिर्दाहजभस्ममुष्टिभिर्मुधेन्दुरङ्कापनयात्त्वदास्यताम्।
गमिष्यतीन्दुर्नकदाप्यमूं स्पृशा वधूवधेनाभिनवां कलङ्किताम्॥

यह अन्य रूप देकर उसे दो दोषों से निर्मुक्त बताते हैं, अस्तु।

१. नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्यरत्नत्वंव्याहन्तुमीशाः—उक्तं च—
कीटानुवेधरत्नादिसाधारण्येनकाव्यता। दुष्टेष्वपिमतायत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥
सा० द०, प्रथम परिच्छेद

का वध कर के उन कलियों ने यह पाप कर्म अर्जित किया है।"[1] और फिर, "भ्रमरों से युक्त होने के कारण ऊंची चम्पक-कलिकाओं को अधीरता से देख कर तथा चकित होकर नल ने तर्क किया कि यह वियोगियों के विनाश के लिए उदय हुआ धूम-केतु है।"[2]

पूर्वोक्ति दोनों श्लोकों में चम्पक के पुष्प पर भ्रमरों का बैठना प्रदर्शित किया गया है, किन्तु यह लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध है। लोक में ऐसा विश्वास है कि भ्रमर चम्पा के फूल पर नहीं बैठता। क्योंकि वहाँ बैठने से उसकी मृत्यु हो जाती है।

पर यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रथम (१।८६) में चम्पा की कलियों को दीपशिखा तथा उन पर अलियों को कज्जल-पुंज के रूप में, और द्वितीय (१।९१) में चम्पा की कलियों को अलियों की श्रेणी से ऊंची उठी हुई कहा गया है। कवि ने यह कहीं नहीं कहा है कि चम्पा की कलियों पर भ्रमर बैठे थे। कज्जल दीपशिखा के ऊपर उससे अलग ही रहता है, दीप शिखा पर बैठा नहीं रहता। उसी प्रकार भंवरे भी चम्पा की कलियों पर बैठे नहीं कहे गए हैं, अपितु मंडराते हुए ही चित्रित किए गए हैं। और अपह्नुति एवं उपमा द्वारा वस्तु-चित्रण में यहां भ्रमरों का चम्पक कलिकाओं पर मंडराना ही कवि को इष्ट है, जो किसी प्रकार ख्याति-विरुद्ध नहीं माना जायगा। द्वितीय (१।९१) में चम्पा की कलियों को भ्रमरों की श्रेणी के कारण ऊंची उठी हुई कहा गया है। यहां न भ्रमरों का बैठना कहा गया है, और न ही यह कहा गया है कि भ्रमर जीवित हैं या मृत। अतः यदि चम्पक-कोरकों को भ्रमरों के बैठने के कारण ऊंचा उठा हुआ मानें तो यह भी बिना किसी कठिनाई के मान सकते हैं कि वे भ्रमर चम्पक कोरकों पर बैठने के कारण निष्प्राण होकर वहीं पड़े रह गए हैं, जिससे वे कोरक ऊंचे उठे हुए प्रतीत हो रहे हैं। अतः यहां भी ख्याति-विरुद्धता दोष नहीं है।[3]

---

१. विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्य-कर्माण्यलि-कज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पक-कोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥ नै० १।८६

२. अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया धिया।
स धूम-केतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत॥ नै० १।९१

३. अतएव 'जीवातु' में मल्लिनाथ ने यहां इस दोष का इस प्रकार परिहार किया है—'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत' इत्यादौ अलीनां चम्पक-स्पर्श-भावाप्रसिद्धेरिति चेन्नस्पृशन्त्येव। किन्तु स्पृष्टा म्रियन्ते तावतैव स्पर्शाभाव-प्रसिद्धिरित्यक्वचित् कीर्तितः परिहारः।

इन श्लोकों में पूर्वोक्त ढंग से ख्याति-विरुद्धता दोष का परिहार हो जाने पर भी त्यक्त-पुनः-स्वीकृत नामक अर्थ-दोष बना रहता है। क्योंकि एक बार प्रथम (१८६) में भ्रमर-सहित चम्पक-कलिकाओं का वर्णन करके कवि स्थल-पद्मिनी (१८८) रसाल (१८९) तथा पिक (१९०) का वर्णन करता है, और अन्त में फिर (१९१) भ्रमर-सहित चम्पक-कलिकाओं का चित्रण करने लगता है, अस्तु।

ख्याति-विरुद्ध दोष का एक अन्य आभास नल के सपत्नीक अपनी राजधानी में पहुँचने पर सौधवातायन से सुन्दरियों द्वारा उनके सौन्दर्य के अवलोकन के वर्णन में मिलता है—उस नगर की सब स्त्रियों के नेत्र-रूपी नीलकमल जो अत्यन्त प्यास के कारण शुष्क हो जाने से व्याकुल थे, राजा नल के मुखचन्द्र की शोभा रूपी सुधा का पान करने लगे। वह सुधा महलों की खिड़कियों के छेदों से जाती हुई रश्मि-रूप कमल-नालों द्वारा नेत्रों के समीप लाई जा रही थी।[1]—

कमलों का चन्द्रमा की सुधा से अनुराग लोक-प्रसिद्धि तथा कवि-प्रसिद्धि दोनों के विरुद्ध है।

किन्तु थोड़ा विचार करके देखा जाय तो कवि की उक्ति बड़ी युक्ति के साथ कही गयी प्रतीत होती है। दिन में खिलने वाले कमलों का चन्द्रिका से साक्षात् संयोग नहीं होता है। कमलों के सूर्य-सम्पर्क से विकसित होने के कारण उनके असम तो क्या कैसी भी पिपासा अथवा शुष्कता से उत्पराग होने का अवकाश ही नहीं रहता है। यहां चन्द्रसुधा का मुख-श्री-सुधा से तादात्म्यारोपण होने से वह सुधा कमलों तक उन्हें खिलाने के लिए नहीं, अपितु जिलाने के लिए; और साक्षात् नहीं नाल द्वारा परम्परया पहुंचती है। अतः यहां प्रसिद्धि-विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है।

क्लिष्टत्व

जहाँ अभीष्ट अर्थ की प्रतीति में विलम्ब हो तथा बाधा होने के कारण अभीष्ट अर्थ कष्ट से समझ में आए वहां क्लिष्टत्व दोष माना जाता है।[2]

कुण्डिनपुर का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"जिस नगरी के भवनों की अट्टालिकाओं की भूमि पर जटित चन्द्रकान्त मणियों से (सदा चन्द्रोदय के समय)

---

१. निषध-नृप-मुखेन्दु श्रीसुधा-सौधवातायनविवरगरश्मिश्रेणिनालोपनीताम्।
पपुरसमपिपासापांसुलत्वोत्परागाण्यखिलपुरपुरन्ध्रीनेत्रनीलोत्पलानि ॥
नै० १६।१२८

२. क्लिष्टत्वं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास।

जलस्राव के कारण बढ़ी हुई आकाश-गङ्गा चन्द्रोदय के समय अपने पातिव्रत्य-धर्म को नहीं छोड़ती।[१]"

यहाँ चन्द्रोदय के समय समुद्र बढ़ता है, गङ्गा समुद्र की पत्नी हैं। अतः उन्हें भी पति की वृद्धि के समय बढ़ना चाहिए। चन्द्रकान्त मणिओं के जलस्राव से वे बढ़ती हैं, मानों वे चन्द्रोदय के समय अपने पातिव्रत्यधर्म का पालन कर रही हैं।

यह अर्थ बड़े विलम्ब से समझ में आता है। साथ ही, आकाश-गङ्गा का चन्द्रमा के उदय (वृद्धि) के समय बढ़ना देख कर यह भी प्रतीत होने लगता है कि आकाश-गङ्गा का यह पातिव्रत्य चन्द्रमा के ही प्रति है (क्योंकि समुद्र का कहीं उल्लेख नहीं है)। अतः यहां विरुद्धमतिकृत्-नामक दोष भी माना जा सकता है।

अप्रयुक्त

व्याकरण, कोष आदि के नियमों द्वारा शुद्ध होने पर भी कवियों ने जिन शब्दों का प्रयोग न किया हो उनका प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष माना जाता है।[२] जैसे पद्म शब्द कोष द्वारा पुंल्लिग तथा नपुंसकलिङ्ग होने पर भी नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है, उसका पुंल्लिग में प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष होगा। किन्तु श्रीहर्ष दमयन्ती का वर्णन करते हुए "शीतकाल में पद्मों (पद्मान्) को तथा वर्षाकाल में खञ्जरीटों को, उनके जिस उत्तम भाग को लेकर, ब्रह्मा उन्हें कहीं धरोहर रख देते हैं, उसी उत्तम भाग से सुन्दरी के दोनों नेत्रों का निर्माण करते हैं।[३]"

यहाँ पद्म शब्द पुंल्लिग में प्रयुक्त होने के कारण अप्रयुक्त दोष से युक्त हैं।

दुष्क्रम

जहाँ वस्तुओं के परिगणन में क्रम की व्यवस्था उचित नहीं रहती, वहां दुष्क्रम दोष माना जाता है। नैषध की "मानी पुरुष को प्राण तथा सुख भले ही छोड़ने पड़ें पर वे अपने जीवन के मुख्यव्रत 'याचना' को कभी नहीं छोड़ते।[४]" इस उक्ति में

---

१. यदगार-घटाट्ट-कुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया॥ नै० २।८९

२. अप्रयुक्तं तथा आम्नातमपि कविभिर्नादृतम्——काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास।

३. पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिप्नुर्यमादाय विधिः क्वचित्तान्।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥ नै० १०।१२०

४. त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनोवरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्॥ नै० १।५०

'सुख तथा प्राण' यह क्रम उचित था, क्योंकि प्राण सभी सुखों से बढ़ कर प्रिय होते हैं।

किन्तु यहां 'शर्म' से श्रीहर्ष का अभिप्राय शारीरिक सुख या विषयानन्द नहीं है, अपितु वेदोक्त 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानिभूतानिमात्रामुपजीवन्ति', तथा 'न वा अरे पत्युःकामाय पतिःप्रियो भवति। आत्मनस्तुकामाय'—इत्यादि है। अतः वे प्राण को पहले और परमार्थ मार्ग में प्राप्य शर्म को पीछे रखते हैं। क्षत्रिय उसी सुख के लिए रण में दूसरे की रक्षा में प्राण देते थे। अतः कवि का पूर्वोक्त क्रम उचित ही है।

अधिक-पदता

जहाँ कुछ पद आवश्यकता से अधिक होते हैं वहाँ अधिकपदता वाक्य-दोष होता है। इस दोष का आभास कुण्डिनपुर की पण्यवीथियों के वर्णन में मिलता है। कवि की उक्ति है—"जिस (नगरी) की दूकान पर विक्रेता ने (कस्तूरी के) सौगन्ध के लोभ से निश्चल, यद्यपि गुंजार करते हुए श्याम भ्रमर को, जन-कोलाहल के कारण कस्तूरी खण्ड के साथ तौलते हुए, नहीं जान पाया।[1]"

यहाँ मलीमस (श्याम) शब्द व्यर्थ (अधिक) है। भ्रमर तो श्याम होता ही है, अतः इस विशेषण के बिना भी भ्रमर के रंग में कोई अन्तर न आता।

किन्तु विचार करने पर मलीमस शब्द सप्रयोजन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, व्यर्थ नहीं। यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार के लिए केवल अलि और कस्तूरिका का उल्लेख मात्र पर्याप्त न होगा। साम्य की स्थापना के लिए दो में से किसी एक का श्यामता-वाचक विशेषण देना उचित ही होगा। रस-गङ्गाधर में भ्रान्तिमान् के उदाहरण 'कनकद्रव-कान्ति-कान्तया' तथा 'रामं स्निग्धतरंश्यामं"—धाराधरधिया—।' इसी बात को सिद्ध करते हैं। भामिनी-विलास के—'मलिनेऽपिरागपूर्णां विकसितवदना-मनल्पजल्पेऽपि। त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनीं त्यजसि।१।१०० में मलिन पद भी इसी प्रकार सप्रयोजन प्रयुक्त हुआ है।

कुछ दोषाभास श्रीहर्ष की कालक्रम की उपेक्षाओं में मिलता है।

दूत-रूप नल के समझाने पर कि 'विना देवों की प्रसन्नता के दमयन्ती का नल के साथ विवाह असम्भव है' दमयन्ती उन्मुक्त कण्ठ से विलाप करने लगती है, जिसे

---

१. समम्रेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैर्वदपि गुंजन्तमलिंमलीमसम्॥ नै० २।९२

सुन कर नल का हृदय द्रवित हो जाता है, वे भावोद्रेक में अपने को प्रकट कर देते हैं। उस समय दमयन्ती के लज्जावनत हो जाने पर उसकी सखी नल से कहती है—"आप का चित्र बना कर उस चित्र के चरणों पर स्वयं अश्रुधार बहाती हुई दमयन्ती ने जो मदन रहस्य की बातें कहीं थीं उन्हें आप मुझसे सुनिए।[1]" और फिर दमयन्ती की उक्तियों को सुनाती है—"स्वयं पति वरण करने में स्वतन्त्र मेरे प्रति यदि आप अनुकम्पा करते हैं तो इसमें देवों के प्रति क्या कोई अपराध होगा? यज्ञों में आपसे तृप्त होने के कारण देवगण संकोचवश कुछ कह तो सकेंगे ही नहीं।[2] और फिर अच्छा हो कि वे देवगण भी स्वयंवर में आवें। मैं उन्हें प्रसन्न करके ही आपको वरूंगी। उन्हें भी क्या किसी प्रकार दया न आवेगी? वे न कामदेव हैं न तुम्ही हो।[3]" नल को वरने में देवगण अप्रसन्न होंगे। यह विचार तो तभी उठ सकता था जब दमयन्ती को यह मालूम हुआ रहता कि देवगण भी उसे चाहते हैं। और देवों का प्रस्ताव तो वह दूत नल के मुख से ही सुनती है। अतः इसके पूर्व दमयन्ती के उस प्रकार के प्रलापों की कल्पना करके कवि ने काल-क्रम की योजना में अव्यवस्था कर दी है।

किन्तु ध्यान से देखने पर यहां कोई काल-व्यतिक्रम नहीं हुआ है। नैषध के कथानक को यदि प्रारम्भ से देखें तो हम दमयन्ती के एक क्षण के लिए भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं पाते। उसकी सारी चेष्टाएं, सारे क्रियाकलाप एक क्रम से अङ्कित की गयी हैं। तो आखिर चित्र के प्रति यह प्रलाप हुआ ही कब होगा जिसका उल्लेख सखी ने इस प्रकार हृदयस्पर्शी ढंग से किया है? यदि विचारपूर्वक देखें तो इसका एक ही समय समझ पड़ता है, वह है इन्द्रादि दिक्पालों की दूतियों के चले जाने पर। दूतियों के प्रस्तावों को सुन कर उसे देवों के अनुराग का पता चल जाता है, अतः पूर्वोक्त प्रलाप में देवानुराग का उल्लेख उचित ही होगा। और फिर, नल ने जो गुप्त रूप में देव दूतियों से दमयन्ती की भर्त्सनाओं को सुन चुके थे, तुरन्त अपने को प्रकट न किया होगा। बीच में कुछ समय अवश्य बिताया होगा, जिससे कि दमयन्ती की चित्तवृत्ति भी कुछ ठिकाने हो जाय। इस प्रकार दूतियों के जाने के

---

१. पदातियेयाल्लिंखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचन-निर्झरानियम्।
जगाद या सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम्॥ नै० ९।१४३

२. सुरापराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्पता मयि।
गिरापि वक्ष्यन्ति मखेषु तर्पणादिदं न देवामुखलज्जयैव ते॥ नै० ९।१५३

३. व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेपि तावन् मदनस्त्वमेव वा॥ नै० ९।१५४

पश्चात् तथा नल के प्रकट होने के पूर्व का अन्तराल ही वह समय है जब विक्षुब्ध एवं व्यथित दमयन्ती ने अपने प्राणेश्वर के चित्र के सम्मुख साश्रु यह 'प्रसून-वाणोपनिषद्' सुनाई होगी। अतः यहां कालक्रम का कोई दोष नहीं।

इस दोषाभास का दूसरा उदाहरण देखिए—

स्वयंवर में शिविकावाहक दमयन्ती को अवन्तिनाथ के पास से एक अन्य नरेश (गौडेन्द्र) के पास उसी प्रकार ले गए जैसे रघुवंशदीप राजा भगीरथ गङ्गा को पृथ्वीतल पर ले आए थे।[1]

सूर्यवंश में भगीरथ रघु से कई पीढ़ी पहले पैदा हुए थे। उस वंश का रघुवंश नाम रघु के पश्चात् पड़ा है। अतः भगीरथ को रघुवंशदीप कहना अनुचित है। अच्छा होता यदि इसके स्थान पर 'रविवंशदीप' कहा गया होता।

किन्तु रविवंश बहुत बड़ा है। उसकी अनेक शाखाएं भी हुईं। वह शाखा, जिसमें भगीरथ आदि उत्पन्न हुए रघुवंश ही के नाम से प्रसिद्ध हुई। मूल पुरुष को बताने के लिए तो उसके बाद 'प्रभव' अथवा 'कृ' का कोई कृत्प्रत्यान्त रूप जोड़ते हैं—जैसे सूर्य-प्रभव, वंशकृत्, वंशकर इत्यादि। यहां रघु के साथ ऐसा प्रयोग नहीं किया गया है। और फिर, महापुरुष अपने से दस पूर्व तथा दस अवर पुरुषों (२१ पीढ़ियों) को तारता है। इस विचार से भी रघु का नाम उचित ही लिया गया है। अतः यहाँ किसी प्रकार का दोष नहीं।

इसी दोषाभास का एक और उदाहरण देखिए—

स्वयंवर में ही अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण का परिचय देती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती हैं—"इनके पूर्वजों ने सागर को खोदा तथा गङ्गा द्वारा उसे पूरा किया था, फिर इन्हीं का वंशज उस सागर पर पुल बांधेगा।[2]" यहां कवि को इस बात का ध्यान बना रहता है कि नल के समय तक रामावतार नहीं हुआ था, किन्तु आगे चल कर देवपूजा के समय नल द्वारा राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि अवतारों की भी प्रार्थना करवाते हैं, उदाहरणार्थ—नल राम की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—"हे रघुवर, यदि आप मुझे तत्त्व-बुद्धि नहीं देते तो वह मोह ही दे दीजिए, जिसके भय से रावण की सेना युद्ध-क्षेत्र में मूढ़ होकर सम्पूर्ण विश्व को आपके रूप में देखने लगी थी।[3]" उसी प्रकार कल्कि-अवतार की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—"रण की

---

१. भैमीमनीनयत्-जन्यजनस्तदन्यं गङ्गामिव क्षितितलं रघुवंशदीपः—नै० ११।९५

२. अखानि सिन्धुः समपूरिगङ्गया कुलं किलास्य प्रसभं स भन्त्स्यते—नै० १२।८

३. नो ददासि यदि तत्त्वधियं मे यच्छमोहमपि तं रघुवीर।
येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मयं जगदपश्यदशेषम्॥ नै० २१।७०

धूलि से पाण्डु (धवल) वर्ण मानव देहधारी (विष्णु-व्यापक) आप पृथ्वी पर दुष्टों की खोज में घूमते हुए मानो अपने पिता विष्णु-यश का नाम सार्थक कर रहे थे, क्योंकि आपके रूप में मानों उनका धवल यश ही साक्षात् देह धारण कर सर्वत्र व्यापक बन रहा था।[1]" इससे कवि की कालक्रम के प्रति असावधानी स्पष्ट प्रतीत होती है।

पर यह भी दोषाभास ही है। पुराणों में विष्णु के ये ही अवतार इन्हीं नामों से ब्राह्म, पाद्म, वाराह आदि कल्पों में बार बार हुए बताए गए हैं। अतः अवतार रूप से राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि नित्य-विग्रहों की स्तुति में कालक्रम के विपर्यय का कोई दोष नहीं होता। और अवतार रूप में स्तुति करते समय उस अवतार के चरितों का गान भी उसी प्रकार 'नित्य चरित' के रूप 'कालानवच्छिन्न' ही माना जायगा। किन्तु एक मनुष्य के रूप में इनका चरितोल्लेख करते समय कवि को ऐतिहासिक दृष्टि रखनी पड़ेगी। सेतु बाँधना मानुष कर्म है और एक कालावच्छिन्न व्यक्ति से संबद्ध है। अतः यथाभूतवर्णन करने वाले कवि को इसमें पूर्वापरता की ऐतिहासिक दृष्टि होनी ही चाहिए, अस्तु।

---

१. देहिनेव यशस्या भ्रमतोर्व्यां पाण्डुरेण रणरेणुभिरुच्चैः।
विष्णुना जनयितुर्भवताभून्नाम विष्णुयशसश्च सदर्थम्॥ नै० २१।९२

नवम अध्याय

काव्य-सौन्दर्य अथवा अलङ्कार

श्रीहर्ष के समय तक रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि आदि वादों की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यद्यपि भामह, दण्डी, उद्भट के अलङ्कार-वाद एवं वामन के रीतिवाद, अलङ्कारवादी कुन्तक के वक्रोक्तिवाद, आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद का क्षेत्र निर्धारित हो चुका था, किन्तु काव्य में चमत्कार के लिए वैदुष्य-प्रदर्शन वाले युग में कवियों ने तो अलङ्कार तथा वक्रोक्ति को अपनाया और काव्य-समालोचना के आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी अन्य आचार्यों ने ध्वनि एवं रस का झण्डा ऊंचा किया। कवि अप्रसिद्ध से अप्रसिद्ध अलङ्कारों की योजना करते, अतः उन्हें वैचित्र्य के पक्षपाती अलङ्कारवादी आचार्यों के सिद्धान्त अधिक प्रिय लगते। भणिति-भङ्गी उनका प्रधान लक्ष्य होता था। वे उसी के लिए यत्न करते। यदि उसके द्वारा ध्वनि तथा रस की भी कुछ निष्पत्ति हो जाती तो भले हो जाय, परन्तु कवियों का उसके लिए न तो कोई प्रयत्न होता, न उनको कोई अपेक्षा। इसके फलस्वरूप ध्वनि एवं रसवादी आचार्यों को उत्तम काव्य के उदाहरणार्थ बहुत दूर के पूर्ववर्ती-कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण आदि—महाकवियों का आश्रय लेना पड़ता। उन्हीं के काव्यों से घुमाफिरा कर वे सभी उदाहरण देते। अलङ्कारवादी भामह, दण्डी, वामन ने काव्य-सौन्दर्य के लिए जिस वचन-भङ्गी अथवा वैचित्र्य का प्रस्ताव किया था, कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' द्वारा उसे सब प्रकार से पल्लवित किया।

भामह ने काव्य के लिए वक्रता को उपयोगी बताया है—वाणी को अलङ्कृत करने के लिए वक्रोक्ति को वाञ्छनीय[1] कहा है। उन्होंने अतिशयोक्ति की परिभाषा करते हुए उसे लोकाविक्रान्त-गोचर (लोकातिशायी) वचन[2] कहा है, और आगे इस अतिशयोक्ति का वक्रोक्ति के साथ एक-रूप्य स्थापित करते हुए कहा है कि इसी वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) के द्वारा अर्थ सुशोभित होता है, अतः कवि को इसे

---

१. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः—भामह का काव्यालंकार १।३६

२. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
सन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥ वही, २।८१

साधने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इसके विना अलङ्कार ही क्या ?[१] भामह वक्रोक्ति को कोई एक पृथक् अल ार नहीं मानते, अपितु एक ऐसी उक्ति-भङ्गी (शैली) मानते हैं, जो समस्त काव्य में आवश्यक होती है, चाहे वह गद्यरूप हो चाहे पद्य-रूप, और जो काव्य का एक प्रधान तत्त्व है।[२] सीधी वात को भामह कोई अलङ्कार नहीं मानते, क्योंकि उसमें वक्रता नहीं रहती। ऐसी वात को वे 'वार्ता' कहते हैं। इसीलिए उन्होंने 'हेतु', 'सूक्ष्म' तथा 'लेश' को अलङ्कार नहीं माना है।[३] अर्थात् भामह के मत से अतिशयोक्ति सारे अलङ्कारों का मूल है, जहाँ कुछ अतिशयोक्ति नहीं वहाँ कोई अलङ्कार नहीं।

दण्डी ने समस्त वाङमय (वचन-प्रकार) को ही दो भागों में विभक्त कर दिया है। उनके अनुसार स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति ये ही दो शैलियां हैं जिनके द्वारा भाव व्यक्त किया जाता है।[४] मनुष्य अपने भावों को या तो सीधे शब्दों में व्यक्त करता है, या कुछ भङ्गिमा के साथ। सौन्दर्य दोनों तरह की उक्तियों में रहता है। वस्तु-स्वभाव के वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं, तथा कुछ भी भङ्गिमा के साथ कही हुई वात सालंकार अथवा वक्रोक्ति कही जाती है। इसीलिए दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशी: आदि सीधी उक्तियों को भी अलङ्कार माना है। वक्रोक्ति में भी सौन्दर्य वढ़ाने वाला श्लेष होता है।[५] दण्डी ने वक्रोक्ति की चर्चा संसृष्टि (संकीर्ण) अलङ्कार के प्रकरण में की है। दूसरे शब्दों में हम दण्डी का मत इस प्रकार रख सकते हैं कि "जव वक्रोक्ति रहती है तव अलङ्कार सुशोभित होता है और जव श्लेष का संयोग होता है तव वक्रोक्ति और भी उत्कृष्ट हो जाती है।" साथ ही दण्डी ने भामह की भांति अतिशयोक्ति की व्यापकता को भी माना है। उन्होंने अतिशयोक्ति के प्रति महाकवियों की आदरभावना का उल्लेख करते हुए उसे अन्य अलङ्कारों का

---

१. सैषा सर्वत्रवक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यःकोऽलङ्कारोऽनयाविना॥ वही २।८५

२. युक्तंवक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते---वही १।३०

३. हेतुश्चसूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्तिवासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥ काव्या० २।८६-८७

४. भिन्नंद्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेतिवाङमयम्---काव्यादर्श० २।३६३

५. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्---काव्यादर्श० २।३६३

परमाश्रय बताया है[1]—वामन ने तो वक्रोक्ति को एक विशेष अर्थालङ्कार माना है[2] जो सादृश्य पर आधारित लक्षणा रूप होती है। किन्तु आचार्य कुन्तक ने इस वैचित्र्य वाद की प्रतिष्ठा बड़े समर्थ पाण्डित्य के साथ की। उन्होंने कवि के वक्र व्यापार (रचना-वैचित्र्य) से युक्त शब्दार्थ को काव्य माना। उनके मत से अलङ्कृत शब्दार्थ ही काव्य है।[3] कुन्तक ने सालंकार को ही काव्य माना है।[4] अलङ्कार को एक पृथक् वस्तु तथा काव्य को पृथक् वस्तु नहीं मानते। उनके मत से अलङ्कार का ही दूसरा नाम वक्रोक्ति है, जो दूसरे शब्दों में वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति (विचित्र ढंग से कही बात)[5] है। कुन्तक ने अलङ्कारों को केवल अभिधान-प्रकार-विशेष या, बात कहने का विशेष ढंग माना है।[6] उन्होंने सम्पूर्ण अलङ्कार-वर्ग को वक्रोक्ति का ही विभिन्न रूप माना है। वक्रोक्ति प्राण-रूप से सब में प्रवाहित रहती है। उनके मत से वाक्य-के अन्तर्गत ही समस्त अलङ्कार-वर्ग आ जाता है।[7] वक्रता के अभाव के कारण ही उन्होंने स्वभावोक्ति, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, उपमा, रूपक, तथा आशी: को अलङ्कार नहीं माना है। जो आलङ्कारिक स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते हैं उनके विषय में कुन्तक का यह कटाक्ष है कि यदि अलङ्कार्य को ही अलङ्कार मान लें तो फिर अलङ्कार किसका किया जायगा?[8]

कुन्तक ने यद्यपि अलङ्कार के साथ रस का उतना महत्त्व नहीं माना है किन्तु आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिपादित उस सिद्धान्त की वे एकदम उपेक्षा भी नहीं कर

---

१. अलङ्कारन्तराणामप्येकमाहुः परायणम्। वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्। काव्यादर्श० २।२२०

२. सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः—काव्यालङ्कार सूत्र ४।३।८

३. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्—वक्रोक्तिजीवित १।७

४. सालङ्कारस्य काव्यता। तेन अलङ्कृतस्यकाव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति।— व० जी० १।६ तथा वृत्ति

५. वैदग्धभङ्गीभणिति—वक्रोतिजीवित १।१०

६. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ व० जी० १।१०

७. वाक्यस्यवक्रभावोन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति॥ व० जी० १।२०

८. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृति।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥ व० जी० १।११

सके। उन्होंने प्रबन्धों तथा प्रकरण वक्रता-सौन्दर्य में रस का प्राधान्य[1] स्वीकार किया है।

चमत्कार के विषय में भामह-कुन्तक के पूर्वोक्त मत से श्रीहर्ष पूर्ण सहमत समझ पड़ते हैं। उन्होंने नैषध में स्थान-स्थान पर अलङ्कार, रस, ध्वनि के विषय में अपना निश्चित मत भी दे दिया है। लक्षणामूल-ध्वनि के 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य' भेद की ओर संकेत करते हुए उन्होंने ध्वनि मार्ग में वक्रोक्ति की प्रधानता स्वीकार की है—"अथवा निषेध रूप में यह तुम्हारी स्वीकृति ही है। तुम्हारी वाणी में वक्रता उचित ही है। जिसे ध्वनि का चमत्कार कहते हैं विदग्ध (चतुर) स्त्रियों का मुख उसका निधान होता है"[2] इस श्लोक द्वारा श्रीहर्ष ने बड़े कौशल के साथ अपने नैषध की रचना-शैली का भी परिचय दे दिया है। ध्यान से देखा जाय तो नैषध में प्रायः सर्वत्र विदग्ध (विदुषी) नारियों के ही मुख से कही हुई बातें हैं। सर्वप्रथम दमयन्ती की वचन-भङ्गी का दर्शन हंस के साथ, चन्द्रमदनोपालम्भ में, सखियों के साथ, देवदूतियों के साथ, तथा नल के साथ होता है। फिर पञ्चसर्गात्मक स्वयंवर-वर्णन (१०-१४) में विदग्ध सरस्वती की वचन-भङ्गी का चमत्कार है। बीसवें सर्ग में सखियों के हास-परिहास में भी थोड़ी वक्रता नहीं है। इक्कीसवें सर्ग के अन्त में शुक-सारिका-प्रलाप में भी नारी की ही विदग्धता है, और अन्त में सन्ध्या-चन्द्र-वर्णन में दमयन्ती की वचन-भङ्गी का वैभव देखने को मिलता है। श्रीहर्ष इसी वक्रोक्ति अलङ्कार के पूर्ण पक्षपाती समझ पड़ते हैं। चमत्कार-प्रदर्शन के लिए श्रीहर्ष ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया। नैषध की अतिशयोक्ति ठीक भामहोक्त ही है, जिसे वक्रोक्ति का पर्याय कह सकते हैं। किन्तु श्रीहर्ष ने उस अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल नहीं माना है, क्योंकि भणिति-भङ्गी के अभाव वाले, भामह-कुन्तक द्वारा अस्वीकृत स्वभावोक्ति, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशीः आदि अलङ्कारों का भी सौन्दर्य-प्राधान्य नैषध में पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है, और उन सरलोक्तियों (स्वभावोक्तियों) में काव्य-सौन्दर्य भी भरपूर है। श्रीहर्ष इस विषय में दण्डी के अनुयायी समझ पड़ते हैं। एक स्थान पर तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में श्लेष के कारण ही वचन-भङ्गी की उत्कृष्टता स्वीकार की है।

दमयन्ती सरस्वती की श्लेष रचना के विषय में अपने मन में कहती है—

"इनकी वाणी में कोई अद्भुत वक्रता थी (क्यों न हो) जो ये मूर्तिमती सरस्वती

---

१. एवमेषामहाकवि-प्रबन्धेषु प्रकरण-वक्रता-विच्छित्ती रसनिर्ष्यन्दिनी—वहीं

२. निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचिवक्रता।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकारः॥ नै० ९।१०

हीं ठहरीं। किस प्रकार श्लेष द्वारा (इनका) वर्णन कर के इन्द्र आदि देवों का आदर किया और विशेष रूप से मुझे नल का भी परिचय दे दिया।[1]"

ध्वनि के सभी भेदों के उदाहरण नैषध से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उत्तम काव्य वही है जिसमें वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य द्वारा अधिक चमत्कार प्रस्तुत किया जाय और उसी को ध्वनि काव्य भी कहते हैं।[2] उस व्यङ्ग्यार्थ में भी कभी अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य-भेद में वाच्यार्थ की कोई गन्ध भी नहीं रहती, और कभी अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य-भेद में वाच्यार्थ अपनी झलक दिखाता हुआ व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करता है। इन दोनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ के मूल में लक्षणा रहती है, जिसे लक्षणा-मूलक अथवा अविवक्षित-वाच्य ध्वनि कहते हैं।[3] नैषध में लक्षणामूलक 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य' ध्वनि नामक भेद का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दमयन्ती की दूत-नल के प्रति यह उक्ति है, "तुम्हें निश्चित (ध्रुव) ही जलाधिप (जड़ाधिप) ने आदेश दिया है, स्पष्ट (स्फुट) ही यमराज (परेतराज) ने भेजा है, निश्चित ही इन्द्र (मरुत्वान) ने भेजा है तथा अग्नि (ऊर्ध्वमुख) ने नियुक्त किया है।[4]"

यहाँ 'ध्रुवं', 'स्फुटं' तथा 'निश्चितं' शब्दों के कारण जलाधिप का 'मूर्ख-शिरोमणि, परेतराज का 'चेतनाहीन', मरुत्वान् का 'वातुल' तथा ऊर्ध्वमुख का (प्रतिभाहीन) अर्थ होगा जो क्रम से वरुण, यम, इन्द्र तथा अग्नि अर्थों के अनुपयोगी होने पर लिया जाने के कारण लक्षणामूलक 'अर्थान्तरसंङ्क्रमित-वाच्य' ध्वनि ही है।

एक और उदाहरण अनुपयुक्त न होगा। अन्तःपुर में पोषित शुक नवदम्पती को सम्बोधित करते हुए सखियों से कहता है—

"अतः परस्पर अनुरागवश आप दोनों की (होने वाली) विलास-क्रीडा की स्वतन्त्रता में घातक सखियां यहां से चली जायं। अन्यथा विना वस्त्र हटवाए, विना

---

१. सा भङ्गिरस्याः खलुवाचि कापि यद्भारती मूर्तिमतीयमेव।
शिलष्टं निगद्यादृत वासवादीन्विशिष्य मे नैषधमप्यवादीत्॥ नै० १४।१४

२. इदमुत्तममतिशयिनिव्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः॥—काव्यप्रकाश १।२

३. अविवक्षितवाच्यो यस्तत्रवाच्यं भवेद्ध्वनौ।
अर्थान्तरेसंक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥ वही ४।३९

४. जलाधिपस्त्वामादिशन्मयि ध्रुवं परेतराजः प्रजिघाय च स्फुटम्।
मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा॥ नै० ९।२३

दन्तनख के प्रयोग द्वारा युद्ध करवाए 'मदन' 'मदन' कैसे होगा?[1] यहां पर एक 'मदन' का अर्थ तो कामदेव है, और दूसरे 'मदन' का मादक।

वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कृत करना तो प्रायः काव्य का सहज धर्म रहा है। विना उसके कवि अपनी वाणी में वक्रता या चमत्कार ला ही नहीं सकता। इसके लिए कवियों ने सदा से खुल कर लक्षणा का उपयोग किया है। मूर्ख (वाहीक, जंगली मनुष्य) की मूर्खतातिशय का बोध कराने के लिए (गौर्वाहीकः कह कर) उसे बैल की उपाधि दी गयी।" आंखें बिछाना, आंखों में सावन-भादों छाना, कान का कच्चा होना, मन मारना, उदासी टपकना, बात पी जाना आदि ऐसी ही लाक्षणिक युक्तियां हैं, जो कवियों द्वारा प्रयुक्त होकर फिर साधारण बोलचाल में रूढ़ हो गयीं। अगोचर भावों को मनोरम स्थूलमूर्त रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय 'लक्षणा' शक्ति को ही प्राप्त है। और विश्व के कवियों ने इसका कृतज्ञ-भाव से उपयोग किया है। इसके द्वारा व्यञ्जित अर्थ प्रायः सर्व-साधारण के लिए अत्यन्त सुगम होता है। नैषध में लक्षणामूलक इस अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्यध्वनि के अगणित उदाहरण हैं। यहां केवल दिग्दर्शन रूप से कुछ ही स्थल प्रस्तुत किए जाते हैं। अपने काव्य के प्रथम पद्य के प्रथम पद में ही कवि ने इसका सुन्दर प्रदर्शन किया है—"जिस राजा की (जीवन-) कथा का पान कर बुधजन सुधा का भी उतना आदर नहीं करते।[2]" कथा का पान कर के, इस वाक्य में पान करके, इस क्रिया के विशेष रूप प्रकृति (पा, धातु) के द्वारा कथा के प्रति आदर, श्रद्धा, अभिरुचि आदि सारे भाव एक-साथ व्यक्त हो जाते हैं, जो सुन कर (श्रु धातु) के प्रयोग से कभी न होते।

एक दूसरा उदाहरण दमयन्ती के प्रति हंस की इस उक्ति में मिलता है—

"सुन्दरि, तुम निरन्तर चलने वाली नल की कल्पना पंक्तियों में बनी रहती हो। और जो वे अधिक (लम्बी) श्वासें लेते (बरसाते) हैं वह (तुम्हारे) ध्यान में तुममें लीन होकर।"[3]

---

१. अन्योन्यरागवशयोर्युवयोर्विलासस्वच्छन्दताच्छिदपयातु तदालिवर्गः।
अत्याजयन् सिचयमाजिमकारयन्वा दन्तैर्नखेश्च मदनो मदनः कथं स्यात्॥
नै० २१।१४०

यहाँ पर एक मदन का अर्थ तो कामदेव है और दूसरे की मदन कामादक।

२. निपीययस्यक्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि॥ नै० १।१

३. अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां संकल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान्स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतां तदाप्य॥ नै० ३।१०६

'श्वासों का बरसना' कहने से उन श्वासों के साथ आँखों में उमड़ने वाले आँसुओं का भी रूप सामने आ जाता है। श्वास सूखे नहीं निकलते, भीगे निकलते हैं।

एक अन्य उदाहरण अन्तःपुर में दमयन्ती के सौन्दर्य को देख कर नल की आँखों की चेष्टाओं के वर्णन में मिलता है।

"नल की आँखें सर्वप्रथम तो प्रिया के प्रत्येक अङ्ग में, फिर आनन्द-सुधा के सागर में, और फिर हर्ष के आँसुओं की धार में ही डूब गई।[1]"

यहाँ आखों के 'डूबने' में कितने भावों का व्यक्तीकरण है यह नल के हृदय को समझने वाले सहृदय स्वयं समझ सकते हैं।

अभिधामूलक ध्वनि के भी—व्यङ्ग्य का क्रम 'असंलक्ष्य अथवा संलक्ष्य' होने से दो भेद हैं।

व्यङ्ग्य रस, भाव, आदि की प्रतीति के समय असंलक्ष्य-क्रम रहता है। यद्यपि रस-प्रतीति के पूर्व विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का ज्ञान भी क्रम से ही होता है, तथापि यह सब कार्य इतनी शीघ्रता के साथ निष्पन्न होता है कि उनसे रसप्रतीति का क्रम लक्षित नहीं हो पाता। और विभावादि से रसादि सदा व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीत होते हैं, इसीलिए रसादि-ध्वनि को असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्यात्मक (व्यङ्ग्य ही) कहा जाता है। रस या भाव की प्रतीति कितने रूपों में हो सकती है इसकी कोई निश्चित सीमा न हो सकने के कारण 'रसादि' ध्वनि के असंख्य भेद हो सकते हैं। अतः आचार्यों ने कोई भेद विस्तार न करके एक ही (रसादि)[2] नाम से इसका काम चलाया है।

नैषध-गत असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का पूर्ण विवेचन रस-प्रकरण में किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनः विचार करना उपयुक्त नहीं है।

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम संलक्ष्य रहता है, वहां 'संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि' मानी जाती है। इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्ति-जन्य, अर्थ-शक्ति-जन्य, तथा शब्दार्थोभय-शक्ति-जन्य। इसमें व्यङ्ग्य का क्रम उसी प्रकार लक्ष्य होता है, जैसे घण्टा बजने के पश्चात् वीची-तरङ्ग-न्याय से उसका क्रमिक अनु-रणन देर तक सुनाई पड़ता है।[3]

---

१. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे ।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य॥ नै० ७।२

२. रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते। काव्यप्रकाश ४।५७

३. अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तुयः ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितोध्वनिः॥ का० प्रकाश ४।५२

शब्द की शक्ति द्वारा जिस ध्वनि या व्यङ्गयार्थ की प्रतीति होती है, वह दो प्रकार की मानी गयी है: १—वस्तु (भावार्थ) रूप तथा अलंकार रूप।[1] शब्दोत्थापित वस्तु रूप ध्वनि का सौन्दर्य दमयन्ती के सम्मुख हंस की इस लंबी डींग में द्रष्टव्य है—

"यदि तुम्हारा चित्त सागर की गोदी में वसी लङ्कापुरी का अभिलाषी है, अथवा किसी भी वस्तु में चलता है, तो तुम उसे अपने हाथ में ही पड़ी समझो।"[2]

यहाँ 'कुत्रापि' आदि शब्द-शक्ति के द्वारा "मैं तुम्हें नल प्राप्ति भी कराने में समर्थ हूँ।" यह वस्तु (भावार्थ) व्यङ्गय है।

दमयन्ती की हंस के सम्मुख इस दृढ़ प्रतिज्ञा में भी उसी ध्वनि का सौन्दर्य दिखायी पड़ता है। "मेरे पिता नल से अन्य के लिए शरीर-मात्र शेष मुझे अग्नि में ही क्यों नहीं हवन कर देते।"[3]

यहाँ "जुहोति" कहकर दमयन्ती "यदि पिता ने मुझे नल के अतिरिक्त किसी अन्य को दिया तो मुझे मरी ही समझें" इस भाव को व्यक्त करती है। इसी प्रकार अन्य अगणित उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

वाच्यार्थ-द्वारा व्यङ्गयार्थ का भान कई प्रकार से होता है। कभी सीधे वस्तु-स्वभाव द्वारा, जिसे 'स्वतः—सम्भवी' कहते हैं, कभी प्रौढ़ोक्ति द्वारा, और कभी कवि-निवद्ध-प्रौढोक्ति-द्वारा वस्तु तथा अलङ्कार के रूप में वाच्य अर्थ व्यञ्जक बनता है—और उस व्यञ्जक वस्तु द्वारा भी कभी वस्तु रूप, कभी अलङ्कार रूप तथा व्यंजक अलङ्कार द्वारा कभी वस्तु-रूप, कभी अलङ्कार-रूप व्यङ्गयार्थ समझ पड़ता है। इस तरह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के वारह भेद हो जाते हैं।[4]

नैषध में इस अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के वहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। यथा—स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु की ध्वनि, वरातियों के भोजन करते समय—

---

१. अलङ्कारोऽथ वस्त्वेवशब्दाद् यत्रावभाषते ।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवोद्विधा।। का० प्र० ४।५२

२. पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कालङ्कापुरीमप्यभिलाषिचित्तम् ।
कुत्रापि चेद् वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु।। नै० ३।६६

३. अनैषधायैव जुहोति तातः किं मा कृशानौ न शरीरशेषाम्।। नै० ३।७९

४. अर्थशक्त्युद्भवोप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवीस्वतः।
प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धोवाकवेस्तेनोम्भितस्यवा।।
वस्तु वालङ्कृतिर्वेतिषड् भेदोऽसौ व्यनक्ति यत्।
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।। का० प्र० ४।५४

किसी अनुरागी ने किसी सखी को मुस्करा कर देखा। सखी ने मुंह फेर लिया। इस पर उसकी दूसरी सहेली कहीं से शक्कर की एक गुड़िया वनाकर ले आयी और उस अनुरागी के हाथ में रख दिया।[१]

यहां सीधी घटना के वर्णन (स्वतःसम्भवी वस्तु) में—"मेरी सखी को आप शक्कर की वनी इस गुडिया की भांति ही अपने हाथ में समझिए"—यह वस्तु (भावार्थ) ध्वनित है।

कवि-निवद्ध-प्रौढ़ोक्तिसिद्ध-वस्तु द्वारा अलङ्कार की व्यञ्जना का एक यह उदाहरण सरस्वती के प्लक्षद्वीप-वर्णन में द्रष्टव्य है—

"जो सूर्य-भक्त होते हैं वे सूर्य के अतिरिक्त अन्य किसी देव में आस्था ही नहीं रखते और सूर्य को देखकर ही भोजन करते हैं, उसी प्रकार जो चन्द्र-भक्त होते हैं वे चन्द्रमा में विश्वास रखते हैं और चन्द्रमा को ही देखकर भोजन करते हैं। किन्तु उस प्लक्षद्वीप में जो चन्द्रभक्त होंगे उनका तो अमावस्या के दिन भी व्रत-भङ्ग नहीं होगा, क्योंकि तुम्हारा मुख-चन्द्र उन्हें दिखाई पड़ता रहेगा।[२]"

यहाँ अमावस्या में भी व्रत-भङ्ग न होगा इस वस्तु के द्वारा मुख में इन्दु की भ्रान्ति पर आधारित भ्रान्तिमान् अलङ्कार व्यञ्जित होता है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार-द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का एक सुन्दर उदाहरण अलङ्कृत दमयन्ती के स्वयंवर में प्रवेश करते समय के वर्णन में दिखाई पड़ता है—

"दमयन्ती के आभूषणरत्नों की निर्मल किरणें उसके परिधान को देदीप्यमान् कर रही थीं, तथा उसके देह में किए गए स्निग्ध पदार्थ एवं कृत्रिमोदक के लेप का अपनयन करने में सयत्न-सी थीं। उसके साथ उसकी सखियां ऐसी प्रतीत होती थीं मानो उस अलङ्कार-हीरकों की आभारूप जल में उसी के प्रतिविम्व हों।"[३]

यहां आभूषण की मणियों में सखियों के प्रतिविम्व के प्रति अपने प्रतिविम्व की उत्प्रेक्षा करके उसके द्वारा सखियाँ भी दमयन्ती के समान सुन्दरी थीं' यह वस्तु व्यञ्जित होती है।

---

१. विलोकिते रागितरेण सस्मितं ह्रियाथ वैमुख्यमिते सखीजने।
तदालिरानीय कुतोऽपि शार्करीं करे ददौ तस्य विहस्य पुत्रिकाम्॥ नै० १६।१०४

२. सूरं न सौर इव नेन्दुमवीक्ष्य तस्मिन् नाश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः।
तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव दर्शेऽश्नतोपि न भवत्यवकीर्णिभावः॥
नै० ११।७६

३. स्निग्धत्वमायाजललेपलोपसयत्नरत्नांशुभूजांशुकाभाम्।
नपथ्यहीरद्युतिवारिर्वातस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम्॥ नै० १०।९४

कवि-निबद्ध-प्रौढोक्ति-सिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-ध्वनि का एक उदाहरण स्वयंवर में कीकटाधिप के वर्णन-प्रसंग में सरस्वती की इस उक्ति में मिलता है—

"स्रष्टा का वह कान्ति का कोष जो असीम विश्व की रचना में भी न घटा था, इस राजा को नख से मुख-चन्द्र पर्यन्त बनाने में सारा ही रिक्त हो गया, तो क्या सम्पूर्ण प्रकाशमण्डल के व्यय हो जाने के कारण इन केशों की रचना प्रकाशाभाव में सुलभ घोर अन्धकार से की गयी है ?[1]"

यहाँ 'नख से मुख-पर्यन्त शरीर की रचना में ही विधाता के तेज का सारा कोष समाप्त हो गया, अतः तेज के अभाव में सुलभ घोर अन्धकार द्वारा ही क्या मानों इसके केशों की रचना की गई है ?' इस प्रकार के 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार से यह राजा अत्यन्त तेजस्वी और रूपवान् है, तथा इसके केश अत्यन्त काले एवं घने हैं' इस प्रकार की वस्तु व्यञ्जित होती है।

कवि-निबद्ध-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार-रूप ध्वनि का एक सुन्दर उदाहरण अन्तःपुर में प्रच्छन्न दूत नल द्वारा किए गए दमयन्ती के मुखश्री-वर्णन में देखा जाता है—

"दिन में सूर्य के भय से चन्द्रमा ने तथा रात्रि में चन्द्रमा के भय से कमल ने जब अपनी कान्ति दमयन्ती के मुखमण्डल में स्थापित कर दी तो उस समय उनमें (दिन में चन्द्रमा तथा रात्रि में कमल में) कोई शोभा न रही किन्तु दो में से एक न एक की शोभा से युक्त यह मुख-मण्डल कब रमणीय नहीं रहता ?[2]"

यहाँ दिन में सूर्य के भय से चन्द्रमा ने तथा रात्रि में चन्द्रमा के भय से कमल ने 'इस प्रकार यथासंख्य और चन्द्रकमल ने दमयन्ती के मुखमण्डल में अपनी अपनी कान्ति स्थापित कर दी' इस प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कारों की संसृष्टि के द्वारा 'चन्द्र और कमल में तो कभी-कभी ही शोभा रहती है, किन्तु दमयन्ती का मुख सदा सुशोभित रहता है' इस प्रकार का व्यतिरेक अलङ्कार व्यञ्जित होता है।

---

१. प्रागेष्ड्रपुरामुखेन्दु सृजतः स्रष्टुःसमस्तत्विषां,
कोषः शोषमगादगाधजगतीशिल्पेऽप्यनल्पायतः।
निःशेषद्युतिमण्डलव्ययवशादीषल्लभैरेष वा,
शेषः केशमयः किमन्धतमसस्तोमैस्ततो निर्मितः॥ नै० १२।९३

२. दिवारजन्यौ रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।
आस्ये यदास्या न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम्॥ नै० ७।५५

शब्दालङ्कार

श्रीहर्ष ने अलङ्कारों का प्रयोग अर्थ-पुष्टि के लिए किया है। शब्दालङ्कारों में उनको अनुप्रास और श्लेष सबसे अधिक प्रिय हैं। यमक का भी कहीं कहीं छींटा मिलता है, पर बहुत कम। शब्दालङ्कारों को श्रीहर्ष ने अर्थ में सौन्दर्य बढ़ाने के लिए ही प्रयुक्त किया है। अलङ्कार द्वारा शब्द-सौन्दर्य बढ़ाने का उन्होंने नैषध में प्रायः कहीं कोई प्रयत्न नहीं किया है। इसीलिए उन्होंने यमक, मुरज, सर्वतोभद्र आदि चित्रबन्धों का कोई आदर नहीं किया।[1]

नैषध के प्राचीन टीकाकार विद्याधर अलङ्कार का विवेचन करते समय, वैसे तो प्रायः रुद्रट के ही मत को अपनाते हैं, पर कभी-कभी रुय्यक (अलङ्कारसर्वस्व) तथा मम्मट (काव्यप्रकाश) का मत भी उद्धृत करते हैं। मल्लिनाथ ने तो दण्डी, मम्मट आदि सभी आचार्यों द्वारा विवेचित लक्षणों को लिया और स्थान-स्थान पर किसी न किसी का उदाहरण भी दिया। निर्णयसागर प्रेस-प्रकाशित नारायण की टीका 'नैषधप्रकाश' के सम्पादक, महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त ने टीकान्तरीय टिप्पणी में अलङ्कार पर प्रति-श्लोक केवल विद्याधर तथा मल्लिनाथ का मत उद्धृत किया है। और इन दोनों टीकाकारों में एक ही श्लोक के अलङ्कार के विषय में प्रायः मतभेद भी दिखायी पड़ता है। उदाहरणार्थ—दमयन्ती के सम्मुख नल की विरहदशा का चित्रण करते हुए हंस की—

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा॥

इस उक्ति में विद्याधर ने विकल्प अलङ्कार माना है, तथा मल्लिनाथ ने तुल्ययोगिता।[3]

---

१. श्रीहर्षैर्यमकमुरजसर्वतोभद्रप्रमुखान् बन्धान् अर्थापुष्टिकाननादृत्यार्थपुष्टिकरोऽनुप्रासाभिधशब्दालङ्कारः प्रायः प्रयुयुजे॥ (नैषध प्रथम श्लोक की चरित्रवर्धनकृत तिलक व्याख्या-नारायण द्वारा उद्धृत।)

२. नै० ३।१०८

३. अत्र विकल्पालङ्कारः। यदुक्तमलंकारसर्वस्वे (पृ० १९८) तुल्यबलविरोधो विकल्प (इति साहित्यविद्याधरी) अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनाक्षिचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगितालङ्कारः। प्रस्तुताप्रस्तुतानां च केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता' इति लक्षणात् इति जीवातुः। (नैषध प्रकाश व्याख्या में नारायण द्वारा समुद्धृत)।

वस्तुतः नैषध में प्रति-श्लोक अलङ्कारों की अद्भुत सुषमा है और नैषध के अलङ्कारों का विवेचन करने के लिए एक-एक श्लोक को क्रमशः लिया जाय तभी उचित विवेचन हो सकता है। किन्तु इस निबन्ध में उसका इस प्रकार से समावेश करना सर्वथा असम्भव होगा। अतः दिग्दर्शनमात्र के लिए पृथक्-पृथक् अलङ्कारों के एक-दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, और विवेचन करते समय विशेषतया मम्मट के लक्षणों का आधार लिया जाता है। क्योंकि मम्मट के समय तक ध्वनि, रीति, अलङ्कार आदि सम्प्रदायों का पूर्णविकास एवं विवेचन हो चुका था। फलतः काव्य-प्रकाश में हमें मम्मट के मौलिकप्राय विवेचन के साथ पूर्ववर्ती सभी मतों का समन्वित रूप देखने को मिलता है। यहां अन्य आचार्यों का भी मत आवश्यकतानसार रक्खा जायगा।

वक्रोक्ति

इस अध्याय के प्रारम्भ में वक्रोक्ति पर विस्तृत विचार किया जा चुका है। दण्डी ने जिस वक्र उक्ति में श्लेष के कारण और अधिक सौन्दर्य बढ़ने की चर्चा की थी, परवर्ती आचार्यों ने उसी वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार मानते हुए श्लेष अथवा काकु (कण्ठ-स्वर-परिवर्तन) द्वारा उसकी निष्पत्ति बताई और फलतः वक्रोक्ति का सम्भव वहीं रक्खा जहां दो व्यक्ति आपस में बात-चीत कर रहे हों। रुद्रट ने शब्दालङ्कारों में सर्वप्रथम वक्रोक्ति का वर्णन करते हुए उसका लक्षण दो रूप से किया है। एक श्लेष वक्रोक्ति दूसरा काकु वक्रोक्ति। उन्होंने श्लेष वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

"जहां वक्ता द्वारा कही बात की व्याख्या उत्तरदाता पदों को तोड़-मरोड़कर दूसरे ढंग से करता है, उसे श्लेष-वक्रोक्ति जाननी चाहिए।"[1]

तथा काकु-वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार लक्षित किया है—

"जहां एक विशेष प्रकार के स्वर के स्पष्ट प्रयोग द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वहां काकु-वक्रोक्ति होती है।"[2]

इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी शब्दालङ्कार प्रकरण के प्रारम्भ में ही वक्रोक्ति का यह लक्षण किया है—

---

१. वक्रातदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथातदुत्तरदः।
वचनं यत् पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥ रुद्रट—काव्यालंकार २।१४

२. विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतोभवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः॥ वही, २।१६

"जहाँ वक्ता के किसी अन्य तात्पर्य से कहे गए वाक्य को सुननेवाला श्लेष अथवा काकु रूप ध्वनि-विकार द्वारा किसी अन्य अभिप्राय में जोड़ दे वहां वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार श्लेष और काकु भेद से दो प्रकार का होता है।"[१]

नैषध में काकु-वक्रोक्ति तथा श्लेष-वक्रोक्ति दोनों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। चतुर्थ सर्ग में बिरह-तप्त दमयन्ती और सखियों के संलाप में काकु तथा श्लेष उभय-जनित वक्रोक्ति दिखायी पड़ती है। उसमें से काकु-वक्रोक्ति के केवल तीन उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं।

सखी की उक्ति है—

"सुन्दरि, विपत्ति में अपनी सहज धीरता के द्वारा इस निष्करुण कुसुम-शर (काम) से अपने प्राणों को बचाओ।"[२]

इस पर दमयन्ती उत्तर देती है—

"आज मेरे प्राण ही तो विरोधी हो रहे हैं, फिर सखि, तुम (न जाने) क्यों मुझे 'शत्रुओं की रक्षा' करने को कहती हो।" यहां सखी दमयन्ती के जिन प्राणों का इष्ट पदार्थ के रूप से उल्लेख करती है, दमयन्ती अपने उपेक्षात्मक कण्ठस्वर के द्वारा उन्हें ही अपना शत्रु और उनकी रक्षा को आश्चर्य का विषय बताती है।[३]

२. फिर जब सखी कहती है—

"सुन्दरि, धैर्य-धारण करो। अकारण-भय छोड़ो (देख) यह शीतांशु उदय हो रहा है।"[४]

तो दमयन्ती उत्तर देती है—

"यह आतपरूप (कड़ी धूपकी) चिनगारियों से स्पष्ट जला रहा है (जो चण्ड-मरीचि सूर्य का कार्य है)। सखि, तू मेरे इस प्रत्यक्ष अनुभव को अपनी (उस मेरे अनुभव के विपरीत अचण्ड-मरीच चन्द्र के झूठे प्रसङ्ग की) बात से उड़ा रही है।"[५]

३. इसी प्रसङ्ग में काकु का एक और उदाहरण देना अरुचिकर न होगा—

---

१. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ का० प्र० ९।१०३

२. अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयापदि धीरतयात्मनः ॥ नै० ४।१०२ पूर्वार्द्ध

३. असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन्सखि रक्षितुमात्थ माम् ॥ वही, उत्तरार्द्ध

४. व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति ॥ नै० ४।१०५ पूर्वार्द्ध

५. ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभवं वचसा सखि! लुम्पसि ॥ नै० ४।१०५ उत्तरार्द्ध

सखी के शपथ-पूर्वक कहने पर कि—'प्रिये, तेरे हृदय की शपथ, यदि तुझ पर चन्द्रमा की दीप्ति पड़ रही हो।'[1]

दमयन्ती उत्तर देती है—

"हां सखि, 'यह चन्द्र-ज्योत्स्ना (पड़ने) का ही फल तो दीख रहा है कि वह त्वचा को जला रही है और प्राणों को जड़से उखाड़ रही है।"[2]

इसी प्रसङ्ग में श्लेष-वक्रोक्ति का भी अतिमनोरम रूप देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए ये दो स्थल पर्याप्त होंगे—

१. सखी की उक्ति है—

"अरे, वैदर्भी यह अमृतांशु (चन्द्र) है, इसकी किरणों से तुझे ताप क्यों हो रहा है।"[3]

इस पर दमयन्ती उत्तर देती है—

"सखि, इस शशाङ्क (कलङ्की) की किरणें यदि मृत होतीं तो परिताप ही क्यों होता।" (अर्थात्—इसकी दीधिति के अमृत (अमर) होने के कारण ही तो ताप है।)[4]

यहाँ अमृत का अर्थ सखी ने 'सुधा' रक्खा था किन्तु दमयन्ती ने 'न मरी हुई लिया।'

"दमयन्ती, देखो मदन की गर्मी के कारण हार की मणि के फट जाने से आज तुम्हारा हृदय-देश (वक्षस्थल) अनलंकृत (अलंकारहीन, नलहीन) हो गया है।"[5]

उस समय दमयन्ती अत्यन्त निराश उच्छ्वास लेती हुई कहती है—

"अरे सखि, यदि प्रियतम मेरे हृदय से दूर हट गए (ओझल हो गए), तब तो मैं मर ही गयी।"[6]

यहाँ 'अनलङ्कृत' पद का सखी के अनुसार 'अ-भूषित' अर्थ होगा परन्तु दमयन्ती के अनुसार सभङ्ग-श्लेषद्वारा 'अनलम्' का अर्थ विना नल का और 'कृतम्' का 'कर दिया गया' होगा।

---

१. अयि! शपे हृदयाय तवैव तद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः॥ नै० ४।१०६ पूर्वार्द्ध
२. रुचिफलं सखि! दृश्यत एव तज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून्॥ नै०४।१०६उत्त०
३. अमृतदीधितिरेष विदर्भजे! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः॥ ४।१०४ पूर्वार्द्ध
४. यदि भवन्ति मृताः सखि! चन्द्रिकाः शशभृतः क्व तदा परितप्यते। वही, उत्तरार्द्ध
५. स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते॥ नै० ४।१०९ पूर्वार्द्ध
६. सखि! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः॥ नै०४।१०९उत्त०

श्लेष-काकु-उभय-प्रयुक्त वक्रोक्ति के कई चमत्कार-पूर्ण उदाहरण सत्तरहवें सर्ग में देव-कलि के वाक्कलह में मिलते हैं। इन्द्र कलि से कहते हैं :—

"कले, जब उस (दमयन्ती) ने नल को ही वर लिया तो तुम्हारा (वहां) न जाना ही उचित है। (तब) इस तरह इतने तेज विमान पर दौड़ने से भी अब क्या हो सकता है?" उन्हीं शब्दों में कलि भी इन्द्र को उत्तर वक्रोक्ति के द्वारा देता है। उसका अर्थ इस प्रकार होगा—"दमयन्ती ने जब नलको ही वर लिया तो देवराज, इन्द्राणी इत्यादि को मुँह दिखाने फिर आप का (स्वर्ग को) लौटकर न जाना ही उचित है। अथवा क्या आपका इस प्रकार का लौट आना ही उचित था? अब इस (मुखमुद्रा से प्रकट) मान-रहित छिपाव से भरे उद्वेग से क्या लाभ होगा?[1]"

यहां श्लोक के प्रथमार्द्ध का प्रायः एक ही अर्थ है, जिसे काकु के सहारे दोनों एक दूसरे के प्रति कहते हैं। किन्तु द्वितीयार्द्ध का सभङ्गश्लेष के सहारे दोनों ने दो प्रकार का अर्थ किया। वहाँ इन्द्र 'उद्वेग' का प्रयोग शीघ्रगामी और 'विमान' का व्योमयान के अर्थ में करते हैं, परन्तु कलि इन शब्दों का क्रम से 'निर्वेद' और 'स्वाभिमान-रहित' अर्थ लेता हुआ उत्तर देता है। इन्द्र के शब्दों में 'अनेनापि धावता' का अर्थ इस दौड़ने वाले से भी है, किन्तु कलि के शब्दों में (अपिधा-वता तिरोधानवता अनेन)' 'इस छिपाए हुए से' आदि होगा। इसी प्रकार अग्नि, यम, और वरुण के साथ वाक्कलह में भी वक्रोक्ति का कौशल देखा जा सकता है।[2]

अन्त में श्लेष-वक्रोक्ति का एक और उदाहरण देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं। वन्दीजन प्रभात-वर्णन के प्रसङ्ग में सूर्य के प्रति ऐसी उक्ति सुनाते हैं, जो सज्जनों के मुंह से सूर्य की स्तुति, किन्तु दुर्जनों के मुंह से निन्दा प्रतीत होगी। वन्दीजन कहते हैं—

"सूर्य की सज्जनों ने बड़ी स्तुति की है, पर दुर्जन लोग जब उनकी भी निन्दा करते हैं तो हम वन्दियों को कौन नीच न हँसेगा? सज्जनों ने सूर्य की इस प्रकार प्रशंसा की है—भगवान् भास्कर की किरणें (चरण) अत्यन्त मनोरम हैं। सारथी अरुणकी प्रभा से उनका रथ दीप्तिमान् है—अथवा—सूर्य की अपनी ही महती प्रभा से रथ दीप्तिमान् रहता है। शनि और यम दो पुत्रों को सूर्य देव

---

१. तवागमनमेवार्हं वैरसेनौ तया वृते।
उद्वेगेन विमानेन किमनेनापि धावता॥ नै० १७।१५४

२. नै० १७।१५५-५७

ने लोक-रक्षा के लिए उत्पन्न किया—दुष्टों को दण्ड देना इन दोनों पुत्रों का काम है। चक्रवाकों पर सूर्य देव बड़े दयालु हैं, तथा विश्व भर के नेत्रों को प्रिय हैं।"

"दुर्जनों ने उन्हीं शब्दों में सूर्य की इस प्रकार निन्दा की है। सूर्य में केवल ताप ही है। विश्वकर्मा ने उन्हें चरण-रहित ही बनाया है। सारथि की जांघे ही नहीं हैं। शनि और यम दो लायक पूत हैं, जिनसे बढ़कर संसार की रक्षा करने वाला क्या कोई मिलेगा? विश्व में त्राहि की पुकार इन्हीं दो के भय से तो उठ रही है। सूर्य की कृपा भी हुई तो चिड़ियों (चक्रवाकों) पर। अपनी प्रखर किरणों से आंख फोड़ डालते हैं और लोग कहते हैं सूर्य आंखों का प्यारा है।[1]"

अनुप्रास

वर्णों (अक्षरों) की समता को अनुप्रास कहते हैं।[2] शब्दालङ्कारों में श्रीहर्ष को अनुप्रास अलङ्कार सबसे अधिक प्रिय है। अनुप्रास में भी उन्हें शब्द के अन्तिम वर्णों की समता अधिक प्रिय है, जैसा उन्हीं के इन शब्दों से स्पष्ट है—

"'शब्दों में आदि तथा अन्त के वर्णों के समान होने पर भी अनुप्रास अलङ्कार अन्तिम वर्णों में (अन्त्यानुप्रास) अधिक प्रिय लगता है।[3]"

इसी श्लोकार्ध के प्रथम समस्त पद में 'म' द्वारा छेकानुप्रास का तथा अन्तिम चरण में 'स' द्वारा वृत्त्यनुप्रास का सौन्दर्य देखा जा सकता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि श्रीहर्ष शब्दों के प्रथम या मध्य वर्ण में अनुप्रास आने ही नहीं देते। उनके "अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली"[4] इत्यादि पद्यों में 'म' तथा 'श' इत्यादि का अनुप्रास प्रथम वर्णों में ही देखा जा सकता है। इसी प्रकार "निमेष-यन्त्रेण किमेष क्रुष्टः' में 'म' का अनुप्रास मध्य वर्णों में भी दिखाई पड़ता है।

---

१. रुचिरचरणः सूतोरुश्रीस्वनाथरथः शनिं
शमनमपि स त्रातुं लोकानसूत सुताविति।
रथपदकृपासिन्धुर्बन्धुर्दृशामपि दुर्जनै-
र्यदुपहसितो भास्वान्नास्मान् हसिष्यति कः खलः॥ नै० १९।४७

२. वर्णसाम्यमनुप्रासः॥ का० प्र० ९।७९

३. प्रथमचरमयोर्वा शब्दयोर्वर्णसख्ये विलसति चरमेनुप्रासभासां विलासः॥
नै० १३।५४

४. नै० ७।९६

अनुप्रास के प्रयोग में श्रीहर्ष प्रायः ब, व, श, ष, न, ण तथा य, ज में भेद नहीं करते। इसे श्रुत्युनप्रास भी कहते हैं। उदाहरण के लिये कुछ स्थल यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

१. कुलं सुधांशोर्वहलं वहन् वहु॥ नै० १।११०
२. स्मरहरः किममुं वुभुजे विभुः॥ नै० ४।६०
३. स विलोक्य वालाम्॥ ६।१३
४. संविभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत्॥ नै० ७।१००
५. पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म॥ नै० ८।३३
६. निश्चित्य शेषं तमसी नरेशम्॥ नै० १४।१३
७. श्वसनात्स्वस्यशीघ्रत्वं रथैरेषामिवाकथि॥ नै० १७।४
८. न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्॥ नै० २।४८

छेकानुप्रास के कुछ उदाहरण ये हैं—

१—कल्याणि कल्यानि तवाङ्गकानि कच्चित्तमां चित्तमनाविलं ते।
अलं विलम्वेन गिरं मदीयामाकर्णयाकर्णतटायताक्षि॥[1]

२—भ्रमामि ते भैमि! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कत्यदः।
अपामपाकृत्यमनाक्कुरुस्फुटं कृतार्थनीयः कतमः सुरोत्तमः॥[2]

वृत्यनुप्रास के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

१—ईशाणिमैवर्श्यविवर्तमध्ये! लोकेश लोकेशयलोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम्॥[3]

२—स्वयं सोऽयं सायंतनविधिविधित्सुर्बहिरभूत्।[4]

३—यद्वीक्ष्य दूरादिव विभ्यतः स्वानश्वान् गृहीत्वापसृतो विवस्वान्॥[5]

श्रीहर्ष अन्त्यानुप्रास के भी विशेष अनुरागी समझ पड़ते हैं। नैषध में इसके अनेक स्थल मिलते हैं। उदाहरणार्थं कुछ स्थल-विशेष उद्धृत किए जाते हैं—

१. धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या। नै० ३।१५
२. अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुःसुगन्धिः स्वदते तुषारा॥ नै० ३।९३
३. तं कापि मेज्ने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या॥ नै० ६।६

---

१. नै० ८।५७
२. नै० ९।५१
३. नै० ३।६४
४. नै० २१।१६२
५. नै० २२।२७

४. जातौ न वित्ते न गुणेन कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः ॥ नै० १०।१३
५. मध्येसभं सावततार वाला गन्धर्व-विद्याधरकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा॥ नै० १०।७४

यमक

जहाँ अर्थ रहते हुए भी भिन्न अर्थ वाले वे ही वर्ण फिर से वैसे ही सुनाई पड़ें, वहाँ यमक अलङ्कार माना जाता है।[1]

आवृत्ति-क्रम की व्यवस्था के अनुसार यमक अलङ्कार अनेक प्रकार का होता है। उनमें से एक प्रकार सन्दष्टक है, जिसमें श्लोक के द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में यमक रहता है। श्रीहर्ष ने इस यमक का अनेक स्थलों में प्रयोग किया है। यथा—

१—अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम्।
स विलासवने वनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसाल-संगतम्॥[2]

२—नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरं क्षुपं नगम्।
स ददर्श पतङ्ग-पुङ्गवो विटपच्छन्न-तरक्षु-पन्नगम्॥[3]

३—न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम्।
न स गोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचारुतम्॥[4]

४—अथभीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपम सौध-राजिता॥[5]

५—तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानां च नभो जयन्तीम्।
आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि महीभुजःकस्य न भोजयन्तीम्॥[6]

यमक के प्रयोग में भी श्रीहर्ष ने श, ष, स में प्रायः कोई भेद नहीं किया है। कुछ स्थल उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जाते हैं:—

१. स राशिरासीन् महसा महोज्ज्वलः॥ नै० १।१
२. अमी ततस्तस्य विभूषितं सितम्॥ नै० १।५७

---

१. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः—यमकम्॥ का० प्र० ९।११७
२. नै० २।६६
३. नै० २।६७
४. नै० २।७२
५. नै० २।७३
६. नै० १०।१०६

३. अयोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता॥ नै० १।१००

४. सखा: सखाय: स्रवदश्रवो मम॥ नै० १।१३६

५. वालामभाषत सभासततप्रगल्भा॥ नै० ११।१६

६. नाश्नाति स्नाति हा मोहात्॥ नै० १७।४१

७. मौन मानशे मानसेवनी॥ नै० २०।१३

८. विस्राणि विश्राणितवान् पितृभ्यः॥ नै० २२।५०

उसी प्रकार ज, य तथा ण, न में कभी-कभी अभेद कर दिया है। जैसे—

१. मनस्तु यं नोज्झतु जातु यातु॥ नै० ३।५९

२. मनुष्य-जन्मन्यपि यन्मनोजने॥ नै० ९।३४

३. स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवैः॥ नै० १२।२

श्लेष

श्रीहर्ष ने काव्य-चमत्कार के लिए श्लेष का अत्यधिक प्रयोग किया है। जहाँ कहीं भी उन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का विलास दिखाना चाहा वहाँ श्लेष का प्रधान आश्रय लिया। श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती दण्डी, सुवन्धु, वाण, त्रिविक्रम आदि महाकवियों के रचना-कौशल का श्रेय उनकी श्लेष-पटुता को ही है। श्लेष दो प्रकार का होता है—(१) शब्दगत (२) अर्थगत।[१] जहाँ किसी शब्दविशेष के कारण से एक से अधिक अर्थ निकलें, तथा उस शब्द के हटजाने पर उसके पर्याय-वाची अन्य शब्द के रखने से वे अर्थ न निकलें, वहाँ शब्द-श्लेष होता है। इस अलङ्कार में एक ही उच्चारण के विषय होकर शब्द, वाच्य अर्थ के भेद के कारण, भिन्न-भिन्न होकर भी अपने भिन्न स्वरूप को छिपाते हैं। अतएव इसे श्लेष अलङ्कार कहते हैं।[२] और जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ निकलें वहाँ अर्थ-श्लेष होता है।[३] श्लिष्ट पदों को रखते समय वहाँ स्वयं कवि को अनेक अर्थ अभीष्ट रहते हैं। इसी-लिए आचार्य दण्डी ने अनेकार्थ वाले श्लिष्ट वचन का विशेषण 'इष्ट' रक्खा है।[४]

---

१. श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥ रुद्रट—काव्यालङ्कार २।१३

२. वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः। श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ॥ का० प्र० ९।११९

३. श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्॥ का० प्र० १०।१४७

४. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः॥ काव्यादर्श २।३१०

वे अनेक अर्थ कभी उसी समूचे पद से कभी उसे तोड़-मरोड़ कर निकाले जाते हैं। अत: शब्दश्लेष के अभिन्नपद तथा भिन्नपद दो भेद हो जाते हैं।[1] इन्हीं दो को बाद के आचार्यों ने तीन भेद मान लिया—अभङ्ग, सभङ्ग तथा उभयात्म।[2]

अभङ्ग श्लेष के अनेक सुन्दर स्थल नैषध में मिलते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।[3] कुण्डिनपुर के वर्णन-प्रसंग में श्रीहर्ष कहते हैं--

"जहाँ मर्यादाशील समस्तवर्ण (ब्राह्मण आदि जाति अथवा हरित पीत आदि रंग) हों, वह नगरी चित्रमयी (आश्चर्यमयी अथवा रंग-विरंगी) क्यों न हो? जहाँ अनेक मुख शब्द कर रहे हों, वहाँ विभिन्न स्वरभेद क्यों न हों?"

यहाँ स्थिति, वर्ण, चित्र, स्वरभेद तथा अनल्पमुख शब्दों में अभङ्गश्लेष है।

दमयन्ती दूतरूप नल से पूछती हैं--

"वह कौन सा वंश है जो तमोविनाशक आप ऐसे नायक-रत्न को धारण किए हुए है?[4]"

यहाँ वंश (कुल, बाँस) तमोपह (शोकनाशक, अन्धकारनाशक) तथा नायक-रत्न (श्रेष्ठपुरुष, हार के वीच का बड़ा रत्न) शब्दों में अभङ्गपदश्लेष है।

'स्वयंवर सभा में नल से अपना कपटपूर्ण परिचय देते हुए देवगण कहते हैं—"जो आप के सौन्दर्य को स्वयं देखकर भी हम मूर्खता में पड़े बैठे हैं इससे हमारी इस दुराशाधीनता को धिक्कार है, तथा हमारे इस विबुधत्व को धिक्कार है।[5]"

यहाँ अधिगत्य (जानकर, लेकर) आशापतिता (आशा में पड़े हुए, दिशाओं के स्वामित्व) तथा विबुधत्व (देवत्व, पण्डितत्व) में अभङ्गपदश्लेष है।

'स्वयंवर-मण्डप में ही दमयन्ती ने वैशद्य के कारण हृदयहारी, मृदुता के कारण अभिराम, आमोदजनक, गीतियुक्त षट्पदों से युक्त तथा जाति (मालती अथवा जातिवर्ग) आदि छन्दों से पूर्ण नवीन स्तुतिश्लोक रूपी पुष्पस्तबकों से उन देवों की अर्चना[6] की।

---

१. तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा॥ वही, २।३१०

२. पुनस्त्रिधा सभङ्गोथाभङ्गस्तदुभयात्मकः॥ सा० द० १०।१२

३. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा॥ नै० २।९८

४. बिभर्ति वंशः कतमस्तमोपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम्॥ नै० ९।६

५. असाम यन्नाम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः।
तन्नो धिगाशापतितान्नरेन्द्र! धिक्चेदसस्मद्विबुधत्वमस्तु॥ नै० १०।४८

६. वैशद्यहृद्यैर्म्रदिमाभिरामैरामोदिभिस्तानथ जाति-जातैः।
आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तव-प्रसून-स्तबकैर्नवीनैः॥ नै० १४।६

यहाँ वैशद्य (स्पष्टता, श्वेतता, शुभ्रता), आमोदि (हर्षजनक, सुगन्धित), जाति (छन्द, मालती पुष्प), षट्पद (६ पाद वाले श्लोक या छप्पय तथा भ्रमर) पदों में अभङ्गश्लेष अलंकार हैं।

अभङ्ग की अपेक्षा सभङ्ग-श्लेष-रचना में अधिक चमत्कार अपेक्षित होता है। त्रिविक्रम ने विनय-निगूढ़ गर्व के साथ अपनी सभङ्गश्लेष-रचना को "बाहुओं से तैर कर समुद्र पार करने के समान एक दुष्कर कार्य" बताया है[1]—

श्रीहर्ष के अभङ्ग श्लेष की अपेक्षा सभङ्ग में अधिक सौन्दर्य है। उदाहरण के लिए—दमयन्ती हंस से कहती है—"कौन सी निर्लज्ज स्त्री द्विजराज-पाणिग्रह की अभिलाषा कहेगी।[2]"

यहाँ 'द्विजराज-पाणिग्रह' पद के (१) द्विजराज (चन्द्रमा) को हाथ से पकड़ना (२) हे द्विज (हंस) राजा के साथ विवाह (३) हे द्विजराज (हंस) अपने विवाह, आदि अनेक अर्थ निकलते हैं। आगे हंस से दमयन्ती की ही उक्ति है—

"मेरा चित्त—नल को चाहता है, इसे और कहीं अन्यत्र इसकी अभिलाषा नहीं है।[3]"

यहाँ 'नलं कामयते' पद के (१) नल को चाहता है (२) लंका नहीं जाता, आदि अर्थ सभङ्ग श्लेष द्वारा निकलते हैं।

नैषध में अनेक श्लोक ऐसे हैं जहाँ अभङ्ग-सभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेषों का सौन्दर्य देखने को मिलता है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) नल के प्रति दमयन्ती के मन के प्रथम आकर्षण का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—

"जिस प्रकार सर्प-भक्षक गरुड़ द्वारा कुमार प्रद्युम्न बाणासुर के अग्नि-परिवेष्टित भवन में बलात् प्रविष्ट हुए थे, उसी प्रकार भोगशील यौवन ने वैदर्भी के नलविशिष्ट मन में मदन का प्रवेश कराया।[4]"

यहाँ यथोह्यमानः (१—यथा + उह्यमान) जिस प्रकार वहन करने पर: २—यथा + ऊह्यमान, जिस प्रकार विचार करने पर; (तथा मनो नलावरुद्धं) मनो

---

१. भङ्गश्लेष-कथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया।
दुर्गस्तरीतुमारब्धोबाहुभ्यामम्भसां पतिः॥ नलचम्पू १।२२

२. का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा॥ नै० ३।५९

३. चेतो नलङ्कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्॥ नै० ३।६७

४. यथोह्यमानः खलुभोगभोजिना प्रसह्यवैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥ नै० १।३२

+अनलावरुद्ध २—मनो+नलावरुद्ध) में सभङ्गश्लेष और भोगभोजिना (१—भोग—सर्प का शरीर खाने वाला, २—भोग (सुख) भोगनेवाला;) एवं वयसा (१—पक्षी द्वारा, २—अवस्था द्वारा) में अभङ्गश्लेष है।

२. अन्तःपुर में दमयन्ती-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए नल कहते हैं—

"मैं इसके विषय में मुनियों को भी मोहित हुआ समझता हूँ। अथवा मुझे इसमें मुनियों के वर्तमान होने का भ्रम होता है, जैसे—इसके कुचरूपी पर्वत पर महामुनि भृगु निवास करते हैं, इसका मुख नारद को आनन्द देता है, तथा महाभारत का निर्माण करने वाले व्यास ने इस सुन्दरी की जङ्घा का आश्रय लिया है। अथवा इसके कुच, पर्वतों का प्रान्तभाग प्रपात तुल्य है, अनेक सुन्दर दांतों से युक्त मुख आनन्ददायी है, तथा जङ्घाएं अत्यन्त सुरत-योग्य विस्तार वाली हैं।[1]"

यहाँ भृगु (१—भृगुमुनि २—प्रपात) एवं शैल (१—पर्वत २—स्वभाव) में अभङ्गश्लेष तथा नानारदाह्लादि (१—नारद को आह्लाद देने वाला २—अनेक सुन्दर दांतों के कारण आनन्दप्रद) एवं महाभारत—सर्गयोग्य (१—महाभारत की रचना में समर्थ २—सुरतयोग्य) में सभङ्ग श्लेष का सौन्दर्य ह।

३. स्वयंवर में नल-रूप धारण कर बैठे हुए देव-गण दमयन्ती के रूप की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

"यह अपनी मुस्कान से गौरी है, अपने नेत्रों से हरिणी, मधुरकण्ठश्री से वीणावती, देहकान्ति से हैमा तथा शेष अङ्गों से सुन्दरी मेनका ही समझ पड़ती है।[2]

यहां गौरी (१—गौरी अप्सरा अथवा पार्वती २—गौर प्रभावाली) हरिणी (१—एक अप्सरा २—मृगी) वीणावती (१—एक अप्सरा २—वीणा धारण किए हुए) हैमा (१—एक अप्सरा २—स्वर्ण कान्ति मय) में अभङ्ग श्लेष है। मेनकापि (१—मेनका अप्सरा भी २—मुझे कोई नहीं) में सभङ्ग श्लेष हैं।

श्लेष का अत्यन्त प्रौढ़ रूप स्वयंवर में बैठे पांच नलों के परिचय में दिखाई पड़ता है। प्रत्येक के परिचय में अनेक श्लोक कहे गये हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक का एक-एक श्लोक उद्धृत किया जाता है।

इन्द्र का परिचय देती हुई दमयन्ती किस युक्ति के साथ इन्द्र नल दोनों का परिचय दे डालती हैं—

---

१. अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादिमुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्ग-योग्यः॥ नै० ७।९६

२. स्मितेन गौरी हरिणीदृशेयं वीणावती सुस्वरकण्ठभासा।
हेमेव कायप्रभयाङ्गशेषैस्तन्वीमतिक्रामति मनकापि॥ नै० १०।१३४

इन्द्र-पक्ष में—"सुन्दरि, वल नामक शत्रु के विजयी पराक्रम वाले इनकी वीर सेना के सामर्थ्य का मैं क्या वर्णन करूं। स्वयं भगवान् गजवदन तथा विष्णु इनकी सेना में सैनिक के रूप में रहते हैं। तभी तो इनका रण-पराक्रम दानवों को भयभीत किए हुए है।"

नल-पक्ष में—"सुन्दरि, मैं यह क्या कहूँ कि ये महाराज वीरसेन के पुत्र हैं। इन्होंने अपने पौरुष से सदा शत्रु-सैन्य की विजय की है, और रण-भूमि इनके सैन्य गजों के मद-जल की सुगन्ध से सुगन्धित हो उठती है।[1]"

यहाँ वीरसेनोद्भूति (१—वीरों की सेना का सामर्थ्य, वीरसेन नामक राजा से उत्पत्ति) द्विषद्वल-विजित्वर-पौरुषस्य (१—शत्रु वल नामक दैत्य के विजेता-पराक्रम वाले २—शत्रुसेना के विजेता पराक्रम वाले) में अभङ्ग श्लेष तथा सेना-चरी-भवदिभानन-दानवारिवासेन (१—सैनिक के रूप में इभाननगणेश और दान-वारि विष्णु के रहने से २—सेना के गजों के मुख-दान जल की गन्ध से) एवं जनिता-सुरभी (१—असुरों को भय देनेवाली २—जो सुगन्धित हुई हो) में सभङ्गश्लेष है।

अग्नि का परिचय देती हुई देवी कहती हैं—

अग्नि-पक्ष में—'हे शोभनश्रवणे, इनकी उग्र ज्वालायें अपनी दक्षता से जिन पार्थिव द्रव्यों को अपना ग्रास वनाती हैं, उन्हीं से बनी भस्म तपःशील महादेव के भी शरीर में लेप वनती है।'

नल-पक्ष में—'सुश्रवे, इनकी सम्पत्ति के लिए महाधन तथा तपस्वी लोग भी स्पृहा करते हैं। और वह सम्पत्ति है कैसी? रणभूमि में अपने दारुण शस्त्रों के कुशल प्रयोग द्वारा शत्रु राजाओं का विनाश करने से उत्पन्न हुई है। वह क्षात्र तेज का ऐश्वर्य है।[2]'

यहाँ 'भूति' (१—भस्म २—ऐश्वर्य) महेश्वर (१—शिव २—महाधनिक) में अभङ्ग श्लेष एवं अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभव' (१—अति-शय ज्वालाओं के ग्रास बनने वाले पृथ्वी के पदार्थों के आधार से उत्पन्न २—अतिशय अस्त्र-कौशल द्वारा पराभूत शत्रु नरेशों के साथ किए गए रण से उत्पन्न); एवं अङ्गराग (१—शरीर का लेप २—शरीर में मात्सर्य) में सभङ्ग श्लेष है।

यम का परिचय देती हुई सरस्वती कहती हैं—

---

१. ब्रूमःकिमस्य वरवर्णिनि! वीरसेनोद्भूतिं द्विषद्वलविजित्वरपौरुषस्य।
सेनाचरीभवदिभाननदानवारिवासेन यस्य जनितासुरभीरणश्रीः ॥ नै० १३।३

२. अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभवास्य भूतिः।
अभ्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रुचिरकर्णि तपस्विनोऽपि॥नै० १३।११

यम-पक्ष में—और, महाराज यम के पिता मनोहर-मूर्ति साक्षात् सूर्यदेव हैं, जिनके प्रताप के सम्मुख चन्द्रदेव का समस्त तेज क्षीण हो जाता है। इनकी उत्क्रान्ति नाम की शक्ति (अस्त्रविशेष) भला किसके ऊपर नहीं चल सकती है। अन्य लोगों में रोग उत्पन्न करने के कारण महाराज यम का वर्ण श्याम हो गया है।

नल-पक्ष में—और, भगवान् सूर्य तथा कामदेव के समान मनोहर मूर्ति वाले तथा अपने प्रताप से समस्त राज-मण्डल के तेज को क्षीण करने वाले महाराज वीरसेन इनके पिता थे। इनका शक्तिशस्त्र किसके प्राणों को नहीं हर सकता? शत्रुओं पर गदा-प्रहार करने में ये स्वयं कृष्ण ही हैं, या उत्कृष्ट वाणों की वेदना पैदा करने में ये स्वयं अर्जुन ही हैं।[1]

यहाँ 'प्रभावनमिताखिलराजतेजा:' (१—अपनी प्रभा से सम्पूर्ण राज (चन्द्र) के तेज को पराभूत करने वाले २—अपने प्रभाव द्वारा सारे राजाओं के तेज को परास्त करने वाले) 'अम्वरमणीरमणीयमूर्तिः' (१—रमणीयमूर्ति वाले सूर्य २—अम्वर मणि (सूर्य) तथा कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाले) तथा 'कृष्णत्वमस्यच परेषु गदान्नियोक्तुः' [१—दूसरों में रोग उत्पन्न करने वाले इनकी कालिमा २—परेषु (उत्कृष्ट वाणों) की पीड़ा से उत्पन्न करने वाले इनका कृष्णत्व (अर्जुनत्व)] में सभङ्ग श्लेष, एवं देव (१—सूर्यदेव २—राजा) तथा शक्ति (१—शक्तिनामक अस्त्र २—सामर्थ्य) में अभङ्ग श्लेष है।

वरुण का परिचय देती हुई सरस्वती कहती हैं—

वरुण-पक्ष में— देखो, शोणनद इनके चरणों का अनुरागी एक साधारण सेवक है। और की क्या, स्वयं सरस्वती नदी इनकी सेवा में रहती है। तो सुन्दरि, तुम भी इन जलाधिपति को स्वीकार करो। क्या सभी कमलाशय (जलाशय) इनकी सेवा नहीं करते!

नल-पक्ष में—सौभाग्यशालिनि, देखो अरुण वर्ण स्वयं इनके चरणों का अनुरागी है। (इनके चरण अरुण हैं)। स्वयं सरस्वती इन्हें नहीं छोड़तीं। सुन्दरि, तुम इन लोकनाथ को स्वीकार करो। धन की आशा से इनकी सेवा कौन नहीं करता?[2]

---

१. किं च प्रभावनमिताखिलराजतेजा देवः पिताम्बरमणी रमणीयमूर्तिः।
उत्क्रान्तिदा कमनु न प्रतिभाति शक्तिः कृष्णत्वमस्य च परेषुगदान्नियोक्तुः॥
नै० १३।१८

२. शोणं पदप्रणयिनं गुणमस्य पश्य किं चास्य सेवन-परैव सरस्वती सा।
एनं भजस्व सुभगे! भुवनाधिनाथं किं वा भजन्ति तमिमं कमलाशया न॥
नै० १३।२५

यहाँ 'शोण' (१—सोन नदी २—रक्तवर्ण) 'सरस्वती' (१—सरस्वती नदी २—वाणी या विद्या) तथा 'भुवनाधिनाथ' (१—जलाधिप २—जगत्पति) में अभङ्गश्लष और 'कमलाशया' (१—जलाशय २—लक्ष्मी या धन की आशा से) म सभङ्गश्लेष है।

फिर पाँचवे (वास्तविक) नल का परिचय चार श्लिष्ट श्लोकों में दिया गया है, जिनमें नल के साथ क्रम से इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण का भी वोध होता है। उदाहरणार्थ एक श्लोक पर्याप्त होगा। नल के साथ महेन्द्र का भी परिचय देती हुई देवी कहती हैं—

नल-पक्ष में—अनेक संग्रामों में विजय पाने वाले श्रीमान् महाराज नल को क्या तुम नहीं जानती? याचकों को दान देने में तत्पर रहने के कारण इन्हें कौन व्यक्ति साक्षात् जीमूतवाहन नहीं समझेगा?

इन्द्र-पक्ष में—क्या तुम महेन्द्र को नहीं पहिचानती? पुत्र विजय (अर्जुन, जयन्त) के द्वारा इनके वंश की वृद्धि हुई है। आप अत्यन्त तेजस्वी तथा उत्सव-शील हैं। सैकड़ों दानव शत्रुओं का संहार करने वाले इन्हें देखकर कौन इन्द्र न समझेगा?[1]

यहाँ 'अत्याजिलब्धविजयप्रसर' (१—जिसे संग्राम में विपुल विजय मिली है २—अनेक संग्रामों वाले तथा अर्जुन या जयन्त द्वारा वंश के विस्तार वाले) और 'प्रत्यर्थिदानवशताहितचेष्टया' (१—प्रत्येक याचक के प्रति अपने दानीपन के कारण की गई चेष्टा से २—सैकड़ों शत्रु दानवों का अहित करने से) में सभङ्ग श्लेष तथा महीमहेन्द्र (१—पृथ्वी का श्रेष्ठ राजा २—उत्सव वाले इन्द्र) एवं जीमूत-वाहन (विद्याधरों का प्रसिद्ध दानी राजा २—इन्द्र) में अभङ्ग श्लेष है।

और अन्त में सरस्वती इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण चारों दिक्पालों तथा नल का भी क्रम से परिचय एक श्लोक के द्वारा ही देती हैं:—

> देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
> नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥[2]

इस श्लोक में श्रीहर्ष ने अपने श्लेष-विलास को पूर्ण प्रदर्शित किया है। यही नहीं कि इसके केवल पांच नलों में घटित होने वाले पांच ही अर्थ हों अपितु एक-

---

१. अत्याजिलब्धविजयप्रसरस्त्वया किं विज्ञायते रुचिपदं न महीमहेन्द्रः।
प्रत्यर्थिदानवशताहितचेष्टयासौ जीमूतवाहनधियं न करोति कस्य ॥ नै० १३।२८

२. नै० १३।३४

एक के प्रति भी अनेक अर्थ उन्हीं पदों से सभङ्ग श्लेष द्वारा निकलते हैं। नारायण ने अपनी टीका में बड़े विस्तार के साथ अनेक अर्थ दिखाने का प्रयत्न किया है। यहाँ उदाहरणार्थ प्रत्येक के प्रति घटित होने वाला केवल एक-एक अर्थ प्रदर्शित किया जा रहा है, और चमत्कार के मूल में सभङ्ग श्लेष होने के कारण प्रत्येक नये अर्थ के लिए नया अन्वय किया जा रहा है—

१. **इन्द्र-पक्ष में**—हे विदुषि, एष देवः धरा जगत्या (पृथ्वी के) पतिर्न। भवत्या किमु न निर्णीयते, न व्रियते। अयं खलु नलो न। (अयम्) तव नलाभः (नल के समान कान्तिशाली) (यतः) अतिमहाः (अतितेजस्वी)। यदि एनम् [अ (विष्णु) के इन (स्वामी) अर्थात् वड़े भाई को] उज्झसि, ते परः कतरः वरः।

हे चतुरे, ये देव पृथ्वी के स्वामी नहीं हैं। आप क्या विचार नहीं कर रही हैं? इन्हें नहीं वर रही हैं? ये नल तो नहीं हैं (किन्तु) तुम्हारे नल के समान कान्तिवाले हैं। ये अत्यन्त तेजस्वी हैं। यदि विष्णु के वड़े भाई इनको त्यागोगी तो तुम्हारा दूसरा कौन वर होगा?

२. **अग्नि-पक्ष में**—हे विदुषि, धरा जगत्या (अपने वाहन अज की गति से) पतिः (रक्षक) एष देवः भवत्या न निर्णीयते (इति) न (तर्हि) किमु न व्रियते अयं खलु तव नलो न (अपि तु) अति महानलाभः (अत्यन्त महान अग्नि की कान्ति वाले) यदि एनम् उज्झसि ते परः कतरः वरः।

हे कुशले, अपने वाहन अज (वकरे) की गति से उपलक्षित रक्षक इन देव को आप नहीं पहचान रही हैं यह वात नहीं है, फिर क्यों नहीं वर रही हैं? ये आप के नल तो नहीं हैं (किन्तु) अति महान् अग्नि की कान्ति वाले हैं। यदि इन्हें छोड़ोगी तो तुम्हारा दूसरा कौन वर होगा?

३. **यम-पक्ष में**—हे विदुषि, एष धरा जगत्या (पर्वतों को उखाड़ फेंकने वाले भैंसे की गति से उपलक्षित) पतिः (धर्म रूप पालक)देवः न निर्णीयते (इति) न (परं) किमु न व्रियते। अयं खलु नलो (गहन) न (वक्रोत्या, अपि तु धर्मरूपत्वात् गहन एव) यदि एनम् उज्झसि (तदा) तव अति महानलाभः ते परः वरः कतरः।

हे कुशले, पर्वतों को उखाड़ फेंकने वाले भैंसे की गति से धर्म के रक्षक इन देव को तुम नहीं पहिचान रही हो, यह बात नहीं है, फिर क्यों नहीं वर रही हो? ये धर्मरूप होने के कारण अत्यन्त गहन है। यदि इन्हें छोड़ा तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी। तुम्हारा दूसरा वर ही फिर कौन होगा?

४. **वरुण-पक्ष में**—हे विदुषि, एष धरा जगत्या (पृथ्वी पर उत्पन्न होने वालों के जीवनोपाय जल के) पतिर्न देवः भवत्या किमु न निर्णीयते, न व्रियते, (अप तु निर्णेयः वरणीयश्च) अति महानलाभः (अति महत अति पूज्यस्य अनलस्य

अभा कान्त्यभावो यस्य—वरुणोहि जलरूपत्वादग्निविरोधीत्यर्थः) अयं खलु नलो न। यदि एनम् उज्झसि (तदा) ते वरः (श्रेष्ठः) कः परः (शत्रुः) (अपि तु अयमेव शत्रुः)—

"हे कुशले, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वालों के जीवनोपाय जल के पति को क्या तुम पहिचान रही हो? (क्या इन्हें) नहीं वर रही हो? ये अति महान् अग्नि की कान्ति के अभाव हैं। ये नल नहीं हैं। यदि इन्हें छोड़ा तो तुम्हारा (इनसे) वड़ा कौन शत्रु होगा?

५. **नल पक्ष में**—हे विदुषि, अयम् नैषधराजगत्या (निषध देश के राजा के ज्ञान द्वारा, रूप में) पतिः देवः ना (मनुष्यः) किमु न निर्णीयते (किमु वा) न व्रियते। खलु तव अति महानलाभः [अति महान् अस्य (विष्णोः) लाभः] यदि एनम् उज्झसि (र्तीह) ते कतरः वरः परः (अधिकः):—

हे विदुषि, इन नर-देव को निषध देश के राजा के रूप में तुम नहीं पहिचान रही हो? क्या इन्हें नहीं वर रही हो? (इसमें) तुम्हें (साक्षात्) विष्णु का ही महान् लाभ होगा। यदि इन्हें छोड़ती हो तो तुम्हारा कौन वर इनसे वड़ा (या) अधिक होगा?

यहाँ श्लेष-वक्रोक्ति के द्वारा चारों दिक्पालों के न वरने की भी ध्वनि निकलती है। नारायण में इस श्लोक की उन देवों के पक्ष में पृथक्-पृथक् व्याख्या करते समय निषेधात्मक ध्वनि का भी उल्लेख किया है। विस्तार-भय से यहाँ उसका उद्धरण देना उचित नहीं समझ पड़ता, अस्तु।

नैषध में अर्थ-श्लेष का भी पर्याप्त सौन्दर्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ काव्य का प्रथम श्लोक ही प्रस्तुत है—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रित कीर्तिमण्डलः स राशिरासीन् महसां महोज्वलः॥

नल पक्ष में—जिस राजा की जीवन कथा का माधुर्यपान कर बुधजन अमृत का भी उतना आदर नहीं करते, तथा जिसकी दिङ्मण्डलव्यापिनी कीर्ति ही उसका श्वेतच्छत्र वनी थी—ऐसे तेज के महोज्जल पुञ्ज-स्वरूप महाराज नल हुए।

सूर्य पक्ष में—"जिन (वृष्टि आदि के द्वारा) पृथवी के रक्षक की कथा का पान कर वुधजन (चन्द्रमा के) अमृत का भी उतना आदर नहीं करते, जिनका कीर्ति से युक्त मण्डल (घेरा) श्वेतच्छत्र के आकार का है (इस प्रकार) तेज से देदीप्यमान् सूर्य देव थे।"

यहाँ उन्हीं अर्थों वाले अन्य पदों के भी प्रयोग में यह श्लोक नल तथा सूर्य दोनों के लिए समानरूप से घटित होता है, अतः यदि मङ्गलाचरण के नाते सूर्य भी प्राकरणिक मान लिए जाँय तो यहाँ अर्थश्लेष माना जायगा (अन्यथा उपमा अलङ्कार ध्वनि हो जायगी)।

अर्थालङ्कार

आचार्य रुद्रट ने समस्त अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। उनके अनुसार अर्थालङ्कारों के चार मूल आधार हैं—(१) वास्तव (२) औपम्य (३) अतिशय और (४) श्लेष। शेष अलङ्कार इन्हीं के विशेष रूप हैं। कुछ अलङ्कार वास्तव पर आधारित होते हैं, कुछ के मूल में औपम्य रहता है, कुछ अतिशय-मूलक होते हैं तथा कुछ श्लेष के ही रूपान्तर हैं।[1]

---

१. अर्थस्यालङ्काराः वास्तवमौपम्यातिशयश्लेषाः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ काव्यालंकार ७।९

वस्तु के यथावत् स्वरूप का चित्रण ही (वास्तव) है। उसमें विरुद्ध, समान, अतिशय अथवा श्लिष्ट बात कहे बिना ही इस ढंग की उक्ति होती है कि अर्थ की स्वतः पुष्टि हो जाती है।

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु स्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममतिशयश्लेषम्॥ काव्यालंकार ७।१०

फिर रुद्रट ने इस 'वास्तव' पर आधारित, अथवा वास्तव के भेद इन अलङ्कारों को बताया—सहोक्ति, समुच्चय, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्त, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।

इसी प्रकार जहाँ वक्ता किसी वस्तु का सम्यक् वर्णन करने के लिए उसी के समान दूसरी वस्तु का उल्लेख करे वहाँ 'औपम्य' माना जाता है।

सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तुतत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥ का० लं० ८।१

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, और स्मरण 'औपम्य' पर आधारित अलङ्कार हैं।

उपमा--

किन्तु परवर्ती आचार्यों ने अधिकतर अलङ्कारों के मूल में उपमा की ही सत्ता मानी है। अप्पय दीक्षित ने तो अपनी चित्रमीमांसा में उपमा का प्रस्ताव करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि—'उपमैका शेलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्। रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।'

और वस्तु के प्रसिद्ध स्वरूप से भी भिन्न अ-लोक-सामान्य ढंग से कहना 'अतिशय' कहा जाता है।

> यत्रार्थधर्मानियमः प्रसिद्धबाधाद् विपर्ययं याति।
> कश्चित् क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥ का० लं० ९।१

अतिशय के भेद पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम असङ्गति, पिहित, घात, तथा हेतु अलंकार हैं।

उसी प्रकार जहाँ अनेकार्थक पदों से रचित एक काव्य से अनेक अर्थ किए जायँ वहाँ निश्चय ही 'अर्थश्लेष' समझना चाहिए।

> यत्रैकमनेकार्थेवाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
> अर्थेकुरुतेनिश्चयमर्थश्लेषः सविज्ञेयः॥ काव्या लंकार १०।१

इस 'अर्थश्लेष' के भेद अविशेष, विरोध, अधिक, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, उक्ति असम्भव, अवयव, तत्त्व, एवं विरोधाभास अलंकार हैं।

रुद्रट ने कुछ अलङ्कारों को एक से अधिक वर्गों में दिखाया है। जैसे—विषम, वास्तव का भी भेद है तथा अतिशय का भी, विरोध, वास्तव, अतिशय एवं श्लेष तीनों में परिगणित है, पूर्व और उत्प्रेक्षा औपम्य के साथ अतिशय में भी गिनाए गए हैं, हेतु का उल्लेख वास्तव तथा अतिशय दोनों में होता है, किन्तु इन उभय-निष्ठ तथा अनेकनिष्ठ अलङ्कारों के भिन्न-भिन्न वर्ग में भिन्न-भिन्न लक्षण भी किए गए हैं। उदाहरणार्थ—'औपम्य' वर्ग की उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार है—'जहां अत्यन्त सादृश्य के कारण सिद्ध उपमान में कुछ (अविद्यमान) गुण अथवा क्रिया का आरोप किया जाता है, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है—

> अतिसारूप्यादैक्यंविधाय सिद्धोपमानसद्भावम्।
> आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा॥ का० लं० ८।३२

किन्तु अतिशय वर्ग में वही उत्प्रेक्षा इस प्रकार दिखायी पड़ती है—जहाँ अतिशय के द्वारा किसी वस्तु को भिन्न रूप से कहकर फिर उसमें असम्भव क्रिया

"काव्य-रूपी नाटकशाला में यह नटीरूप अकेली उपमा ही विभिन्न (चित्र) अलङ्कारों के रूपों को धारण कर अपना नृत्य दिखाती हुई सहृदयों के चित्त को आह्लादित करती है।"

यदि वस्तुतः देखा जाय तो उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्य-योगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, समा-सोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि सारे अलङ्कार उपमा के ही विवर्त (रूपा-न्तर) हैं। अतः अप्पयदीक्षित अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

"जैसे ब्रह्म ज्ञान हो जाने से समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से सम्पूर्ण चित्र-काव्य का ज्ञान हो जाता है। अतः सर्वप्रथम उसी (उपमा) का सभी भेदों सहित निरूपण किया जाता है।

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा॥

राजशेखर भी उपमा की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

"मैं अलङ्कारों में सर्वश्रेष्ठ तथा काव्य-वैभव की सब कुछ इस उपमा को कवि वंश (कवियों) की माता के ही समान समझता हूँ।"

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥

सादृश्य का ही दूसरा नाम उपमा है। दण्डी ने "उपमेय और उपमान में जिस किसी प्रकार के सादृश्य की प्रतीति को उपमा[1] कहा है"—

मम्मट ने उपमान में भेद के साथ सादृश्य को उपमा कहा[2] है।

नैषध में साम्य (उपमा) मूलक अलङ्कार ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु उपमा अकेली तथा अनेक अलङ्कारों के सङ्कर एवं संसृष्टि में भी प्रयुक्त हुई है।

गुण आदि की सम्भावना की जाय; अथवा जिस वस्तु में कोई क्रिया गुण नहीं है, उसमें उसकी सम्भावना की जाय वहाँ अतिशय-मूला उत्प्रेक्षा होती है—

यत्रातितथाभूते संभाव्येतक्रियाद्यसंभाव्यम्।
सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा॥ का० लं० ९।११

१. यथा कथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते। उपमा नाम सा...॥ काव्यादर्श २।१४
२. साधर्म्यमुपमाभेदे। का० प्र० १०।१२५

स्वतन्त्र पूर्णोपमा (आर्थी) का एक उदाहरण पके हुए विल्व फल के इस वर्णन में मिलता है—

"नल ने पवनान्दोलितशाखाग्रकण्टकों रूपी विट-(रसिक) नखों से छिन्न तथा चन्दन की सुगंध को उड़ाते हुए वेल के पके फलों को वेश्या के स्तनों के समान देखा[1]"

यहाँ एक ही वाक्य में उपमेय 'मालूरफल', उपमान 'वारनारीकुच', वाचक शब्द 'उपमा' तथा सामान्य धर्म 'मरुल्ललत्पल्लव कण्टकैः क्षतम्' एवं समुच्छल-च्चन्दन सारसौरभम्' हैं।

श्लेषोत्थापित श्रौती पूर्णोपमा का सौन्दर्य नल के विलास-भवन में प्रवेश करते समय के वर्णन में दिखायी देता है—

"इसके पश्चात् जैसे भगवान् विष्णु शयन की अभिलाषा से विद्रुमराग-रञ्जित मेघकान्ति सागर में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार शान्ति की अभिलाषा से राजा नल ने किसलय-राग-चित्रित सघनच्छाया विहारवन में प्रवेश किया[2]।"

यहाँ "प्रवालरागच्छुरितं" तथा 'वनच्छायम्' पद श्लेष के कारण उपमा में सामान्य धर्म का काम करते हैं।

लुप्तोपमा का उदाहरण गौडेन्द्र के वर्णन में द्रष्टव्य है—

"कमल के समान रम्य पाणि वाले श्यामवर्ण ये (गौडेन्द्र) तुम से आलिङ्गित होकर उसी प्रकार सुशोभित होंगे, जैसे नूतन श्याम मेघ से सुमेरु की स्वर्णिम चोटी मिली हो। तुम्हारे अङ्गों से आलिङ्गित गौडेन्द्र उसी प्रकार लगेंगे, जैसे मदन के मेचक केशों पर चम्पा की माला सुशोभित हो।[3]"

यहाँ 'चम्पक-स्रग्दाम इव त्वदङ्गरुचिः' में 'वाचकलुप्ता' तथा 'धर्मलुप्ता' उपमा है। इसी प्रकार 'लुप्तोपमा' के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

अनन्वय—

जहाँ एक ही वाक्य में एक (धर्मी) के ही उपमान और उपमेय दोनों धर्म

---

१. मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्छलच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारी-कुच-सञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्॥ नै० १।९४

२. विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवार्णसां निधिम्॥ नै० १।७४

३. आलिङ्गितः कमलवत्करकस्त्वयाऽयं श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः।
कंदर्पमूर्धरुहमण्डनचम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु॥ नै० ११।९८

कहे जायं, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है।[1] नल दमयन्ती के नेत्र-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

"मन्द मन्द उन्मीलन करने वाले पक्ष्मों (वरौनियों या पंखुड़ियों) से युक्त अपने अपाङ्ग-प्रान्त की धवलिमा से चन्द्रमा को भी जीतने वाले तथा चञ्चल इन्द्र नील मणि के गोलक के समान निर्मल कनीनिका वाले इसके नयनकमल इसी के-से हैं।[2]"

यहाँ 'दमयन्ती के नेत्र उसी के-जैसे हैं' इस उक्ति में अनन्वय अलङ्कार का सौन्दर्य है।

उत्प्रेक्षा—

कवियों ने किसी नई सूझ या कल्पना का चमत्कार दिखाने के लिए "उत्प्रेक्षा' अलङ्कार का सबसे अधिक आश्रय लिया है। सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत वस्तु में अनेकों (एक के बाद दूसरी) अप्रस्तुत वस्तुओं की योजना करना कल्पना-कुशल कवियों का प्रधान उद्देश्य रहा है। इसीलिए बाद के आचार्यों ने उत्प्रेक्षा का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया। उसके अनेक भेद-उपभेद गिनाए। किन्तु भामह, दण्डी, आदिपूर्वाचार्यों ने उत्प्रेक्षा का बड़े संक्षेप में विवेचन किया है। मम्मट ने प्रकृत (उपमेय) के समान (उपमान) के साथ ऐक्य की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहा है।[3]

श्रीहर्ष ने उत्प्रेक्षा को भी बड़ा महत्त्व दिया था। सम्पूर्ण नैषध उत्प्रेक्षा की सुषमा से जगमगा रहा है। नूतन कल्पना करने में प्रवीण कवियों को उन्होंने "उत्प्रेक्षा-कवि' की उपाधि दी है:—

"प्रिये, देखो उत्प्रेक्षा-कुशल-कवियों द्वारा यह कहना बड़ा सरल हो जाता है कि मानों विशाल मटके 'चन्द्रमा पर' 'शशक' नाम का नील मणियों का बना हुआ (श्याम-कलङ्करूपी) प्याला रक्खा हुआ है।[4]"

उत्प्रेक्षा के कुछ सुन्दर उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं—

---

१. उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे। अनन्वयः—का० प्र० १०।१३५

२. आघूर्णितं पक्ष्मलमक्षिपद्मं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजितामृतांशु।
अस्या इवास्याश्चलदिन्द्रनील-गोलामलश्यामलतारतारम्॥ नै० ७।२९

३. सम्भावनमथोत्प्रेक्षाप्रकृतस्य समेन यत्॥ का० प्र० १०।१३७

४. प्रिये! पश्योत्प्रेक्षाकविभिरभिधानाय सुशकः।
सुधामभ्युद्धर्तुं धृतशशकनीलाश्मचषकः॥ नै० २२।१४४

१—नल के चरणों की उर्ध्वरेखा के प्रति श्रीहर्ष की उत्प्रेक्षा है—

"कमल तथा प्रवाल का तिरस्कार करने के कारण एवं समस्त नरेशों के सिर पर रक्खे जाने के कारण ये नल-चरण ऊर्ध्व-स्थान भागी होंगे। यह विचार मानों विधि ने पहले ही से कर लिया था। तभी तो नल के चरणों को ऊर्ध्व रेखा से अङ्कित कर दिया था।[१]"

यहाँ इति पर्यन्त वाक्य में हेतूत्प्रेक्षा है जो किम् के प्रयोग के कारण वाच्य हो गई है।

२—नल के द्रुतगामी चरणों में लगी धूलि के कणों के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—

"निरन्तर धरातल पर पटकने से उड़ती हुई धूलि से धूसरित चरणों वाले, जो धूलि इस प्रकार प्रतीत होती थी, मानों लोगों के मन परमाणु रूप धारण करके उस (अश्व) से वेगातिशय सीखने आए हुए हैं।[२]"

यहाँ 'चेतोभिरिव' में द्रव्य की इव द्वारा वाच्योत्प्रेक्षा है।

३—नल के सम्मुख दमयन्ती की चरण-सुषमा का वर्णन करते हुए हंस कहता है—

"मानों, जिन कमलों ने सूर्य की सेवा करने के कारण दमयन्ती के चरणों की पदवी प्राप्त की है, उन्हें विधि-वाहन हंसों के दम्पती (जोड़ा) नूपुर-रूप में आकर सुशोभित कर रहे हैं।[३]"

यहाँ 'रविसेवयेव' में क्रिया की वाच्योत्प्रेक्षा है तथा 'ध्रुवं सहंसकीकुरुतः' में श्लेषोत्थापित वाच्योत्प्रेक्षा है—

४—दमयन्ती के अ-लोक-सामान्य सौन्दर्य के प्रति नल विचारते हैं—

"विधाता की दमयन्ती से पूर्व की गई समस्त ललना-सृष्टि दमयन्ती की रचना के लिए अभ्यासरूप थी, और जो यह वर्तमान तथा भावी ललनानिर्माण है, और होगा यह दमयन्ती को विजय-कीर्ति देने के लिए है (कि विधाता दमयन्ती-सी सुन्दरी फिर न बना पाये।)[४]"

---

१. अधोविधानात्कमलप्रवालयो शिरःसु दानादखिलक्षमाभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ नै० १।१८

२. अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्यचेतोभिरिवाणिमाङ्कितै॥ नै० १।५९

३. जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः।
ध्रुवमेत्य रुतः स हंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती॥ नै० २।३८

४. पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयं भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्॥ नै० ७।१५

यहाँ 'हस्तलेखः' में वाच्याद्रव्योत्प्रेक्षा तथा 'यशः प्रदातुं' में प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा है।

ससन्देह—

जहाँ (उपमेय के साथ उपमान के) सादृश्य-ज्ञान का संशय हो वहां ससन्देह अलङ्कार होता है। भेद के कथन करने अथवा न करने के कारण इस अलङ्कार के दो भेद होते हैं।[1] यह सन्देह भी तीन प्रकार का होता है—१—शुद्ध सन्देह २—निश्चयगर्भ सन्देह ३—निश्चयान्तसन्देह।[2] शुद्ध सन्देह में संशय बना ही रहता है।[3]

इसका उदाहरण स्वयंवर सभा में बैठे राजाओं की नल के प्रति कही गई परस्पर की इस उक्ति में दिया जा सकता है—"क्या यह भूतल पर पहला चन्द्रमा अवतीर्ण हुआ है? अथवा, क्या यह दूसरा मदन है? या, तीसरा अश्विनी कुमार है? इस प्रकार ईर्ष्यालु उन राजाओं ने प्रशंसा के बहाने नल की निन्दा की।[4]"

यहाँ नल को कभी चन्द्रमा, कभी मदन तथा कभी अश्विनी कुमार होने का संदेह किया जाता है, और अन्त में भी कोई ऐसा भेद नहीं उपस्थित किया जाता कि यह सन्देह दूर हो। सन्देह का पर्यवसान भी सन्देह में ही होता है।

जहां संशय उठने पर बीच में उसके संशयित रूप न होने का समर्थन हो जाय, किन्तु अन्त में पुनः किसी न किसी रूप में संशय ही रहे, वहाँ निश्चय-गर्भ सन्देह होता है।[5]

इसका उदाहरण दमयन्ती के अपने हृदय के प्रति इस उपालम्भ में है—

"मेरे हृदय, यदि तू लौहमय है तो विरहाग्नि से इतना अधिक तप्त होकर भी क्यों नहीं विलीन हो जाता? पर मदन के पुष्प-बाणों से भेद्य होने के कारण तू वज्र भी तो नहीं है। फिर बोल हृदय, तू क्यों नहीं फट जाता?[6]"

---

१. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः॥ का० प्र० १०।१३८

२. स च त्रिविधः। शुद्धोनिश्चयगर्भोनिश्चयान्तश्च॥ अलंकार सर्वस्व की जयरथ टीका—पृ० ४३ काव्यामालासिरीज, १८९३

३. शुद्धो यस्य संशय एव पर्यवसानम्॥ जयरथअलंकार सर्वस्व पृ० ४३

४. सुधांशुरेव प्रथमो भुवीति स्मरो द्वितीयः किमसावितीमम्।
दस्रस्तृतीयोऽयमिति क्षितीशाः स्तुतिच्छलान्मत्सरिणो निनिन्दुः॥ नै० १०।४१

५. निश्चयगर्भोयः संशयोपक्रमोनिश्चयमध्यासंशयान्तश्च॥ वही, पृ० ४३

६. भृशं वियोगानलतप्यमान! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि।
स्मरेषुभिर्भेद्य न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त! कथं न दीर्यसे॥ नै० ९।८९

यहाँ हृदय को अयोमय होने का संदेह कर वियोगानल में विलीन न होना इस निश्चय द्वारा उसे दूर किया, पर अन्त में यह सन्देह बना ही रह जाता है कि हृदय क्या है, जो विदीर्ण नहीं हो जाता? अतः यह निश्चयगर्भ है, इसमें भेद भी कह दिया गया है।

निश्चय-गर्भ सन्देह का एक अन्य उदाहरण दूतरूप नल के प्रति दमयन्ती की इस चाटु उक्ति से दिया जा सकता है—"आप मदन नहीं हैं, क्योंकि उसके तो शरीर ही नहीं हैं, और अश्विनीकुमार भी नहीं हैं, क्योंकि वह अकेले नहीं रहते। अथवा अन्य चिह्नों से क्या करना, उनसे अधिक आपकी यह शोभा ही उनकी अपेक्षा आपका वैशिष्ट्य बताती है।" यहाँ दूत में मदन तथा अश्विनीकुमार होने का सन्देह होता है। फिर कुछ कारणवश वह सन्देह तो दूर हो जाता है, किन्तु अन्त तक यह निश्चय नहीं हो पाता कि यह कौन है?

निश्चयान्तसन्देह वहाँ होता है जहाँ संशय से प्रारम्भ कर निश्चय में पर्यवसान किया जाय।[1]

राजा भीम द्वारा नल को दिए गए पतद्ग्रह (पीकदान) के विषय में 'कवि-सन्निवेशित' निश्चयान्तसन्देह इस प्रकार है—

"उस पीकदान की रक्तकान्ति उदय होते हुए अरुण देव के समान दीप्तिमान् थी। जिस समय नल पान खाकर सुपारी आदि (खुज्झी) उसमें थूकते थे तो लोगों को उस पीकदान की जगमगाहट के कारण बड़ी देर तक यह नहीं समझ पड़ता था कि यह भरा है या नहीं।[2]"

यहाँ अन्त में कुछ विलम्ब के पश्चात् यह निश्चय होता है कि पीकदान भरा है या खाली।

रूपक—

जहाँ उपमान और उपमेय को एक दूसरे से नितान्त अभिन्न वर्णन किया जाय, वहाँ रूपक अलङ्कार माना जाता है।[3] राजा भीम द्वारा किए गए स्वयंवर में आए हुए नरेशों के स्वागत-वर्णन में रूपक का एक सुन्दर उदाहरण यह है—

---

१. निश्चयान्तो यत्र संशय उपक्रमोनिश्चये पर्यवसानम् ॥ जयरथ, अलंकार सर्वस्व—पृ० ४३

२. नलेन ताम्बूलविलासिनोज्झितैर्मुखस्य यः पूगकणैर्भृतो न वा।
इति व्यवेचि स्वमयूखमण्डलादुदञ्चदुच्चारुणचारुणश्चिरात् ॥ नै० १६।२८

३. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ॥ का० प्र० १०।१३९

"राजाओं के राज्यरूपी अन्तःपुर में, जहाँ उनकी कीर्तिरूपी पत्नी निवास करती है, चारों समुद्र जिसके परिखातुल्य हैं, दान, दया, प्रियसत्यवचन तथा अतिथि-सत्कार ये ही चार कञ्चुकी नियुक्त रहते हैं।[1]"

यहाँ अभेद के द्वारा समुद्र को परिखा, कीर्ति को दारा, तथा दान, दया, सुनृत और आतिथेयी को सौविदल्ल (कंचुकी) कहा गया है।

रूपक का एक अन्य अत्यन्त सुन्दर उदाहरण पाण्डय-नरेश के वर्णन-प्रसङ्ग में सरस्वती की इस उक्ति में देखा जा सकता है—

"कीर्ति एक नर्तकी की भाँति पहले समस्त भू-मण्डल में व्याप्त होकर फिर आकाश में विहार करने की अभिलाषा से इस महाकुलीन पाण्डय-नरेश का आश्रय लेकर सहर्ष लोकान्तरों में नर्तन कर रही है।[2]"

यहाँ अभेद के द्वारा राजा को वंश (वांस) तथा कीर्ति को नर्तकी कहा गया है।

अपह्नुति—

जहाँ प्रकृत (उपमेय) को असत्य सिद्ध करके उससे भिन्न उपमान की सत्यता का प्रतिपादन किया जाय वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है।[3]

नल की वदान्यता की प्रशंसा में श्रीहर्ष अपह्नुति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"अपने सिर पर काले बालों की दो मांगों (सीमन्तों) को नल दो भारी अप-यशों का बोझ ही समझते थे। प्रथम अपयश यह कि जो सुमेरु पर्वत को खण्डशः करके उसने याचकों को न दे दिया, और दूसरा यह कि जो दान संकल्प के लिए जलग्रहण कर सागर को भी मरुस्थल न बना दिया।[4]"

यहाँ नल के शिर पर दो भागों में विभक्त ये केश नहीं हैं, अपितु दो अपकीर्तियाँ हैं। इस प्रकार अपह्नुति है।

---

१. चतुःसमुद्री परिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे।
दानं दया सूनृतमातिथेयी चतुष्टयी रक्षगसौविदल्ला॥ नै० १०।२८

२. भुवि भ्रमित्वानवलम्बमम्बरे विहर्तुमभ्यासपरम्परा परा।
अहोमहावंशममुं समाश्रिता सकौतुकं नृत्यति कीर्ति-नर्तकी॥ नै० १२।१६

३. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः॥ का० प्र० १०।१४६

४. विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात् कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम्॥ नै० १।१६

कभी-कभी छल, व्याज आदि शब्दों द्वारा भी अपह्नुति निर्दिष्ट की जाती है।[1] कुण्डिनपुर के वर्णन में श्रीहर्ष स्थान-स्थान पर इसी प्रकार का अपह्नव करते हैं। उदाहरणार्थ यह वर्णन अवलोकनीय है--

'परिखा' (खाई) परिवेष्टित होने के कारण वह नगरी शत्रुओं की पहुंच के बाहर थी, मानों पतञ्जलि ने भाष्य की पङ्क्तियों की रचना कर उसे, परिखा के रूप में अपनी फेंटी से सुरक्षित कर दिया हो।[2]

यहाँ परिखावलय के रूप में (छल से) नगर के चारों ओर फणि की विषम कुण्डली फैली है।

२. अपह्नुति का एक और अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मदनताप के प्रति कवि की इस उक्ति में प्राप्त है---

सती ने कामाग्नि से तप्त होकर ही हिमवान् (अतिशीतल) के यहाँ जन्म धारण किया था, न कि उसकी (हिमवान् की) महत्ता के प्रति आदरभाव से, इसी प्रकार शंकर के भाल-तल पर लिखित सती का विरह ही दहक रहा है, न कि यह उनका तीसरा नेत्र है।[3]

समासोक्ति--

उद्भट ने प्रस्तुत-परक वाक्य द्वारा, समान विशेषणों के कारण, किसी अप्रस्तुत के विषय में बोध होने को समासोक्ति अलङ्कार कहा है।[4] इसी प्रकार मम्मट के अनुसार जहाँ श्लिष्ट (द्वयर्थ) विशेषणों द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत की बात कही जाय वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है।[5]

जड़, तिर्यक् या अन्य मानवेतर प्राणियों में मानवीय क्रिया-व्यवहारों का यह आरोप उनको मानव-हृदय के और भी समीप में ले आता है तथा भावों के बोध में अधिक तीव्रता पैदा कर देता है।

---

१. छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देशः॥ अलंकार-सर्वस्व

२. परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरः।
फणिभाषितभाष्यफक्किकाविषमा कुण्डलनामवापिता॥ नै० २।९५

३. जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो नतु तन्महिमादृता।
ज्वलति भालतले लिखितः सती विरह एव हरस्य न लोचनम्॥ नै० ४।४५

४. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः। अप्रस्तुतार्थकथनंसमासोक्तिरुदाहृता॥
का० लं० संग्रह वर्ग २, श्लोक १०

५. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः॥ का० प्र० १०।१४८

नैषध में समासोक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। एकान्तविहार की इच्छा से उपवन में नल के पहुंचने पर वहाँ की लता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"वायु द्वारा चुम्बित, पराग कणों के रूप में रोमाञ्चित, विकसित कलिकाओं द्वारा सुशोभित, ईषत् कम्पमान नूतन लताओं को नल भय तथा आदर के साथ नेत्रों से पी रहे थे।[१]"

यहाँ (प्रस्तुत) लता-विशेषण के साम्य से (अप्रस्तुत) नायिका की प्रतीति होती है। नारायण ने सभङ्ग श्लेष द्वारा लता के विशेषणों को नायिका पर भी घटित किया है।

समासोक्ति का एक अन्य उदाहरण बन्दीजनों के प्रभात वर्णन में मिलता है। सूर्य की दीप्ति के प्रति उनकी उक्ति है—

"गत सन्ध्या के समय जब सूर्य देव अस्त हो गए थे तो उनकी अनुरक्ता (रक्त-वर्ण) प्रिया दीप्ति (प्रभा) अग्नि में प्रविष्ट हो गई थी, और इस प्रकार अपने सतीव्रत के प्रभाव से उसने पाताल में गए हुए भी अपने पति सूर्य देव को बलात् देवेन्द्रपुरी (प्राची दिशा) में प्रभात होते होते पहुंचा दिया।[२]"

यहाँ (प्रस्तुत) दीप्ति के विशेषणों से (अप्रस्तुत) सती की प्रतीति होती है।

निदर्शना—

'जहाँ वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध के कारण उपमा की कल्पना की जाय वहाँ निदर्शना[३] अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार में एक वस्तु दूसरी के प्रतिबिम्ब के रूप में रहती है, और यह प्रतिबिम्बकरण उन दोनों वस्तुओं के सम्भव या असम्भव सम्बन्ध द्वारा व्यक्त किया जाता है, ऐसा रुय्यक का मत है।[४]

---

१. नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे॥ नै० १।८५

२. दहनमविशद्दीप्तिर्यास्तगते गतवासर,
प्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी।
अधरभुवनात्सोद्धृत्यैषा हठात्तरणेः कृता
मरपति-पुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्तिताम्॥ नै० १९।४४

३. निदर्शना—अभवन्वस्तुसम्बन्धउपमापरिकल्पकः॥ का० प्र० १०।१९४

४. सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना॥
—अलंकार सर्वस्व

इसका एक सुन्दर उदाहरण दमयन्ती की विरह-तप्तावस्था से उद्धृत किया जाता है—

"मदन-ताप से म्लान दमयन्ती का कमल-सुकुमार मुख सूर्य की प्रखर रश्मियों के कारण निस्तेज शशि की दिनोदिन बढ़नेवाली दक्षिण अवस्था को प्राप्त हो रहा था।"[१]

यहाँ 'मदनतापतप्त-मुख का प्रतिबिम्ब सूर्यतापतप्त-चन्द्रमा' सम्भव-सम्बन्ध द्वारा व्यक्त किया गया है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा

यदि किसी अप्रासङ्गिक विषय का वर्णन प्रसङ्ग-प्राप्त विषय के वर्णन का कारण हो तो उसे, अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार कहते हैं।[२] स्वयंवर में काशी नरेश की प्रशंसा करती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती हैं:—

"कोयल तथा कौवे को समान रूप से फल देने वाले लाखों प्रकार के वृक्ष क्या संसार में नहीं हैं? पर प्रशंसनीय तो कल्पवृक्ष ही है जो केवल अमृतभोगी देवों को ही अपने फल देता है।"[३]

यहाँ (अप्रस्तुत) कल्पवृक्ष की प्रशंसा (प्रस्तुत) काशी नरेश की प्रशंसा में घटित होती है।

अतिशयोक्ति

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है, अतिशयोक्ति नैषध के प्रमुख अलङ्कारों में है। भामह ने गुणातिशय के योग से विशेष ढंग की कही हुई (लोकातिक्रान्तगोचर) बात को अतिशयोक्ति कहा है।[४] दण्डी ने प्रस्तुत के लोकातिशायी

---

१. कुसुमचापज-ताप-समाकुलं कमलकोमलमैक्षततन्मुखम्।
अहरहर्वहदप्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम्॥ नै० ४।६

२. अप्रस्तुत-प्रशंसा या सा सेव प्रस्तुताश्रया॥ का० प्र० १०।१५१

३. किं न द्रुमा जगति जाग्रतिलक्ष्यसंख्यास्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः।
स्तुत्यस्तु कल्पविटपीफलसम्प्रदानं कुर्वन् स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन्॥
नै० ११।१२५

४. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥ भामहालङ्कार २।८१

(असामान्य) ढंग से वर्णन करने को अतिशयोक्ति नाम दिया है, और उसे उत्तम अलङ्कार माना है।[1]

वाद में मम्मट ने विस्तृत विवेचन के साथ अतिशयोक्ति के चार रूप निरूपित किए—१. जहां उपमान उपमेय को इस प्रकार छिपा ले कि उसकी पृथक् कोई सत्ता ही न प्रतीत हो। २. जहां वर्ण्यविषय का कथन प्रकारान्तर से किया जाय। ३. जहाँ 'यदि' या 'चेत्' आदि शब्दों द्वारा किसी असम्भव वात की कल्पना की जाय। ४. जहां पर कार्य और कारण के पूर्व-पश्चात् भाव के क्रम में उलट फेर हो।[2]

नैषध में भामह दण्डी की अतिशयोक्ति तो भरी पड़ी हैं। साथ ही मम्मट द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से विवेचित अतिशयोक्ति के भी अत्यधिक उदाहरण मिलते हैं।

१. कुण्डिनपुर के आपण (वाजार) का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है :—

"नगर के वाजार मार्ग से घर के लिये उत्सुक पथिक जा रहे हैं। दूकानों में रक्खे सत्तू की सुगन्ध ने उन्हें आकर्षित किया मानों उन्हें थोड़ा रुक कर स्वाद लेने के लिए पुकारा। पर मेघों ने घर पहुंचने के लिए चञ्चल किया। मेघों की गरज सुनकर पथिक अधीर हो उठे। वहां सत्तू के जाँते भी चल रहे हैं। अपने घर्घर शब्दों द्वारा मानों उनकी मेघों के साथ झड़प हो गयी, और वही कलह की घर्घर ध्वनि आज भी मेघों में वनी है।"[3]

यहाँ मेघध्वनि (उपमेय) को कलहध्वनि (उपमान) ने इस प्रकार छिपा लिया है कि उसकी पृथक् सत्ता ही नहीं प्रतीत होती। अतः अध्यवसान के सिद्ध होने के कारण इसे अतिशयोक्ति अलङ्कार कहेंगे।

२. हंस दमयन्ती से नल की प्रशंसा करते हुए कहता है :—

"हम लोगों ने नल की क्रीड़ावेलाओं में उसके सङ्गीत के माधुर्यादि गुणों का आस्वादन किया, और जब यहाँ से स्वर्ग-लोक गए तो इन्द्र के प्रसिद्ध गायक का

---

१. विवक्षया विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमोत्तमा ॥ काव्यादर्श २।२१४

२. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः। विज्ञेयातिशयोक्तिः सा—का० प्र० १०।१५३

३. प्रतिहट्टपथे　　घरट्टजात्पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः।
कलहान्नघनाद् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः॥ नै० २।८५

सङ्गीत सुनकर हमारे मुख से निन्दात्मक 'हाहा' निकल पड़ा, जिससे उस गायक का नाम ही 'हाहा' पड़ गया।"[1]

यहाँ 'हाहा आदि गन्धर्वों के गाने में शोक का कोई सम्वन्ध न रहने पर भी उसके सम्वन्ध की कल्पना की गयी है।

३. हंस नल के गुणों के विषय में कह रहा है :—

"यदि समस्त त्रैलोक्य गिनने में लग जाय और उस (त्रैलोक्य) की आयु की समाप्ति कभी न हो तथा गणित की संख्यायें परार्द्ध से भी ऊपर हों, तव कहीं नल के समग्र गुण गिने जा सकते हैं।"[2]

यहाँ गिनने योग्य भी गुणों को 'यदि' के द्वारा गणनातीत वताया गया है, अतः यहां अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

४. अन्तःपुर में नल के कटाक्ष-वाणों से दमयन्ती की विकलता का वर्णन श्री-हर्ष यों करते हैं :—

"दमयन्ती के प्रति साभिलाष नल की आँखों की ज्योति अपने अपाङ्गों तक भी न पहुँच पायी थी कि मदनवाण उस सुन्दरी के प्रत्यङ्ग में सम्पूर्णतया प्रविष्ट हो गया।"[3]

यहाँ कारण-रूप दृष्टिपात के पूर्व ही कार्य-रूप स्मरशरपात हो जाता है, अतः कारण-कार्य के पौर्वापर्य-विपर्यय के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

५. स्वयंवर में दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नृपतिगण परस्पर कहते हैं :—

"यह मदन की ही कृति है, विधि की नहीं। क्योंकि इसका शिल्पी अन्य शिल्प-कारों से पराजित नहीं हो सकता। ब्रह्मा तो रूप-निर्माण के विषय में (एक) मदनकिङ्कर यौवन से ही पराजित हो जाते हैं—(यौवन आने पर रूप में जो सौन्दर्य आता है उसे ब्रह्मा किसी प्रकार नहीं वना सकते)।"[4]

---

१. स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हाहेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत्॥ नै० ३।२७

२. यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात् तस्याः समाप्तिर्यदिनायुषः स्यात्।
पारे-परार्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोपि स स्यात्॥ नै० ३।४०

३. अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत्।
स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज॥ नै० ८।३

४. कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः।
रूपस्य शिल्पे वयसापि वेधा निर्जीयते स स्मरकिङ्करेण॥ नै० १०।१३१

यहाँ प्रस्तुत धातृकृति को अन्य (स्मरकृति) बताया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

अलङ्कारान्तर के साथ भी अतिशयोक्ति के अनेक उदाहरण नैषध में मिलते हैं—मलयाधिपति का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती है:—

"इनका धवल यश किस लोक में नहीं फैला है ? स्वर्ग में शिव के भालस्थित एक कला वाले चन्द्रमा की शेष पन्द्रह कलाओं का वही पूरक है। पाताल में भगवान् शेष के, जिनके एक सहस्र फण हैं, किन्तु एक ही शरीर है, वह नौ सौ शरीरों का पूरक है। पृथ्वी पर एक क्षीर-सागर का, अगस्त्य मुनि की अंजुलि में आने के भय को दूर करने के लिये वह अनेक रूप है।"[1]

यहाँ कीर्तिपूर को 'अध्याहार', 'काययष्टीनिकाय' आदि रूप देकर रूपक द्वारा अतिशयोक्ति की योजना की गयी है।

दृष्टान्त

जहाँ दो वाक्यों में एक उपमेय वाक्य होता है और दूसरा उपमान वाक्य एवं दोनों वाक्यों में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म आदि का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव प्रतीत हो, वहाँ 'दृष्टान्त' अलङ्कार समझना चाहिए।[2]

दमयन्ती के सम्मुख नल की प्रशंसा करते समय हंस की इस उक्ति में दृष्टान्त अलङ्कार का सौन्दर्य झलकता है:—

'देवगण नल के इष्टापूर्त (यज्ञ, कूप आदि) पुण्य कार्यों के वशीभूत हो कर यहीं उसे स्वर्भोगों को उपस्थित करते हैं—वृक्ष भी तो दोहद-बल से असमय में कलियाँ लाते हैं।"[3]

यहाँ श्लोक का उत्तरार्द्ध उपमान-वाक्य पूर्वार्द्ध उपमेय-वाक्य का प्रतिबिम्ब रूप है, और इस (दृष्टान्त) में 'सृजन्ति' और 'उद्गिरन्ति' में धर्म एक न होकर साधर्म्य (धर्म-भेद में समान-धर्मता) है।

---

१. अध्याहारः स्मरहर-शिरश्चन्द्रशेषस्य शेष-
स्याहेर्भूयः फणसमुचितः काययष्टीनिकायः।
दुग्धाम्भोधेर्मुनि चुलुकनत्रासनाशाभ्युपायः
कायव्यूहः क्व जगति न जागर्त्यदः कीर्तिपूरः॥ नै० १२।५७

२. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्॥ का० प्र० १०।१५५

३. इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः।
महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकलिकं कोरकमुद्गिरन्ति॥ नै० ३।२१

वैधर्म्य-विशिष्ट दृष्टान्त का उदाहरण यह है—दमयन्ती हंस से कहती है :—

"जो नल की केवल दासी होना चाहती है उसकी उस पद से भी उत्कृष्ट किसी अन्य अभिलाषा को साधने की तुम्हारी इच्छा को धन्यवाद। पर अमृत से पूर्ण होकर भी चन्द्रमा कमलिनी के किस काम का क्योंकि कमलिनी को तो सूर्य चाहिए।"[1]

यहाँ द्वितीय (उपमान) वाक्य वैधर्म्य के द्वारा प्रथम (उपमेय) वाक्य का प्रतिविम्व वनता है।

दीपक

जहाँ प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) दोनों के क्रिया आदि धर्म का एक ही वार कथन किया जाय अथवा जहाँ अनेक क्रियाओं का एक ही कारक से सम्वन्ध हो, वहां दीपक अलङ्कार माना जाता है।[2] यहाँ पहले को क्रिया-दीपक तथा दूसरे को कारक-दीपक कहते हैं।

क्रिया-दीपक का सुन्दर उदाहरण स्वर्गङ्गा द्वारा किए गए देवर्षि के इस आतिथ्य से दिया जा सकता है—

"स्वर्गङ्गा ने उस अतिथि के लिए किनारे पर उगे कुशों का आसन, अपने जल का पाद्य, तीर के दलदल में उत्पन्न तृणलताओं का अर्घ्य तथा कमलों के मकरन्द का मधुपर्क उपहृत किया।"[3]

यहाँ एक 'अदित'-क्रिया-रूप धर्म विष्टर, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क चारों से सम्वद्ध है।

तुल्ययोगिता

जहाँ वर्णनीय विषयों (उपमेय अथवा उपमान) में से एक ही के धर्म, गुण या क्रिया, का एक वार उल्लेख किया जाय वहाँ तुल्योगिता अलङ्कार होता है।[4]

---

१. तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ नै० ३।८०

२. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ का० प्र० १०।१५६

३. विष्टरं तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथकच्छरुहाभिः।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ नै० ५।७

४. नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ का० प्र० १०।१५८

तुल्योगिता में सादृश्य (औपम्य) व्यङ्ग्य रहता है, वाच्य नहीं। इसमें केवल प्रस्तुतों (उपमेयों) अथवा केवल अप्रस्तुतों (उपमानों) का समान (एक ही) धर्म के साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है।[1]

दमयन्ती के सम्मुख भावोद्रेक में स्नेह-प्रलाप करते हुए नल की—

"सुन्दरि, तुम्हारे नेत्रों से निरन्तर प्रवाहित होने वाले इस अमङ्गल रूप अश्रुजल को सर्वप्रथम मैं अपने हाथों से पोंछ दूँ, फिर अपने मस्तक पर तुम्हारे दोनों चरण-कमलों की धूल लगाकर अपने अपराध का मार्जन करूँगा।[2]"

इस उक्ति में तुल्योगिताका सुन्दर उदाहरण है। यहाँ नेत्रों के (अमङ्गल) जल तथा (अपने) अपराध दोनों प्रस्तुतों से सम्बद्ध एक (समान) क्रिया रूप धर्म 'परिमार्जन' का उल्लेख किया गया है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमान की उपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष कहा जाता है वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है।[3] इसमें कभी कभी उपमेय तथा उपमान दोनों पक्षों के क्रम से उत्कर्षापकर्ष के हेतु कहे जाते हैं। कभी एक का ही हेतु कहा जाता है, और कभी एक का भी नहीं कहा जाता। इसी प्रकार इस अलङ्कार में उपमानोपमेय—भाव भी कभी शब्द-द्वारा, कभी अर्थ-द्वारा और कभी आक्षेप-द्वारा प्रकट किया जाता है। इस प्रकटीकरण में कभी श्लेष का सहारा लिया जाता है, कभी नहीं। इसलिए काव्य-प्रकाशकारने व्यतिरेक के उक्त चौवीस भेद वताये हैं।[4] इस अलङ्कार में उपमान और उपमेय में वैलक्षण्य (भेद) रहता है। कभी उपमेय उपमान से अधिक रहेगा कभी कम, उनमें समता नहीं रहेगी।[5]

नल के सम्मुख दमयन्ती के केशों की प्रशंसा करता हुआ हंस व्यतिरेक द्वारा कहता है—

---

१. औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता—अलङ्कार-सर्वस्व

२. दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत्परिमार्जयामि ते।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना॥ नै० ९।१०६

३. उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः॥ का० प्रं० १०।१५९

४. हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत्॥ का० प्र० १०।१६०

५. भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः—अलङ्कारसर्वस्व

"राजन्, सर्वसुन्दर हैं वे केश, जिन्हें उस विदुषी ने अपने सिर पर धारण किया है। भला उनकी तुलना चामर से कौन करेगा, जिन्हें चमरी नामक पशु ने भी पूँछ रूप में अपने पीछे की ओर करके तिरस्कृत कर रक्खा है?"[1]

यहाँ 'उपमेय' केश 'उपमान' चामर से अधिक बताए गए हैं और इस भेद के दोनों हेतु भी, उपमेय का शिरस्थ होना तथा उपमान का अपुरस्कृत होना बता दिए गए हैं।

आक्षेप

जहाँ प्रकरणवश प्राप्त विषय के विशेष के कथन की इच्छा से उसका निषेध (कथन न) किया जाय, वहां आक्षेप अलङ्कार होता है। वह आक्षेप भी वक्ष्यमाण-विषय तथा उक्त-विषय के भेद से दो प्रकार का होता है।[2]

काशी-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती है—

"यदि मेरी बातों पर तुम्हें विश्वास नहीं है तो लो मैं मौन हुई। तुम्हारी निज की अनुभूति ही स्वयं इस विषय में प्रमाण होगी कि इन्द्रपुरी (अमरावती) काशी से हीन है या नहीं?"[3]

यहाँ काशी-नरेश के महत्त्व का वर्णन करना अभीष्ट है, जो मौन के द्वारा वक्ष्यमाण का निषेध करके विशेष रूप से कहा गया है।

अन्तःपुर में नल की आकृति वाले पुरुष को देखकर उसकी चाटुकारिता करती हुई दमयन्ती कहती है—

"मेरी बुद्धि सन्देह की दोला पर चढ़कर न जाने क्या क्या कहती है। अथवा इस व्यर्थ की संभावना से क्या लाभ? पता नहीं किस धन्य व्यक्ति के घर के आप अतिथि हैं?"[4]

यहाँ विशेष कहने के लिए उक्त विषय का निषेधरूप आक्षेप किया गया है।

---

१. चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्ति यान्।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः॥ नै० २।२०

२. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ का० प्र० १०।१६१

३. न श्रद्दधासि यदि तन्मम मौनमस्तु कथ्या निजाप्ततमयेव तवानभूत्या।
न स्यात्कनीयसितरा यदि नाम काश्या राजन्वतीमुदिरमण्डनधन्वना भूः॥
नै० ११।११९

४. ब्रवीति मे किं किमियं न जाने सन्देह-दोलामवलम्ब्य संवित्।
कस्यापि धन्यस्य गृहातिथिस्त्वम् अलीकसम्भावनयाऽथवाऽलम्॥ नै० ८।४८

विभावना

'हेतुरूप' क्रिया के विना कहे ही जहाँ पर फल का प्रकट होना कहा जाता है वहाँ पर 'विभावना' अलङ्कार होता है।[१]

नारद के इन्द्र को देखने की इच्छा से स्वर्ग जाते समय के वर्णन से विभावना का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

"देवर्षि इन्द्र-भवनों के भी अभिमान को तोड़ने वाले विमानों को लाँघ गए। उन विमानों के चरणविनम्र स्वामियों द्वारा प्रार्थित होकर भी उन्होंने उनके आतिथ्य को न स्वीकार किया।"[२]

यहाँ 'विमानों को लांघना' रूप फल विना किसी हेतु (साधन) के ही कहा गया है।

विशेषोक्ति

जहाँ सम्मिलित कारणों के उपस्थित रहते हुए भी कार्य के अभाव का कथन किया जाय वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।[३]

मानवीय सुन्दरियों का नल के प्रति अनुराग वर्णन करते हुए श्रीहर्ष विशेषोक्ति द्वारा कहते हैं—

"मानवीय सुन्दरियों को नल-दर्शन में पलक गिरने से कोई विघ्नलेश भी न होता था, क्योंकि निरन्तर चिन्तन करने के कारण नेत्र निमीलन के समय भी वे नल को हृदय में देखती ही रहती थीं।"[४]

यहाँ कारण रूप-नेत्र-निमीलन के रहते हुए भी दर्शन में विघ्नलेश भी (कार्य) नहीं होता।

विशेषोक्ति का एक अन्य उदाहरण दमयन्ती द्वारा चन्द्रोपालम्भ से उद्धृत किया जाता है। दमयन्ती कहती है—

"अरे शशकलङ्क, जिस समय सागर में मन्दराचल डाला गया उसी समय तू उससे दब कर चूर क्यों न हो गया? हाय, उस मुनि (अगस्त्य) ने जब

---

१. क्रियायाः प्रतिषेधेपि फलव्यक्तिर्विभावना॥ का० प्र० १०।१६२

२. खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाल्लंघते स्म मुनिरेष विमानान्।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैवतत्पतिभिरङ्घ्रि विनम्रैः॥ नै० ५।४

३. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः॥ का० प्र० १०।१६३

४. विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि।
अलम्भिमर्त्याभिरमुष्यदर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः॥ नै० १।२९

सागर का पान किया था उस समय उनकी जठरज्वाला में ही तू क्यों न जीर्ण हो गया।"[1]

यहां 'मन्दराचल का उदधि में प्रक्षिप्त किया जाना' इस हेतु के रहते हुए भी चन्द्रमा का चूर्ण न होना, तथा मुनि की जठराग्नि में पयोनिधि के साथ पहुँच कर भी जीर्ण न होना विशेषोक्ति के ही उदाहरण हैं। यहां विद्याधर ने विभावना अलङ्कार माना है। (अत्र विभावनालङ्कारः, इति साहित्यविद्याधरी)[2] जो विशेषोक्ति के स्थान पर भ्रम से लिखा गया समझ पड़ता है।

यथासंख्य

जहां क्रमपूर्वक कहे गए पदार्थों के साथ क्रमपूर्वक कहे गए पिछले पदार्थों का यथोचित सम्बन्ध कहा जाय वहाँ यथासंख्य अलङ्कार होता है।[3]

कुण्डिनपुर का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

"भवनों के अधो, मध्य, तथा ऊर्ध्व भाग क्रमशः पाताल, भूलोक तथा आकाश के सभी चिह्नों-सहित श्रेष्ठ अंशों द्वारा आश्चर्यमय विनिर्मित किए गए थे।"[4]

यहां क्षितिगर्भ, धरा तथा अम्बर के चिह्न क्रम से तल, मध्य, तथा ऊपर के भागों से सम्बद्ध हैं, अतः यह यथासंख्य का उदाहरण हुआ।

अर्थान्तरन्यास

जहाँ साधर्म्य द्वारा अथवा वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का अथवा विशेष से सामान्य का समर्थन किया जाय वहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार होता है।[5]

नल की मानशीलता का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

---

१. निपतताऽपि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छनचूर्णितः।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोसि न पीतपयोनिधेः॥ नै० ४।५१

२. नै० ४।५१ की टिप्पणी में।

३. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः॥ का० प्र० १०। १६४

४. क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्।
जगतां किल या खिलाद्भुताजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः॥ नै० २।८१

५. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेणवा॥ का० प्र० १०।१६५

"अतिशय काम-पीड़ित होकर भी नल ने विदर्भ-राज से उनकी तनया न माँगी। मानीपुरुष प्राण तथा सुख का परित्याग कर देते हैं पर एक अयाचन महाव्रत को कभी नहीं छोड़ते।"[१]

यहाँ सामान्य (मानी-जनों के व्यवहार-वर्णन) के द्वारा विशेष (नलगत मानरक्षा) का समर्थन हुआ है।

एक अन्य उदाहरण दूत-नल से नल की प्राप्ति न होने पर प्राण-त्याग रूप दमयन्ती की प्रतिज्ञा के समर्थन-वाक्य से प्रस्तुत किया जाता है—

"जब विपत्ति के समय शास्त्र-संगत उचित कार्य किसी प्रकार रक्षा न कर सकें तो वर्जित कर्म भी कर लेना चाहिए। जिस समय राज-मार्ग मेघजल से पङ्किल हो जाता है, उस समय विद्वान् लोग भी कहीं-कहीं अन्य (बुरे) रास्ते से चले जाते हैं।"[२]

यहां विशेष (विद्वानों के कुपथ पर जाने रूप) द्वारा सामान्य (आपत्ति में निषिद्धाचरण) का समर्थन होता है।

विरोधाभास

जहाँ वास्तव में विरोध न रहने पर भी दो वस्तुओं में परस्पर विरोध कहा जाय वहाँ विरोध या विरोधाभास[३] अलङ्कार होता है। विरोध का यह आभास दस प्रकार का होता है। कहीं जाति का जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया के साथ, कहीं गुण का गुण, क्रिया और द्रव्यों के साथ, कहीं क्रिया का क्रिया तथा द्रव्यों के साथ और कहीं द्रव्य का द्रव्य के साथ।[४]

राजा नल की विशेषता बताते हुए कवि की उक्ति है—

"नल अपने तेज से अमित्र (शत्रु) जित् होते हुए भी मित्र-(सूर्य) जित् थे तथा चार (दूत) दृष्टि होकर भी विचार-(विवेक) दृष्टि रहे। मानों विपक्षी राजाओं की भाँति विरुद्ध स्वभावों ने भी नल के भय से परस्पर विरोध त्याग दिया था।[५]"

---

१. स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्॥ नै० १।५०

२. निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले क्वचिद् बुधैरप्यपथेन गम्यते॥ नै० ९।३६

३. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः॥ का० प्र० १०।१६६

४. जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणैस्त्रिभिः।
क्रियाद्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेतितेदश॥ का० प्र० १०।१६७

५. प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेतृतोज्झिता।
अमित्रजिन् मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥ नै० १।१३

यहाँ 'अमित्र-जित् (अपि) मित्रजित्' में तथा 'विचार-दृक् अपि चार-दृक्' में जाति से जाति के विरोध की प्रतीति होती है किन्तु वास्तव में अमित्र का शत्रु तथा मित्र का सूर्य एवं विचार का विवेक तथा चार का दूत अर्थ करने पर (जो अभीष्ट भी हैं) उसका परिहार हो जाता है अर्थात्—कोई विरोध नहीं रह जाता।

एक अन्य उदाहरण स्वयंवर-मार्ग पर अपार जन-सम्मर्द के वर्णन में देखिये—

"किसी राजा का मार्ग आगे वालों से अवरुद्ध था और पीछे आने वाले उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर रहे थे। इस प्रकार उसे तैल निष्कासनयन्त्र में पड़े सिद्धार्थ (सरसों) की उपाधि तो मिली पर उसने अपने को असिद्धार्थ (अकृतकार्य) ही समझा।"[1]

यहां 'सिद्धार्थ' 'असिद्धार्थ' में विरोध है। किन्तु प्रथम सिद्धार्थ शब्द का सरसों अर्थ करने पर वह विरोध मिट जाता है।

स्वभावोक्ति तथा जाति

जिसमें बच्चों आदि की आत्मगत क्रिया, रूप आदि का वर्णन होता है उसे स्वभावोक्ति[2] अलङ्कार कहते हैं।

स्वभावोक्ति अत्यन्त प्राचीन अलङ्कार हैं। अतिशयोक्ति एवं वक्रोक्ति के समर्थक हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को भी अलङ्कार न मानने वाले अत्यन्त प्राचीन भामह के पूर्ववर्ती आचार्य भी स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते थे। जैसा कि स्वयं भामह के शब्दों से सिद्ध होता है। उन्होंने स्वभावोक्ति का लक्षण करते हुए लिखा है—कुछ (आचार्यों) का कहना है कि कि वस्तु की अपनी अवस्था (स्वभाव) का वर्णन अर्थात् स्वभावोक्ति भी अलङ्कार है।[3]

दण्डी ने स्वभावोक्ति और जाति को प्रायः एक ही मानते हुए उसका लक्षण इस प्रकार किया है। जो पदार्थ के विभिन्न अवस्थागत रूपों का यथार्थ विवरण देता है, उसे स्वभावोक्ति या जाति[4] अलङ्कार कहते हैं।

---

१. नृपः पुरस्थैः प्रतिबद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः कश्चन नुद्यमानः।
यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वाप्यसिद्धार्थममन्यत स्वम्॥ नै० १०१६

२. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्॥ का० प्र० १०।१६८

३. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितः॥ भामहालङ्कार २।९३

४. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्चजातिश्चैत्याद्या सा अलङ्कृतिः॥ काव्यादर्श २।८

रुद्रट ने स्वभावोक्ति का जाति नाम रक्खा है और उसका लक्षण इस प्रकार किया है, "जिस वस्तु की लोक में जैसी चिर-प्रसिद्ध संस्थिति अवस्थिति या अन्य क्रियादि हो उसको ठीक उसी प्रकार से कहना जाति[1] अलङ्कार कहा जाता है।

नैषध में इस स्वभावोक्ति या जाति का मनोरम सौन्दर्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ एक दो चित्र पर्याप्त होंगे। नल के करपञ्जर से मुक्त होने पर हंस की कुछ विहङ्गोचित क्रियाओं का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—

"हंस ने अपने उत्फुल्ल-रोम शरीर को अनेक वार कँपाया तथा नल की कर-यन्त्रणा में पड़ने के कारण अपने दन्तुर (ऊंचे नीचे हुए) पंखों को चञ्चुपुट के विलेखन (खँरोच) द्वारा सुव्यवस्थित किया।"[2]

यहाँ पंखे फुलाकर सारा शरीर हिलाना, तथा चञ्चुपुट से पंखों को खंरोचकर सम करना पक्षियों की अत्यन्त स्वाभाविक क्रिया है।

एक और उदाहरण हंस की कुण्डिनपुर-यात्रा के वर्णन में देखने योग्य है। उस समय—

"वेग के कारण उसके पंखों की गति से झंकार हो रहा था, जिससे अधःस्थित पक्षियों को श्येननिपात (वाज के झपट्टे) की शङ्का होती थी। अतः वे अपनी गर्दन शीघ्रता से झुकाकर ऊपर की ओर एक आँख से देखते।"[3]

यहाँ ऊपर की ओर पक्षी के वेगजनित झंकार को सुन नीचे की ओर तिरछा ताकना अत्यन्त स्वाभाविक है।

व्याजस्तुति

जहाँ निन्दा-मुखेन स्तुति अथवा स्तुति-मुखेन निन्दा की जाय वहाँ व्याजस्तुति[4] नामक अलङ्कार होता है।

स्वयंवर सभा में दमयन्ती के सङ्केत से उसकी सखी कीकटाधिप की अकीर्ति का वर्णन कर रही है—

---

१. संस्थानावस्थानक्रियादियद्यस्य यादृशं भवति।
लोकेचिरप्रसिद्धं तत्कथनमन्यथाजातिः॥ रुद्रट—काव्यालङ्कार ७।३०

२. अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती॥ नै० २।२

३. विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
स निरैक्षि दृशैकयोपरिस्यदझाङ्कारितपत्रपद्धतिः॥ नै० २।७०

४. व्याजस्तुतिर्मुखेनिन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा॥ का० प्र० १०।१६९

"इस नरेन्द्र की परार्द्ध से भी अधिक संख्या में गिनी दुष्कीर्तियाँ कच्छपी के दूध से बने सागर के तट पर गूँगों के परस्पर वार्तालाप के समय, वन्ध्या के पुत्रों द्वारा अष्टमस्वर में गायी जाती है, और उन अपकीर्तियों को जन्मान्ध पुरुष देखता है कि उनका रूप घोर अन्धकार के समान है।"[1]

यहाँ अवस्तुभूत (काल्पनिक) अपकीर्तियों (निन्दा) के वर्णन द्वारा राजा की स्तुति गाई गई है।

स्तुति के द्वारा निन्दा का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मदन के प्रति दमयन्ती की इस उक्ति में देखिए—

"हरिणलाञ्छन, अपने यश की नयी डुग्गी पिटवा, अपने जलनिधि वंश को समुज्ज्वल कर, अबला की हत्या करके पौरुषशाली बन, पर मेरी यह दुर्दशा करनी तो छोड़ दे!"[2]

यहाँ प्रशंसा के सभी उपकरणों से निन्दा ही फैलेगी।

सहोक्ति

जहाँ पर एक ही पद सह आदि शब्दों के संयोग से अनेकार्थ का बोधक होता है, वहाँ सहोक्ति[3] अलङ्कार होता है। दूत रूप में नल इन्द्र-वरण का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"चन्द्रमुखि, महेन्द्र का तुममें अनुराग होने के कारण समस्त स्त्रियों में अवज्ञा के साथ मेरा तुम्हारे प्रति जो महान् आदर-भाव था उसे तुमने स्वयं अपने प्रत्यक्ष कल्याण के प्रति विमुख होकर नष्ट कर दिया है।"[4]

यहाँ (सह) शब्द के योग के कारण अवहेलना द्वारा उन युक्तियों में अनुराग का अभाव व्यक्त होता है।

---

१. अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया,
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि॥ नै० १२।१०६

२. मुखरय स्वयशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाधुना।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन मुञ्च कदर्थनाम्॥ नै० ४।५३

३. सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्॥ का० प्र० १०।१७०

४. सहाखिलस्त्रीषु वहेऽवहेलया महेन्द्ररागाद्गुरुमादरं त्वयि।
त्वमीदृशि श्रेयसिसम्मुखेपितं पराङमुखी चन्द्रमुखि न्यवीवृतः॥ नै० ९।४०

एक अन्य उदाहरण स्मरोपतप्त नल के कानन-विहार के लिये तैयार होने के वर्णन से प्रस्तुत किया जाता है—"कान्ति में मदन से भी वढ़कर नल ने उस समय अपने अभिप्राय-वेदी कुछ मित्रों के साथ (समम्) नगर के समीप में स्थित उपवन को देखने की इच्छा से भृत्यों को सवारी लाने की आज्ञा दी।"[१]

"यहाँ (समम्) के अर्थ से रहस्यवेदी वयस्यों की भी उपवन-विहार की इच्छा प्रकट होती है।

एक और उदाहरण दमयन्ती के चन्द्रमा के प्रति एक उपालम्भ से प्रस्तुत किया जाता है--

"स्मर, तूने शङ्कर के प्रति जो वाण उठाया था, उस वाण के साथ तू स्वयं भी तुरन्त भस्म हो गया। अव तुझे अनङ्ग का वह वाण भी कोकिल के (पञ्चम) स्वर के रूप में अनङ्ग ही हुआ है। कोकिल का स्वर (जो पञ्चम स्वर माना जाता है) तुम्हारा पञ्चम वाण ही है।"[२]

यहाँ "सह" के शव्द-योग से मदन का भस्म होना, तथा उसके अर्थयोग से वाण का भी भस्म होना कह दिया जाता है।

विनोक्ति

जहाँ एक के विना दूसरा अच्छा न लगे, अथवा एक के विना दूसरा अच्छा ही लगे, वहाँ विनोक्ति[३] अलङ्कार होता है।

"नल का रूप वनाकर इन्द्र आदि चारों दिक्पाल स्वयंवर सभा में पहुंच गए। किन्तु—

"नल के विना, उनकी शोभा वाले दिव्यरत्नधारी चार प्रतिनिधियों के होने पर ही स्वयंवर-सभा ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे पारिजात के सत्यभामा के आँगन में अतिथि होकर चले जाने पर, अन्य चार देव-वृक्षों से युक्त स्वर्गपुरी हो।"[४]

यहाँ नल के विना स्वयंवर-सभा की शोभा ही नहीं होती। इस प्रकार इसे विनोक्ति कहा जायगा।

---

१. अथश्रिया भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः॥ नै० १।५६

२. सह तया स्मर भस्म झटित्यभूः पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः॥ नै० ४।९४

३. विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः॥ का० प्र० १०।१७१

४. सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाभूद्धृतदिव्यरत्नैः।
भामाङ्गण-प्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजातैः॥ नै० १०।२४

भाविक

जहाँ भूतकाल के तथा भविष्यकाल के पदार्थ वर्तमानकाल के प्रत्यक्ष पदार्थ के समान प्रकट किए जाँय वहाँ भाविक अलङ्कार होता है।[१]

नल हंस से कहते हैं—

"वह त्रिभुवनमोहिनी मुझे शतशः कर्णगोचर हुई है, पर तुम्हारे इस वर्णन से तो मानों मैंने उसे दृष्टिगोचर ही कर लिया।"[२]

यहाँ भूत की वात प्रत्यक्ष वर्तमान की भांति प्रकट की गयी होने के कारण भाविक अलङ्कार कहा जायगा।

काव्यलिङ्ग

जहाँ हेतु का कथन वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप से किया जाय वहाँ काव्यलिङ्ग[३] अलङ्कार होता है।

पदार्थ के हेतु होने का एक उदाहरण नल के प्रति दमयन्ती के इस प्रशंसात्मक कथन में दिया जाता है—

"अगस्त्य के चुल्लू में समुद्र कैसे आ गया?. इस प्रकार की असम्भावना अब आप को सोचकर मेरे मन में नहीं रह गयी, क्योंकि आप द्वारा समुद्र की गम्भीरता तथा महत्ता के ले लिए जाने पर वह सरलता से अगस्त्य के चुल्लू में आ गया होगा।"[४]

यहां समुद्र के चुल्लू में समाने (ममौ) का हेतु समुद्र का विशेषण आत्तगाम्भीर्य्यं (जिसकी गम्भीरता ले ली गयी) यह पद है।

वाक्यार्थ के हेतु होने का उदाहरण दूत नल की दमयन्ती से इन्द्रविषयक इस उक्ति में मिलता है।

"ऐरावत हाथी के कुम्भस्थल ही जिसके कठिन तथा पीन स्तन हैं, ऐसी पूर्व दिशा के स्वामी (इन्द्र) ही क्या तुम्हें अभीष्ट हैं? मेरे भी विचार से उस सहस्रनेत्र वाले के सिवा कोई अन्य तुम्हारी अङ्गशोभा को देने में समर्थ भी नहीं।"[५]

---

१. प्रत्यक्षा इव यद् भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः। तद्भाविकम्॥—का प्र० १०।१७३

२. शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम।
अमुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम्॥ नै० २।५४

३. काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता॥ का० प्र० १०।१७४

४. सेयं न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्त-वृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने।
ममौ सभद्रं चुलुके समुद्रस्त्वयात्त-गाम्भीर्य-महत्त्वमुद्रः॥ नैः ८।४५

५. मतः किमैरावतकुम्भकैतव-प्रगल्भपीनस्तन-दिग्धवस्तव।
सहस्र-नेत्रान्नपृथङ्मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितुं क्षमः॥ नै० ९।५२

यहाँ श्लोक का उत्तरार्द्धरूप वाक्यार्थ पूर्वार्द्धरूप वाक्यार्थ का समर्थन करने के कारण हेतु रूप है।

उदात्त

जहाँ किसी वस्तु की सम्पत् (बड़प्पन) का वर्णन किया जाय, अथवा जहां किसी अन्य वर्ण्य विषय के प्रसङ्ग में किसी अन्य महापुरुष के महत्त्व का गौण रूप से वर्णन किया जाय वहाँ उदात्त अलङ्कार होता है।[1]

नैषध में उदात्त अलङ्कार के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं, क्योंकि विषय ही महान् वर्णन करने का है। कुण्डिनपुर में राज-समाज के एकत्र होने पर श्रीहर्ष की उक्ति है:—

"जिस प्रकार सागर अगस्त्य के हाथ में, तथा समस्त विश्व विष्णु के उदर में समा गया, उसी प्रकार इसकी शङ्का ही नहीं की जा सकती कि वह विशाल राज-समाज विदर्भराज के उस नगर में न समाया।"[2]

यहां विदर्भेन्द्रपुर की महत्ता का वर्णन किया गया है।

एक अन्य उदाहरण नल के विलास-भवन के वर्णन में मिलता है।

"प्रासाद का मणिखचित भूपृष्ठ सर्वप्रथम कर्पूर-सुवासित जल से धोया गया, फिर उस पर कुङ्कुम तथा कस्तूरी का लेप किया गया, और अन्त में नल-दमयन्ती के चलने वाले मार्ग पर पर्वतीय सुगन्धित पुष्पों की मालायें फैलायी गईं।"[3]

भवन की महती समृद्धि का वर्णन होने के कारण यहाँ उदात्त अलङ्कार है।

समुच्चय

जहाँ प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के हेतु के उपस्थित रहने पर भी (उसकी सिद्धि के लिए) और भी अनेक कारण कहे जायं, वहाँ समुच्चय अलङ्कारहोता है।[4]

दमयन्ती के लिए भूलोक पर आये हुए देवों को जिस समय नल दिखायी पड़े, उस समय "वैसी (अद्भुत) सुन्दरी वधू के वरने योग्य (नल के) वे

---

१. उदात्तं वस्तुनः सम्पत्, महतां चोपलक्षणम्॥ का० प्र० १०।१७६, १७७

२. अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न संममौ नैष तथा समाजः।
यथापयोराशिरगस्त्य-हस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः॥ नै० १०।३०

३. कुङ्कुमैणमदपङ्कलेपिताः क्षालिताश्च हिमबालुकाम्बुभिः।
रेजुरध्वततशैलजस्रजो यस्य मुग्धमणि-कुट्टिमा भुवः॥ नै० १८।७

४. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्॥ समुच्चयोऽसौ॥ का० प्र० १०।१७८

अलङ्कार, वह (स्वयंवर का) समय, तथा रथ का वह कुण्डिनपुर की ओर ले जाने वाला मार्ग, इन सब ने नल के कार्य का उन देवों से स्पष्ट विवरण दे दिया (कि ये नल हैं, और स्वयंवर में जा रहे हैं)।"[1]

यहाँ नल के स्वयंवर में जाने के उद्योग के लिये प्रमाण उनका भूषण, वह अवसर तथा कुण्डिनपुर की ओर जाने वाला रास्ता, इनमें से किसी एक ही को देखने से मिल सकता है, फिर यहां तो अनेक हैं। अतः यह समुच्चय अलङ्कार हुआ।

पर्याय

यदि एक ही वस्तु क्रमशः अनेक में पाई जाय, अथवा उत्पन्न की जाय, एवं अनेक वस्तुएँ एक ही (आधार) में क्रमपूर्वक (काल-भेद) से मिलें, अथवा की जायं तो पर्याय अलङ्कार होता है।[2]

दूत रूप में गुप्त नल ने कुण्डिनपुर के अन्तःपुर में जिस समय प्रथम वार दमयन्ती को देखा उस समय—

"नल की आंखें सर्वप्रथम प्रिया के प्रत्यवयव पर गईं, जहां उन्हें आनन्द-सुधाब्धि लहराता मिला, और जहां अवगाहन करके उनमें प्रमोदाश्रु की झड़ी लग गई।"[3]

यहां नल के नेत्र क्रम से दमयन्ती के प्रत्यङ्ग में, आनन्द-सुधासागर में तथा प्रमोदाश्रु में निमग्न होते हैं। अतः इसमें एक का अनेक में पाया जाने वाला पर्याय अलङ्कार होगा।

एक अन्य उदाहरण, जिसमें अनेक का एक में कथन किया जाय, दमयन्ती के स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश करने के वर्णन से दिया जा सकता है—

"दर्शकों का कौतूहल-सागर सर्व-प्रथम आगे चलने वाली दासियों को देखकर उत्पन्न हुआ, फिर क्रमानुसार दृष्टि-पथ पर आने वाली दूसरी सखियों को देखकर और बढ़ा, तथा अन्त में दमयन्ती के अङ्गों के सौन्दर्य को देखकर उमड़ पड़ा।"[4]

---

१. तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं, स समयः, स रथाध्वा।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः॥ नै० ५।६७

२. एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायोन्यस्ततोन्यथा॥ का० प्र० १०।१८०,१८१

३. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य॥ नै० ७।२

४. दासीषु नासिरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम्॥ नै० १०।९२

यहाँ अद्‌भुत-रस के सागर (एक ही वस्तु) में क्रम से जातत्व, स्फीतत्व तथा रूपोत्थत्व तीनों कार्यों का कथन किया गया है। विद्याधर ने तो इस श्लोक में केवल अतिशयोक्ति अलङ्कार माना है, किन्तु मल्लिनाथ ने पर्याय अलङ्कार भी माना है।[१]

अनुमान

जहाँ साध्य (सिद्ध करने योग्य वस्तु) और साधक (सिद्ध करनेवाले हेतु) का कथन किया जाय, वहाँ अनुमान-नामक अलङ्कार होता है।[२]

हंस दमयन्ती के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कहता है :—

"सुषमा की परीक्षा के समय दमयन्ती के मुख से समस्त कमल परास्त हो गए। स्पष्ट है कि आज भी वे कमल, उसी पराजय के कारण जल से बाहर नहीं निकलते।"[३]

यहाँ पद्मों का सलिलोन्मज्जन देखकर दमयन्ती-मुख से पराजय का अनुमान किया जाता है।

मदनव्यथिता दमयन्ती की दशा का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष अनुमान अलङ्कार का उपयोग करते हैं :—

"योषित् (स्त्री)-हृदय मृदु होता है—यह सहज धर्म दमयन्ती में क्यों न हो ? कुसुमों से ही उसके हृदय को पीड़ित कर चतुर कामदेव ने उसे स्पष्ट कर दिया।"[४]

यहाँ हृदय को कुसुमपीड़ित देखकर उसके सहजस्वरूप (कुसुम से भी मृदु होने) का अनुमान किया जाता है।

अनुमान अलङ्कार की न्यायदर्शन के अनुमान की भांति पूरी बन्दिश स्वयंवर में पुष्कर-द्वीप के स्वामी राजा सवन के वर्णन को सुन चुकने के बाद दमयन्ती की प्रतिक्रियात्मक चेष्टाओं के इस चित्रण में मिलती है।

"अत्यन्त कुशल दमयन्ती ने अपनी भ्रूलताओं के स्पन्दन तथा मुख-मुद्रा के परिवर्तन द्वारा राजा सवन के प्रति अपनी अवज्ञा को व्यक्त कर दिया। इधर उस नरेश की भी कान्ति अत्यन्त धूमिल हो गयी। मानों दमयन्ती को न पा सकने

---

१. अत्रैकस्मिनद्‌भुताब्धौ क्रमेणानेकेषां जातत्वस्फीतत्वोद्वेलत्वानां वृत्तिकथनात् पर्यायालङ्कार-भेदः इति जीवातुः॥ नै० १०।९२ की टिप्पणी।

२. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः॥ का० प्र० १०।१८२

३. सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम्॥ नै० २।२७

४. प्रकृतिरेतुगुणः स न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत्।
तदिषुभिः कुसुमैरपि दुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा॥ नै० ४।२३

के कारण राजा के हृदय में जो सन्ताप हुआ वह धूमिलता उसी आग का वाह्य चिह्न थी।"[1]

यहाँ दमयन्ती का भ्रू-स्पन्दन तथा मुखाकृति-भङ्गी से राजा के प्रति अनादर का तथा राजा की मुख-मलिनता से उसके हृदयस्थ ताप का अनुमान सहज में हो जाता है।

परिकर

जहाँ अभिप्राय-विशिष्ट विशेषणों के साथ (विशेष्य) की उक्ति की जाती है, वहाँ परिकर नामक अलङ्कार होता है।[2]

इस उक्ति में परिकर का सुन्दर उदाहरण देखिए :—

"शस्त्र एवं शास्त्र में पारङ्गत मदन की कान्तिवाले, श्री में कुबेर को भी पराजित करने वाले, सत्कुलोत्पन्न (कुलज) राजकुमार (कुमार) रथों पर स्वयंवर में आने लगे।"[3]

इसमें राजाओं के लिए 'कुलज', 'कुमार' आदि जितने विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे सभी उनकी वर-रूप योग्यता को ही सिद्ध करते हैं।

एक अन्य अत्यन्त सुन्दर उदाहरण सरस्वती द्वारा स्वयंवर में मथुराधिनाथ के किए गए वर्णन से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

"सुन्दरि, वृन्दावन में महाराज पृथु के साथ निर्भय वन विहार का आनन्द लो। समीप में ही गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले मयूरों के कारण वहां सांपों का कोई भय नहीं रह गया है। सुगन्धित पुष्पों से वृन्दावन अत्यन्त आमोदित हो रहा है।[4]"

यहाँ श्लोकार्ध में वृन्दावन के तीनों विशेषण (१. मयूरों के कारण सर्प रहित २. सघन, तथा ३. सुगन्धित पुष्पों से पूर्ण) निःशङ्क विहार-सुख करने में अत्यन्त सार्थक हैं।

---

१. भ्रूवल्लिवेल्लितमथाकृतिभङ्गिमेषा लिङ्गं चकार तदनादरणस्यविज्ञा।
राज्ञोऽपि तस्य तदलाभज-तापवह्निश्चिह्नी बभूव मलिनच्छविभूमधूमः॥
नै० ११।३३

२. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः॥ का० प्र० १०।१८३

३. रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः ॥ नै० १०।१

४. गोवर्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासिताहनि घने सुरभिप्रसूने।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि॥

व्याजोक्ति

जहाँ कोई वस्तु प्रकट तो हो गई हो, किन्तु छल से उसको छिपाया जाय, वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होता है[१]—

विवाह के पश्चात् नववधू के साथ कुण्डिनपुर से नल की विदाई के प्रसंग में कवि नल द्वारा दमयन्ती को रथ पर बैठाये जाने का वर्णन इस प्रकार करता है—

"वधू को छूने का अधिकार दूसरे को है नहीं, यह छोटी है, और रथ ऊंचा है— यह कहते हुए नल ने दमयन्ती को स्वयं उठाकर रथ में चढ़ाया। लोगों की दृष्टि में मानों (उठाने में) उसका आलिङ्गन नहीं किया।"[२]

यहाँ वधू को कोई छू नहीं सकता, वधू छोटी पड़ती है, रथ ऊंचा है, सारी उक्ति (उठाने में होने वाली) आलिङ्गन-क्रिया को छिपाने का बहाना-मात्र है।

परिसंख्या

जो कोई बात पूछी गयी हो, या न पूछी गई हो, परन्तु शब्दों द्वारा प्रकट की गई हो तथा किसी अन्य प्रयोजन के न होने से उसके तुल्य किसी अन्य वस्तु के अपलाप रूप में परिणित हो वहाँ परिसंख्या नामक अलङ्कार होता है।[३]

स्वयंवर में दमयन्ती से मलय-नरेश का परिचय देती हुई सरस्वती कहती है—

"सौ वीरों को एक साथ मारने वाले शस्त्र को धारण करने वाले इस राजेन्द्र के सम्मुख सौ सशस्त्र राजाओं की भी क्या चल सकती है? लक्षभेद करने वाले इसका एक लाख भी क्या कर सकते हैं? नेत्रों से ही पद्मों को जीतने वाले के सामने पद्मसंख्या-परिमित भी शत्रु क्या वीरता दिखा सकते हैं? शत्रु-मात्र का उन्मूलन करने वाले का शत्रुओं की परार्ध संख्या भी कुछ नहीं विगाड़ सकती है। अतः

---

१. व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्॥ का० प्र० १०।१८४

२. परस्य न स्प्रष्टुमिमामधिक्रिया प्रिया शिशुः प्रांशुरसाविति ब्रुवन्।
रथे स भैमीं स्वयमध्यरूरुहन्न तत्किलाश्लिक्षदिमां जनेक्षितः॥ नै० १६।११४

३. किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्प्यते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥ का० प्र० १०।१८५

शत्रुओं को परार्ध संख्या के भी आगे की किसी संख्या की शरण लिए विना कोई चारा नहीं।"[1]

यहाँ विना प्रश्न किए वस्तु का शब्दों द्वारा अपलाप किया गया है।

सार

जहाँ अनेक वस्तुओं में क्रम से एक के वाद एक का उत्कर्ष वताया जाय, एवं प्रत्येक वस्तु को अपने समुदाय में भी श्रेष्ठ वताया जाय, वहाँ सार अलङ्कार होता है।[2] रुय्यक ने सार का नाम 'उदार' रक्खा है, तथा पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का उत्कर्ष वताना इसका लक्षण किया है।[3]

दमयन्ती के प्रति इन्द्र के लिए प्रस्ताव करती हुई दूती की इस उक्ति में सार का अत्यन्त मनोरम उदाहरण देखने को मिलता है—

"चौदहों लोकों में स्वर्ग सर्वोपरि है। स्वर्ग में भी अदितिपुत्र देवगण सर्वश्रेष्ठ हैं। उन आदितेयों में भी महेन्द्र सवसे महान् हैं। सुन्दरि, ऐसे महेन्द्र भी जव अनुरागवश तुम्हारे किङ्कर वनने की प्रार्थना करते हैं, तो क्या इससे भी वड़े महत्त्व का कोई पद होगा?"[4]

यहाँ लोकों में स्वर्ग को, स्वर्ग में अदितिपुत्र देवगण को, देवों में महेन्द्र को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वताया गया है।

समाधि

जहाँ कतिपय अन्य कारणों के योग से कार्य का होना सुगम हो जाय, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है।[5]

---

१. राज्ञामस्य शतेन किं कलयतो हेतिं शतघ्नीं कृतं।
लक्षैर्लक्षभिदो दृशैव जयतः पद्मानि पद्मैरलम्॥
कर्तुं सर्वपराच्छिदः किमपि नो शक्यं परार्द्धेन वा।
तत्संख्यापगमं विनास्ति न गतिः काचिद्वतैतद्द्विषाम्॥ नै० १२।५८

२. यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्॥ रुद्रट--का० लं० ७।९६

३. उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुदारः--अ० सर्वस्व

४. लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान् महेन्द्रः।
किं कर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्षा किमतः परापि॥ नै० ६।८१

५. समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः॥ का० प्र० १०।१९२

नल के विवाहोचित शृङ्गार का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं —

"नल ने समस्त शरीर में पहिने हुए आभूषणों के रत्नों में अपना स्वरूप-प्रतिबिम्ब देखा था, अतः सेवाकुशल भृत्यों द्वारा रूप देखने के लिए दर्पण लाना व्यर्थ ही रहा।"[१]

नल के अपने अलंकृत रूप को देखने का कार्य मणिमण्डल के द्वारा ही सुकर हो जाता है। अतः यहां समाधि अलंकार है।

सम

जहाँ दो वस्तुओं का संयोग यथोचित जानकर स्वीकार कर लिया जाय वहाँ सम अलङ्कार होता है।[२]

हंस दमयन्ती को नल की वधू होने के सर्वथा उपयुक्त बताते हुए कहता है —

"निशा से शशी का, उमा से शिव का, तथा रमा से विष्णु का संयोग कराने से यह सिद्ध है कि परस्पर योग्य का संयोग कराने में विधि का प्रयास सर्वथा स्वारसिक (स्वयं समुचित) ही होता है।"[३]

यहाँ निशा-शशाङ्क का, शिवा-गिरीश का तथा श्री-हरि का संयोग अत्यन्त उचित हुआ है।

सम का एक अन्य उदाहरण हंस की इस उक्ति में पाया जाता है :—

"हे कृशाङ्गि, नल के महान् कौशल (वैदग्ध) की ज्ञापक पत्रावली आदि की सुन्दर रचना, तुम्हारे पीन-पयोधरों पर ही पूर्ण विकसित होगी।"[४]

यहाँ पत्र-रचना तथा पीन-पयोधरों का संयोग अत्यन्त उचित प्रतीत होता है।

विषम

जहाँ १—अति-वैधर्म्य के कारण पूरा पूरा सम्बन्ध ही न बैठे, अथवा २—कर्ता की इष्ट-सिद्धि न हो, प्रत्युत एक अनर्थ खड़ा हो जाय, या फिर ३—कार्य

---

१. घने समस्तापघनावलम्बिनां विभूषणानां मणिमण्डले नलः।
स्वरूपलेखामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदर्पणार्पणाम्॥ नै० १५।७०

२. समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्॥ का० प्र० १०।१९३

३. निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय॥ नै० ३।४८

४. स्तनद्वये तन्वि! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्प-वैदग्ध्य-विवर्धिनीनां पत्रावलीनां वलनासमाप्तिम्॥ नै० ३।११८

के गुण से कारण का गुण विरुद्ध पड़े, अथवा ४—कार्य की क्रिया के साथ कारण की क्रिया का विरोध हो, तो इन चार दशाओं में 'विषम' नामक अलङ्कार होता है[1]—

हंस के इस करुण विलाप में तृतीय प्रकार के विषमालङ्कार का सुन्दर उदाहरण मिलता है—

"हे विधे! तुम्हारे जिन कर-कमलों ने प्रिया की शीतलता तथा मृदुलता को वनाया उन्हीं से मेरे विषय में, 'अपनी प्रिया से वियुक्त होओगे,' इस प्रकार की क्रूर निष्ठुराक्षरा लिपि कैसे निकली ?"[2]

यहाँ मृदुत्व और शीतत्व के जनक पाणि-पङ्कज (कारण) से विरुद्ध दाहक एवं कठिन लिपि (कार्य) की उत्पत्ति होती है, जो "कारणगुण" कार्य-गुणों के जनक होते हैं", इस सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती हैं।

विषम के प्रथम भेद का उदाहरण दमयन्ती से प्रेमोद्रेक में सोन्माद कही हुई नल की इस उक्ति में द्रष्टव्य है—

"इतनी अधिक प्रभुता के साथ मेरे ऊपर अनुग्रह करो, या न करो, पर मेरे प्रणाम मात्र को स्वीकार करने में तुम्हें क्या श्रम पड़ता है ? कहां तो याचकों के लिए कल्पलता वनती हो और कहां मेरी ओर दृष्टि डालने में भी कंजूसी ?"[3]

यहाँ "कहां कल्पलता और कहाँ यह वद्धमुष्टिता (कंजूसी)" दोनों का अति-वैधर्म्य होने के कारण कोई सम्वन्ध ही नहीं वैठता है।

द्वितीय प्रकार के विषम का एक अन्य उदाहरण नल के राज्य में पहुँचे हुए कलि की आकुलताओं से उद्धृत किया जाता है—

"कलि किसी जिन-मतावलम्वी की खोज में था, और पाया ब्रह्मचारी का अजिन (मृगचर्म), चाहता था वौद्ध-क्षपणक और पाया राजसूय-यज्ञ के पासे में दांव पर रक्खा हुआ धन (अक्षपण)।"[4]

---

१. क्वचिद्यदति-वैधर्म्यान्नश्लेषोघटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥ का० प्र० १०।१९४

२. कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तवप्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥ नै० १।१३८

३. प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः ।
क्व याचतां कल्पलतासि मां प्रति क्व दृष्टिदाने तव वद्धमुष्टिता ॥ नै० ९।१०९

४. अपश्यज्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणाम् ।
क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षपणमैक्षत ॥ नै० १७।१८९

यहाँ कर्ता (कलि) को अपनी अन्वेषणक्रिया का फलरूप अभीष्ट पदार्थ (जिन, क्षपण) तो मिलता नहीं, प्रत्युत अनर्थ रूप (अजिन, अक्षपण) से मुठभेड़ हो जाती है।

इसी का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण नल से दमयन्ती की सखी द्वारा कहे गए दमयन्ती के विरह प्रलापों से उद्धृत किया जाता है--

"चन्द्रमा अपनी किरणों से जलाकर मेरे शरीर के भस्म से व्यर्थ ही अपने कलङ्क को मांजना चाहता है। क्या इसी से वह तुम्हारे मुख का पद पा जायगा? स्त्रीवध का एक अन्य कलङ्क तो उसे लग ही जायगा।"[1]

यहाँ कर्ता (चन्द्रमा) अपना कलङ्क तो दूर न कर सकेगा, ऊपर से उसे स्त्रीवध का पाप लग जायगा।

प्रत्यनीक

जहाँ कोई अपने शत्रु को हानि पहुँचाने में तो असमर्थ हो, किन्तु किसी अन्य सम्बन्धी का तिरस्कार करे, जिससे फलतः प्रतिपक्ष की बलवत्तारूप स्तुति सिद्ध होती है, वहाँ प्रत्यनीक नामक अलङ्कार होता है।[2]

दमयन्ती की सखी नल को उनके प्रति कहे गए दमयन्ती के अनुराग-वचन सुना रही है—

"तुम्हारे मुख ने चन्द्रमा को जीत लिया है, तथा तुम्हारी कान्ति से काम पराजित है। तो क्या तुम्हारी समझ कर ही वे (चन्द्रकाम) मेरे वध की प्रतिज्ञा किए हैं। तब तो मेरी बाजी है। देवगण जो मन में सोचते हैं वह कभी निष्फल नहीं होता—देवों ने यदि मुझे तुम्हारी समझा तो मैं तुम्हारी होकर रहूँगी?"[3]

यहाँ चन्द्र तथा मदन अपने प्रति-पक्षी नल का तो कुछ अपकार कर नहीं सकते, अतः उनकी अपनी दमयन्ती का ही वध करने में तत्पर हुए हैं।

---

१. निजांशु-निर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम्।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः॥ नै० ९।१४६

२. प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते॥ का० प्र० १०।१९६

३. जितस्त्वयास्येन विधुः स्मरः श्रियाकृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधराः किलामराः॥ नै० ९।१४५

मीलित

जहाँ अपने सहज अथवा कारण-विशेष से उत्पन्न किसी साधारण गुण से एक वस्तु किसी अन्य वस्तु से छिपा दी जाय, वहाँ मीलित नामक अलङ्कार होता है।[1]

नल-दमयन्ती के विवाह का वर्णन करता हुआ कवि वर-वधू का चित्रण करता है—

"सात्त्विक भाव के उदय होने के कारण वर-वधू दोनों के हाथ पसीज उठे थे, जिससे बड़ी लज्जा हो रही थी, किन्तु संकल्प के जल से वह पसीना छिप गया, और धूमपङ्क्ति पहुंच कर स्वयं उनके स्नेह के आँसुओं का कारण बन गयी।"[2]

यहाँ सहज स्वेद तथा अश्रु का क्रमशः आगन्तुक दानजल से तथा धूम से उत्पन्न अश्रु से तिरोधान हो जाता है।

स्मरण

जहाँ पूर्वानुभूतपदार्थ की, उसी के समान अन्य पदार्थ के दिखायी पड़ने पर, स्मृति हो आती है वहाँ स्मरणालङ्कार होता है।[3]

हंस नल के सम्मुख दमयन्ती की प्रशंसा करते हुए कहता है—

"राजन्, तुम्हारे इस परम सौन्दर्य ने आज मेरे उस पूर्वसंस्कार को पुनः प्रबुद्ध कर दिया, जिससे चिर अवलोकित भी वह सुहासिनी पुनः मेरे स्मृति-पथ पर आ गई।"[4]

---

१. समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमितिस्मृतम्॥ का० प्र० १०।१९७

२. अपह्नुतः स्वेदभरः करे तयोस्त्रपाजुषोर्दान-जलैर्मिलन्मुहुः।
दृशोरपिप्रस्रुतमस्यसात्त्विकं घनैः समाधीयत धूमलङ्घनैः॥ नै० १६।४२

३. यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः—स्मरणम्॥ का० प्र० १०।१९९

४. अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताद्य सा स्मृतिमारूढ़वती शुचिस्मिता॥ नै० २।४३

(वस्तुतः यह पद्य काव्य-प्रकाश, अ० सर्वस्व और साहित्यदर्पण के लक्षणानुसार तो स्मरण का उदाहरण नहीं होगा, और न अप्पयदीक्षित के लक्षण में 'सादृश्यमूला' विशेषण भी उसके लिए पर्याप्त होगा, जैसा कि उनके दोनों उदाहरणों के विषय में दिए गए विचार से समझ पड़ता है। यह तो 'कृत-संस्कारविबोधनस्य मे' के वाक्य के अनुसार पण्डितराज के 'सादृश्यज्ञानोद्‌बुद्ध संस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः' इस लक्षण तथा अप्पयदीक्षित, अलं० सर्वस्व और रत्नाकर के पण्डितराजकृत खण्डन के अनुसार ही स्मरण का उदाहरण होता है।)

यहाँ नल की रूप-पराकाष्ठा को देखकर दमयन्ती के सर्वोत्तम रूप का स्मरण हो आता है। स्मरण का एक अन्य उदाहरण स्वयंवर में सरस्वती-कृत कुशद्वीप-वर्णन से दिया जाता है—

"सुन्दरि, मन्दराचल तुम्हारे स्तनों को देखकर ऐरावत के गण्डस्थलों की याद करेगा, तुम्हारे मृदुल करों को देखकर कल्पवृक्ष के कोमल किसलयों को सोचेगा तथा तुम्हारे अभिराम मुख को देखकर वह चन्द्रमा का ही रह रह कर स्मरण करेगा—क्योंकि उसने इन वस्तुओं को सागर-मन्थन के समय ही देखा था।"[1]

यहाँ पर कवि ने दमयन्ती के विशेष अङ्गों को देखकर मन्दराचल द्वारा समुद्र-मन्थन के समय उत्पन्न 'इभकुम्भ', 'कल्पवृक्षपल्लव' तथा चन्द्रमा का स्मरण किया जाना कल्पित किया है, अतः इसे स्मरणालङ्कार कहा जायगा।

भ्रान्तिमान्

जहाँ अप्रस्तुत पदार्थ के तुल्य किसी प्रस्तुत पदार्थ को देखकर उस अप्रस्तुत का (भ्रान्तिपूर्ण) ज्ञान हो वहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है।[2] इसका एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण स्वयंवर में सरस्वती-कृत वासुकि के वर्णन को सुनते समय दमयन्ती तथा वासुकि के भृत्यों की शारीरिकी प्रतिक्रिया के इस वर्णन में मिलता है—

"वासुकि के फनफनाते हुए फणों से भय के कारण दमयन्ती के कम्प तथा रोमाञ्च को देखकर उसे सात्त्विक भाव का उदय समझ कर प्रसन्नता से नृत्य करने वाले अपने भृत्यों को सर्पराज ने लज्जित होकर नाचने से मना किया।"[3]

यहाँ दमयन्ती के भय-मूलक कम्प तथा पुलक को वासुकि के भृत्यों ने सात्त्विक (शृङ्गारमूलक) भाव समझने की भ्रान्ति की।

भ्रान्ति का एक अन्य उदाहरण जम्बूद्वीप के प्रसिद्ध विशाल जम्बू वृक्ष के वर्णन में मिलता है:—

---

१. ऐतेन ते स्तनयुगेन सुरेभकुम्भौ पाणिद्वयेन दिविषद्द्रुमपल्लवानि।
आस्येन स स्मरतु नीरधिमन्थनोत्थं स्वच्छन्दमिन्दुमपि सुन्दरि मन्दराद्रिः॥
नै० ११।६३

२. भ्रान्तिमान् अन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने॥ का० प्र० १०।२०४

३. तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः कम्पं च वीक्ष्य पुलकं च ततोऽनुतस्याः।
सञ्जातसात्त्विकविकारधियः स्वभृत्यान्नृत्यान्न्यषेधदुरगाधिपतिर्विलक्षः॥
नै० ११।२१

"नवयौवने, जम्बूद्वीप का प्रधान जम्बूवृक्ष अत्यन्त मनोहर है। उसके विशाल शिलाखण्ड-सदृश काले फलों को देखकर सिद्धाङ्गनाएँ भ्रम से अपने स्वामियों से पूछती हैं कि, ये हाथियों के झुण्ड किस मार्ग से इस वृक्ष पर चढ़ गए हैं।"[1]

यहाँ सिद्धस्त्रियों को जम्बू-फल में दन्ती (हाथी) की भ्रान्ति होने के कारण भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

भ्रान्तिमान् का अत्यन्त मनोरम उदाहरण कलिङ्गाधिपति के इस वर्णन में है—

"इन कलिङ्ग-राज के भय से शत्रुरमणी सारा दिन पर्वत कन्दरा में व्यतीत करती। रात्रि होने पर रमणी अपने शिशु के साथ कन्दरा के वाहर आती है। आकाश में स्वच्छ चन्द्रमा प्रकाशमान् है, वालक समझता है वह उसके खिलौने का हंस है। वह अपने खिलौने के लिए हठ करने लगता है। रमणी शिशु के हठ से तथा अपनी विपत्ति को सोचकर वहुत रोती है। कपोलों पर वहती अश्रुधारा में वालक को अपने चन्द्र-हंस का प्रतिविम्व दिखायी पड़ता है, वह अपने खिलौने को समीप में पाकर प्रसन्न हो जाता है। रमणी शिशु के इस मिथ्या प्रवोध से अवकाश तो पाती है पर अपनी दुर्दशा तथा अकिञ्चनता को सोचकर लम्वी आहें भरती हैं।"[2]

यहाँ शिशु चन्द्रप्रतिविम्व को हंस समझने की भ्रान्ति करता है।

प्रतीप

जहाँ उपमान की निन्दा की जाय, अथवा उसके अनादर के लिये उपमान से हटाकर उसे उपमेय कल्पित किया जाय, वहाँ, इन दोनों दशाओं, में प्रतीप अलङ्कार होता है।[3]

दमयन्ती के अन्तःपुर में अदृश्यरूप दूत नल दमयन्ती के सौन्दर्यामृत का पान करते हुए अपने आप कहते हैं—

---

१. एतत्तरुस्तरुणि! राजति राजजम्बूः स्थूलोपलानिव फलानि विमृश्य यस्याः।
सिद्धस्त्रियः प्रियमिदं निगदन्ति दन्तियूथानि केन तरुमारुरुहुः पथेति॥
नै० ११।८५

२. एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निद्रचन्द्रा ।
आक्रन्ददद्भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥ नै० १२।२८

३. आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्यातिरस्कारनिबन्धनम् ॥ का० प्र० १०।३०१

"दमयन्ती के अङ्ग, सादृश्य रहने पर भी, अन्य सभी समान वस्तुओं से किसी न किसी अन्य गुणों के कारण उत्कृष्ट हो गए हैं। अतः इनकी समानता तो अन्य पदार्थों में किसी प्रकार सम्भव हो सकती है, किन्तु इन अङ्गों की उपमा के लिए किसी अन्य को इनका उपमान वताना तो उनका अपमान ही होगा।"[१]

यहाँ उपमानों को तिरस्कार के साथ उपमेय के पद पर रक्खा गया है। अतः इसे प्रतीप अलङ्कार कहा जायगा।

सामान्य

जहाँ प्रधानतया वर्णनीय वस्तु के साथ अप्रस्तुत वस्तु का योग इस प्रकार की गुण-समता करके दिखाया जाय कि वे दोनों एक ही से प्रतीत हों, वहाँ सामान्य नामक अलङ्कार होता है।[२]

कुण्डिनपुर के आपण (वाजार) की समृद्धि का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—

"आपण (दूकान) में सौरभ-लोभ से निस्पन्द स्थित श्याम भ्रमर को विक्रेता, मृगमद (कस्तूरी) के साथ तौल देता है। जन-रव के कारण वह भ्रमर का गुञ्जार भी नहीं सुन पाता।"[३]

यहाँ कस्तूरी के साथ भ्रमर के रंग का साम्य कहा गया है। अतः यह सामान्य अलङ्कार का उदाहरण हुआ।

सामान्य का एक अन्य सुन्दर उदाहरण स्वयंवर में प्लक्षद्वीप के अधिपति मेघातिथि के यशो-वर्णन से प्रस्तुत किया जाता है—

"हे सुन्दरि, महाराज मेघातिथि के धवल-यश में (विश्व के) जल-मात्र को श्वेत कर दिया है। अव दूध और जल में कोई भेद ही न रहा। अव बेचारे हंस नीर-क्षीर का पृथक् विवेचन ही नहीं कर सकते। नानार्थवाची कोष में पय शब्द के दूध तथा जल दोनों अर्थ होते हैं। किन्तु वह अव झूठा हो गया, क्योंकि जल नामक कोई भिन्न पदार्थ रहा ही नहीं, अव तो सभी दूध हो गए।"[४]

---

१. सत्येव साम्ये सदृशादशेषाद् गुणान्तरेणोच्चकृषेयदङ्गैः।
अस्यास्ततः स्यात्तुलनापिनाम वस्तु त्वमीषामुपमापमानः॥ नै० ७।१४

२. प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं वध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम्॥ का० प्र० १०।२०२

३. समम्रेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपिगुञ्जन्तमलिं मलीमसम्॥ नै० २।९२

४. एतद्यशोभिरखिलेऽम्बुनि सन्तु हंसा दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः।
क्षीरे पयस्यपि पदे द्वयवाचि भूयं नानार्थकोषविषयोऽयमृषोद्यमस्तु॥ नै० ११।७८

यहां सभी जल को यश के रंग में धवलदुग्ध बना दिया गया है।

व्याघात

जहाँ किसी वस्तु को किसी कर्ता ने एक उपाय से सिद्ध किया हो और कोई दूसरा कर्ता, प्रथम को जीतने की इच्छा से, उसी उपाय द्वारा उस वस्तु को दूसरे रूप में कर दे, वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है।[1]

इसका एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दमयन्ती के सम्मुख अग्नि के लिए नल द्वारा किए गए इस प्रस्ताव में मिलता है—

"त्रिपुरारि के नेत्र में रहने वाले अग्नि ने जिस मदन को पहले भस्म किया था, अब आपके नेत्रों में निवास करते हुए वही मदन उन अग्निदेव को जलाते हुए अपने वैर का प्रतिशोध लेकर अनृण हो रहा है।"[2]

अग्नि ने शिव-नेत्र में निवास कर जिस काम को भस्म किया था, वही काम अब दमयन्ती नेत्र में निवास लेकर अग्नि को जलाएगा।

आशीः

आचार्य मम्मट ने आशीः नाम का कोई अलङ्कार नहीं माना हैं। किन्तु पूर्वाचार्यों ने इसकी गणना अलङ्कारों में की है। भामह का कहना है—"कुछ लोग आशीः को भी अलङ्कार मानते हैं। जब सुहृद्भाव के अनुकूल बात कही जाय तो आशीः का प्रयोग होता हैं।"[3]

दण्डी ने अभिलषित वस्तु के विषय में शुभ प्रार्थना करने को आशीः अलङ्कार माना है।[4]

नैषध में आशीः की अनेक उक्तियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ हंस को कुण्डिनपुर भेजते हुए नल की उक्ति है—

---

१. यद्यथासाधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इतिस्मृतः॥ का० प्र० १०।२०६

२. अदाहि यस्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेर्नयनालयेन।
न निर्दहस्तं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः॥ नै० ८।७३

३. आशीरपि च केषांचिदलङ्कारतया मता।
सौहृदस्या विरोधोक्तौ प्रयोगोस्याश्च.... भामह का का० लं० ३।५५

४. आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनम्—काव्यादर्श २।३५७

"मित्र, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। शीघ्र ही तुम फिर यहीं मिलो। साथी, जावो मेरे अभीष्ट को पूरा करो। पक्षिराज ! कभी कभी हमें भी याद कर लेना।"[१]

आशीः का एक और सुन्दर उदाहरण नारद की इन्द्र के प्रति कही गयी इस उक्ति में है —

"तुम्हारे स्वभाव-मधुर अनुभावों (भावप्रकाशन) से हम सचमुच द्रवित हो गए हैं। हे महेन्द्र, तुम निरवधि समय तक स्वर्ग का शासन करो। तुम धन्य हो। तुम्हारी जय हो।"[२]

स्वयंवर-मण्डप में तो सरस्वती की अनेक उक्तियों में आशीःअलंकार का सौन्दर्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ एक चित्र पर्याप्त होगा—काशी-नरेश का वर्णन करती हुई देवी सरस्वती दमयन्ती से कहती हैं—

"मृगनयने, तू काशीनरेश की साक्षात् रति बनो, और ये तुम्हारे मूर्तिमान् मदन। मानो पहले के क्रुद्ध भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिए रति और मदन ने उनकी नगरी काशी में अवतार धारण किया है।"[३]

अर्थापत्ति

जहाँ दण्डापूपिका (अर्थात् मूषक जब डण्डे को खा गया तो मालपुआ तो निश्चय ही खा गया होगा) न्याय के अनुसार एक अर्थ की सिद्धि के साथ उसी के बल से दूसरा अर्थ भी सिद्ध हो जाय वहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार होता है।[४]

इसका उदाहरण हंस की इस उक्ति से दिया जा सकता है :—

"मन के अतिसूक्ष्म मार्ग (गली) में भी रहने वाली वस्तु जब प्राप्त कर ली जाती है तो फिर आप को वह वस्तु दुर्लभ कैसे होगी जहाँ पर मन के लिए भी

---

१. तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥ नै० २।६२

२. आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः ,स्मः।
द्यां प्रसाधि गलितावधिकालं साधुसाधु विजयस्व विडौजः॥ नै० ५।२४

३. भूभर्तुरस्य रतिरेधि मृगाक्षि मूर्ता सोयं तवास्तु कुसुमायुध एव मूर्तः।
भातं च ताविव पुरा गिरीशं विराद्धमाराद्धुमाशु पुरि तत्र कृतावतारौ॥
नै० ११।१२१

४. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः॥ रुय्यक—अलङ्कार-सर्वस्व

अँधेरा है—जो मन को भी गोचर नहीं—वह ब्रह्म भी निरालस योगियों द्वारा सुलभ हो जाता है।"[1]

यहाँ, "जब (सबसे दुरूह) चित्त में छिपी वस्तु प्राप्त हो जाती है" यह कहने से "तो अन्य किसी भी वस्तु के प्राप्त होने में कठिनाई क्या होगी?" इस प्रकार अर्थान्तर का बोध होता है। अतः उसे अर्थापत्ति कहेंगे।

विकल्प

जहाँ समान प्रमाण से युक्त दो विरुद्ध वस्तुओं का एक स्थान पर एक साथ अन्वय हो, वहाँ विकल्प अलङ्कार होता है। विरुद्ध होने के कारण उनका एक स्थान पर अन्वय असम्भव था।[2]

हंस नल से दमयन्ती की विरहदशा का चित्रण करते हुए कहता है—

"रात में शय्या पर लेटे नल के मन को मुग्ध करती हुई, तथा आलिङ्गन कर उसके नेत्रों का चुम्बन करने वाली न तो निद्रा ही उसके पास है और न इस प्रकार तुम्हारे सिवा अन्य कोई रमणी ही।"[3]

यहाँ नल के विषय में निद्रा तथा अङ्गना (दो विरुद्ध वस्तुओं) के अपने अपने समान अधिकार हैं, किन्तु इस समय दोनों का अभाव रूप सम्बन्ध में एकत्र अन्वय हुआ है।

हेतु

जहाँ कार्य के साथ कारण का अभेद के साथ प्रतिपादन किया जाय, वहाँ हेतु

---

१. अवाप्यते वा किमियद् भवत्या चित्तैकपद्यामपि विद्यते यः।
यत्रान्धकारः किल चेतसोपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम्॥ नै० ३।६३

२. तुल्यबलविरोधो विकल्पः—अलङ्कार सर्वस्व
विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टित्वात्तुल्ययोरेकत्र युगपत् प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव योगपद्यासम्भवे विकल्पः॥ (पूर्वोक्त सूत्र पर जयरथ की टीका)
विश्वनाथ ने भी, जहां दो तुल्यबलवाली वस्तुओं में कवि-कौशल से विरोध दिखाया जाय वहां विकल्प अलङ्कार माना है। विकल्पस्तुल्यबलयो-र्विरोधश्चातुरीयुतः॥ सा० द० १०।८४

३. स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राधुना न त्वदृतेङ्गना वा॥ नै० ३।१०८

अलङ्कार होता है। यह अन्य अलङ्कारों से विलक्षण है।[१] चन्द्रमा के प्रति दमयन्ती की इस उक्ति में हेतु का सुन्दर उदाहरण है—

"ऋजुबुद्धि इतिहासवेत्ता विष्णु को राहु का शिरश्छेत्ता कहते हैं, विरहियों का शिरश्छेत्ता नहीं कहते। यदि राहु बेचारे को जठराग्नि ही होती तो यह चन्द्रमा रहने पाता?"[२]

यहाँ विष्णु राहुशिरश्छित् (राहु का सिर काटने वाला) होने के कारण ही विरहि-मूर्धभित् (विरहियों का सिर काटने वाला) बनते हैं। अतः राहुशिरश्छित् रूप कारण का विरहिमूर्धभित् कार्य के साथ अभेद स्थापित हुआ है।

विचित्र

जहाँ हेतु के ही विरुद्ध फल की सिद्धि के लिए प्रयत्न किया जाय वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है।[३]

दूत नल के तर्कों से विवश होकर दमयन्ती अपने अभागे मन से कहती है—

"मेरे मन, न तो तुम्हारे अभिलषित प्रिय को ही पा रही हूं, और न मृत्यु को ही। तुम जिस वस्तु की अभिलाषा करते हो वही मेरी नहीं हो पाती। तो अब प्रिय के साथ वियोग की ही इच्छा करो, स्यात् तुम्हारी कृपा से मुझे वह न मिले।"[४]

यहाँ वियोग न होने के लिए ही वियोग की इच्छा की जाती है—अतः इसे विचित्रालङ्कार कहा जायगा।[५]

लेश

जहाँ दोष को गुण तथा गुण को दोष कहा जाय, वहाँ उस प्रकार के कथन का निमित्त लेश कहा जाता है और उसे लेश अलङ्कार कहते हैं।[६]

---

१. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र सोऽलङ्कारो हेतुःस्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः रुद्रट—काव्यालङ्कार० ७।८२

२. ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम्।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानलः॥ नै० ४।६६

३. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्॥ रुय्यक—अलङ्कार सर्वस्व

४. प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि।
वियोगमेवेच्छ मनः प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्वसौ मम॥ नै० ९।९२

५. साहित्यविद्याधरी ने इसे भी हेतु का उदाहरण माना है।

६. दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः।
अभिधीयते तथाविधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात्॥ रुद्रट—काव्यालङ्कार ७।१००

चन्द्रोपालम्भ करने वाली दमयन्ती के प्रति कवि की उक्ति है—

"इस प्रकार प्रिय के अधर-पान के लिए पिपासु दमयन्ती का मुख कुछ ही वातों से शीघ्र अति शुष्क हो गया, मानों उसके अप्रिय वचनों से क्रुद्ध मदन ने शोषण बाण का प्रहार किया हो।"[1]

यहाँ प्रियाधर-पिपासुरूपी गुण पांशुलता (शुष्कता) रूपी दोष वन जाता है।

अलङ्कार-संसृष्टि

जव दो या अधिक अलंकार कहीं एक स्थान पर परस्पर निरपेक्ष (तिल-तण्डुल) भाव से स्थित हों, तो इस संयोग को संसृष्टि कहते हैं।[2]

नल के रोम-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

"क्या ब्रह्मा ने रोमावलियों के वहाने करोड़ों रेखाएँ वनाकर नल के गुणों को तो नहीं गिना था? तथा जगत्-स्रष्टा ने रोम-छिद्रों के रूप में दोषों के शून्य (दोष रहित)-विन्दु तो नहीं वनाए थे?"[3]

अलङ्कार संसृष्टि का एक और उदाहरण दूतनल के दमयन्ती के अन्तःपुर में पहुँचने के वर्णन से प्रस्तुत किया जाता है—

"अन्तःपुर में तरुणियों का भङ्गीसहित नृत्यगीत आदि गुणों से सम्पन्न अपना विस्तृत जाल फैलाकर भी मदन नल के सुन्दर श्याम नयन-हरिणों को वाँधने में समर्थ न हुआ।"[4]

यहाँ विशेषोक्ति, रूपक, तथा श्लेष इन तीन अलङ्कारों की संसृष्टि है।

अलङ्कार-संकर

जहाँ दो या अधिक अलङ्कार एकत्र स्थित होकर भी निरपेक्ष न हों, किन्तु

---

१. इतिकियद्-वचसैव भृशंप्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांशुलमप्रियवाग्ज्वलमन्दनशोषणबाणहतेरिव॥ नै० ४।१००

२. सैषासंसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः॥ का० प्र० १०।२०७

३. किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिः विधिर्नलेखाभिरजीगणद्‌गुणान्।
न रोम-कूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः॥ नै० १।२१

४. अन्तः पुरेविस्तृतवागुरोपि बालावलीनां दलितैर्गुणौघैः।
न काल-सारं हरिणं तदक्षिद्वयं प्रभुर्बद्धुमभून्मनोभूः॥ नै० ६।१९

अङ्गाङ्गिभाव इत्यादि तीन प्रकार में से किसी एक प्रकार से स्थित हों, वहाँ अलङ्कार-सङ्कर माना जाता है।[1]

नैषध में अलङ्कारों का मनोरम सङ्कर स्थान स्थान पर दिखायी पड़ता है। उदाहरणार्थ नल हंस से अपने दमयन्ती-विषयक स्नेह का विवरण देते हुए कहते हैं —

"जैसे ऋचा से यज्ञ की अग्नि-प्रदीप्त की जाती है, उसी प्रकार लोगों से सुनी हुई दमयन्ती की चर्चा रूपी मधु मेरी कामाग्नि को प्रदीप्त कर रही है। हंस, धिक्कार है हम अधीर पुरुषों को।"[2]

यहां अतिशयोक्ति, रूपक तथा परिणाम अलङ्कारों का सङ्कर है।

दीपक तथा स्वभावोक्ति अलङ्कारों का सङ्कर नल के हाथ से छूटने पर हंस के प्रति कवि की इस उक्ति में देखा जाता है —

"हंस कभी पंखों को हिलाते हुए उड़ता, कभी ऊपर की ओर जाने के कारण दुर्लक्ष्य हो जाता, तथा कभी पंखों को फैलाकर निःस्पन्द गति से जाता। इस प्रकार वह दर्शकों में कौतूहल उत्पन्न करता हुआ जा रहा था।"[3]

साङ्ग रूपक तथा असङ्गति अलङ्कारों के सङ्कर का एक अतिशय सुन्दर उदाहरण हंस द्वारा नल के तपःकल्पवृक्ष के निरूपण में मिलता है। हंस दमयन्ती से कहता है —

"सुन्दरि, नल का यह तपोरूप कल्पवृक्ष कितना अदभुत है? तुम्हारी अंगुलियों के सुन्दर नख उसके अङ्कुरपत्र हैं, तुम्हारी भृकुटियाँ उसके दो पत्ते हैं। तुम्हारा अधर उसका मध्यदल है, तुम्हारे मृदुल पाणि उसके नूतन पल्लव हैं,

---

१. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वे तु सङ्करः॥ का० प्र० १०।२०८-२११

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः।
स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृति-द्वयम्
व्यवस्थितं च तेनाऽसौ त्रिरूपः परिकीर्तितः॥

२. अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणिकीकृता जनैः।
मदनानल-बोधने भवेत् खगधाय्या धिगधैर्यधारिणः॥ नै० २।५६

३. स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायन-दुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ नै० २।६८

तुम्हारी मुस्कान उसकी कलिका हैं, तुम्हारे शरीर की मृदुता उसका पुष्प हैं तथा तुम्हारे सुन्दर उरोज ही उसके फल हैं।"[१]

यहाँ तप को कल्पवृक्ष तथा दमयन्ती के नख आदि अङ्गों को उस कल्पवृक्ष के विभिन्न अवयव का रूप दिया गया है। और अवयवी कल्पवृक्ष अवयव नखाङ्कुर आदि के, जिनका परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध हैं, भिन्न-देशस्थ होने के कारण असंगति भी है।

अलङ्कारों के सङ्कर का एक सुन्दर उदाहरण दमयन्ती से इन्द्रविषयक प्रेमा-वस्था का दूत नल द्वारा किए गए चित्रण से प्रस्तुत किया जाता है।[२]

"मदन के कुसुमवाण अपने परागों से दिशाओं को अन्धकारमय कर के इन्द्र की आंखों के लिए 'कुहू, कुहू' कूकने वाली कोकिल के चंचु (चञ्चु) को पूर्णिमा की रात्रि में भी सत्य बोलने वाली सिद्ध करते हैं।"

यहां काव्यलिङ्ग श्लेष, अतिशयोक्ति, विरोध तथा भ्रान्तिमान् अलङ्कारों का सुन्दर सङ्कर हुआ है।

---

१. अहोतपः कल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रत्स्फुरदङ्कुरश्रीः,
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरोरज्यति यत्कलम्बः।
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते,
अङ्ग म्रदिम्नातव पुष्पितोयः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव॥ नै० ३।१२०-१२१

२. तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदिशां दिशन्ति।
कुहूगिरश्चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपिसत्यवाचम्॥ नै० ८।६५

दशम अध्याय

व्युत्पत्ति—वेद-वेदाङ्ग

व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा परिष्कृत प्रतिभा काव्य-समुद्भव का हेतु मानी गई है।[1] इसी व्युत्पत्ति को क्षेमेन्द्र ने 'परिचय' कहा है, जिसके विना कोरा पद्य-निर्माता विदग्ध-गोष्ठी में उतना ही अज्ञ प्रतीत होता है, जितना कोई नवागन्तुक किसी बड़े नगर की बीहड़ गली में।[2] प्रतिभा और व्युत्पत्ति के इस मणि-काञ्चन-संयोग से ऐसे काव्यालङ्कार की रचना होती है जो सदा विदग्धकण्ठाभरण बनता है। व्युत्पत्ति के अन्तर्गत विश्व का सारा ज्ञान-भण्डार आ जाता है। विभिन्न आचार्यों ने परिगणन के लिए कुछ प्रधान विभिन्न विद्याओं का उल्लेख कर दिया है। राजशेखर ने काव्यार्थयोनि प्रकरण में श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या, समय-विद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोकविरचना, प्रकीर्णक, उचित-संयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्य-संयोग, तथा संयोग-विकरण इन सोलह का परिगणन किया है।[3] क्षेमेन्द्र ने तर्क, व्याकरण, भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, भारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्म-ज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्यौतिष, धनुर्वेद, गजतुरग-पुरुष-लक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल तथा अन्य विविध विषयों के परिचय को कवि-साम्राज्य का द्योतक बताया है।[4] उसी प्रकार मम्मट ने स्थावर-जङ्गमात्मक लोकवृत, छन्द, व्याकरण, अभिधान-कोश, कला चतुर्वर्ग, गज-तुरग-खड्गादि-लक्षण, काव्य तथा इतिहास आदि की व्युत्पति को काव्यहेतुभूतनिपुणता के अन्तर्गत गिनाया है।[5] इसी प्रकार वाग्भट (१५वीं शताब्दी) ने, स्थावर-जङ्गम-रूप लोक में, तथा लक्षण-प्रमाण-साहित्य छन्दोलङ्कार-श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहासागम-नाट्याभिधान कोष-

---

१. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। (काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय)

२. न हि परिचयहीनः केवले काव्यकष्टे कुकविरभिनिविष्टः स्पष्टशब्दप्रविष्टः।
विबुधसदसिपृष्टःक्लिष्टधीर्वेत्ति वक्तुं नव इव नगरान्तर्गह्वरे कोप्यधृष्टः॥
क्षेमेन्द्र—कविकण्ठाभरण-पञ्चमसन्धि

३. काव्यमीमांसा, अध्याय ८।

४. कविकण्ठाभरण, पञ्चम सन्धि।

५. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

कामार्थ-योगादि शास्त्रों में, निपुणता को व्युत्पत्ति माना है। किन्तु वह केवल लाक्षणिक ही कही जा सकती है, वास्तव में कवि-ज्ञान की इयत्ता निर्धारित ही नहीं की जा सकती। अपने क्षेत्र की इस वृहत्ता के कारण ही कवि को ब्रह्म के पर्यायवाची 'कवि' की उपाधि मिली।

श्रीहर्ष ने नैषध की रचना पूर्ण व्युत्पत्ति के साथ की है। अपने समस्त ज्ञान भण्डार का उन्होंने इस ढंग से परिचय दिया है कि नैषध केवल काव्य ही न रह-कर विभिन्न विषयों के ज्ञान का एक वृहत् कोश वन गया है। इसके विषय में प्रसिद्ध लोकोक्ति "नैषधं विद्वदौषधम्" सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है। चिर काल से संस्कृत-विपश्चितों में इस महाकाव्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा का यह सबसे बड़ा कारण है।[1] डा० सुशीलकुमार दे जैसे तीक्ष्ण समालोचक को भी विवश होकर कहना पड़ा था—"इसे तो मानना ही पड़ेगा कि नैषध-चरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परम्परागत ज्ञान का भण्डार है, और (किसी व्यक्ति को) उस समस्त ज्ञान से पूर्ण सुसज्जित होकर ही इसमें (नैषध में) प्रवेश करना चाहिए।"[2]

श्रीहर्ष ने स्वयं भी अपने अगाध पाण्डित्य का परिचय दिया है। जैसा पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है, दमयन्ती-स्वयंवरमें राज-परिचय के लिए जिस सरस्वती का आवाहन उन्होंने किया है, वह वास्तव में उनकी अपनी सरस्वती है। उसके स्वरूप-वर्णन के व्याज से श्रीहर्ष ने अपनी व्युत्पत्ति का परिचय दे दिया है। उनकी सरस्वती का रूप इस प्रकार का है—

---

१. सत्रहवें सर्ग के अन्त में प्रसिद्ध टीकाकार विद्याधर ने श्रीहर्ष की सर्वज्ञता के विषय में इस प्रकार लिखा है।

"अनेन सर्गेण श्रीहर्षकविराजेन आत्मसर्वज्ञता अभिव्यञ्जिता। इतस्ततत्सदृशेन अन्येनाप्यस्य सर्गस्यार्थरत्नाकरस्य पारं प्राप्तुं शक्यते।

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्य-सारो नयौ।
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि॥
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ।
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः॥

मया तु निजमत्यनुसारेणायं सर्गो व्याख्यातो विचक्षणैर्विशेषव्याख्ययाबोद्धव्यः।

२. दे० का संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ३२९-३३०

"गन्धर्व-विद्या जिसकी कण्ठनाल, त्रयी (वेद) जिसकी त्रिवली, तथा साहित्य-शास्त्र जिसके कटाक्ष-विक्षेप थे।[१] त्रिवली-रूप त्रिवेदी से निकल कर प्रसरित मारण-मोहन-उच्चाटन आदि अभिचारोचित श्यामप्रभा वाली नाभि से निकलने वाली जिसके उदर की रोमरेखा अथर्व-वेद रूप थी।[२] जिसका चरित्र साक्षात् शिक्षाशास्त्र के रूप में, मण्डनरूप अलङ्कारविधि कल्पशास्त्र के रूप में, तथा समस्त अर्थ-निर्वचन निरुक्त-शास्त्र के रूप में परिणत हुआ था।[३] जाति (मात्रिक) तथा वृत्त (वर्णिक) इन दो भेदों में विभक्त छन्द (पद्य) जिसके दो बाहु थे, और श्लोक के अर्ध पर जो विराम अवसान होता है, वही जिसके दोनों बाहुओं के पूर्व और उत्तर भागों की सन्धि के सुन्दर रेखा रूप चिह्न थे।[४] और जिसकी साड़ी के (पट्ट) सूत्रों की दीर्घता से जनित विस्तार को धारण करती (थामती) हुई एवं मधुर शिञ्जितरूप शब्द-परम्पराओं को उत्पन्न करती हुई मेखला गुण, दीर्घ भाव, प्रत्ययों और कृत्प्रत्ययों के विस्तार से युक्त एवं राम-कृष्णादि तथा भवति इत्यादि शब्दों की लड़ियों को सिद्ध करने वाले—व्याकरण शास्त्र की बनी थी।[५] नक्षत्र तारा आदि के वर्णन से युक्त, शिक्षा-कल्प आदि षड़गों में रक्खी गई (संख्यात) ज्योतिष-विद्या देवी की सेवा के लिए उनके कण्ठ में स्थित होती हुई, मानो प्रकाशमान मध्य-मणि वाली हार-लता के रूप में परिणत हो गयी थी।[६] मेरी समझ में जिसके अधरोष्ठ ही प्रसिद्ध 'पूर्वपक्ष,' और 'उत्तरपक्ष' शास्त्ररूप बने थे, जिनका राग (रक्तवर्ण)

---

१. मध्यैसभं सावततार बाला गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गासाहित्यनिर्वर्तित-दृक्तरङ्गा॥ नै० १०।७४

२. आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदीमूलाद्विनिर्गत्य वितायमाना।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा॥ नै० १०।७५

३. शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाकल्पविधिर्यदीयः।
यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैर्निरुक्तिविद्या खलु पर्यणंसीत्॥ नै० १०।७६

४. जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूद्यदीयम्।
श्लोकार्धविश्रान्तिमयीभविष्णु-पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्न मध्यम्॥ नै० १०।७७

५. असंशयं सा गुणदीर्घभावकृतां दधाना विततिं यदीया।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किं चारचि व्याकरणेन काञ्ची॥ नै० १०।७८

६. स्थितैव कण्ठे परिणम्य हारलता बभूवोदिततारवृत्ता।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येङ्गमङ्केन भृताविशङ्के॥ नै० १०।७९

ही वादी और प्रतिवादी के अपने अपने पक्ष का दृढ़ सिद्धान्त अनुराग था।[1] ब्रह्म-काण्ड तथा कर्मकाण्ड नामक वेद के दो भाग होने के कारण अपने शरीर को बौद्ध, वैशेषिक आदि अन्य सिद्धान्तों के निराकरण के कारण रमणीय, एवं स्वसिद्धान्त-स्थापन के विचार से परिपुष्ट पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा इन दोनों रूपों में विभक्त करके स्थित हुई मीमांसा द्वारा जिस देवी के उत्तम वस्त्र के कारण सुन्दर और मांसल जङ्घायुगल बने थे।[2] जिसकी सोलह-सोलह दांतों के पदार्थों के रूप में दो प्रकार से उदित हुई—मुखस्थान में निकली हुई तथा (सामुद्रिकनाम) लक्षण (शास्त्र), में कही हुई दन्त-पङ्क्ति की जोड़ी ही नाम-कथन के अवसर में तथा लक्षण-निरूपण में भी ऐसे दो प्रकार से कहे हुए (प्रमाण-प्रमेयादि) सोलह पदार्थों से उपलक्षित और मुक्ति (निःश्रेयस) की कामना करने वालों के द्वारा अभ्यस्त, वह (प्रसिद्ध) तर्क विद्या थी।[3] व्यास, पराशर, (इन दो मुनियों) द्वारा प्रणीत होने के कारण (महापुराण और उपपुराण के) दो रूपों को प्राप्त तथा (आख्यानोपाख्यानों के) विस्तार से युक्त "मत्स्य" "पद्म" आदि नाम-पदों से निर्दिष्ट, वह (प्रसिद्ध) पुराण ही जिस के किसलय-सदृश, तथा रेखारूप मत्स्य, पद्म आदि सामुद्रिक लक्षणों से लक्षित होते हुए, दोनों हाथ बन गए थे।[4] श्रुति (वेद) रूप मूल से सुशोभित होने वाला धर्मशास्त्र-समूह ही जिसका कर्णमूलों से सुशोभित होने वाला शिरोभाग था।[5] सोमसिद्धान्त नामक कापालिक-दर्शन जिसका मुख था, शून्यात्मवाद-रूप माध्यमिक-बौद्ध-दर्शन जिसका उदर था, विशिष्ट ज्ञान की सम्पूर्णता से जिसका हृदय बना हुआ था, एवं विज्ञान की साकारता-सिद्धि-रूप सौत्रान्तिक दर्शन से जिसका समस्त स्वरूप-सौन्दर्य निष्पन्न हुआ था।"[6]

---

१. अत्रैमि वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण विराजमाने।
ते पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवती यदीयौ॥ नै० १०।८०

२. ब्रह्मार्थकर्मार्थकवेदभेदाद्द्विधा विधाय स्थितयात्मदेहम्।
चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम्॥ नै० १०।८१

३. उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेपि द्वियोदितैः षोडशभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः॥ नै० १०।८२

४. सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम्॥ नै० १०।८४

५. आकल्पविच्छेद-विवर्जितो यः स धर्मशास्त्र-व्रज एव यस्याः।
पश्यामि मूर्धा श्रुतिमूलशाली कण्ठस्थितःकस्य मुदे न वृत्तः॥ नै० १०।८५

६. या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव॥ नै० १०।८०

वेद

ऋषि, शास्त्रकार तथा कवि-गण सभी आवश्यकतानुसार ज्ञान की राशि वेदों का उपयोग करते आ रहे हैं। अतएव राजशेखर ने एक प्राचीन उक्ति उद्धृत की है—

नमोऽस्तु तस्यैश्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥[१]

वैदिक वाङ्मय का नैषध में अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। स्वप्न के विषय में श्रुति का कहना है:—

"चैतन्य रूप ज्योति के स्वभाव वाला, (जाग्रत्, स्वप्न, इहलोक, परलोकादि में) अकेला जाने वाला, अमरण धर्म वाला (आत्मा) निकृष्ट (शरीर रूप) घोंसले की (पांचरूपों—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—में चलने वाले) प्राण के द्वारा परिपालना करता हुआ, घोंसले के वाहर घूमकर, जहां जहां इच्छा होती है (वहां वहां स्वप्न में) जाता है (शतपथ ब्रा० काण्ड १४)।"[२]

वेद के इस सिद्धान्त के आधार पर श्रीहर्ष दमयन्ती द्वारा स्वप्न में नलदर्शन का समाधान देते हैं—"निद्रा दमयन्ती के निमीलित नेत्रों से, तथा बहिरिन्द्रियों के सुप्त हो जाने पर सम्पुटित हृदय से छिपाकर कभी न देखे हुए भी नल को बड़े रहस्य के रूप में दिखाती।"[३]

वेद की इसी 'हिरण्मयःपुरुष एकहंसः' उक्ति की ओर श्लेष के द्वारा उल्लेख करते हुए श्रीहर्ष नल द्वारा हंस के देखे जाने का वर्णन करते हैं—"नल ने क्रीड़ा-सरोवर के तट पर रमणेच्छु हंसियों के कलरव में अनुरक्त समीप में चरते हुए एक अद्‌भुत् स्वर्णिम हंस को देखा—जैसे योगी अपने शरीर में ही विद्यमान परमात्मा (हंस) का बोध करता है।"[४] (यहां कवि ने अदर्शि न कह-कर 'अवोधि' कहा है जिससे स्पष्टतया पूर्वोक्त मन्त्र की ओर संकेत समझ पड़ता है।)

---

१. काव्य मीमांसा, अध्याय ७।

२. प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः॥बृहदारण्यकोप० ४।३।१२

३. निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि सङ्गोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः॥ नै० १।४०

४. पयोधिलक्ष्मीमुषिकेलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः॥ नै० १।११७

ईश्वरानुग्रह से भव-बन्धन-मुक्ति में मिलने वाले ब्रह्मानन्द के प्रति श्रुति का कहना है—

'मन के साथ वाणियां (इन्द्रियां) जिस तक न पहुंच कर, जहां से लौट पड़ती हैं, ब्रह्म के उस आनन्द (स्वरूप) को जानने वाला (अर्थात् ज्ञानी) किसी से भय नहीं करता है।"[1]

इसी आनन्द की ओर सङ्केत करते हुए श्रीहर्ष नल के कर-पञ्जर से मुक्ति पाने वाले हंस का वर्णन करते हुए कहते हैं—जैसे भगवान् पुरुषोत्तम की कृपा से मुक्ति-साधन-भूत ज्ञान को पाकर कोई द्विज अवाङ्मनसगोचर रूप ब्रह्म का अनुभव करता है उसी प्रकार नल से मुक्ति पाने पर उस पक्षी को जो आनन्द हुआ उसका वर्णन मन तथा वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता।[2]

अग्निहोत्रादि में अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए जो मन्त्र पढ़े जाते हैं[3] उन्हें सामधेनी कहते हैं। ये मन्त्र कई होते हैं[4] तथा एक साथ पढ़े जाते हैं और इनका एक साथ प्रवचन होता है[5]। इन्हीं सामधेनी मन्त्रों में कुछ अन्य मन्त्र भी यथावसर जोड़ दिए जाते हैं जिन्हें धाय्या[6] कहते हैं, वे भी सामधेनी ही हैं।

नैषध में श्रीहर्ष हंस से नल के संवाद के प्रसङ्ग में इसकी ओर सङ्केत करते हैं—

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेत्ति कदाचनेति॥ तैति० उप० २।४

२. अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः॥ नै० २।१

३. इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समिन्धे।
सामिधेनीभिर्होता तस्मात्तत्सामिधेन्योनाम॥
शतपथ ब्राह्मण १।३.।५।१ अच्युतग्रन्थमाला काशी सं १९९४

४. अथसामिधेन्यः प्रवोवाजा अभिधवो (ऋ० सं० ३।२७।१) ऽग्नमायाहिवीतये गृणानः। (६।१६।१०)।
ईडेन्यो नमस्यस्तिरो (३।२७।१३) ग्निं दूतं वृणीमहे (१।१२।१) समिध्यमानोध्वरे (३।२७।४) समिद्धो अग्नआहुतेति द्वे (५।२८।५-६) आश्वलायन श्रौतसूत्र १।२।७)

५. ता एकश्रुतिसन्ततमनुब्रूयात् (आश्वालायनश्रौतसूत्र)॥ १।२।८

६. तस्मादुपरिष्टादेव धाय्यऽ्येदध्यात्—शतपथब्राह्मण १।४।१।३७

"जैसे ऋचा से यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त की जाती है, उसी प्रकार लोगों से सुनी हुई दमयन्ती की चर्चा-रूप-मधु मेरी कामाग्नि को प्रदीप्त कर रहा है। हंस! धिक्कार है हम अधीर पुरुषों को"।[१]

श्रुति ने देव-सुरभियों का उतान चलना बताया है।[२] श्रीहर्ष इसका उल्लेख कुण्डिनपुर का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहते हैं—दमयन्ती के क्रीड़ा-पर्वत की हरित रश्मियां बहुत ऊंचाई तक आकाश में चमकती हैं, मानों नगरी ने गो-ग्रास देने का जो पुण्य किया था वह वैदर्भी के क्रीड़ास्थल के मरकत-शिखर से अंशु-दर्भ (किरण-रूपी कुश) के रूप में उत्पन्न होकर ऊपर उठा, और उठता गया। अन्त में किसी अन्य ब्रह्माण्ड से जा टकराया, और इस प्रकार उसका वेगजनित मद चूर्ण हो गया जिससे वह लज्जा-वश अधोमुख हो लौटने लगा और लौटते समय रास्ते में ऊपर मुख करके चलने वाली देव-गौ के मुख में जा पड़ा।[३]

नैषध में इसका एक बार और उल्लेख हुआ है—दमयन्ती चन्द्रवर्णन के प्रसङ्ग में कहती है—चन्द्रमा में रहने वाले इस खरगोश का पेट, जो श्वेत होता है, दिखायी नहीं पड़ता। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि वह चित्त पड़ा है। और इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के कारण ही मैं वेद के 'उत्ताना वै देवगवश्चरन्ति' इस वाक्य में भी आस्था करने लगी हूं।[४]

जिसने सर्वात्मा को अपना आत्मा समझ लिया है, श्रुति उसको सर्वात्मा होने के कारण ही सर्वावाप्ति रूप फल का यों वर्णन करती है—

"जिस जिस (पितृ आदि) लोक का (आत्मज्ञानी) मन से संकल्प करता है, और विशुद्ध सत्त्व (क्षीण-क्लेश) अर्थात् निर्मलान्तःकरण) होता हुआ जिन भोगों की कामना करता है, उस लोक को प्राप्त करता है, और उन भोगों को पाता है। इसलिए जो अपनी भूति (वैभवावस्था) चाहे वह ऐसे सत्य-सङ्कल्प

---

१. अनृतं मधु तत्कथामम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः।
मदनानलबोधने भवेत् खग ! धाय्या धिगधैर्यधारिणः॥ नै० २।५६

२. उत्ताना हि देवगवा वहन्ति (आपस्तम्बश्रौतसूत्र) ११।७।६

३. वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै
ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद् गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म॥ नै० २।१०५

४. उत्तानमेवास्य वलक्षकुक्षिं देवस्य युक्तिः शशमङ्कमाह।
तेनाधिकं देवगवेष्वपि स्यां श्रद्धालुरुत्तानगतौ श्रुतायाम्॥ नै० २२।८०

और आत्म-ज्ञान से विशुद्ध (निर्मल) अन्तःकरण वाले का (पाद-प्रक्षालन शुश्रूषा, नमस्कारादि से) पूजन करे।[१]

नल की चिन्ता करते ही हंस को सेवा में उपस्थित देखकर श्रीहर्ष को वेद की पूर्वोक्त घोषणा का स्मरण हो आता है, और वे कह उठते हैं—'सुकृती पुरुषों को अपनी प्रिय वस्तु के लिए केवल इच्छा करने भर की देर होती है।'[२]

आत्मा की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से सारांश रूप से अन्त में कहा है—

"अरे मैत्रेयि, प्रथमतः आचार्य से और आगम से आत्मा का श्रवण करना चाहिए, पश्चात् तर्क से मनन करना चाहिए, तब निदिध्यासन (निश्चय से ध्यान) करना चाहिए। इस प्रकार इन तीनों साधनों के हो चुकने पर ही आत्मा का दर्शन होता है, अर्थात् जब तीनों ही एकत्व को पहुंच जाते हैं तभी ब्रह्मैकत्व-विषयक सम्यक् दर्शन विशद् होता है, अन्यथा श्रवणमात्र से नहीं। अतः इन तीनों उपायों से पूर्ण अभ्यास-पूर्वक आत्मा को दर्शन (साक्षात्कार) का विषय बनाना चाहिए। अरे मैत्रेयि, आत्मा का श्रवण-मनन-निदिध्यासन (पुरःसरदर्शन) होने पर यह सब प्रतीयमान विश्वप्रपञ्च विदित होता है (जैसे रस्सी के जान लेने पर उस में अध्यस्त सर्प।)"[३]

दमयन्ती ने भी नल की प्राप्ति के लिए उनके श्रवण मानसिक भावनात्मक दर्शन अथवा मनन तथा एकाग्रतापूर्वक ध्यान के क्रमिक उपाय का अवलम्बन किया। वह हंस से कहती है:—

"मैंने उन्हें लोगों से सुना, उन्मादवश उन्हें चारों ओर देखा, तथा एकाग्रचित्त से उनका ध्यान किया। अब मुझे या तो उनकी प्राप्ति या अपने प्राणों का नाश, दो में से एक होना है—और हंस वह तुम्हारे हाथ है।"[४]

---

१. यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्चकामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥
मुण्डको० ३।१।१०

२. प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः॥ नै० ३।१३४

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो। वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥ बृह० उप० २।४।५

४. श्रुतः स दृष्टश्चहरित्सुमोहाद्ध्यातः स नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्यतत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेषः॥ नै० ३।८२

छान्दोग्य श्रुतिवाक्य (५।१०।४–५) और उसके शङ्करभाष्य के अनुसार—केवल इष्ट (अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म) पूर्त (वापी, तडाग, आरामादि वनवाने) और दत्त (पात्रों को यथाशक्ति दान) का धर्म पालन करने वाले गृहस्थ जीव चन्द्रलोक में जाकर चन्द्रत्व (आप्य शरीर) को प्राप्त करके उस चन्द्रमण्डल में उस (इष्टापूर्त तथा दत्त रूप शुभ) कर्म के क्षयकाल तक निवास करके पुनः एक क्षण भी न रुक सकने से जिस मार्ग से गए थे उसी से लौट कर पुनः मर्त्यलोक में आते हैं।[1]

वेद की इस उक्ति का ध्यान कर दमयन्ती चन्द्रमा को उपालम्भ देती है—

"अरे जड़ क्या तू यह समझता है कि प्राणों के निकलने पर दमयन्तीका मन (अन्तःकरण) मुझमें लीन हो जायगा। विद्वान् स्मर ने तो उस ऋचा को मेरे विषय में नल-मुख-चन्द्र-परक बताया है, अर्थात् वहां चन्द्र शब्द नल के मुखचन्द्र के लिए आया है, तेरे लिए नहीं।"[2]

वेद में ब्राह्मण का वध पाँच महापातकों में गिनाया गया है।[3]

दमयन्ती प्रलाप में राहु के प्रति अपनी सखी द्वारा सन्देश भेज रही है—"सखि तुम राहु से मेरी ये बातें कहना कि राहु क्या तुम चन्द्रमा को ब्राह्मण समझकर छोड़ देते हो। अरे यदि यह ब्राह्मण होता तो वारुणी—(मदिरा, पश्चिम दिशा) सेवन से पतित होकर भी स्वर्ग कैसे पहुँचता?"[4]

ब्रह्म के स्वरूप के प्रति श्रुति का कहना है—ब्रह्म आनन्द रूप है।[5]

श्रीहर्ष नारद के इन्द्र-लोक पहुँचने के प्रसङ्ग में वेद के पूर्वोक्त मन्त्र की ओर सङ्केत करते हैं—जैसे योगी अनादि भवसिन्धु को पारकर आनन्दस्वरूप ब्रह्म

---

१. तस्मिन् यावत्सम्पात मुषित्वा (छा० उप० ५।१०।४-५)।

२. किमसुभिर्ग्लपितैर्जडमन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
ममकिल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधः स्मरः॥ नै० ४।५२

३. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्।
ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति॥ छान्दोग्योप० ५।१०।९

४. वद विधुन्तुदमालि मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधियारिपुम्।
किमुदिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम्॥ नै० ४।७०

५. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्तिरीय आरण्यक, ९ प्रपाठक, ६ अनुवाक विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृह० उप० ३।९।२८) (बृ० उ० ४।३।३२, ३३, तथा तै० उप० ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ५, ९ भी द्रष्टव्य हैं।)।

को प्राप्त करता है उसी प्रकार देवर्षि नारद अनन्त आकाश के बीच से जाते हुए इन्द्र निकेतन में पहुँच गए।[1]

पाप-प्रशमन के लिए अघमर्षण सूक्त प्रसिद्ध है।[2]

इन्द्र नारद से वार्तालाप करते हुए कहते हैं—जिस प्रकार वेदोक्त श्रेष्ठ अघमर्षण ऋचायें पाप का प्रशमन करती हैं, उसी प्रकार आज मेरे श्रवण गोचर आप के—वचन मेरे इस संदेह-मूलक दुःख का उन्मूलन करें।[3]

शुक्लयजुर्वेदीय शतपथब्राह्मणे के चतुर्दशकाण्डात्मक वृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।२०–२३) के अनुसार स्वप्नावस्था में अविद्या की वृत्ति से पुरुष की अति सूक्ष्म हिता नाम नाड़ियां शुक्ल नील पिङ्गल हरित लोहित रूप रस-विशेषों से पूर्ण होती हैं, जिनमें भेद (द्वैत) और भय की वासना रहती है। परन्तु अद्वयावस्था का सर्वात्मभावानुभव इसका परम लोक और अभय आप्तकाम, और अकाम रूप जिस स्वयंज्योति आत्मस्वरूप में पिता, माता, पुण्य-पापादि सभी भेद नष्ट हो जाते हैं, उस अवस्था में उससे अन्य द्वितीय कुछ होता ही नहीं है। जिसे द्रष्टा अपने से पृथक् विभक्त देखें।[4]

जैसे कोई द्विजकुलोत्पन्न वटु भिक्षाटन करते हुए किसी द्विज-श्रेष्ठ से "हे सौम्य, जो अव द्वैत प्रपञ्च रूप से प्रतीत हो रहा है, वह पहले सत् (ब्रह्म) ही, एकही,

---

१. स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव॥ नै० ५।८

२. ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसो ध्यजायत। इत्यादि। ऋ० सं० १०।१९०।१-३

३. तद्विमृज्यतम संशयशिल्पि स्फीतमत्रविषये सहसाघम्।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः॥ नै० ५।१८।

४. ता वा अस्यैता हिता नाम नाडयो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठंति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ—यदेव जाग्रदभयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेथ यत्र—सर्वोस्मीतिमन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥२०॥ तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्काभयं रूपम्...तद्वा अस्मै तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्॥२१॥ अत्र पितापिता भवति। तापसो तापसौ नन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति॥२२॥

—न हि द्रष्टर्दृष्टेर्विपरिलोको विद्यते विनाशित्वात्।
न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्॥२३॥

और अद्वितीय था"[१] इस अद्वैत-प्रतिपादक उपनिषद् (वचन) का अध्ययन करता है, उसी प्रकार "वृक्षों से पुष्प फल-रूपी भिक्षा प्राप्त कर अपनी वृत्ति चलाने वाले कोकिल पक्षी क्या दमयन्ती के मुखरूपी श्रेष्ठ ब्राह्मण से कामदेव के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने वाली कोई उपनिषद्-विद्या तो नहीं सीख रहा है।[२]

छान्दोग्योपनिषद् '(६।१५।१–२) के अनुसार अन्तकालिक रोगी की जब तक वाणी मन में नहीं लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर-देवता में तब तक उसे जानने-पहचानने का होश रहता है। और जब इसकी वाणी मन में, मन प्राण तेज में और तेज पर-देवता में प्रविष्ट हो जाता है, तब यहां मरता हुआ कुछ नहीं जानता है।[३]

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार आत्मा के शरीर से उत्क्रमण करने पर प्राण वायु तथा उसके साथ ही अपान, उदान आदि वायु भी उत्क्रमण कर जाते हैं।[४]

दूतरूप नल के सम्मुख निराश दमयन्ती के उस उन्मुक्त विलाप में हमें वेद के पूर्वोक्त सिद्धान्त का आभास मिलता है। 'हाय, ये तो युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं। कब तक वेदना सहूंगी। मुझे तो मृत्यु भी नहीं है, क्योंकि प्रिय मेरे अन्तःकरण से अलग नहीं हो रहे हैं, मन प्रिय को नहीं छोड़ रहा है, तथा प्राण मन को नहीं त्याग रहे हैं।[५]

देवों का मुख अग्नि है, यह बात श्रुति-प्रमाणित है।[६]

---

१. सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥ छा० ६।२।१

२. प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत् पिकेन।
अस्याः किमास्य-द्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः॥ नै० ७।४८।

३. पुरुषं सौम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनःप्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति॥१॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति॥२॥

४. तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति॥
बृह० उप० ४।४।२

५. अमूनिगच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्तिमे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः॥ नै० ९।९४

६. अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्—(ऐतरेय ब्राह्मण, प्रथम अध्याय, चतुर्थखण्ड)।

इन्द्रादि चारों दिक्पाल अपने मुख से नल-मुख की शोभा प्राप्त करने में असमर्थ हो' अनलानन (अग्निमुख तथा नलविसदृशमुख) के पुनरुक्त दोष को न दूर कर सके।[1]

गङ्गा यमुना के सङ्गम पर मृत्यु पाने वाले के विषय में श्रुति कहती है :—

"जहां श्वेत (गङ्गा) तथा श्याम (यमुना) नदियाँ मिलती हैं वहाँ स्नान करने वाले स्वर्ग जाते हैं, और जो धीर जन (वहां) शरीर त्यागते हैं वे अमृतत्व के भागी होते हैं।"[2]

वेद के पूर्वोक्त वचन का उपयोग सरस्वती के इस वर्णन में हुआ है—

"संग्रामभूमि में महाराज ऋतुपर्ण की बाहुओं की धवल कीर्ति रूप गङ्गा तथा शत्रुओं की श्याम अपकीर्ति रूप यमुना का सङ्गम बनता है। इस प्रकार प्रयाग की भाँति इस अभिनव सङ्गम में प्राण त्यागकर वर-वीर-क्षत्रिय नन्दन वन में रम्भा आदि अप्सराओं के साथ आनन्दक्रीड़ा का उपभोग करते हैं।"[3]

---

१. तेषां तदा लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य।
नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बर्हिर्मुखानामनलाननत्वम्॥ नै० १०।२१

२. सितासिते सरिते यत्र सङ्गते (थे) तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासौ अमृतत्वं भजन्ते॥
ऋ० वे० खिलसूक्त, मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित २१।

मोक्षमूलर—मुम्बापुरी-आउफ्रेक्ट - सातवलेकर (औंध) प्रकाशित ऋग्वेदसंहिता पुस्तकों में ९।११३।११ के पूर्व वाले खिलमन्त्र—यत्र गङ्गा च यमुना यत्र प्राचीसरस्वती। यत्रसोमेश्वरौ देवस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव। में (प्रयागस्थ) गङ्गा, यमुना, प्राची सरस्वती और सोमेश्वर देव का उल्लेख मिलता है। तथा १०।७५।५ के अनन्तर पठनीय परिशिष्ट सितासिते—इत्यादि मन्त्र में।

आउफ्रेक्ट-प्रकाशित - (१६) मुम्बापुरी तथा सातवलेकर (औंध) प्रकाशित ऋ० सं० एवं जुनागढ़ और अलवरवाली हस्तलिखित ऋ० सं० पुस्तकों तथा मुम्बा प्रकाशित ऋग्वेद मन्त्रपाठ और इंडिया आफिस वाली लिखित पुस्तकों में सं० ३७८ और ३७९ वाली आश्वलायन-मन्त्र संहिता में पठित।

३. द्वेव्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी।
कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद् गङ्गा रणप्राङ्गणे।
तत्तस्मिन् विनिमज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-
रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः॥ नै० १२।१२

आत्मा का परिचय देते समय वेद "तुम वही हो"[१] तथा "वह आत्मा महान् और अजन्मा है।"[२] आदि महावाक्यों द्वारा उसका स्वरूप निर्धारित करता है। वेद के इस सिद्धांत का उपहास करता हुआ देहात्मवादी चार्वाक कहता है—

"मनुष्य जानता है कि यह शरीर ही मैं हूं, किन्तु वेद उसे बताता है—नहीं, तुम यह शरीर नहीं हो, अपितु 'तत्त्वमसि'। यह कितनी बड़ी धूर्तता है?"[३]

परलोक के विषय में एक स्थान पर वेद का कहना है—"उसे कौन जानता है कि उस लोक (परलोक) में रहता है या नहीं।"[४]

चार्वाक वेद के इसी वाक्य को लेकर परलोक की सत्ता पर शब्द-प्रमाण द्वारा ही आघात कर रहा है—"जब स्वयं वेद ही परलोक के विषय में संशय-ग्रस्त हैं, तो उनको प्रमाण मानने वाला संसार परलोक में कैसे विश्वास करे।"[५]

वेद में इन्द्र को 'शतक्रतु' कहा गया है।[६] उसी प्रकार प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त के मन्त्र द्वारा ब्राह्मण को मुखज, क्षत्रिय को बाहुज, वैश्य को ऊरुज तथा शूद्र को पादज या अन्त्यज कहा गया है।

वरुण वेदों की पूर्वोक्त युक्तियों को लोकप्रसिद्धियों के साथ सङ्गत दिखाते हुए वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं—"अरे नास्तिको शतक्रतु आदि देवगण तथा ऊरुज आदि जातियों की संसार में जो प्रसिद्धि है वह वेदगत वर्णनों से सङ्गत ही तो है—अर्थात् जैसे वेद में इन्द्र शतक्रतु कहे जाते हैं तथा वैश्य क्षत्रिय आदि ऊरूद्भव एवं बाहुज कहे जाते हैं, ठीक वैसे ही लोक में उनके पर्याय प्रसिद्ध हैं, फिर भी तुम्हें वैदिक विधानों पर आश्चर्य नहीं होता।"[७]

---

१. तत्त्वमसि—छा० उ० ६।८।७
२. स वा एष महनजआत्मा ॥ बृहदा० उ० ४।४।२२।२५
३. जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो श्रुत्यातिधूर्तया ॥ नै० १७।५४
४. को हि तद्वेद यदमुष्मिल्लोकेऽस्तिनानवा (नै० १७।६२ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत)।
५. को हि वेदास्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुतिः।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम् ॥ नै० १७।६२
६. शतक्रतुमर्णवं शाकिनं नरं गिरो म इन्द्रमुपयन्ति विश्वतः ॥ ऋ० सं० ३।५१।२ तथा ३।३७।२, ३, ६, ८, ९ इत्यादि शतशःस्थल द्रष्टव्य हैं।
७. शतक्रतूरुजाद्याख्याविख्यातिर्नास्तिकाः कथम्।
श्रुतिवृत्तान्तसंवादैर्न वश्चमदचीकरत् ॥ नै० १७।१९४

अग्निष्टोम याग में अवभृथ-स्नान के पश्चात् आनुवन्ध्य याग होता है उसमें बन्ध्या गौ का वध किया जाता है।[१] महाराज नल के नगर में कलि यज्ञ में वध के लिए खड़ी गौ को देखकर प्रसन्न हो उधर दौड़ा, पर वहां देखा कि वह तो अग्निषोम यज्ञ में धर्म रूपी वृष के लिए है। दुष्ट (खर या खल) पर दूर से ही भारी लताड़ पड़ी।[२]

शतपथ ब्राह्मण (१२।८।१।२।) के अनुसार—सौत्रामणी नामक यज्ञ, जिसमें देवजन बर्हि: (कुश) पर बैठते हैं, शष्प, तोक्म, लाजा, व्रीहि श्यामाक तथा नग्नहु नाम २६ अन्य औषधियों से आयुर्वेदानुसार बनी हुई सुरा से सम्पन्न होता है। शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिन (वाजसनेयि) संहिता के अध्याय १९ से २१ में इस सौत्रामणी-यज्ञ का विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है। महान्त ऋत्विज (महिषा:) , नमस्कारों अथवा अन्नों के द्वारा (सौत्रामणी-संज्ञक) यज्ञ को बढ़ाते अथवा प्राप्त कराते हैं, जिसमें सुरा रहती है, जिसमें देव कुशों पर बैठते हैं और जिसमें सुन्दर वीर ऋत्विज होते हैं। ये ऋत्विज स्वर्गस्थ देवताओं में सोम धारण करते हैं। हम सुन्दर अर्चन अथवा मंत्रों अथवा अन्नों वाले होते हुए और उस यज्ञ में इन्द्र का यजन करते हुए हर्ष युक्त हों। हे सुरे, औषधियों में वर्तमान जो तुम्हारा रस एकीकृत है, तथा सुरा के साथ अभिषुत सोम का जो बल है, तुम उस हर्षोत्पादक रस और बल से यजमान सरस्वती अश्विनीकुमारों इन्द्र और अग्नि को प्रीत करो। असुर-पुत्र नमुचि के पास से जिस सोम का अपहरण करके अश्विनीकुमारों और सरस्वती ने इन्द्र के भैषज्य के लिए, अथवा बल के लिए अभिषव किया, मैं इस यज्ञ में उसी शुद्ध और रसीले तथा परमैश्वर्यदायक उज्ज्वल सोम का भक्षण करता हूँ। रसीले अभिषुत सोम का जो अंश यहाँ (सुरा) में लिप्त (संलग्न) हो गया, जिसे कर्मों द्वारा (शुद्ध करके) इन्द्र ने पिया, मैं यहाँ उस दीप्तिमान् सोम का शुद्ध मन से (सुरा में से शुद्ध करके) भक्षण करता हूँ। (३२—३५)[३]

---

१. शुक्ल य० सं० अ० ६ के अनुसार—वशानालभन्ते—शतपथ ब्राह्मण ४।५।२।१

२. हिंसागवीं मखे वीक्ष्य रिरंसुर्धावति स्म सः।
सा तु सौम्यवृषासक्ता खरं दूरान्निरासतम् ॥ नै० १७।१७७

३. सुरावान् वा एष बर्हिषद् यज्ञो यत् सौत्रामणीः॥ १२।८।१।२
सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञं हिन्वन्ति महिषा नमोभिः।
दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदे मेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः॥ शु० य० वै०सं० १९।३२
यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमानं मदेनसरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्॥ वही, १९।३३

कलि को नलपुर में कहीं ब्राह्मण सुरापान करता दिखायी पड़ा, अतः (कहीं) ब्राह्मण को मदिरा लेते देखता हुआ कलि बड़ा प्रसन्न हुआ। किन्तु उस ब्राह्मण को सौत्रामणी-याग में (मदिरा स्वीकार की विधि का पालन) करता हुआ देखकर वह बड़ा व्यथित हुआ।[1]

वामदेव्य सामोपासना के अङ्ग रूप से वेध का यह विधान है—

समागम-प्रयोजन वाली तथा अपनी शय्या पर प्राप्त हुई स्त्री का परित्याग न करे।[2]

वहाँ (नैषधपुर में एक स्थान पर) स्वयम् आकर उपस्थित हुई (गम्या, अथवा अगम्या) सभी प्रकार की स्त्री के कामुक को देखकर वह (कलि) बड़ा सन्तुष्ट हुआ। (कि इस व्यभिचारी का आश्रय लेकर मैं यहां रह सकूंगा) किन्तु (दूसरे ही क्षण) उसको वामदेव्य साम नाम की ब्रह्मविद्या का उपासक जानकर मुरझा गया।[3]

वेदविधान है कि किसी यज्ञ के अनुष्ठान में दीक्षित होने पर यजमान् अनुष्ठान काल तक दान, होम (सन्ध्या-स्नानादि) और (ग्रहणस्नानादि) नित्य-नैमित्तिक कर्मों से मुक्त रहता है।[4]

(नल नगरी में) वह (कलि) किसी ब्राह्मण को अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म न करते हुए देख अतीव प्रसन्न हुआ, कि चलो, यही मेरे यहां रहने का आश्रय मिला। किन्तु उस ब्राह्मण के यज्ञ में दीक्षित (होने के कारण दान होमादि नित्य नैमित्तिक कर्मों का त्यागी) जान कर निराश हो जाने के कारण तो उसका मुँह लटक गया। और वहाँ से उसे दूर ही भाग जाना पड़ा।[5]

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तं शुक्रं मधुमन्तमिन्दुं सोमं राजानमिह भक्षयामि॥ वही, १९।३४
यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो अपिवच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमं राजानमिह भक्षयामि॥ वही, १९।३५

१. मुमुदे मदिरादानं विदन्नेष द्विजन्मनः। दृष्ट्वा सौत्रामणीमिष्टिं तं कुर्वन्तमदूयत॥ नै० १७।१८२
२. न काञ्चन परिहरेत् तद्व्रतम्॥ छान्दो० २।१३
३. कम्रं तत्रोपनम्राया विश्वस्यावीक्ष्य तुष्टवान्।
स मम्लौ तं विभाव्याथ वामदेव्याम्युपासकम्॥ नै० १७।१९४
४. "दीक्षितो न ददाति न जुहोति" इत्यादिश्रुतेः—नैषधीय प्रकाशः १७।२०१ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।
५. हृष्टवान् स द्विजं दृष्ट्वा नित्यनैमित्तिकत्यजम्।
यजमानं निरूप्यैनं दूरं दीनमुखोऽद्रवत्॥ नै० १७।२०१

सर्वस्वार अथवा सर्वमेघ नामक यज्ञ में ब्रह्म-स्वयंभू आत्महत्या करता है।[1]

"निषधपुर में कलि ने किसी व्यक्ति को आत्महत्या करते देखा। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि यह सर्वस्वार नामक वैदिक यज्ञ कर रहा है जिसमें आत्महत्या वैध है तो वह बड़ा दुःखी हुआ।"[2]

अघमर्षण सूक्त द्वारा[3] चुलुक में जल लेकर नासिका से स्पर्श किया जाता है। मध्याह्न सन्ध्यानुष्ठान के प्रसङ्ग में पूर्वोक्त क्रिया करते समय नल का वर्णन श्रीहर्ष करते हैं—"अघमर्षण मन्त्र का उच्चारण करते हुए नल ने हाथ में लिये जल को नासिका से लगाया। जल निर्मल श्वेत था, जिसे देखकर नेत्र प्रसन्न हो रहे थे; शीतल था, जिसे छूकर त्वगिन्द्रिय आनन्दित हो रही थी; मन्त्रोच्चार के साथ था, जिसे सुनकर श्रवणेन्द्रिय हृष्ट हो रही थी तथा स्वादिष्ट था, जिसके स्वाद से रसना प्रमुदित हो रही थी। इस प्रकार चारों इन्द्रियों को सन्तुष्ट देखकर मानों नासिका भी सुन्दर सुगन्ध पाने की दुराशा से उस जल को सूंघ रही थी।"[4]

ऋग्वेद के प्रसिद्ध विष्णु-सूक्त[5] का जप करते समय राजा नल का वर्णन इस प्रकार किया गया है—विष्णु-सूक्त का जप करने के लिये राजा ने अपने कर-कमल में पद्म-बीजों की बनी पद्माक्ष माला ली। मानो वे बीज पुनः अपने निवास-स्थान कमल में ही पहुँच गए हों।[6]

---

१. सोऽन्त्येष्टौ सर्वस्वाराख्ये यज्ञे आत्मानमेव पशुमन्त्रैः संस्कृतं घातयित्वा यज्ञभागमर्पयति, इति श्रुतिः—नै० प्रकाश १७।२०२ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत (हिलेब्रां महोदय का मत है कि इस यज्ञ में राजा अपना सर्वस्व त्याग कर संन्यास ग्रहण करता है, जैसा बुद्ध ने किया। यह (यज्ञ) उपाख्यानों पर ही आधारित है, और केवल पुरोहितों की कल्पना ही समझ पड़ता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इसका उल्लेख सबसे बाद में लिखे गए सूत्रों में ही हुआ है)—कीथ-रेलिजन एंड फिलासफ़ी आफ दी वेद, द्वितीय भाग, पृ० ३४८।

२. आननन्द निरीक्ष्यायं पुरे तत्रात्मघातिनम्।
सर्वस्वारस्य यज्वानमेनं दृष्ट्वाथविव्यथे॥ नै० १७।२०२

३. ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत इत्यादि—ऋ० सं० १०।१९०

४. श्वैत्यशैत्यजलदैवतमन्त्रस्वादुताप्रमुदितां चतुरक्षीम्।
वीक्ष्यमोघधृतसौरभलोभं घ्राणमस्य सलिलभ्रमिवासीत्॥ नै० २१।१७

५. विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्, इत्यादि।—ऋ० सं० १।१५४।१-६

६. अक्षसूत्रगतपुष्करबीजश्रेणिरस्य करसङ्करमेत्य।
शौरिसूक्तजपितुः पुनरापत् पद्मसद्मचिरवासविलासम्॥ नै० २१।४८

पुरुष-सूक्त के अनुसार क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति विराट्-पुरुष के बाहु से हुई मानी जाती है।[1]

परशुराम-अवतार की स्तुति करते समय नल वेद के पूर्वोक्त वर्णन की ओर संकेत करते हैं—"प्रभो, सृष्टि करते समय आपने अपनी भुजाओं से जिस क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया, फिर परशुराम का रूप धारण कर उन्हीं भुजाओं में उस जाति को लीन भी कर लिया, आपकी उन वीर भुजाओं को यह उचित ही था, क्योंकि कारण में ही कार्य का लय होता है।"[2]

वेद-वचन के अनुसार दक्षिणायन के समय शरीर त्यागने वाले (कर्मी गृहस्थ) क्रम से मासाभिमानिनी देवताओं, पितृलोक तथा आकाश प्राप्त करते हुए चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं। यह चन्द्रमा सोम-राज देवों का अन्न है, जिसका देव-गण भक्षण करते हैं—(छा०)। वे इस चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न बन जाते हैं। और जैसे ऋत्विज् यज्ञ में सोम का आप्यायन और अपक्षय करके भक्षण करते हैं वैसे ही देव भी सोम (चन्द्र) लोक में शरीरपाने वाले कर्मियों का उपयोग करते हैं (बृह०)। इस प्रकार चन्द्रमा के सायुज्य और सालोक्य प्राप्त लोगों की गति होती है—(नारायणोपनिषद्)[3]।

चन्द्रमा के लाल रङ्ग को देखकर पूर्वोक्त श्रुतिवचन के सहारे नल दमयन्ती से कहते हैं—परशुराम ने सहस्रार्जुन का सिर काट कर उसके जिस रक्त से पितरों का तर्पण किया था, उसी रक्त ने मानों इस पितृलोक (चन्द्रमा) में पहुंच कर इसे लाल वर्ण कर दिया है।[4]

---

१. बाहू राजन्यः कृतः। ऋ० सं० १०।९०।१२

२. क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक्।
जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम्॥ नै० २१।६५

३. मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेषसोमो राजा तद्देवा नामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ छान्दो० ५।१०।४
मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्रदेवा। यथा सोम राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्यवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति। बृहदा० ६।२।२६
अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानंगत्वा चन्द्रमसः सायुज्यंसलोकतामाप्नोति—नारायणोप० ८०

४. तानीवगत्वा पितृलोकमेनमरञ्जयन्यानि स जामदग्न्यः।
छित्वा शिरोऽसृत्राणि सहस्रबाहोर्विस्राणि विश्राणितवान्पितृभ्यः॥नै० २२।४६

चन्द्रमा के कलङ्क के प्रति भी वेद की उसी उक्ति के प्रमाण से एक दूसरी कल्पना करते हैं—पुत्रों ने अपने पितरों को श्रद्धासहित जो तिलाञ्जलि दी वह पितरों के लोक चन्द्रमण्डल में चली जाती है, और वहाँ वे तिल एकत्रित होकर कलङ्करूप में श्यामवर्ण दिखायी देते हैं, तथा वह जल चन्द्रमा का अमृत वन जाता है।[1]

श्रुति ने (जैसा अभी उद्धृत किया गया है) चन्द्रमा को देवों का अन्न वताया है तथा उसे देवों का भक्ष्य कहा है। नैषध में पूर्वोक्त वेद-वचन का दो वार उल्लेख हुआ है। एक वार दमयन्ती चन्द्रमा को उपालम्भ देती हुई कहती है—सागर से उत्पन्न होने वाले इस श्वेत विष का देवगण पीकर क्षय कर देते हैं, तो भी यह फिर से नया ही उदय होता है।[2] फिर वही दमयन्ती प्रिय के साथ एकान्त में सौधशिखर पर वैठी हुई चन्द्रमा की प्रशंसा करती हुई कहती है—"सुधा-भोजी देवगण इस (सुधामय) चन्द्रमा को पीकर जो रिक्त कर देते हैं वह उचित ही है, इसके पूर्व इस चन्द्रमा के पिता सिन्धु को भी अगस्त्य मुनि ने पीकर रिक्त कर दिया था।[3]

शिक्षा

वेदाङ्गों में शिक्षा का प्रथम स्थान माना गया है तथा उसे वेद का प्राण कहा गया है।[4] शिक्षा का प्रतिपाद्य विषय है वर्णों की संख्या, उत्पत्ति, उच्चारण-विधि इत्यादि।[5]

---

१. स्वधाकृतं यत्तनयैः पितृभ्यः श्रद्धापवित्रं तिलचित्रमम्मः।
चंद्रं पितृस्थानतयोपतस्थे तदङ्करोचिः खचिता सुधेव॥ नै० २२।११९

२. —एषविधुर्विशदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम्॥ नै० ४।६१

३. सुधाभुजो यत्परिपीय तुच्छमेतं वितन्वन्ति तदर्हमेव।
पुरा निपीयास्य पितापि सिन्धुरकारि तुच्छः कलशोद्भवेन॥ नै० २२।६७

४. शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य। पा० शि० ३

५. वर्णों की संख्या के विषय में शिक्षा-शास्त्र का मत है—
त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा॥३॥
स्वराः विंशतिरेकश्चस्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥४॥
अनुस्वारोविसर्गश्च ᳲक ᳲपौ चापि पराश्रितौ।
दुस्पृष्टश्चेतिविज्ञेयः लृकारः प्लुत एव च॥५॥

कुण्डिनपुरी के वर्णन प्रसङ्गों में एक स्थान पर शिक्षा-शास्त्र के पूर्वोक्त सम्पूर्ण

वर्णोत्पत्ति की अन्तःक्रिया के विषय में शिक्षा का मत है—

आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरनान्द्रं जनयति स्वरम्॥ इत्यादि ॥६॥

वर्णों का विभाग पांच प्रकार से किया गया है—

सोदीर्णमूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥९॥
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत॥१०॥

१. उदात्तश्चानुदात्तश्चस्वरितश्चस्वरास्त्रयः।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि॥११॥
उदात्तेनिषादगान्धारावनुदात्तऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥१२॥

३. अष्टौ स्थानानि वर्णनामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥१३॥
ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥१४॥
यद्योभावप्रसन्धानमुकारादिपरं पदम्।
स्वरान्तं तादृशं विद्याद्यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः॥१५॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥१६॥
कंठ्यावाहा विचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृता॥१७॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए ऐ तु कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठोष्ठजौस्मृतौ॥१८॥

४. अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्या स्यादेकैरकारयोर्भवेत्।
ओकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम्॥१९॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्।
घोषा वा संवृता सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः॥२०॥
स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च॥२१॥

सिद्धान्त विमल दर्पण में प्रतिविम्बित-सें समझ पड़तें हैं, "जहाँ समस्त वर्ण

अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥२२॥
अलाबुवीणानिर्घोषो दन्त्यमूलस्वरानन्नु।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं हा शषसेषुच ॥२३॥
अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रौकारवकारयोः ॥२४॥
व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ॥२५॥
यथा सौराष्ट्रिकानारी तक्रं इत्यभिभाषते।
एवंरङ्गाः प्रयोक्तव्याः रवेअरां इव खेदया ॥२६॥
रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन्नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम्।
दीर्घस्वरः प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥२७॥
हृदये चैकमात्रस्त्वर्धमात्रस्तुमूर्धनि।
नासिकायां तथार्धं च रङ्गस्यैव द्विमात्रता ॥२८॥
हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येनसमनुस्वरन्।
मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वां इति निदर्शनम् ॥२९॥
मध्ये तु कम्पयेत्कम्पमुभौपार्श्वौ समौभवेत्।
सरगंकम्पयेत्कम्पंरथीवेतिनिदर्शनम् ॥३०॥
एवं वर्णाःप्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥३१॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥३२॥
माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तुसुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका (के) गुणाः ॥३३॥
शङ्कितंभीतमुद्‌घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगतं तथा स्थान-विवर्जितम् ॥३४॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्‌गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥३५॥
प्रातःपठेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेणशार्दूलरुतोपमेन।
मध्यंदिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजित-सन्निभेन ॥३६॥

(ब्राह्मण आदि जातियां, अथवा नील, पीत आदि रङ्ग, अथवा अकारादि वर्ण) मर्यादाशील हों, वह नगरी चित्रमयी (आश्चर्यमयी अथवा रंग-विरंगी) क्यों न हो? जहाँ अनेक मुख शब्द करते हों, वहाँ विभिन्न स्वर-भेद क्यों न हों?"[1]

इस एक श्लोक में श्रीहर्ष ने पूर्ण विद्वत्ता के साथ शिक्षा-शास्त्र के वर्णस्वरादि-विषयक समस्त सिद्धान्तों की ओर सङ्केत कर दिया है।

तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यमृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन॥३७॥

अचोऽस्पृष्टायणस्त्वेषीन्नेमिस्पृष्टाः शलः स्मृताः।
शेषाः स्पृष्टाहृतः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः॥३८॥

अमोऽनुनसिकानह्नो नादिनोहझषः स्मृताः।
ईषन्नादा यणोजश्च श्वासिनस्तु खफादयः॥३९॥

ईषच्छ्वासांश्चरोविद्या, गोधनैतत प्रचक्षते।
दाक्षीपुत्रपाणिनिना येनेदं व्याचितं भुवि॥४०॥

उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां प्रवेशिनी मूलनिविष्टमूर्धा।
उपान्तमध्ये स्वरितंधृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव॥४३॥

उदात्तं प्रवेशिनींविद्यात्प्रचयंमध्यतोऽङ्गुलिम्।
निहतं तु कनिष्ठिक्यां स्वरितोपकनिष्ठिकाम्॥४४॥

अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्तं नीचस्वरितम्।
मध्योदात्तं स्वरितं द्युदात्तं त्र्युदात्तमितिनवपदशय्या॥४५॥

अग्निः सोमः प्रवो-वीर्यं हविषां स्वबृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पतिः।
अग्निरित्यन्तोदात्तंसोमइत्याद्युदात्रंप्रेत्युदात्तंवाइत्युदात्तंवीर्यंनीचस्वरितम्॥४६॥
हविषां मध्योदात्तं स्वरिति स्वरितम्।
बृहस्पतिरिति द्युदात्तमिन्द्राबृहस्पति इति त्र्युदात्तम्॥४७॥

अनुदात्तोहृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कण्ठमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः॥४८॥

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखीरौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम्॥४९॥

१. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखा न वा॥ नै० २।९८

व्याकरण

नैषध व्याकरण शास्त्र के गूढ़ एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है। टीकाकार विद्याधर की उस उक्ति में कि आठों व्याकरणों तथा अन्य अनेक विषयों का ज्ञाता ही नैषध की टीका कर सकता है, किसी प्रकार की अतिरञ्जना नहीं है। विद्याधर, चाण्डू-पण्डित, मल्लिनाथ, नारायण आदि धुरीण टीकाकारों ने नैषधीय श्लोकों की व्याख्या में पदे-पदे व्याकरण के गूढ़ नियमों की ओर सङ्केत किया है। पाणिनीय तथा कातन्त्र दोनों व्याकरणों का अवलम्ब लेकर विद्याधर एवं चाण्डू-पण्डित-जैसे विद्वानों ने स्थान-स्थान पर मिलने वाली व्याकरणात्मक ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। अतः श्रीहर्ष की व्याकरण-विषयक विशेषज्ञता समालोचना की इस पद्धति से स्वल्प-मात्र भी नहीं प्रदर्शित की जा सकती। उसके लिए तो संस्कृत-साहित्य की टीका-पद्धति ही समर्थ हो सकती है। इस प्रकरण में नैषध के केवल उन्हीं स्थलों को उद्धृत किया जाता है, जिनसे श्रीहर्ष का व्याकरण-शास्त्र में प्रेम एवम् अन्तःप्रवेश तथा उसके सूक्ष्म सिद्धान्तों से पूर्ण अभिज्ञता का पता चलता है। इससे उनका भाषा पर पूर्णाधिकार एवं भाव व्यक्त करने का अद्भुत सामर्थ्य दोनों का प्रमाण मिल जाता है।

पाणिनीय व्याकरण में प्रथमा विभक्ति के सु, औ, जस्, को लेकर हंस दयमन्ती के सम्मुख नल की प्रशंसा करते हुए (श्लेष द्वारा) अपनी कल्पना का चमत्कार दिखाता है। "यदि महापुरुषों को श्रेणियों में विभक्त किया जाय, तो वह व्यक्ति प्रथम माना जायगा, जोकि अपने ओजो-बल से असंख्य शत्रुओं के पदों को अपने अधीन करने में पूर्ण समर्थ हुआ है।"

पक्षान्तर में—"यदि सम्यक्रूप में विभक्तियों का विचार किया जाय, तो वह प्रथमा नाम की विभक्ति है, जो अपने सु-औ-जस् रूप एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्ययों के कार्य-बल से अनेक प्रातिपदिक शब्दों को सिद्ध करने में नितान्त समर्थ होती है।"[1]

व्याकरण शास्त्र में आदेश (किसी शब्द या वर्ण के स्थान पर किया गया अन्य शब्द या वर्ण) स्थानी के (जिसके स्थान पर किया गया है उसके) तुल्य होता है, किन्तु स्थानी के किसी अल् (वर्ण) के आश्रय से यदि कोई (व्याकरण सम्बन्धी) विधान करना होता है तो आदेश स्थानिवद्भाव को प्राप्त नहीं होता है।"[2]

---

१. क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्॥ नै० ३।२३

२. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ—पा० १।१।५६

श्रीहर्ष ने स्वयंवर में नल का रूप धारणकर पहुँचे हुए इन्द्र के प्रति कहे गए श्लोक में उक्त सूत्र का अर्थ किस कौशल के साथ व्यञ्जित किया है ? इन्द्र पक्ष में —"कार्यसाधन के लिए नैषध का रूप बनाकर, साक्षात् नल बनकर भी इन्द्र ने किस प्रकार अपने वास्तविक नीच भाव को धारण किया था—जिससे उन्हें अपनी ही बात की व्याख्या करनी पड़ी।" पक्षान्तर में "प्रसिद्ध व्याकरण शास्त्र के निर्माता होकर भी विद्वान् इन्द्र ने भी अनल्विधि में क्या दूषित स्थानिवद्भाव न किया।"[1] 'अनल', 'कार्य' आदि पदों में श्लेष के बल से श्रीहर्ष ने इस श्लोक में उक्त सूत्र का अर्थ अद्भुत चमत्कार के साथ सन्निवेशित किया है।

व्याकरण के अनुसार आर्धधातुक प्रत्यय के कार्यकाल में अस् धातु को भू-आदेश हो जाता है।[2] अतः अद्यतन भूत अर्थ में होने वाले लुङ्लकार में भी अस् के स्थान पर भू आदेश ही हो जाता है। व्याकरण के नियम का श्रीहर्ष काशी वर्णन के प्रसङ्ग में श्लेष चमत्कार के साथ प्रयोग करते हैं। "हे दमयन्ति, जिस प्रकार अद्यतन भूत अर्थ में अस् धातु भू का स्वरूप बन जाती है, उसी प्रकार काशी नगरी में पहुँचकर संसार-सागर के जीव पार्वती-पति के ही रूप में मिल जाते हैं (तारक मंत्र के उपदेश से उन्हें शिव का सायुज्य प्राप्त हो जाता है)।[3]

कारक-प्रकरण में एक नियम है कि जितने समय अथवा दूरी में कोई कार्य पूरा हो जाता है, उस (समय एवं दूरी वाचक शब्द) में तृतीया विभक्ति होती है।[4] चार्वाक शब्दच्छल द्वारा इस सूत्र को अपने मत के समर्थन में किस प्रकार प्रयुक्त करता है—"मुनीश्वर पाणिनि ने सूत्र बनाया 'अपवर्गे तृतीया' जिससे उनका यही अभिप्राय है कि संसार में तीन प्रकृतियां होती हैं—पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक।[5] इसमें अपवर्ग (मोक्ष) के लिए तो केवल तृतीय प्रकृति अर्थात् नपुंसक लोगों को प्रयत्न

---

१. स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरपिनानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्तदुष्टं तादृक् कृतव्याकरणः पुनः सः॥ नै० १०।१३६

२. अस्तेर्भूः—पा० २।४।५२

३. सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः।
भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य भीमोद्भवे भवति भावमिवास्तिधातुः॥
नै० ११।११७

४. अपवर्गे तृतीया—पा० २।३।६

५. तृतीयाप्रकृतिः षण्ढः—अमरकोष

करना चाहिए। शेष जो पुरुष-स्त्री-रूप दो प्रकृतियां हैं उन्हें भर-पेट काम में रत होना चाहिए।[1]

व्याकरण में लोट् लकार में 'तु' और 'हि' के स्थान पर 'तातङ' आदेश होता है।[2] प्रभात वर्णन के प्रसंग में वैतालिक लोग पूर्वोक्त सूत्र को लेकर अद्‌भुत कल्पना करते हैं:—

उषःकाल (प्रभात) में कौवे ने प्रश्नवाचक 'किम्' 'शब्द' के प्रथमा द्विवचन के (द्विरुक्त) रूप (कौ, कौ) का उच्चारण करते हुए प्रश्न किया "बोलो पतञ्जलि (व्याकरण)-शास्त्र में "तातङ" आदेश के स्थानी दो कौन हैं?" "कोकिल ने तुरंत उत्तर दिया "तुहि तुहि"।[3]

दा तथा धा की तरह रूप वाली (दाप् दैप के अतिरिक्त) धातुओं की 'घु' संज्ञा की गई है।[4] प्रभात वेला में कपोत की बोली सुनकर कवि कल्पना करता है, "कबूतर भी पाणिनीय शास्त्र का अध्ययन करने वाला हुआ है। शब्दों को साधते समय उसने जो तमाम खड़िया-मिट्टी खर्च की उसके कारण उसके कण्ठ में अब भी सफेद निशान बना हुआ है। पर दैववश उसे सारा पढ़ा हुआ पाठ विस्मृत हो गया है। केवल "दाधाघ्वदाप्" वाली "घु" संज्ञा याद रह गई है। अब उषःकाल में उठकर वह उसी घु-संज्ञा को घोख रहा है। (घु घु कर रहा है) और पूर्व संस्कार के कारण सिर हिलाता जा रहा है।[5]

श्रीहर्ष पद-(शब्द) प्रयोग में व्याकरण शास्त्र की अपेक्षा लोक-प्रयोग को अधिक बलवान् बताते हुए उदाहरण के लिए, "अकारान्त शब्द से 'इन' तथा 'ठन्'

---

१. उभयीप्रकृतिः कामे सज्जेदितिमुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ नै० १७।७०

२. तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्॥ पा० ७।१।५३

३. इह किमुषसि पृच्छाशंसि किं शब्द-रूपप्रतिनियमितवाचा वायसेनैव पृष्टः।
भण फणिभवशास्त्रे तातङः स्थानिनौ काविति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोभूत्॥
नै० १९।६०

४. दाधाघ्वदाप्—पा० १, १, २०

५. दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत्कोप्यधीती कपोतः।
कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनी शेषभूषानुयातः।
सर्वं विस्मृत्य दैवात्स्मृतिमुषसि गतां घोषयन्यो घुसंज्ञां।
प्राक्संस्कारेण संप्रत्यपि धुवति शिरः पट्टिकापाठजेन॥ नै० १९।६१

प्रत्यय होता है"[1]—इस नियम का उल्लेख करते हैं। "वास्तव में शब्दों के प्रयोग में लोक-व्यवहार व्याकरण के नियमों की कोई अपेक्षा नहीं करता, अपितु उनका अपमान-सा करता है। शश (खरगोश) पास में होने से चन्द्रमा को शशी तो कहते हैं, पर मृग भी तो चन्द्रमा के पास है किन्तु उसे मृगी नहीं कहते।"[2]

ज्यौतिष

नैषध में ज्यौतिष-शास्त्र के सिद्धान्तों का अनेक स्थलों पर सुन्दर संकेत हुआ है, जिनसे श्रीहर्ष का उस शास्त्र में गहन प्रवेश प्रमाणित होता है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ स्थल प्रदर्शित किए जाते हैं—

ज्यौतिष शास्त्र में—बुध को उत्तर दिशा का, सूर्य को पूर्व दिशा का तथा शुक्र को दक्षिण-पूर्व (आग्नेयकोण) का स्वामी कहा गया है।[3]

इस प्रकार सदा सूर्योदय के समय या (जब तक सूर्य पूर्व-दिशा से दूर नहीं चले जाते) सूर्य को बुध शुक्र का सामीप्य मिलता है।

श्रीहर्ष राजा नल का वर्णन करते समय श्लेष के सहारे ज्योतिष के पूर्वोक्त सिद्धान्त को सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं—

"कान्तिमान् कुशल राजा नल कवि तथा बुधों (विद्वानों) के साथ काव्य एवं शास्त्र का सानन्द अभ्यास करते हुए दिन प्रति दिन उसी प्रकार अभ्युदय को प्राप्त कर रहे थे जैसे, बुध और शुक्र से युक्त भगवान् भास्कर प्रतिदिन उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।"[4]

(वैसे बुध-शुक्र के साथ सूर्य का योग बड़ा उत्पात कारक माना जाता है। उसमें धान्य—महर्घता तथा अल्पवृष्टि का भय होता है और ताप की मात्रा बढ़ती है।[5]

---

१. अत इनिठनौ—पा० ५।२।११५

२. भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पंपदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततो ऽयमेवं मृगो स्यास्ति मृगीति नोक्तः॥ नै० २२।८२

३. दिगीशाःसूर्यशुक्रार राह्वर्केन्दुज्ञसूरयः—बृहद्दैवज्ञरञ्जन,
पृ० २८२ में उद्धृत नारद मत

४. अजस्रमभ्यासमुपेयुषासमं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ नै० १।१७

५. एकराशिस्थिताह्येते सौम्यशुक्रदिनाधिपाः।
सर्वधान्य महार्घत्वं मेघाः स्वल्पजलप्रदाः॥ बृ० दै० रं० पृ० १६ में उद्धृत—
मयूरचित्रक

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को यह ग्रह-योग केवल श्लेष की पूर्ति के लिए अभीष्ट था।)[१]

यात्रा के समय जलपूर्ण कलश आम्रफल तथा गज का दर्शन शुभ एवं सर्प तथा श्वापद का दर्शन अशुभ माना जाता है।

हंस को कुण्डिनपुर जाते समय सर्वप्रथम जलपूर्ण कलश ही दृष्टिगोचर होता है—मार्ग में सर्वप्रथम राजहंस को पथिक की प्रार्थित सिद्धि का द्योतक एक जलपूर्ण कलश दिखायी पड़ा।[२] फिर हंस को थोड़ी देर तक आकाश से राजा के उपवन को देखने की अभिलाषा हुई। अतः कौतुकवश मन्द गति से उड़ते हुए उसने उस विलास-वन में फल-विनम्र आम्र-वृक्षों को देखा।[३] फिर पक्षीन्द्र ने वहाँ एक पर्वत देखा, जो आकाश के मेघखण्ड रूपी करिशावकों से संयुक्त था, जहाँ विशाल वृक्षों के नीचे व्याघ्र-सर्प आदि (भयावह अपशकुन-कारी जीव) छिपे पड़े थे, तथा जो छोटे पादपों से भरा हुआ था।[४]

ज्यौतिष सिद्धान्तानुसार प्रत्यादित्य (सूर्य के ललाटस्थ रहने पर ललाटी योग में) यात्रा प्रशस्त नहीं मानी गयी है।[५] जिस समय दमयन्ती हंस को पकड़ने के लिए उसके पीछे लगती है, उस समय सखियाँ शब्दच्छल द्वारा उसका उपहास करती हैं, जिसमें ज्यौतिष के पूर्वोक्त सिद्धान्त की ओर सङ्केत रहता है—'सखियों ने (शब्द) छलपूर्वक उपहास किया—"सुन्दरि, तुम्हारी यह हंसाभिमुख (हंसपक्षी तथा सूर्य

---

१. श्वेताःसुमनसःपृष्ठापूर्णकुम्भस्तथैवच। गावस्तुरङ्गमोनागोवृद्धएकः पशुस्त्वजः।
घृतं दधि पयश्चैव फलानि विविधानि च....। बृ० दै० रं०, पृ० २८६-२८७
सितवस्त्रं प्रसन्नाम्भः फली वृक्षो नभोऽमलम्। अग्निपुराण, २३०।१
गोधासर्पःशशकोजाहकश्चयानेदृष्टःकृकलासो पिनेष्टः॥ बृ० दै० रं०, पृ० २८६

२. प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिक-प्रार्थितसिद्धिशंसिनम्।
कलसं जलसम्भृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः॥ नै० २।६५

३. अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसंगतम्।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्टरसालसंगतम्॥ नै० २।६६

४. नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम्।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम्॥ नै० २।६७

५. क—दिगीशाः सूर्यशुक्रार राह्वर्केन्दुज्ञसूरयः।
दिगीश्वरे ललाटस्थे यातुर्न पुनरागमः॥
ख—दिशामधीशा रविशुक्रभौमतमोयमेन्द्विन्दुजसूरयः स्युः।
ललाटगेनप्रवसेद्दिगीशे गन्तव्यमस्मिन् खलु कण्ठकस्थे।
बृहद्दैवज्ञरंजन में उद्धृत (क) नारदमत तथा (ख) श्रीपतिमत पृ०-२८२

की ओर) यात्रा प्रशस्त नहीं।" दमयन्ती ने उनको उत्तर दिया—"सखियों, यह हंस मेरा अपशकुन-रूप नहीं, किन्तु मेरे भावीप्रिय (शुभवार्ता अथवा पति) का सूचक है।"[१]

ज्यौतिष शास्त्र ने मनुष्य, देवता तथा ब्रह्मा के काल का परस्पर सम्बन्ध निकाला है।[२] विरहवेदना की असह्यता व्यक्त करती हुई दमयन्ती कहती है—"गणित शास्त्र में मनुष्य देवता तथा ब्रह्मा का जिस काल परिणाम से युगनिर्माण होता है (एक का क्षण दूसरे के युग के बराबर होता है) उसी प्रकार संयोगियों के क्षण के बराबर ही वियोगियों का युग क्यों न बनाया गया?"[३]

ज्यौतिष शास्त्र के अनुसार पूर्णचन्द्र को शुभग्रह तथा क्षीणचन्द्र को पापग्रह माना जाता है।[४] विरहव्यथिता सुन्दरी दमयन्ती पूर्ण चन्द्र के प्रति क्रुद्ध होकर कहती है—"सखि, विरहीवर्ग के वध में निरत इस सम्पूर्ण चन्द्र को ही तुम पापग्रह समझो। देवों ने जिसका अमृत पी लिया है वह अमावस्या का चन्द्र तो निष्पाप है। पर इन ज्यौतिषियों की कैसी उलटी बातें होती हैं?"[५]

---

१. शस्ता न हंसाभिमुखीपुनस्ते यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना।
साह स्म नैवाशकुनी भवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः॥ नै० ३।९

२. मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदहमुच्यते। सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात्।
तत्षष्टैः षड् गुणा दिव्य-वर्षमासुरमेवच। तद्द्वादशसहस्राणि चातुर्युगमुदाहृतम्॥
....४३२००००

युगानांसप्ततिःसैकामन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसंख्या (१७२८०००) स्तस्यान्तेसन्धिःप्रोक्तोजलप्लवः॥
ससन्धमस्ते मनवो कल्पेज्ञेयाश्चतुर्दश।
कृतप्रमाणं कल्पादौ सन्धिः प्रोक्तोजलप्लवः॥
इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्यतावती॥
परमायुः शतं तेषां तयाहोरात्रसंख्यया।
आयुषोर्द्धगतं तस्य शेषात्कल्प्योयमादितः।

(सूर्यसिद्धान्त-बृ० द० र० में उद्धृत पृ० ५)

३. नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा।
विरहिणामपि तद्वतवद्युवक्षणमितं न कथं गणितागमे॥ नै० ४।४४

४. अर्द्धोनेन्द्वर्क सौराराः पापा, ज्ञस्तद्युतोपरे।
शुभाः पापोतमः केतू विष्णुधर्मोत्तरोदितौ॥ बृ० दै० र०, ३२।२४

५. विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलयपापमशेषकलं विधुम्।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदोविपरीतकथाः कथम्॥ नै० ४।६२

ज्यौतिष-सिद्धान्त है कि सूर्य-रश्मियों के प्रतिविम्व पड़ने से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है।[1] देव-दौत्य स्वीकार कर नल जब कुण्डिनपुर के समीप पहुंचे उस समय जैसे भानुमण्डल से निकलकर रश्मिजाल चन्द्रमण्डल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार सारथि-सनाथ रथ से उतरकर राजा ने नगर में प्रवेश किया।[2]

यात्रा का विचार करते समय ज्यौतिष का सिद्धान्त है कि चित्रा और स्वाती में यात्रा करने वाले मनुष्य न सुख पाते हैं और न कुशल से लौटते हैं।[3] दमयन्ती से उसके प्रति वरुण के अनुरागातिशय का वर्णन करते हुए नल कहते हैं—"सुन्दरि, सन्ध्या वेला में जो दिशा अपने शरीर में अङ्ग-राग लगाने की बड़ी शौकीन है उसी के पति वरुण ने तुम्हारे प्रति अपने चित्त को उस समय भेजा, जिस मुहूर्त में निकला हुआ पथिक फिर लौटकर नहीं आता।"[4]

जन्मकुण्डली बनाते समय ज्यौतिषी जन्मकालीन शुभाष्टक वर्ग लिखते हैं।[5] दमयन्ती के अधर पर सुन्दर आठ रेखाओं के प्रति नल उत्प्रेक्षा करते हैं—प्रिये, तुम्हारे जिस विम्बारुण अधर पर मनोज का शुभ अष्टकवर्ग लिपिवद्ध किया गया है, वही विम्बारुण अधर मेरे द्वारा की गई दन्तक्षत पंक्ति के रंगों से भूर्जपत्र बने।[6]

विवाहमुहूर्त गुणों सहित तथा ग्रहों के उदयास्त दोषों से रहित होना चाहिए।[7] महाराज भीम ने दमयन्ती के विवाह के लिए इसी प्रकार का अत्यन्त प्रशस्त मुहूर्त

---

१. बृहत्संहिता ४।१-४

२. रथादसौ सारथिनासनाथाद्राजावतीर्याथ पुरं विवेश।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात् सौधाकरं मण्डलमंशुसङ्घः॥ नै० ६।७

३. कृत-प्रयाणमष्टासुनकदाचिन्निवर्तते। चित्रात्रयमघाश्लेष तथार्द्राभरणीद्वयम्॥
बृ० दै० रं०, यात्राप्रकरण में गर्गमत उद्धृत, पृ० २७८

४. यस्तन्विभर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भन-कौतुकिन्याः।
तदा स चेतः प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः॥ नै० ८।८०

५. जातकाभरण, दृष्टिशीलाध्याय, श्लो० १३

६. शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः॥ नै० ९।११९

७. इष्टोदयांशे निजपत्यदृष्टवरस्य मृत्युस्तदसंयुते च।
अस्तांशकेप्येवमदृष्टयुक्ते स्वस्वामिना नाशमुपैति कन्या॥
वसिष्ठ—बृ० दै० रं०, पृ० २३४ पर उद्धृत श्रीपति।
उदयगतनवांशः स्वेशदृष्टो युतो वा न भवति यदि मृत्युः स्यात्तदानीं वरस्य।
परिणयसमये चैवमस्तोदयांशः स्वपतिसहितदृष्ट्वः (१) मृत्युकारी च वध्वाः॥ वही

विचरवाया—"वाहर आकर राजा भीम ने ज्यौतिषियों की सभा की जिसमें उन लोगों ने राजा से गुरु, शुक्र आदि ग्रहों के उदय-अस्त दोषों से निर्मुक्त तथा जामित्र आदिगुणों से संयुक्त मुहूर्त वताया। अतः राजा ने उसी मुहूर्त में कन्यादान का उपक्रम (प्रारम्भ) किया।"[१]

चन्द्रमा के साथ गुरु-शुक्र के योग को दुरुधर योग कहते हैं।[२]

आचार्य वराहमिहिर ने दुरुधर योग का लक्षण इस प्रकार वताया है—चन्द्रमा से दूसरे तथा वारहवें दोनों स्थानों में सूर्य को छोड़कर अन्य ग्रहों के रहने पर दुरुधर योग होता है।[३]

इसी को कल्याण-वर्मा ने तथा श्रीनाथ भट्ट ने कोष्ठी-प्रदीप में स्पष्ट किया है—"सूर्य को छोड़कर जव दो ग्रह चन्द्रमा से द्वादश एवं द्वितीय स्थान में हों तो उसे दुरुधर योग कहते हैं।[४] जिसके जन्म-समय में दुरुधर योग होता है वह व्यक्ति अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है। ज्यौतिष के इस योग का उल्लेख दमयन्ती के कानों में कुण्डल पहनाती हुई उसकी सखी कहती है—"कानों में कुण्डल पहनाकर सखी ने कहा—सुन्दरि, जैसे गुरु शुक्र के साथ चन्द्रमा के दुरुधर नामक योग में उत्पन्न होने वाला वालक वृद्धिशाली होता है, उसी प्रकार इन कुण्डलों के साथ तुम्हारे मुख-चन्द्र का सम्पर्क तुम्हारे प्रिय नल में निश्चय ही अतिशय काम उत्पन्न करेगा तथा उसे सदा वढ़ाएगा।"[५]

---

१. निरीय भूपेन निरीक्षिताननः शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम्।
गुणैररीणैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे॥ नै० १५।८

२. गुरुभार्गवयोर्योगश्चन्द्रेणैव यदा भवेत्। तदा दुरुधरायोगः।

३. हित्वार्कं सुनफानफा दुरुधराः स्वान्त्योभयस्थैर्ग्रहैः शीतांशोः। बृहज्जातक, १३।३

४. रविवर्जं द्वादशगैरनफाचन्द्राद्द्वितीयगैः सुनफा।
उभयस्थितैर्दुरुधरा केमद्रुम-संज्ञकोऽतोन्यः।

५. अवादि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्ययाभ्यामशितः समन्वयः।
त्वदाननेन्दोः प्रियकामजन्मनि श्रयत्ययं दौरुधरीं धुरं ध्रुवम्॥ नै० १५।४२

एकादश अध्याय

व्युत्पत्ति—दर्शन

नैषध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के मार्मिक विषयोल्लेखों से भरा पड़ा है। श्रीहर्ष समस्त दर्शनों के अद्वितीय विद्वान् थे—उनके तर्क अप्रत्याख्येय होते थे।[1] उन्होंने दर्शनों का केवल शास्त्रीय ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया था, अपितु श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा दर्शन को अपने जीवन का ही अङ्ग बना लिया था। उनकी अपने प्रति "जो समाधि में आनन्दसागर परब्रह्म का साक्षात्कार करता है (यः साक्षात्कुरुते समाधिषुपरंब्रह्म प्रमोदार्णवम्-[2])" केवल गर्वोक्ति ही नहीं तथ्योक्ति भी थी। क्योंकि ब्रह्म के सत् चित् (ज्ञान) तथा आनन्द तीनों प्रकार के स्वरूप का साक्षात्कार हुए बिना किसी मेधावी पुरुष से भी समस्त ज्ञान कोष का ऐसा स्फुरण (प्रकाश) असम्भव था। अपने अधृष्य तर्कों के बलसे श्रीहर्ष ने "खण्डन-खण्ड-खाद्य" में प्रतितन्त्र-सिद्धान्तों का उन्हीं की युक्तियों से खण्डन करते हुए वेदान्त-सम्मत अद्वैत-ब्रह्म की स्थापना की है। नैषध में प्रायः सभी दर्शनों के विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है, जिससे कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है मानों श्रीहर्ष नैषध को विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का एक परिचय-ग्रन्थ बनाना चाहते थे।[3]

प्रस्तुत अध्याय में नैषधोल्लिखित विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का ही विवेचन किया जायगा। यहां संक्षेप में कौन-सा सिद्धान्त किस दर्शन का है तथा उसका पूर्ण स्वरूप क्या है, केवल इतना ही दिखाना अभीष्ट है। विस्तार के भय से और अधिक विवेचन में नहीं पड़ना है।

न्याय-वैशेषिक

नैषध में न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों का अत्यधिक उल्लेख हुआ है। न्याय दर्शन के अनुसार कार्य की उत्पत्ति में तीन कारण होते हैं: (१) समवायि अथवा

---

१. धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः॥ नै० २२।१५३

२. नैः २२।१५३

३. हान्दिकी—नै० पृ० ४९३

उपादान कारण' (२) असमवायि अथवा सहकारि कारण तथा (३) निमित्त कारण। उदाहरणार्थ घट की उत्पत्ति में मृत्तिका समवायि-कारण है, दण्ड, चक्र सूत्र आदि असमवायि कारण तथा कुम्भकार अथवा अन्य कोई अदृष्ट वस्तु निमित्त कारण है। समवायिकारण के गुण, कार्य में समवेत नित्यसम्बन्ध-रूप (समवाय से प्राप्त)[१] होते हैं, किन्तु असमवायि तथा निमित्त कारण के गुण समवेत नहीं होते। दण्डचक्र आदि के हरित या पीत होने का तथा कुम्भकार के गौर या श्याम होने का घट के रंग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

हंस नल से दमयन्ती के अद्‌भुत सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ कहता है—"सम्भवतः कलश में यह चक्र के समान घुमाने का गुण उसके कारणरूप दण्ड से प्राप्त हुआ है, क्योंकि वह क़लश दमयन्ती के उन्नत स्तनों का रूप धारण कर अपने क्रान्ति-प्रवाह से चक्र-भ्रम[२]- उत्पन्न कर देता है।[३]

कलश (घट) ने जब सुन्दरी के स्तनों का रूप धारण किया तो इस अभिनव रूप में उसने अपने असमवायि कारण दण्ड के (चक्र-भ्रमकारिता) गुण को अपना लिया। दण्ड का कार्य चक्के को घुमाना (चक्रभ्रमकारिता) है। कुचकलश भी अपने चारों ओर प्रभाधारा का चक्र-सा घुमा रहा है। नारायण ने चक्रभ्रम-कारिता का अर्थ इस प्रकार किया है—

---

१. उत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणाद् उत्पद्यन्ते—न्यायसूत्र ३।१।२५ पर वात्स्यायनभाष्य। स्थाल्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भदर्शनाद् भिन्न जातीयानामेककार्यारम्भानुपपत्तिः—न्या० सू० ३।१।३१ पर भाष्य। कारण-भावात्कार्यभावः। वै० सू० ४।१।३॥ रूपादीनां कारणैः सद्‌भावात् कार्ये सद्‌भावः। कारणगुणपूर्वका हि कार्यगुणा भवन्तिघटपटादौ तथा दर्शनात्। उक्त-सूत्र पर उपस्कार। पृथिव्यां—रूपरसगन्धस्पर्शाः—कारणगुणपूर्वका इति रूपाश्रयस्य घटादेर्यत्समवायि कारणं कपालादि तद्‌गुणपूर्वकाः। तथा च कपालरूपं कारणैकार्थ समवायप्रत्यासत्याघटरूपाद्यसमवायिकारणम्, एवं रसादावपि—वै० सू० ७।१।६ पर उपस्कार।

२. यहां चक्र-भ्रम शब्द में श्लेष है, जिससे इसका यह भी अर्थ होता है कि कुचकलश अपनी प्रभाधारा में दो चक्रवाकों का भ्रम पैदा करते हैं। युवती के कुचों की उपमा चक्रवाक-युगल से दी भी जाती है। किन्तु इसे श्लिष्टार्थ में कुचकलश से अपने हेतुभूत दण्ड का कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थात् हेतुदण्ड पद का प्रयोग ही अभिप्राय रहित (व्यर्थ) हो जाता है।

३. कलशे निज-हेतुदण्डजः किमु चक्र-भ्रम-कारितागुणः।
स तदुच्च-कुचो भवन्प्रभा-झर-चक्र-भ्रममातनोति यत्॥ नै० २।३२

"प्रभाझरेण दीप्ति-समूहेन चक्रभ्रमं कुलाल-चक्रभ्रमणमर्थाद्दृष्टेः करोति । सुन्दरवस्तुदर्शनेन दृष्टेर्भ्रमणं भवति ।"

उन्होंने दण्ड को घट का निमित्त-कारण माना है—

अत्र तु निमित्तगुणः कार्य-गुणमारभते—इत्यादि ।

नरहरि ने भी दण्ड को घट का निमित्त कारण वताया है। उन्होंने इस श्लोक की व्याख्या में कहा है—

घटे चक्रभ्रमकारितागुणो दृश्यते । स निजस्य घटस्य हेतुभूताद्दण्डाज्जातः किमु । अन्यत्र समवायिकारणगताद्गुणात् कार्यगुणोत्पत्तिः अत्र निमित्तकारणाद्दण्डादपि गुणोत्पत्तिराशङ्क्यते । इत्यादि ।

किन्तु चाण्डूपण्डित ने दण्ड को घट का असमवायिकारण ही माना है। उन्होंने असमवायि तथा निमित्ति दोनों को असमवायि नाम दिया है। उनकी इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—

अयमर्थः—कार्यं यदुत्पद्यते तत्र जायमाने कारणत्रयम् भवति । एकं समवायिकारणं मृत्तिका । उपादान-कारणमपि तदेवोच्यते । द्वितीयमसमवायिकारणं दण्डचक्रचीवरदोरकादिसहकारिकारणमपितदेवोच्यते । तृतीयं निमित्तकारणं कुलालादि अदृष्टादिकं च । तत्र उपादानकारणस्य मृत्तिकादेःगुणःश्यामत्वादि घटे कार्ये समवैति । ततो घटोऽपिश्यामो भवति परम् असमवायिनः सहकारिकारणस्य चक्रदण्डीचीवरादेःगुणो न घटे समवैति । निमित्त-कारण कुलालादेश्चगुणो न कार्ये समवैति । गौरेण कुम्भकारेण कृतो घटो गौरो न भवति श्वेतेन दण्डकाष्ठेन कृतःश्वेतेन दोरकेण चोत्तारितः घटः श्वेतो न भवति । निमित्त-कारण-सहकारिकारणस्य च द्वयस्याप्यसमवायित्वात् । अत्र घटे चक्रभ्रमकारितालक्षणो गुणो दृश्यते स च असमवायिकारणाद्दण्डाज्जातः इत्यादि ।

कार्य में उसके समवायिकारण के गुणों की सत्ता के इस सिद्धान्त का उल्लेख नैषध में अन्यत्र भी हुआ है।

(१) वहीं हंस दमयन्ती से अपने सुवर्णमय-शरीर की रूप-समृद्धि का हेतु वताता है—"स्वर्गंगा की स्वर्णकमलिनियों के मृणालाग्र खानेवाले हम हंसों ने उस भोजन के अनुरूप ही रूप-सम्पत्ति भी पायी है। कार्य अपने गुणों को अपने कारण से ही प्राप्त करता है।"[१]

(२) नल के दिगन्त-व्यापी यश के वर्णन में भी हंस न्यायदर्शन के पूर्वोक्त सिद्धान्त का उपयोग करता है—युद्धस्थल में कण्डूयनशील (लड़ने के लिए खुजलाती

---

१. स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
अन्नानुरूपां तनुरूप-ऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ नै० ३।१७

हुई) नल की भुजाओं ने जो यश पैदा किया, उस यश में भी हेतु-रूपी भुजाओं का[1] कण्डूयन गुण आ गया, जिससे वह (यश) दिशाओं रूपी नदियों के किनारे को (खुजलाहट वश रगड़ने के कारण) काटते हुए दिगन्त तक बढ़ गया।

न्याय-शास्त्र ने मन को प्रतिशरीर एक तथा अणु-परिमाण बताया है[2]—

नल के अत्यन्त वेगशाली अश्व के चरण में लगी धूल के प्रति श्रीहर्ष की उत्प्रेक्षा है—

"निरन्तर धरातल पर पटकने से उठी हुई धूल से धूसरित चरणों वाले—जो धूलि इस प्रकार प्रतीत होती थी मानों लोगों के मन परमाणु रूप धारण करके उस (अश्व) से वेगातिशय सीखने आए हुए हैं।"[3]

हंस नल के अति शीघ्रगामी अश्वों की प्रशंसा में उन्हें मन के समान बताता हुआ न्यायशास्त्र के पूर्वोक्त सिद्धान्त का स्मरण करता है—"नल के अश्व पंखहीन गरुण हैं, दृष्टिगोचर पवन हैं, तथा महापरिमाण (अणुरूप नहीं) मन हैं। उन अश्वों ने भला कौनसी दिशा न नापी ?"[4]

नारद इन्द्र से दमयन्ती के पुरुष-विशेष में अनुराग की चर्चा करते हुए मन के इस परमाणु-स्वरूप का उल्लेख करते हैं—"सुन्दरी ने उस प्रिय को अपने परमाणु रूप मनकी लज्जारूपी गुफा में प्रसुप्त सिंह की भांति छिपा रक्खा है। इसी कारण हम योगियों की बुद्धि भी उसे नहीं जान सकती, क्योंकि इसकी पहुँच तो परमाणु तक ही है (परमाणु के भीतर नहीं)।"[5]

वैशेषिक के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—दो परमाणुओं के संयोग से पहले द्वयणुक बनता है, इस द्वयणुक-कार्य में वे दो परमाणु समवायिकारण हैं, उनका संयोग असमवायिकारण है तथा अदृष्ट (ईश्वरेच्छा) आदि निमित्ति कारण हैं। फिर तीन द्वयणुकों के संयोग से एक त्र्यणुक की रचना होती है। इस

---

१. यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलङ्कषत्वव्यसनं तदीयम्॥ नै० ३।३९

२. "ज्ञानायौगपद्यादेकं मन" तथा "यथोक्त हेतुत्वाच्चाणु" न्यायसूत्र—३।२।५६, ५९

३. अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ नै० १।५९

४. विनापतत्रं विनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः॥ नै० ३।३७

५. यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्।
बालयानिजमनः परमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम्॥ नै० ५।२९

त्र्यणुक के वे तीन द्वयणुक समवायिकारण होते हैं। इसी प्रकार चार त्र्यणुकों से चतुरणुक बनता है। इसके आगे उन अणुकों के परस्पर संयोग से स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम रूप होता जाता है। इसी क्रम से महती पृथ्वी, महती आपस्, महत्तेज, तथा महान् वायु की उत्पत्ति होती है। कार्यभूत इन द्रव्यों के रूप आदि गुण उनके आश्रय-भूत समवायिकारण के रूप आदि से उत्पन्न होते हैं—"क्योंकि कारणगत गुण कार्य के गुणों का आरम्भ करते हैं"[1] इसी प्रकार उन परमाणुओं के विभाग से प्रलय का क्रम होता है।

श्रीहर्ष ने सृष्टि के पूर्वोक्त सिद्धान्त को लेकर एक अत्यन्त मनोरम कल्पना की है। हंस नल दमयन्ती के दो परमाणु-रूप मनों के मिलने से एक नष्ट सृष्टि का पुनः निर्माण कर रहा है। वह दमयन्ती से कहता है—"इस समय परस्पर मिलकर नल के और तुम्हारे दोनों के मन अपनी विलास-कलाओं को व्यक्त करते हुए सुशोभित हों। मानों मनसिज (कामदेव) के शरीर का पुनः निर्माण करने के लिए द्वयणुक बनाने में दो परमाणु प्रवृत्त हुए हैं।[2]

केशव मिश्र ने कार्य-कारण के इस लक्षण तथा सम्बन्ध को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो नियत रूप में कार्य से पहले (पूर्वभावी) हो, तथा जिसकी सत्ता अनावश्यक एवम् आकस्मिक (अन्यथासिद्ध) न हो, उसे कारण कहते हैं।[3]

---

१. तत्रपृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। तस्यपरमाणू समवायिकारणम्। तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादिनिमित्तकारणम्। ततस्त्रयाणां द्व्यणुकानां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकमुत्पद्यते। तस्य द्वयणुकानि समवायिकारणम्। शेषं पूर्ववत्। एवं चतुर्भिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकम्। अतः परं तैः स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथ्वी महत्यापो महत्तेजो महांश्च वायुरुत्पद्यते। कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते। कारण-गुणा हि कार्य-गुणानारभन्ते इति न्यायात्। इत्यादि तर्कभाषा पृ० ७१-७२
उक्त उद्धरण—"प्राणिनो भोगभूतये महेश्वरस्य सिसृक्षानन्तरं—महांस्तेजो राशिर्देदीप्यमानस्तिष्ठति। एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु—महदण्डामारभते" इस द्रव्यपदार्थ शीर्षकान्तर्गत प्रशस्तपादभाष्य तथा कारण-गुण-पूर्वक कार्यगुणो दृष्टः—वै० सू० २।१।२५ इस कणाद-सूत्र का विस्तार (व्याख्यान) रूप है।

२. अन्योन्यसङ्गमवशादधुनाविभातांतस्यापितेऽपिमनसीविकसद् विलासे।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम्॥ नै० ३।१२५

३. अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वकारणत्वम् (तर्कभाषा पृ० १३) कारणमिति—ज्ञानेतरे कार्यनियतपूर्ववर्तित्वतातीयवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्। विवक्षितम्—वै० सू० १।१।८ पर उपस्कार।

उसी प्रकार जो नियतरूप से कारण के वाद में (पश्चाद्भावी) हो तथा जिसकी सत्ता अनावश्यक एवं आकस्मिक न (अनन्यथासिद्ध) हो उसे कार्य कहते हैं।[1]

नैषध में कारण-कार्य के इस सम्बन्ध की ओर अत्यन्त सरस ढंग से संकेत किया गया है—प्रेम विकल दमयन्ती की अधीरता के प्रति श्रीहर्ष की कल्पना है—द्वयणुक[2] के समान क्षीण कटिवाली दमयन्ती ने रमणी-मर्यादा विरोधी उस अधीरता (चञ्चलता) को निश्चय ही प्रिय के दूतपक्षी हंस के गमनवेग से ही सीखा, क्योंकि जो जिसके वाद विना किसी व्यवधान के होता है, वह उसी से उत्पन्न माना जाता है।[3]

न्यायादि शास्त्रों में घट का उदाहरण अति प्रसिद्ध है। अनेक प्रकार से निदर्शन रूप में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे अनित्यत्वानुमान का (अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियों में) उदाहरण—"यत्कृतकं तदनित्यं, यथा घटः" और "यन्नित्यं न तत्कृतकमपि न, यथा घटः।" एवं सन्निकर्षादिका उदाहरण—"घटाभाववद् भूतलम्" तथा अनुपलब्धि प्रमाण के खण्डन का उदाहरण—"यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तदा भूतलमिवाद्रक्ष्यत इत्यादि।" इसी प्रकार गौडपाद के आगमशास्त्र[4]

---

१. अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्—(तर्कभाषा पृ० १३) कार्यमिति-प्रागभावप्रतियोगिवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम। वै० सू० १।१।८ पर उपस्कार।

२. यहाँ उपमा देने में भी न्याय-वैशेषिक-दर्शनशास्त्र में ही प्रसिद्ध वस्तु को लिया है। ऐसे स्थलों में—यदि वह अनुकरण के न हों अथवा यदि वक्ता और श्रोता दोनों उस शास्त्र के ज्ञाता न हों तो अप्रतीतत्व दोष होता है।

३. ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतवेगतः।
स्थितिविरोधकरीं द्वयणुकोदरी तदुदितः स हि यो यदनन्तरः॥ नै० ४।३

४. आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥३॥
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥४॥
यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥५॥
नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदाजीवो विकारावयवौ तथा॥ गौ० का० प्रकरण॥३

में आत्मा के लिए महाकाश और जीवों के लिए घटाकाश का उदाहरण प्रसिद्ध है। श्रीहर्ष ने घट की इस प्रकार की शास्त्र-गत प्रसिद्धि पर भी अपनी कल्पना की है। दमयन्ती के सौन्दर्य-निरूपण प्रसंग में नल सोचते हैं—"इस सुन्दरी के स्तनों के साथ स्पर्धा करने के कारण ही प्रसिद्ध होकर घट शास्त्रों में निदर्शन (उदाहरण) वन गया और मटका आदि अनेक मिट्टी के वर्तनों को वनानेवाले ने भी दमयन्ती के स्तन-स्पर्धी कुम्भों को वनाने के कारण ही अपना प्रसिद्ध नाम कुम्भकार प्राप्त किया।[1]

न्यायदर्शन के मत से नेत्र इन्द्रिय में रश्मियां होती हैं, उन रश्मियों का जव किसी वस्तु (पदार्थ) के साथ सन्निकर्ष (संयोग) होता है तव उस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[2]

पूर्वोक्त सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं—"दमयन्ती के प्रति साभिलाष नल की आंखों की रश्मि (ज्योति) अपने अपाङ्गों तक भी न पहुँच पाई थीं कि 'मदन-वाण' उस सुन्दरी के प्रत्यङ्ग में सम्पूर्ण प्रविष्ट हो गया।"[3]

गौतम ने न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र में प्रमाण आदि षोडश पदार्थों का नामोल्लेख करते हुए उनके तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति वताई है।[4] उन पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के लिए भाष्यकार[5] ने तीन उपाय वताये हैं। १—उद्देश अर्थात् नामोल्लेख, २—लक्षण अर्थात् असाधारण धर्म ३—परीक्षा अर्थात् उस पदार्थ-विशेष का लक्षण उपयुक्त है या नहीं इसका विचार।[5]

---

१. एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम्।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः॥ नै० ७।७५

२. न्यायसूत्र ३।१।३४-४६ पर वात्स्यायनभाष्य तथा बृहदारण्यकोपनिषद्—
तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेक्षन् पुरुषास्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितो रश्मिभिरेषोऽस्मिन्। प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन् भवति शुद्धं मैवैतन् मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति। बृ० ५।५।२

३. अपांगमप्यस्यदृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत्।
स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यंगमापुंखशिखं ममज्ज॥ नै० ८।२

४. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥ न्या० सू० १।१।१

५. त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यतेनवेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा इत्यादि। न्या० सू० १।१।३ पर वात्स्यायन भाष्य की उत्थानिका।

श्रीहर्ष ने न्याय के उन षोडश पदार्थों उनके ज्ञान का प्रयोजन अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति एवं ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश तथा लक्षण, (दो) उपायों का उल्लेख देवी सरस्वती की दन्तपंक्तियों के वर्णन में किया है—

"जिसकी दांतों रूप पदार्थों की सोलह सोलह करके दो प्रकार से उदित हुई—मुख स्थान में निकली हुई तथा (सामुद्रिक) लक्षण (शास्त्र) में कही हुई दन्त पंक्तियों की जोड़ी ही नाम-कथन के अवसर में तथा लक्षण-निरूपण में भी दो प्रकार से कहे हुए (प्रमाण-प्रमेयादि) सोलह पदार्थों से उपलक्षित और मुक्ति (निःश्रेयस) की कामना करनेवालों के द्वारा अभ्यस्त वह प्रसिद्ध तर्क विद्या थी।"[1]

न्याय-दर्शन दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहता है।[2] यह दुःख इक्कीस प्रकार का बताया गया है जिसमें मनुष्य की सभी प्रकार की अनुभूतियाँ (ज्ञान तथा सुखरूप भी) आ जाती हैं।[3] वात्स्यायन ने शान्त-दशा को मोक्ष कहा है, जिसमें सभी उपाधियों तथा अनुभवों का अभाव रहता है।[4] वात्स्यायन का मत है कि मोक्ष-दशा में आत्यन्तिक दुःखभाव के अतिरिक्त किसी अन्य नित्यसुख का अनुभव नहीं होता है[5], और वह सुख जो दुःख के अनुषङ्ग वाला है, उस मधु के समान है जो विषमिश्रित अन्नरूप है, अथवा मद्य-विष-मिश्रित अन्न के समान है।[6] अतः मुमुक्षु को उसे भी त्यागना ही चाहिए। उद्योतकर तथा वाचस्पति आदि प्रामाणिक न्याय-मनीषियों का भी यही मत है।[7]

---

१. उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षकीं यद्दशनद्विभालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः॥ नै० १०।८२

२. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। न्या० सू० १।१।२२

३. उद्योतकर-न्यायवार्तिक का प्रारम्भ।

४. शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽपवर्गः। १।१।२

५. सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति.............
यद्यपि कश्चिदागमः स्यान्मुक्तस्यात्यन्तिक सुखमिति सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते॥ न्या० सू० १।१।२२ पर वात्स्यायनभाष्य।

६. तद्यथा मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयमित्येवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति।
न्या० सू० १।१।२२ पर वा० भा०

७. न्यायसूत्र १।१।२२, वात्स्यायन-भाष्य का न्यायवार्तिक पृ० ८४ (बनारस प्रकाशन), न्यायवर्तिक-तात्पर्य-टीका (के० एस० एस०, पृ० २३९)

परवर्ती विद्वानों ने मोक्ष के विषय में न्याय तथा वैशेषिक के भिन्न मत माने हैं। उनके अनुसार न्यायमत से मोक्ष दशा में विषयरहित आनन्द की अनुभूति रहती है, किन्तु वैशेषिक मत से नहीं रहती। सर्वसिद्धान्त-संग्रह[1] ने स्पष्ट शब्दों में दोनों के इस मतभेद को उपस्थित किया है।[2] किन्तु पूर्ववर्ती मनीषियों ने मोक्ष के विषय में न्याय तथा वैशेषिक का ऐकमत्य माना। दोनों ने मोक्ष को दुःख का अत्यन्ताभाव माना है। उदयन ने किरणावली[3] में मोक्ष को अनिष्ट की आत्यन्तिक-निवृत्ति बताया है। तथा वहाँ आनन्द की अनुभूति मानने वालों को बुरे ढंग से फटकारा है। वैशेषिक दर्शन की इस मोक्ष-दशा पर पाषाण-सदृश कहकर आक्षेप भी किया है, जिसका समाधान श्रीधर ने अपनी न्यायकन्दली में पूर्व-पक्ष के रूप में रखकर किया है।[4] किन्तु इन आचार्यों के अनेक समर्थन देने पर भी उस मोक्ष-दशा को, जिसमें सुख और दुःख तथा अन्य सभी प्रकार की उपाधियों की अनुभूति का अभाव हो, पाषाण दशा (शिलात्व) ही कहा जाने लगा। प्रपञ्च-हृदय ने तो स्पष्ट कह दिया कि वैशेषिक मत से मोक्ष पाषाण-सदृश दशा है, जिसका लक्षण दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[5]

नैषध में न्याय-वैशेषिक के मोक्षविषयक पूर्वोक्त सिद्धान्त का उपहास किया गया है, इन्द्रियसेवी चार्वाक को भला उस मोक्ष में क्या मिलता जिसमें किसी प्रकार के सुख या आनन्द का अवकाश ही नहीं। श्रीहर्ष स्वयं वेदान्ती होने के कारण न्याय के इस मोक्ष सिद्धान्त के विरुद्ध थे। वेदान्त मतानुसार शाश्वत (नित्य) आनन्द का नाम मोक्ष है।[6]

---

१. राव बहादुर एम० रंगाचार्य द्वारा प्रकाशित मद्रास, १९०९ ई०।
२. उसमें न्याय मतानुसार—नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते—पृ० २८, श्लोक ४५ तथा वैशेषिक-मतानुसार—

   करणोपरमेत्वात्मापाषाण वदवस्थितः।
   दुःखसाध्यसुखोच्छेदो दुःखोच्छेदवदेदनः। पृ० २३, श्लोक ३६
३. तस्मादनिष्टनिवृत्तिरात्यन्तिकीनिःश्रेयसम्। किरणावली, बनारस प्रकाशन, पृष्ठ८
४. न्यायकन्दली झा—अनुवाद पृ० ६१०
५. आत्यन्तिकदुःखानिवृत्तिलक्षणः पाषाणसदृशो मोक्षो भवतीति वैशेषिकमतम् —प्रपञ्चहृदय, षड्वर्ग प्रकरण, पृ० ६५ (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज १९१५)
६. नैयायिकों को वस्तुतः वेदान्तियों के आक्षेप का ध्यान था, किन्तु वे मोक्ष-विषयक श्रुति-वाक्य में (आनन्द) का अर्थ केवल दुःखाभाव करते हैं, जिससे उनके अपने मत में कोई बाधा ही नहीं पड़ती। वाचस्पति अपनी न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका में कहते हैं "नित्यानन्द-प्रतिपादक-श्रुतिरात्यन्तिके दुःख-वियोगे भावतीतियुक्तमिति भाव—१।१।१ के० एस० एस० पृ० २४१

चार्वाक कहता है—"गौतम मुनि ने सचेत प्राणियों को मुक्ति पाने के लिए अपना न्याय-शास्त्र कहा। मुक्ति का लक्षण किया—सुख दुःख किसी का कुछ अनुभव न होना। पाषाण-शिला की भांति जड़ अवस्था। फिर उनका नाम भी तो गौतम (बड़ा बैल) है। आप उन्हें देखकर जैसा समझते हैं, वे वास्तव में वैसे ही हैं।"[१]

न्याय-मतानुसार परमात्मा विभु, सर्वज्ञ तथा नित्य है।[२]

चार्वाक नैयायिकों के पूर्वोक्त ईश्वरवाद का उपहास करता है, "यदि सर्वज्ञ करुणामय तथा सत्यभाषी परमात्मा की सत्ता वास्तव में है तो वह भुक्ति-मुक्ति चाहने वाले हम लोगों को अपनी स्वीकृति के दो शब्दों द्वारा ही क्यों पूर्ण मनोरथ नहीं करता।[३]

जिस हेत्वाभास में प्रतिपक्ष (विरोधी) रूप से दूसरा भी हेतु बना हो, उसे सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं। जैसे यदि कहा जाय शब्द 'अनित्य' है, क्योंकि उसमें नित्य धर्म नहीं मिलता, तो यह भी कहा जा सकता है कि शब्द नित्य है क्योंकि उसमें अनित्य धर्म नहीं मिलता।[४]

चार्वाक तर्क का उपहास करता हुआ न्याय-शास्त्र-प्रसिद्ध सत्प्रति-पक्ष हेत्वाभास का उल्लेख करता है "फिर तर्कों की तो कोई इति ही नहीं, एक तर्क दूसरे को काटता है, और इस प्रकार दोनों परस्पर तुल्यबल हैं। किसे प्रमाणित माना जाय किसे नहीं। फिर समान विरोध उपस्थित करने पर किसका मत अप्रमाणित नहीं हो जाता।"[५]

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमतमवेक्ष्यैव यथावित्थ-त्तथैव सः॥ नै० १७।७५

२. तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। तर्कभाषा, पृ० ३१, चौ० सं० सि० १९३४
आप्तकल्पश्चायम् यथापिताऽपत्यानांतथापितृभूत ईश्वरो भूतानाम्-आगमा-च्चद्रष्टाबोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वर इति। न्या० सू० पर वात्स्या० भा० ४।१।२१

३. देवश्चेदस्ति सर्वज्ञकरुणाभागवन्ध्यवाक्।
तत्किं वाग्व्ययमात्रान्नः कृतार्थं यतिनार्थिनः॥ नै० १७।७७

४. न्या० सू० १।२।७ और ५।१।१६ तथा इन पर वात्स्यायनभाष्य—यस्यप्रति-पक्षभूतंहेत्वन्तरमस्ति स प्रकरणसमः स एव सत्प्रतिपक्षइत्युच्यते। तद्यथा शब्दोऽनित्यःनित्यधर्मानुपलब्धेः, शब्दोनित्यः अनित्यधर्मानुपलब्धेः।
तर्कभाषा पृष्ठ १०८

५. तर्काप्रतिष्ठयासाम्यादन्योन्यस्य व्यतिघ्नताम्
नाप्रामाण्यंमतानांस्यात् केषां सत्प्रतिपक्षवत्॥ नै० १७।७९

न्याय-वैशेषिक में अनुभव दो प्रकार का माना गया है—पहिला यथार्थ, दूसरा अयथार्थ। (१) वस्तु के सत्यरूप का ज्ञान यथार्थ अनुभव प्रमा या प्रमिति कहा जाता है, जैसे रजत में 'यह रजत है' यह ज्ञान। (२) किसी वस्तु को कोई दूसरी वस्तु जो वह नहीं है, समझ लेना अयथार्थ अनुभव है। इसी को अप्रमा या विभ्रम कहते हैं, जैसे सीपी में 'यह रजत है' यह ज्ञान।[1]

अयथार्थ अनुभव या विभ्रम तीन प्रकार का होता है:--(१) संशय (विकल्पात्मक ज्ञान), (२) विपर्यय (मिथ्याज्ञान) तथा (३) तर्क।[2]

नैषध में न्याय-वैशेषिक के पूर्वोक्त सिद्धान्तों की ओर संकेत मिलता है। कलि को इन्द्र साग्रह समझाते हैं जैसे "अयथार्थ ज्ञान द्वारा यथार्थ ज्ञान पीड़ित नहीं किया जाता, उसी प्रकार व्यर्थ में अनिष्ट करने पर उतारू तुम लोगों को अत्यन्त विनय-सम्पन्न दमयन्ती को किसी प्रकार पीड़ित नहीं करना चाहिए।"[3]

वैशेषिक दर्शन में तमस् को अभाव मात्र कहा गया है; क्योंकि द्रव्य, गुण, क्रिया में किसी से इसकी निष्पत्ति नहीं होती, और किसी द्रव्यान्तर द्वारा तेज के अवरुद्ध होने पर ही इसकी सत्ता दृष्टिगोचर होती है।[4]

श्रीहर्ष के पूर्व वैशेषिक दर्शन के व्योमशिवाचार्य, श्रीधर तथा उदयन ये तीन मनीषी तमस्तत्त्व पर अपने विचार व्यक्त कर चुके थे।

व्योमशिवाचार्य ने इस मत का विरोध किया है कि तमस् या छाया एक द्रव्य है, क्योंकि इसमें गति (क्रिया) है तथा शैत्य आदि गुण हैं। उनका कहना है कि छाया में जो गति है वह उसकी नहीं, अपितु उस पदार्थ की है जो तेज को ढके रहती

---

१. सद्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्च, तद्वतितत्प्रकारकोऽनुभवोयथार्थः यथा रजते, इदंरजतम् इति ज्ञानम्, सैव प्रमा इत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारको ऽनुभवो ऽयथार्थः। यथाशुक्तौ इदं रजतम् इति ज्ञानम् व "अप्रमा" इत्युच्यते--तर्क संग्रह, प्रत्यक्षपरिच्छेद पृ० ५०--५३ चौ० सं० सी० १९३४

२. अयथार्थानुभवस्त्रिविधः संशयविपर्ययतर्कभेदात्। एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्म-वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः यथास्थाणुर्वापुरुषो वेति। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः, यथा शुक्ताविदं रजतमिति॥ व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः यथा यदि वह्निर्नस्यात्तर्हिधूमोऽपि न स्यात्। तर्क संग्रह, पृ० १७३-१३९

३. साविनीततमा भैमी व्यर्थानर्थग्रहैरहो।
कथं भवद्भिर्बाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिव ॥ नै० १७।१४५

४. द्रव्य-गुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः--वैशे० सू० ५।२।१९ तथा तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च वै० सू० ५।२।२०

है तथा शैत्य आदि गुण भी छाया के गुण नहीं, किन्तु उपचार से उसमें आरोपित हैं। क्योंकि जहाँ तेज नहीं रहता वहीं शैत्य का अनुभव होता है ।[1]

अपनी न्याय-कन्दली में श्रीधर ने भी तमस् पर विस्तृत विवेचन किया है। उनका भी मत है कि तमस् द्रव्य नहीं है। द्रव्य केवल नव ही हैं। किन्तु इस मत में उनका अपना हेतु है। तमस् को तेजस् का अभाव मात्र कहना, उनके विचार से, ठीक नहीं, क्योंकि तमस् का अपना नील (कृष्ण) रंग होता है, जो अभाव का हो ही नहीं सकता। किन्तु फिर भी तमस् द्रव्य नहीं है। क्योंकि इसकी उत्पत्ति परमाणुओं से सिद्ध ही नहीं की जा सकती। और जो तमस् रूप में दृष्टिगोचर होता है वह केवल कृष्णिमा है।[2] अन्त में श्रीधर इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जो अन्धकार समझ पड़ता है वह तेजस् के अभाव में चारों ओर आरोपित एक प्रकार का रूप या रङ्ग है।[3] फलतः श्रीधर तमस् को द्रव्य नहीं अपितु गुण मानते-से प्रतीत होते हैं।

किरणावली में उदयनाचार्य ने तमस् पर विस्तार सहित विचार किया है, पहले तो इन्होंने सिद्ध किया है कि तमस् तेजस् का अभाव ही है। क्योंकि सामान्य विशेष, समवाय, क्रिया, गुण, दिक्, काल, मन, आत्मा, आकाश तथा वायु में कहीं भी तम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।[4] फिर श्रीधर के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उन्होंने अपना मत स्थापित किया है कि तमस् का न कोई ऐसा रङ्ग है न कोई रूप, जो तेज के अभाव में दृष्टिगोचर होता हो, क्योंकि तेज के विना नेत्र कुछ ग्रहण कर ही नहीं सकता। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्धकार का ग्रहण करना स्वप्न की भाँति एक मानस प्रत्यक्ष है, जिसमें नेत्र क्रिया की कोई अपेक्षा नहीं। क्योंकि यदि हम अपने नेत्र वन्द कर लें तो हमें अपने मन से इसका पता ही नहीं चल सकता कि कमरे में अन्धकार है या प्रकाश। श्रीधर ने तर्क दिया था कि

---

१. यच्चेदभागमान्माधुर्यं शैत्यंवा छायायास्तप्युपचारात्--प्रशस्तपादभाष्य व्योमवती सहित के० एस० एस०,--नै० ३१६ पृष्ठ ४७

२. आरम्भानुपपत्तेः नीलिमात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न भवतीति ब्रूमः। तर्हि भासामभाव एवायं प्रतीय न तस्यते नीलाकारेण प्रतिभासनायोगात्।
हान्दकी नैषध पृ० ४८७ पर उद्धृत

३. तस्मात् रूप-विशेषोऽयमत्यन्ततेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते तदुक्तम्--
न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम्। छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः॥
दूरासन्नप्रदीपार्चिर्महदल्पचलाचला। देहानुवर्तिनीछाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत्॥
इति हैन्दिकी नै० पृ० ४८८ पर उद्धृत

४. किरणावली (बनारस) पृ० १५

यदि तमः अभाव मात्र है तो उसमें कृष्णिमा आदि नियत गुणों का आरोप भी असम्भव है, उदयन ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि "यह आरोप असंभव नहीं"। हम दुःख के अभाव की दशा में सुख का आरोप ही तो करते हैं, उदाहरणार्थ—बोझा ढोनेवाला समझता है कि जब मैं कन्धे से बोझ उतारूँगा उस समय मुझे बड़ा सुख मिलेगा। अतः उदयन का मत है कि तमः कृष्ण (नील) हो सकता है किन्तु कृष्णिमा (नीलिमा) चाहे आरोपित हो या वास्तविक तमः नहीं हो सकती।[1] क्योंकि यदि कृष्णिमा को तम मान लें तो हम कृष्ण वस्त्र तथा कृष्ण चर्म को भी तमः मान लेने की भूल कर बैठेंगे, अतः अन्त में उदयन ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि "हमें तमः के विषय में व्यक्तिगत अनुभव का सहारा लेना पड़ेगा, और यह भी मानना ही पड़ेगा कि तमः तेज का अभाव मात्र है।"

तमः के विषय में अन्य दर्शनों ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। वेदान्तियों तथा मीमांसकों (कुमारिलमतानुयायियों) ने तमः को एक द्रव्य माना है, तथा प्रभाकर मत के कुछ मीमांसकों ने उसे रूप-दर्शन का अभाव कहा है।[2]

और कुछ ने आलोक-(तेजः) ज्ञान का अभाव कहा है।[3]

किन्तु श्रीहर्ष को तमः के विषय में वैशेषिकों का मत सबसे उचित समझ पड़ा। तदनुसार सन्ध्या वेला में तमः का वर्णन करते हुए नल-प्रिया दमयन्ती से कहते हैं। "सुन्दरि, इस तमः के विषय में मुझे वैशेषिकों का सिद्धान्त अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है, क्योंकि वे ही तमः के निरूपण में समर्थ हैं और यही उचित भी है क्योंकि वैशेषिक दर्शन को औलूक-दर्शन कहते भी तो हैं। बिना उलूक के तमः का उचित निरूपण कर ही कौन सकता है?"[4]

पूर्व-मीमांसा

नैषध में मीमांसा-दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। वेद के कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड दो भाग हैं। कर्मकाण्ड की व्याख्या

---

१. तमो नीलं न तु नीलिमा तम इति, न चारोपितेन वास्तवेन। वा नीलिमा तमोबुद्धिव्यपदेशो समानार्थो—हैन्दिकी—नै० पृ० ४९५ टिप्पणी

२. विवरणप्रमेयसंग्रह वी० एस० एस०, पृ० १० तथा सर्वमतसंग्रह टी० एस० एस० पृ० ३१

३. आलोकज्ञानाभावः, सर्वदर्शनसंग्रह—हैन्दिकी द्वारा नै० पृ० ४९६ में उद्धृत

४. ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्व-निरूपणाय॥ नै० २२।३५

करने वाले दर्शन को पूर्वमीमांसा या केवल मीमांसा कहते हैं। तथा ब्रह्मकाण्ड की व्याख्या करने वाले को उत्तर मीमांसा या वेदान्त कहते हैं।

नैषध में श्रीहर्ष ने सरस्वती के रूप का वर्णन करते समय मीमांसा के इन दो विभागों का उल्लेख किया है। "ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड नामक वेद के दो भेदों के कारण अपने शरीर को दो भागों में––पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा––में विभक्त करनेवाले तथा बौद्ध "वैशेषिक" आदि अन्य सिद्धान्तों के निराकरण करने के कारण रमणीय एवं परिपुष्ट मीमांसा शास्त्र जिस (सरस्वती) के उत्तम वस्त्र परिवेष्टित पीन-जंघायुगल बने थे"।[1]

मीमांसा के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रमाण माना गया है, क्योंकि यदि एक ज्ञान अपनी यथार्थता सिद्ध करने के लिए दूसरे ज्ञान को प्रमाण माने तो दूसरे को भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एक तीसरा ज्ञान प्रमाण रूप में ढूँढ़ना पड़ेगा, जिससे भारी अनवस्था हो जायगी, तथा वस्तु ज्ञान असम्भव हो जायगा। अतः मीमांसकों ने ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना[2], (साथ ही उन्होंने ज्ञान करानेवाली शक्ति (बुद्धि) को भी प्रमाण माना)[3] तथा एक ज्ञान को अन्य ज्ञान से प्रमाणित हुए विना स्वतः ही प्रमाण-रूप मान लिया।[4]

श्रीहर्ष मीमांसा के पूर्वोक्त सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। हंस से दमयन्ती के प्रेम की भीख मांगने वाले नल कहते हैं "अथवा आपको इस प्रकार अपनी भलाई के लिए मेरा प्रेरित करना पिष्ट-पेषण ही करना होगा, क्योंकि सज्जन तो स्वयं परार्थ-रत होते हैं, जैसे ज्ञानों की प्रामाणिकता स्वतः होती है।"[5]

मीमांसकों के मत से जिस मन्त्र से जिस देवता का आमन्त्रण या आवाहन होता है, उससे पृथक् उस देवता की कोई सत्ता नहीं।[6] अतएव मीमांसक देवताओं का

---

१. ब्रह्मार्थकर्मार्थक-वेदभेदाद्‌द्विधा विधाय स्थितयात्मदेहम्।
चक्रेपराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम्॥ नै० १०।८१

२. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसतीशक्तिः कर्तुमन्येनशक्यते॥ श्लोक वार्तिक २।४७

३. तस्माद्‌बोधात्मकत्वेन प्राप्तबुद्धेः प्रमाणता––श्लो० वा० २।५३

४. तस्माद्‌दृढं यदुत्पन्नं नापिसंवादमृच्छति।
ज्ञानान्तेरणविज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम्॥ श्लो० वा० २।८०

५. अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टिनः।
स्वतएव सतांपरार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता॥ नै० २।६१

६. मन्त्रमयी० देवता

कभी प्रत्यक्ष न दिखाई पड़ने के कारण कोई स्थूल रूप मानते ही नहीं। उनका कहना है कि यदि किसी देवता का कोई एक स्थूल रूप मान लें तो वह देवता अनेक स्थानों पर एक ही समय में किए जानेवाले स्वाधिष्ठातृक यज्ञों में उपस्थित हो हविर्ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि अपने एक रूप से वह एक समय में एक ही यज्ञ में उपस्थित हो सकता है। अतः अन्य सभी यज्ञों का विधान व्यर्थ ही होगा। जिससे उन यज्ञों का फल वताने वाले वेद की वात भी असत्य होगी। फलतः वेद भी अप्रमाणिक हो जायंगे। और कोई प्रमाण न मिलने के कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि देवता अपने ऐश्वर्य से एक होते हुए भी श्रीकृष्ण भगवान् की भाँति अनेक रूप धारण कर एक ही समय में सर्वत्र उपस्थित हो जाते हैं, फिर जो चेतन शरीर वाले देवता हैं उनमें तो ऐश्वर्य की सम्भावना की भी जा सकती है, किन्तु जो अचेतन पदार्थ भी कभी-कभी देवता माने जाते हैं उनमें वह ऐश्वर्य कैसे सम्भव होगा। अतएव अनुक्रमणीकार ने कहा है—

"या काचित्तेन मन्त्रेणोच्यते सा देवता चेतनाऽचेतना वा भवतु क्वचिद् वाणः क्वचिद् धनुः क्वचिन् मौर्वी इति"।

शंकराचार्य तथा रामानुज दोनों ने मीमांसकों के उक्त सिद्धान्त का घोर विरोध किया है।[1] उनके मतानुसार देवों के निर्धारित रूप होते हैं, क्योंकि विना रूप के भक्त उनका ध्यान ही नहीं कर सकते हैं।

श्री हर्ष ने मीमांसा के इस मन्त्ररूप देवतावाद का दो वार उल्लेख किया है:

१. इन्द्र नारद से स्वर्ग में युद्धवार्त्ता के अभाव का कारण वताते हुए कहते हैं—"विश्वरूप धारण करनेवाले मेरे अनुज विष्णु के एकरूप जैमिनि मुनि भी हैं, जिन्होंने देवताओं के विग्रह (स्थूलरूप, युद्ध) को न सहकर मेरे वज्र को भी व्यर्थ कर दिया। (जव देवता का कोई स्थूल रूप ही नहीं तो कौन वज्र धारण करे अतः वज्र का कोई उपयोग ही न रहा)"[2]

२. स्वयंवर के अन्त में नल को वरदान देते हुए वही इन्द्र एक वार फिर मीमांसा के उस कठोर सिद्धान्त का प्रत्याख्यान-सा करते हुए कहते हैं—"यज्ञ में तुम्हारी आहुतियों को मैं प्रत्यक्ष रूप धारण कर स्वीकार करूंगा—क्योंकि हम देवों द्वारा

---

१. वेदान्त सूत्र १।३।२७ का शांकर भाष्य तथा श्री भाष्य।

२. विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय॥ नै० ५।३९

यज्ञ का प्रत्यक्ष भोग किया जाना न देखकर ही लोग मन्त्रों से पृथक् देवों की सत्ता में सन्देह करते हैं।"[१]

मीमांसकों में प्राभाकर-मतानुयायियों के अनुसार ज्ञान (प्रभा) स्वयं प्रकाश है तथा इन्द्रियाँ अपने विषयों का यथार्थ ही ज्ञान ग्रहण करतीं हैं।[२] किन्तु प्राभाकरों के इस मत से एक नया वाद अख्यातिवाद निकल पड़ा। प्राभाकर-इन्द्रिय ज्ञान में भ्रान्ति मानते ही नहीं। अतः शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान की वे लोग इस प्रकार व्याख्या करते हैं—यहाँ 'इदं रजतम्' यह प्रातिभासिक ज्ञान नहीं अपितु सत्य ज्ञान है, क्योंकि यह रजत है, इसका नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मरण द्वारा ज्ञान दोनों ही सत्य हैं। जिसने पहले कभी रजत देखा है उसने शुक्ति में उसी के समान चमक देखकर पूर्वसंस्कार के उद्बुद्ध होने पर उसे रजत ही मान लिया। उसका यह प्रत्यक्ष रजत-(रजत की जैसी चमकवाली वस्तु का) ज्ञान भी सत्य है तथा पूर्वानुभव से स्मरण किया हुआ ज्ञान भी सत्य है।

दमयन्ती के अन्तःपुर में प्रच्छन्न रूप से पहुँचे नल इतने अधिक प्रेम-विह्वल थे कि उन्हें भ्रान्तिवश दमयन्ती चारों ओर दिखाई पड़ती थी। दमयन्ती भी वहाँ उसी प्रकार अपने प्रिय नल को उन्माद में सर्वत्र देख रही थी। वहाँ एक ही स्थान पर रहते हुए भी वे अपने को परस्पर समीपस्थ समझते ही नहीं थे अतः सदा की भाँति एक दूसरे के भ्रान्ति कल्पित (अलीक) रूप का, सत्य समझते हुए आलिङ्गन कर रहे थे। श्रीहर्ष[३] ने प्रभाकर के पूर्वोक्त अख्यातिवाद के आधार पर नल दमयन्ती के उस आलीक आलिङ्गन को भी सत्य बताया है। चाण्डू पण्डित ने इस श्लोक की पूर्ण पाण्डित्य के साथ प्राभाकर मत के अनुसार व्याख्या की है।[४]

---

१. प्रत्यक्षलक्ष्यामवलम्ब्य मूर्ति हुतानि यज्ञेषु तवोपभोक्ष्ये।
संशेरतेऽस्माभिरवीक्ष्य भुक्तं मखं हि मन्त्राधिक-देवभावे॥ नै० १४।७३

२. स्वत एव यदुपपद्यते न तत्र परापेक्षा युक्ता मेयानांमातुश्च स्वतःप्रकाशोनोपपद्यत इति मुक्ता तयोः परापेक्षा। मितौ च काचिदनुपपत्तिर्नास्तीति स्वयंप्रकाशैव मितिः—प्रकरणपञ्चिका, पृ० ५७

३. अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपिदेशे।
आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते॥ नै० ६।५१

४. अयमर्थः...तत्पूर्वमन्यत्र नले न क्वापि सत्यालिङ्गनमनुभूतं गृहीतम्। दमयन्त्या च सखीभिः सहालिङ्गनमनुभवगृहीतम्। तदेवेदम् अध्युषित देशेस्मृतम्। अतोन्योन्यालिङ्गनग्रहणज्ञानं स्मरणज्ञानं चोभयमपि तथ्यमेव न तु मिथ्या। अतस्तथ्यो मिथः परिष्वंगः स्मरणज्ञानस्य अबाधितत्वात् इति मीमांसकैक

न्याय तथा वेदान्त दर्शनों में मनुष्य की बुद्धि को ईश्वराज्ञा का वशवर्ती बताया गया है।[1] किन्तु मीमांसा के मत से वह (बुद्धि) अपने कर्मों के अनुसार विविध गति पाती है।[2] मीमांसा का सिद्धांत है कि 'अपूर्व' के द्वारा जीव के कर्मों का फल सञ्चित होता रहता है, जिससे जन्म तथा मरण का क्रम जारी रहता है। अतः जीव के कर्मों का फल देने के लिए पृथक् ईश्वर की सत्ता मानना व्यर्थ हैं। यह सृष्टि-चक्र अनादि एवम् अनन्त है तथा 'अदृष्ट' के अनुसार सदा चलता रहता है, अतः इसका एक पृथक् कर्त्ता मानने के लिए न कोई अवकाश है न आवश्यकता।[3] कुमारिल ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि ईश्वरेच्छा या अन्य किसी चेतन सत्ता को सृष्टि का मूल मानते हैं तो सृष्टि कार्य जीवों की क्रियाओं से ही हो सकता है जो प्रायः सभी चेतन कर्त्ता हैं।[4] किन्तु कर्म के इस सामर्थ्य का न्याय तथा वेदान्त ने निषेध किया है। उद्योतकर का कहना है कि विना किसी बुद्धिशील कारण से प्रेरित हुए न तो परमाणु और न कर्म ही अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं।[5]

शङ्कराचार्य ने मीमांसकों के अपूर्व 'को एक लकड़ी के टुकड़े' या मिट्टी के ढेले

देशिनां प्राभाकराणामाशयः। अतोन्योन्यपरस्परमिश्रशब्दानामपौनरुक्त्यम्। अन्योन्यशब्दः एकः पूर्वानुभूताश्लेषवाची। अपरः परस्परशब्दः पुरोवर्तिनि देशे स्मरण-ज्ञान-वाचकः। तृतीयः अपरवादिनां संप्रतिपन्नाम् अलीकतां भ्रान्तिसंज्ञामनूद्य ग्रहणस्मरणज्ञानयोरेकत्रमेलकः चतुर्थोमिथः शब्दः प्राभाकरसिद्धान्तसिद्धां प्रतिज्ञां प्रतिपादयति। अतः सर्वप्रकारेण तथ्यं मिथस्तौपरिषस्वजाते।

१. किं करोतिसुधीरस्मिन्नीश्वराज्ञा वशंवदः।

२. किं करोति नरः प्राज्ञः प्रेर्यमाणः स्वकर्मभिः।

३. लब्धपरिपाकादृष्टवत् क्षेत्रज्ञसंयोगादेव क्षित्यादि लक्षणकार्योत्पत्तावेकस्यापीश्वरस्यानुमाने तुल्यैवानवस्थेत्यर्थः।। (विधिविवेक की न्याय कणिका टीका पृष्ठ २२३ बनारस)।

४. कस्य चिद्धेतुमात्रत्वं यद्यधिष्ठातृतेष्यते। कर्म्मभिः सर्वजीवानां तत्सिद्धेः सिद्धसाधनम्।। इच्छापूर्वकपक्षेपि तत्पूर्वत्वेन कर्मणाम्। इच्छानन्तरसिद्धिस्तु दृष्टान्तेपि न विद्यते।। मीमांसा-श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक ७५।७६ चौ० सं० सी० बनारस।

५. बुद्धिमत कारणाधिष्ठिताः परमाणवः कर्माणि च प्रवर्तन्त इति। न्यायवार्तिक पृ० ४६० चौ० सी० सी०, बनारस।

के समान माना है।[१] न्याय तथा वेदान्त दोनों ने ईश्वर की सत्ता मानते हुए तदधीन कर्म अथवा अदृश्य की गति को स्वीकार किया है। वास्तव में तो वे दोनों ईश्वर एवं कर्म के सहयोग को मानने वाले हैं, और ईश्वर को जीवों के कर्मों के अनुसार फल देने वाला मानते हैं।[२] वात्स्यायन केवल ईश्वर को कर्म-फल-विधाता नहीं मानते[३]। उनका कहना है कि ईश्वर व्यक्ति के पौरुष में केवल सहायक होता है।[४] शङ्कराचार्य ने भी इसी मत को पुष्ट किया है।[५]

मीमांसकों ने ईश्वर तथा कर्म की इस द्वैत सत्ता पर आक्षेप किया है। कुमारिल का कहना है, कि यदि सृष्टिक्रम का कारण ईश्वरेच्छा है तो कर्म की कल्पना ही करनी व्यर्थ है, और यदि जगत्-प्रवृत्ति कर्मवश मानी जाय तो मानों ईश्वरेच्छा से पृथक् एक कर्त्ता माना गया है।[६] तथापि वेदान्ती तथा विशेष रूप से नैयायिक दोनों ईश्वर की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा इस विषय में महाभारत का यह श्लोक उद्धृत करते हैं—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितोगच्छेत् स्वर्गंवाश्वभ्रमेव वा ॥

---

१. अपूर्वस्यचेतनस्य काष्ठलोष्ट समस्य चेतने नाप्रवर्तितस्य प्रवृत्यनुपपत्तेः। शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र ३।२।३८

२. कारुणिकोप्ययं वस्तुस्वभावमनुविधीयमानो धर्माधर्मसहकारी जगद्वैचित्र्यं विधत्ते। वाचस्पति की तात्पर्य टीका, पृ० ५९६; का० सं० सी०।

३. ईश्वराधीना चेत् फलेनिष्पत्तिः स्यादपितर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलनिष्पद्येतेति॥ न्यायसूत्र ४।२० का वात्स्यायन भाष्य।

४. पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति फलाय पुरुषस्य यतमानस्मेश्वरः फलं सम्पादयतीति॥ न्या० सूत्र ४।१।२१ का० वा० भाष्य।

५. सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षेत इति वदामः। अतः सज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरितिनायमीश्वरस्यापराधः॥ ईश्वरस्तुपर्जन्यवद्द्रष्टव्यः सू० २।१।३४ तथा कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति २।३। ४२ तथा, तदेद चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत् स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति ३।२।४१ पर शांकर भाष्य।

६. ईश्वरेच्छा यदीष्यते सैवस्याल्लोककारणम्।
ईश्वरेच्छावशित्वे हि निष्फलाकर्मकल्पना॥
स्वाधीनत्वाच्च धर्मादेस्तेन क्लेशो न युज्यते।
तद्वशेन प्रवृत्तौ वा व्यतिरेकः प्रसज्यते॥

श्लोकवार्त्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लो० ७२।८३

नैषध में श्रीहर्ष न मीमांसा तथा न्याय वेदान्त दर्शनों के बीच कर्म एवं ईश्वर के विषय में पूर्वोक्त विवाद की ओर संकेत करते हुए संक्षेप में दोनों पक्षों के सिद्धांतों का उल्लेख किया है। दमयन्ती अपनी सखियों को उत्तर देती हुई कहती है—प्रिय बुद्धिमती सखियो! जब मानव-बुद्धि अनादि काल से प्रवर्तमान इस जन्म-मरण की परंपरा के कारण-भूत अपने शुभाशुभ कर्मों के अधीन है, या ईश्वर के वशीभूत है तो फिर (बेचारा) मानव अपने किसी कार्य में उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है? वह जो कुछ करता है वह कर्मवश या ईश्वरवश।[1]

ईश्वर की सत्ता के सबसे प्रबल समर्थक न्यायदर्शनानुयायी हैं। न्याय के प्रायः अधिकांश मनीषी शैव थे।[2] भासर्वज्ञ ने तो शिव तथा परमेश्वर को एक ही बताया है तथा शिव के दर्शन से ही मोक्षप्राप्ति बतलाई है।[3] न्याय दर्शन के ईश्वरविषयक सिद्धान्त का विवेचन करते हुए बोधिचर्यावतारपञ्जिका में कहा है—ईश्वर शंकर का ही नाम है।[4]

श्रीहर्ष ने भी काम के स्वरूप-वर्णन के प्रसंग में शिव को अशरीर ईश्वर तथा लोककर्ता आदि माना है।[5]

---

१. अनादिधाविस्वपरम्परायाः हेतुस्रजः स्रोतसि वेश्वरे वा।
आयत्तधीरेषजनस्तवदार्याः! किमीदृशः पर्यनुयोगयोग्यः॥ नै० ६।१०२

२. शास्त्रेषु नैयायिकाः सदाशिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते तेननैयायिकशासनं शैवमाख्यायते, इत्यादि। हरिभद्रके षड्दर्शनम्समुच्चयपर गुणरत्न की टीका पृ० ५१, एशियाटिक सोसायटी प्रकाशन, १९०४ ई०।

३. (क) एकोरुद्रो न द्वितीययायतस्थे य इमाल्लोकानीशतईशनीधिरित्याद्याग-माच्चेति—न्याय सार, आगम परिच्छेद पृ० १२५ त्रि० सं० सी०।

(ख) एवमेतानि योगाङ्गानि मुमुक्षुणा सर्वेषु ब्रह्मादिस्थानेष्वनेकप्रकारदुःख-भावमानयानभिरतिसञ्ज्ञितं परं वैराग्यं महेश्वरे च परां भक्तिमाश्रित्यात्यन्ताभि-योगेनसेवितव्यानि। ततोऽचिरेणैव कालेन भगवन्तमनौपम्यस्वभावं शिवमवितथं-प्रत्यक्षतः पश्यति। तं दृष्ट्वा निरतिशयं श्रेयः प्राप्नोति। तथा चोक्तं—

यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तोभविष्यति॥

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति इत्यादि च। तस्माच्छिवसन्देशनादेव मोक्ष इति।
वही, आगम परिच्छेद पृ० १४०, १४१

४. ईश्वर इति शंकरस्याख्या पृ० ५४४

५. विर्भर्तिलोकजिद्भावं बुद्धस्य स्पर्धयेव यः। यस्येशतुलयेवात्र कर्तृत्वमशरीरिणः॥
नै० १७।१६

ईश्वर के विषय में न्याय तथा मीमांसा में वड़ा मत-विरोध रहा है। मण्डन मिश्र ने अपने 'विधि-विवेक' में ईश्वर-सत्ता-समर्थक सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए उन्हें केवल वार्ता, (गप्प) कह कर उड़ा दिया है। वाचस्पति ने भी अपनी न्याय-कणिका नामक विधि-विवेक की टीका में छः विशेष गुणों वाले ईश्वर की सत्ता का प्रतिषेध किया है।[1] किन्तु उदयन ने अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सत्ता मानी है, जिसका नाम उन्होंने भव या शिव कहा है। उन्होंने मीमांसकों के ईश्वर विषयक मत का विस्तार के साथ खण्डन किया है।[2]

नैयायिकों ने ईश्वर को परानुग्रहस्वभाव अर्थात् भक्तों पर कृपाशील स्वभाव वाला कहा है।[3] मीमांसकों ने ईश्वर के इस स्वभाव का भी खण्डन किया है।[4] इन्हीं सब कारणों से नैयायिकों ने मीमांसा को नास्तिक की उपाधि दी है। सायण माधव ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कुमारिल के ईश्वर-विषयक मत का उल्लेख करते हुए उन्हें नास्तिकशिरोमणि तक कह डाला है।[5] सर्वमत-संग्रह का तो यहाँ तक कहना है कि मीमांसक न नैयायिकों के और न ही उपनिषदों के ईश्वर को स्वीकार करते हैं।[6]

श्रीहर्ष ने न्याय-मीमांसा के ईश्वर-विषयक इस मतभेद का अत्यन्त पाण्डित्य के साथ उल्लेख किया है। स्वयंवर-सभा में कुश द्वीप के अधिपति ज्योतिष्मान्

---

१. न तावत्—युगपदसंख्येयस्थावरादिलक्षणकार्यदर्शनादखिलविषयनित्यविज्ञान-मात्रशाली षड्गुण ईश्वरः सेद्धुमर्हति। पृ० २१६

२. न्याय कुसुमांजलि, स्तवक ५

३. वाचस्पति की तात्पर्य टीका, पृ० ५९७, का० सं० सी०।

४. स्वार्थेपरानुग्रहे वा दुःखोत्तरसर्गदर्शनात् प्रयोजनाभावनिराकृतापि चैतन्यमात्र-सिद्धिः स्यात्॥ मंडन मिश्र—विधि विवेक, पृ० २२५

५. तदुक्तम् भट्टाचार्यः प्रयोजनमनुद्दिश्यनमन्दोपि प्रवर्तते। जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत्, इति॥ अत्रोच्यते नास्तिकशिरोमणे तावदीर्ष्याकषायिते। चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान्। पृ० २२५ पूना प्रकाशन।

६. अथ तैस्तार्किकाभिमत ईश्वर एव निरस्तो नोपनिषद्भिमतः क्षेत्रज्ञस्वरूप इतिचेत्, तन्न। कर्मैवदेहिनामिष्टानिष्ट फलदं नेश्वर इति वदतां वेदस्य धर्मैकनिष्ठतां चाभ्युपगच्छतां क्षेत्रज्ञस्वरूपस्येश्वरस्याकिञ्चित्करत्वात् प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावाच्च॥ सर्वमतसंग्रह प्रभाकरमीमांसा, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज ६।

की सरस्वती द्वारा बड़ी प्रशंसा सुनकर भी दमयन्ती का उस पर कोई अनुराग न देखकर कवि की उक्ति है—"समस्त वेदों ने शिव का यशोगान किया है। बिना कारण के भी भगवान् आशुतोष भक्तों का कार्य सिद्ध कर देते हैं, किन्तु जिस प्रकार ऐसे भगवान् चन्द्रशेखर में मीमांसा कोई आस्था नहीं रखती, उसी प्रकार राजा ज्योतिष्मान् में, जिसकी सच्ची कीर्ति गायी जाती थी तथा जो स्वयं भी निः स्वार्थ परोपकारी था, दमयन्ती का कोई अनुराग न हुआ"[1]। नारायण ने नैषध के उक्त श्लोक की टीका में कहा है कि मीमांसा ईश्वर को वेद का कर्तामात्र मानती है, उसकी सत्ता का एकदम निषेध नहीं करती, और इस विषय में उन्होंने 'श्लोक-वार्तिक' का प्रथम श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें कुमारिल शिव को नमस्कार करते प्रतीत होते हैं।[2] किन्तु पार्थ-सारथि मिश्र ने कुमारिल के इस श्लोक का यज्ञपरक अर्थ लगाया है न कि शिव-परक।[3] फिर कुमारिल का सिद्धान्त देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वे ईश्वर की सत्ता को मानते ही नहीं थे।

चाण्डू पण्डित ने उक्त नैषध-श्लोक की टीका में कहा है कि—"मीमांसा-दर्शन ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता, क्योंकि यदि वह ऐसा माने तो उसे (ईश्वर को) वेदों का कर्त्ता मानना पड़ेगा, जो उसके अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ेगा, क्योंकि मीमांसा वेद को सनातन तथा अजन्मा मानती है।"

सांख्ययोग

कार्य कारण के सम्बन्ध के विषय में सांख्य का प्रसिद्ध सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। अर्थात् कारण ही, जिसमें उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता विद्यमान रहती है, कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में इसके पक्ष में पाँच हेतु

---

१. वेदैर्वचोभिरखिलैः कृतकीर्तिरत्ने हेतुं विनैवधृतनित्यपरार्थयत्ने।
मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमालौ तस्मिन्महीभुजितयानुमतिर्न भेजे॥
नै० ११।६४

२. मीमांसापि वेदं प्रति कर्तृत्वमात्रेणेश्वरमंगीकृतवती न तु सर्वथानास्तीति।
विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे॥
मार्क० की० १ इति नमस्कार श्रवणात्।

३. सोमस्य अर्ध स्थानं ग्रहचमसादि तद्धारिणे इति। यज्ञपक्षेपि संगच्छते।

दिए हैं[1]। वाचस्पति ने अपनी तत्वकौमुदी में इस विषय में बौद्धों, नैयायिकों, वैशेषिकों तथा वेदान्तियों के मत का विस्तार के साथ खण्डन किया है।[2]

श्रीहर्ष ने सांख्य के पूर्वोक्तवाद की ओर संकेत किया है। इन्द्र आदि दिक्पालों को याचकरूप में सामने खड़े देखकर आनन्दातिरेक में राजा नल कहते हैं—"जन्य जनक में भेद नहीं होता। मनुष्य देह सचमुच ही अन्न से उत्पन्न है। आपके अमृतभोजी शरीर को देखकर मेरी दृष्टि अमृत में मज्जन-सा कर रही है।"[3]

योगविभूति का वर्णन करते हुए पातञ्जलि ने समाधि सिद्ध योगी का दूसरे के शरीर में प्रवेश करना भी बताया है।[4] व्यास ने इसका भाष्य करते हुए लिखा है "योगी अपने चित्त के प्रचरणज्ञान के कारण उस चित्त को अपने शरीर से खींचकर दूसरे शरीर में डाल देता है। उस चित्त के पीछे पीछे इन्द्रियां भी वहाँ जा पहुँचती हैं। जैसे मधु-मक्खियां अपने राजा के पीछे पीछे छत्ते से उड़ती हैं वा छत्ते पर फिर जा बैठती हैं, वैसे ही इन्द्रियां पर-शरीर में प्रविष्ट होने वाले चित्त का पीछा नहीं छोड़ती हैं।"[5]

१. दमयन्ती के अन्तःपुर में अदृश्यरूप से भ्रमण करते हुए राजा नल में श्रीहर्ष उसी योगविभूति की उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं—"वियोग-व्यथित राजा योगी की भाँति अदृश्य होकर दूसरे के पुर (शरीर या नगर) में प्रवेश कर मणिजटित भूमियों में अपने प्रतिविम्ब रूप कार्य-समूह का विस्तार करते हुए सुशोभित थे।"[6]

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ कारिका ९

२. सांख्यतत्व कौमुदी ९ म कारिका ३, नै० ५।९४

३. नास्तिजन्य-जनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादं दृङ्निमज्जनमुपैति सुधायाम्॥ नै० ५।९४

४. वन्ध-कारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्यपरशरीरावेशः—
—यो० सू० ३।३८

५. स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति निक्षिप्तं चित्तञ्चेन्द्रियाण्यनूत्पतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते। तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते।

६. भवन्नदृश्यः प्रतिविम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु।
पुरं परस्य प्रविशन्वियोगी योगीवचित्रं स रराज राजा॥ नै० ६।४६

२. फिर स्वयंवर-सभा में पांच नलों को देखकर दमयन्ती मन में अनेक विकल्प करती हुई उसी योगविभूति का उल्लेख करती है अथवा क्या मेरा कौतुकी प्रिय नल स्वयं इतने रूप बनाकर मुझसे परिहास तो नहीं कर रहा है, क्योंकि विज्ञान-वेत्ता होने के कारण अश्वहृदयज्ञान की भांति क्या उनमें कई रूप धारण करने की विद्या न होगी ?[1]

योगदर्शन में समाधि दो प्रकार की बतायी गयी है—१. सम्प्रज्ञात २. असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि को ही सबीज, तथा सवितर्क समापत्ति भी कहते हैं।[2] तथा असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज तथा निर्वितर्कसमापत्ति कहते हैं। "वेदान्त में इन्हीं को क्रम से सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि कहा है।" सम्प्रज्ञात समाधि में ध्याता तथा ध्येय का पथक् भाव बना रहता है।

नैषध में श्री हर्ष ने योगदर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख किया है। भगवान् विष्णु की स्तुति करते हुए राजा नल सम्प्रज्ञात समाधि में लीन हो जाते हैं 'इतनी प्रार्थना करके राजा नल भगवान् विष्णु के ध्यान में सम्प्रज्ञात समाधि में लीन हो गए। फिर भगवान विष्णु का साक्षात्कार करके भक्ति के उद्रेक में उन्मत्त हो गाने तथा झूमने लगे।[3]

उत्तरमीमांसा "वेदान्त"

वेदान्त दर्शन के मतानुसार यह आत्मा जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में अदृष्ट-वश सुख-दुःख आदि भोगों को भोगता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी पूर्व कर्मों के अधीन हो नाड़ियों से निकलकर तथा पूर्व शरीर को यथास्थान पर ही प्राणवायु

---

१. किंवा तनोति मयि नैषध एव काय-व्यूहं विहाय परिहासमसौ विलासी।
विज्ञानवैभवभृतः किमु तस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव ॥ नै० १३।४३
काव्यव्यूहनिर्माण बौद्धों की षड्भिज्ञा "दिव्य शक्तियों" में एक मानी गई है। विद्याधर तथा ईशान-देव ने नैषध के २१।८७ श्लोक की व्याख्या में छः अभिज्ञाओं में एक काव्य व्यूह-निर्माण भी रक्खा है—हान्दिकी नैषध पृ० ६०१

२. ता एव सबीजः समाधिः—योग सूत्र १।४६ वाचस्पति ने अपनी टीका में कहा है—तेषुग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु स्थितस्य धारितस्य ध्यानपरिपाकवशादपहतर-जंस्तमोमलस्य चित्तसत्वस्य या तदंजनता तदाकारता सा समापत्तिः सम्प्रज्ञात-लक्षणो योग उच्यते। उक्त सूत्र पर तत्ववैशारदी।

३ इत्युदीर्य स हरिं प्रति संप्रज्ञातवासिततमः समपादि।
भावनाबलविलोकितविष्णौ प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः॥ नै० २१।११८

द्वारा रक्षित अवस्था में छोड़कर इधर-उधर स्थानों में नूतन देह धारण करते हुए स्वप्नकाल के विषयों का भोग करके पुनः पूर्व "स्थूल" शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। वृहदारण्यक उपनिषद् का स्वप्न के विषय में यही मत है।[१] शंङ्कराचार्य ने वृहदारण्यकमंत्र का भाष्य करते हुए लिखा है कि "स्वयम्प्रकाश आत्मा इन्द्रियों के उपरत हो जाने पर स्वप्न देखा करता है।"[२]

स्वप्न विषयक पूर्वोक्त सिद्धान्त का प्रयोग नैषध में किया गया है। दमयन्ती को साक्षात् कभी न दिखाई पड़े हुए भी नल स्वप्न में दिखाई पड़ जाते थे। इस रहस्य की व्याख्या करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं—"निद्रा दमयन्ती के निमीलित नेत्रों से तथा वाह्येन्द्रियों के सुप्त हो जाने पर सम्पुटित हृदय से छिपाकर कभी न देखते हुए भी उस राजा को वड़े रहस्य के रूप में "दमयन्ती को" दिखाती"।[३]

नरहरि ने इस श्लोक में स्वप्न के परे सुषुप्ति अवस्था की ध्वनि पाई है।

ब्रह्मप्राप्ति अथवा आत्मदर्शन के उपाय, विधि तथा साक्षात्कार दशा का विस्तृत विवेचन ही विशेषतया वेदान्त दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। अतः इस विषय में उपनिषदों से लेकर वेदान्त के टीका-ग्रन्थों तक इस पर पर्याप्त लिखा है।

श्रीहर्ष ने ब्रह्म साक्षात्कार की इस पद्धति का कई बार उल्लेख किया है—

---

१. प्राणेनरक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते मृतो यत्र काम हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ॥ ४।३।१२

२. उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान पश्यति इत्यादि।

३. निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोपिऽबाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥ नै० १।४०

पूर्वोक्त श्लोक का तथा अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्--(नै० १।३९) की भी व्याख्या प्रशस्तपादभाष्य में बुद्धि एवं स्वप्नज्ञानलक्षणा अविद्या शीर्षक में की गई व्याख्या के आधार पर की गई प्रतीत होती है। वह अंश यहां उद्धृत किया जाता है—

तत्तु त्रिविधम् संस्कारपाटवाद् धातुदोषाद् अदृष्टाच्च। तत्र...। अदृष्टात् यत् स्वयमनुभूतेष्वननुभूतेषु प्रसिद्धेष्वप्रसिद्धेषु च शुभावेदकं गजारोहणच्छत्रलाभादि तत्सर्वं संस्कार धर्माभ्यां भवति। विपरीतं तु तैलाभ्यंजनोष्ट्रारोहणादि संस्कारा धर्माभ्यां भवति। अत्यन्ताप्रसिद्धेष्वदृष्टादेव भवति। स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति तथाप्यतीतज्ञानप्रबन्धस्यप्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेवेति चतुर्विधा भवत्यविद्येति॥

१. स्वर्णिम हंस के अकस्मात् उपवन में दमयन्ती के पास उतरने पर दमयन्ती की सखियों के नेत्र अपनी उस दृश्यमान् वस्तुओं को त्यागकर उस वर्णनातीत रूप वाले हंस में ऐसे जा लगे जैसे योगियों के चित्त सभी विषयों को त्यागकर अवाङ्मनस-गोचर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।[1]

२. फिर जैसे अपने शरीर में ही सन्निहित ब्रह्म का आदरातिशय के साथ साक्षात्कार करने के लिए मुनि की मनोवृत्ति निश्चल हो जाती है, उसी प्रकार पास में चरते हुए उस हंस को डरते हुए हाथ से पकड़ने की अभिलाषा से दमयन्ती भी प्रयत्नपूर्वक निश्चल वन गयी।[2]

३. नारद के आकाशमार्ग को पारकर इन्द्रपुरी में पहुँचने का वर्णन श्री हर्ष करते हैं—"देवर्षि अनन्त आकाश को पारकर इन्द्र भवन में पहुँच गए, जैसे योगी अनादि भव-सागर को पारकर आनन्द निर्भर ब्रह्म को प्राप्त करता है।"[3]

४. दमयन्ती के करुणरोदन को सुनकर भावोद्रेक में अपने को प्रकट कर नल जब प्रकृत दशा में आते हैं, उस समय जैसे कोई मुनि आत्मज्ञान प्राप्त कर अपने प्रकाशस्वरूप को तथा प्रकृति को पृथक् जानता है, उसी प्रकार प्रबोध आने पर नल ने अपने वास्तविक रूप को प्रकट करते हुए जाना तथा दमयन्ती को सुस्त देखकर कहना प्रारम्भ किया[4]।

आत्मज्ञान होने पर मुनि को आत्मा तथा प्रकृति की पृथक् सत्ता का ज्ञान हो जाता है। उसका अनुभव वामदेव ऋषि के समान इस प्रकार का होता है—

अहं मनुरभवंसूर्यश्चाहं कक्षीवा ऋषिरस्मि विप्रा।[5] अहं कुत्समार्जुनेयंन्यंजे हं कविरुशना पश्यताभा, इत्यादि तथा प्रकृति या माया की पृथक् सत्ता भी जानता है। वेद-निर्देश है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः प्रकृतितोविवेक्तव्यः" बृ० उप० २।४।५।

---

१. नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुःस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसियतव्रतानाम्॥ नै० ।३।३

२. हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे॥ नै० ३।४

३. स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारुयतीव॥ नै० ५।८

४. मुनिर्यथात्मानमथप्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयासृजद्गिरः॥ नै० ९।१२१

५. ऋग्वेदसंहिता, ४।३।२६।१ मैक्समूलर द्वारा सम्पादित १८५६ ई०।

वेदान्त में सांसारिक दशा को मोहदशा तथा मुक्त 'मोक्ष' दशा को आनन्द दशा कहा है।

नल को अकस्मात् अन्तःपुर में देखकर दमयन्ती को कुछ ऐसा ही अनुभव होता है। नल को देखकर आनन्द परिपूर्ण हो तथा इस सुरक्षित अन्तःपुर में नल कैसे (आए)? इसलिए अनिर्वचनीय भ्रान्तिपूर्ण हो, दमयन्ती उस समय मुक्त तथा संसारी दोनों प्रकार के व्यक्तियों की दशा का माधुर्य अनुभव कर रही थी[1]।

वेदान्त में स्थूल शरीर के अतिरिक्त लिङ्ग शरीर का वर्णन हुआ है, जिसकी रचना इस प्रकार बताई गई है—

बुद्धीन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च।
प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः॥
शाङ्करभाष्य बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२०

इन सब में मन के एक प्रधान तत्व होने के कारण कभी-कभी मन को ही लिङ्ग शरीर के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।[2] मरण के समय सर्वप्रथम आत्मा शरीर से निकलता, है फिर प्राण, फिर सारी इन्द्रियां निकलती हैं। उसके निकल जाने पर स्थूल शरीर व्यर्थ (मृत) हो जाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रणाली का विवेचन किया गया है[3]।

वेदान्त की इस प्रणाली का उल्लेख श्री हर्ष ने इस प्रकार किया है—इन्द्र आदि दिक्पालों के पक्ष में दिए गए दूत नल के तर्कों से अधीर हो उन्मुक्त कण्ठ से रोदन करती हुई दमयन्ती कहती है—"हाय ये क्षण नहीं युग बीत रहे हैं, कब तक वेदना सहूंगी। मुझे तो मृत्यु ही नहीं है। क्योंकि मेरे प्राण हृदय को नहीं छोड़ रहे हैं, मन प्रिय को नहीं छोड़ता है तथा प्राण उस मन को नहीं त्याग रहे हैं।"[4]

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में सनत्कुमार मन्त्रविद् नारद को आत्मा

---

१. तत्कालनानन्दमयी भवन्ती भवत्तरा निर्वचनीयमोहा।
सामुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुक्तमिष्टम्॥ नै० ८।१५

२. अतएव भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है लिङ्गमनः, मनः प्रधानत्वात् लिङ्गस्य मनः लिङ्गमित्युच्यते—शा० भा० बृ० उप० ४।४।६

३. तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ति बृ० ४।४।२

४. अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः॥ नै० ९।९४

के वास्तविक रूप का परिचय देते हैं और विस्तार के साथ वताते हैं कि किस प्रकार आत्मा सारे भौतिक पदार्थों तथा मानसिक कार्यकलापों से परे है। वाक्, मनस्, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, वल, अन्न, आप्, तेजस्, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण, सबसे आत्मा उत्कृष्ट है, तथा आत्मा से ही इन सब की सत्ता है, वह ऊपर नीचे इधर उधर सर्वत्र है।[1] उपनिषद् के पूर्वोक्त सम्पूर्ण अध्याय के भाव को नैषध में बड़े पाण्डित्य के साथ एक ही श्लोक में निहित किया गया है—"दमयन्ती उस समय उपनिषद् विद्या के समान हो गई थी, जिस प्रकार उपनिषद् विद्या पृथ्वी, अप् तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् तथा मन इन आठों द्रव्यों की सत्ता का एक साथ निराकरण करती है, उसके अभिप्राय बड़े गूढ़ होते हैं। वह व्याकरण आदि छः शुभ अङ्गों से युक्त होती है तथा अनिर्वचनीय रूप वाले ज्ञान-निधि, असीम आनन्दमय एक परम पुरुष में ही तल्लीन रहती है उसी प्रकार दमयन्ती ने वैभवसम्पन्न, दमयन्ती-प्राप्ति की आशा लिए अद्वितीय गुणों वाले असंख्य तेजस्वी देवताओं तथा राजाओं को त्यागा। अपने अभिप्राय को छिपाए वह सुन्दरी भी अवर्णनीय सौन्दर्य वाले, ज्ञान-राशि, असीम उत्साहयुक्त किसी पुरुष विशेष में तल्लीन थी।"[2]

आत्मा के विषय में गौड़पादकारिका में एक स्थान पर दर्शनों की चार कोटियों का उल्लेख हुआ है।[3] इस पर शंकराचार्य कृतभाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि ने पूर्वोक्तकारिका में (१) अस्ति, (२) नास्ति, (३) अस्ति-नास्ति, (४) नास्ति-नास्ति इन चारों वादों को क्रम से वैशेषिक, विज्ञानवादी बौद्ध, दिगम्बर "जैन" तथा शून्यवादी बौद्ध का मत वताया है।[4] वेदान्त दर्शन आत्मा को सर्वथा निष्प्रपञ्च

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ७

२. सानन्तानाप्यतेजः सखनिखलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाज—
श्चित्तेनाशाजुषस्तान्सममसमगुणान्मुञ्चती गूढभावा।
पारेवाग्वर्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी—
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः॥ नै० ११।१२९

३. अस्तिनास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः,
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव वालिशः।
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः,
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥ ४।८३, ८४

४. प्रमातादेहादिव्यतिरिक्तोऽस्तीत्यादौ वैशेषिकादिपक्षः। देहादिव्यतिरिक्तो ऽपिनासौ बुद्धेर्व्यतिरिच्यते क्षणिकस्यविज्ञानस्यैव आत्मत्वादिति द्वितीयो विज्ञानवादिपक्षः। तृतीयो दिगम्बरपक्षः। चतुर्थे तु शून्यवादिपक्षेशून्यस्यात्यन्तिकत्वद्योतनार्था वीप्सा।

"सर्व विकल्पना वर्जित" अर्थात् अद्वैत बताता है। अतः उसे पञ्चमवाद "कोटि" कह सकते हैं।

वेदान्त के अद्वैतवाद से मिलता-जुलता ही माध्यमिकों "बौद्धों" का भी अद्वैत-वाद है। बुद्ध को अद्वयवादी कहा भी जाता है।[1]

परमतत्व के विषय में माध्यमिकों का भी मत वेदान्तियों की भांति पूर्वोक्त चार कोटियों से परे है।

नसन्नासन्नसदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः।।

स्वयंवर समाज में पांच नलों को देखकर दमयन्ती को सत्य नल का निश्चय ही न हो सका। कवि ने सुन्दरी की उस अवस्था के प्रति उत्प्रेक्षा की है "जैसे मतों के भेद होने पर लोगों को पञ्चम कोटि अद्वैततत्त्व पर भी, यद्यपि वह अत्यन्त सत्य है, विश्वास नहीं होता, तथा अन्य चार "लोगों के" विश्वास न होने देने के लिए यत्नशील रहते हैं, उसी प्रकार दमयन्ती को भी कई नल होने के कारण नल विषयक सन्देह होने पर पांचवें स्थान में बैठे हुए वास्तविक नल में भी विश्वास न हुआ, क्योंकि दमयन्ती को पाने की अभिलाषा से चार समान रूप वाले नल उस विश्वास को होने ही नहीं देते थे।"[2]

वेदान्तियों को माया के कारण जगत् में वाह्यतः भेद दिखाई पड़ता है। इसे ही विष्णु की इच्छा का विलास कहते हैं।

श्रीहर्ष ने वेदान्त तथा वैष्णव मत के पूर्वोक्त मतों का समन्वय किया है। विष्णु पूजा करते हुए नल स्तुति करते हैं, "युक्तिसङ्गत शास्त्रों तथा उपनिषदों के

---

१. अद्वयवादी विनायकः—अमरकोषः।

२. साप्तुंप्रयच्छतिन पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्वइव सत्यतरेऽपि लोकः।।नै० १३।३६

माध्यमिकों तथा वेदान्तियों की अद्वैततत्व विषयक समानता को देख कर ही नैषध के टीकाकार ईशानदेव ने इस श्लोक के व्याख्यान्तर में इसे बौद्ध मत के अनुसार बताया है—"यद्वा अद्वैततत्त्वे बौद्धमते यथालोकः श्रद्धां न दधाति। कीदृशे पञ्चमकोटिमात्रे। यदुक्तम्। नसन्नासन्नसदसन्नचाप्यनुभयात्मकम्, चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाविदुः। पक्षचतुष्टये तां मुक्तिं न प्रयच्छतीत्यादियोज्यम्। अद्वैतवादिनश्च बौद्धाः। यदुक्तम् अद्वयवादी... जिन इति" हान्दिकी नैषध में उद्धृत पृ० ४३६।

सर्वंखल्विदं ब्रह्म इत्यादि प्रमाणों से जगत् की समस्त वस्तुओं में एक ही सत्ता भासमान् होती है, अतः उनमें कोई भेद नहीं माना जा सकता, किन्तु आपकी इच्छा के कारण, जो अनिर्वाच्य अनाद्य अविद्यारूप है, प्रत्येक वस्तु पृथक् ही प्रतीत होती है।[1]

वेदान्तियों ने मुक्ति की अवस्था में केवल ब्रह्म की सत्ता मानी है। चार्वाक ऐसी मुक्ति का उपहास करते हुए कहता है—

"जब तक मनुष्य संसार में है, तब तक उसे जीव रूपी अपनी तथा ब्रह्म की भावनाओं का पृथक् भान होता है, किन्तु मुक्ति मिलने पर अकेला ब्रह्म ही शेष रह जाता है, इस प्रकार अपनी सत्ता का उच्छेद कर इन वेदान्तियों ने मुक्ति की स्थापना की है। वाह री बुद्धि ?"[2]

बौद्ध-दर्शन

श्रीहर्ष के समय से शताब्दियों पूर्व से ही बौद्ध सम्प्रदाय का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसके दार्शनिक सिद्धांत बहुत समय तक स्थिर रहे। प्रारम्भ में बौद्धधर्म केवल एक सम्प्रदाय "पाषंड" के रूप में था किन्तु बाद में इस सम्प्रदाय में होने वाले अनेक उच्चकोटि के विद्वानों ने अपने सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप दिया। हिन्दू "वैदिक" दर्शनों का भी बौद्ध सिद्धान्तों पर बड़ा प्रभाव पड़ा, और बौद्धों ने बहुत कुछ उनसे लिया भी। दार्शनिक विचारधारा में बौद्धदर्शन का बहुत प्रधान स्थान रहा। अतः प्रायः सभी हिन्दू दार्शनिक विद्वानों को अपने मत की पुष्टि में यथावसर बौद्ध सिद्धान्तों का आख्यान-प्रत्याख्यान करना पड़ा। 'खण्डनखण्डखाद्य' में श्रीहर्ष ने बौद्धों के सिद्धान्तों का अनेक स्थानों पर बड़े कठोर शब्दों में खण्डन किया है।

नैषध में बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। महायान सम्प्रदाय के माध्यमिकों का शून्यवाद और योगाचारों का विज्ञानवाद तथा हीनयानावलम्बी सौत्रान्तिकों का साकारवाद बौद्धदर्शन के प्रधान सिद्धान्त हैं।[3]

---

१. वस्तु वास्तु घटते न भिदाना यौक्तनैकविधबाधविरोधैः।
तत्त्वदीहितविजृम्भिततत्तदभेदमेतदिति तत्त्वनिरुक्तिः ॥ नै० २१।१०७

२. स्वञ्च ब्रह्म च संसारे मुक्तौतु ब्रह्मकेवलम्।
इति स्वोच्छित्तिमुत्युक्ति वैदग्धी वेदवादिनाम् ॥ नै० १७।७४

३. अद्वय वज्रसंग्रह, पृ० १४

शून्यवाद के अनुसार जगत् के पदार्थों की स्वप्नवत् सत्ता है। जैसे जादूगर जादू के बल से नई वस्तुओं को बनाता है और दर्शक उसे सत्य मान लेते हैं, उसी प्रकार का यह समस्त वस्तुजात जादू के समान है।[१] सभी गोचर वस्तुएं प्रतिविम्ब के समान हैं[२] और यह भी निश्चय नहीं कि इन अलीक पदार्थों का कहाँ से उद्गम और कहाँ विलय होता है ?[३] शून्यवादियों के अनुसार जगत् की वास्तव में न कोई उत्पत्ति होती है, और न विनाश ही।[४] माध्यमिकों ने तत्त्व को चार कोटियों 'प्रकारों' से परे 'विनिर्मुक्त' बताया है।[५] उनका यह शून्यवाद ही अद्वैतवाद या अद्वयवाद भी कहा जाता है।[६] बौद्धों के इस माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) की ओर श्रीहर्ष ने कई स्थलों पर सङ्केत किया है।

१. प्रथम तो कवि ने सरस्वती की रूप कल्पना में उनके उदर का वर्णन करते हुए उसे बौद्धों के शून्यात्मतावाद (शून्यवाद) से निर्मित बताया है।[७]

२. फिर विष्णु के बुद्धावतार की स्तुति के प्रसङ्ग में नल ने उन्हें अद्वयवादी तथा 'विधुत-कोटिचतुष्क' बताया है... "प्रभो आप का वह बुद्धरूप मेरी रक्षा करे जिसने चित्त को क्षणिक माना है, जिसने केवल ज्ञानरूप वस्तु की सत्ता सत्य मानी (अद्वयवादी) है, वेद का प्रामाण्य न मानते हुए भी जो ज्ञानी है, जिसने चारों कोटियों का निराकरण कर दिया, जो कामविजयी था, तथा जिसकी अभिज्ञा छः प्रकार की थी[८]।"

---

१. बोधिचर्यावतार, पृ० ३७४

२. यदन्यसन्निधाने न दृष्टं न तदभावतः।
प्रतिविम्बसमेतस्मिन् कृत्रिमे सत्यतां कथम् ॥ बो० च० ९।१४५

३. बोधिचर्यावतार, ९।१४४

४. एवं च न निरोधोस्ति न च भावोस्ति सर्वदा।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥ बो० च० ९।१५०

५. नसन्नासन्नसदसन्नचाप्यनुभवात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाविदुः ॥ बोधिचर्यावतार पञ्जिका, पृ० ३५९

६. भिन्नापि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षण। ब्र० सू० २।२।१८ पर वाचस्पति द्वारा भामती में उद्धृत।

७. शून्यात्मतावादभयोदरेव—नै० १०।८८

८. एकचित्ततितिरद्वयवादिन्नत्र्यीपरिचितोथबुधस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाण-विजयी षडभिज्ञः ॥ नै० २१।८७

बुद्ध को अद्वयवादी कहा भी जाता है... अद्वयवादी विनायकः—अमर ोष, १।१।१४

३. एक बार फिर दमयन्ती से सन्ध्यावर्णन करते समय नल ने प्रातः तारिकाओं के लुप्त हो जाने के विषय में शून्यवाद का और साथ ही विज्ञानवाद का भी स्मरण किया है।[१] "शून्यवादिनी बौद्ध योगिनी की भांति रात्रि तारों का दृष्टान्त देती हुई कहती है कि जैसे जागरण के समय दिन होते ही ये सारे आकाश-कुसुम तारे लुप्त हो जाते हैं उसी भांति प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला सारा बाह्यजगद् असत्य है।"

चार्वाक बौद्धदर्शन के अस्थिरवाद (जगत्पदार्थों के क्षणभंगुरवाद) का उल्लेख करता हुआ कहता है—"किसी बोधिसत्त्व ने वेदों की पोल खोलने के लिए जन्म लिया, क्योंकि समस्त जगत् को सत्त्व हेतु द्वारा (यत्सत् तत्क्षणिकम् यथा घटः इत्यादि रूप से) क्षणभंगुर बताया।[२]

विज्ञानवादी योगाचार सम्प्रदायवालों के मतानुसार ज्ञान से पृथक् गोचर वस्तु की कोई सत्ता नहीं। वस्तु का बाह्यरूप ज्ञान-द्वारा कल्पित है। वास्तव में पदार्थ तथा उसका ज्ञान दोनों एक ही वस्तु है जो बाहर नहीं किन्तु भीतर है।[३]

श्रीहर्ष ने सरस्वती के चित्त की रचना इसी विज्ञानवाद से कल्पित की है।[४]

बाह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक बौद्ध साकारवादी कहे जाते हैं। उनके अनुसार सर्वप्रथम हमारे ज्ञान या बुद्धि पर पदार्थ (वस्तु) का आकार पड़ता है जिससे हम उस वस्तु की सत्ता का अनुमान लगाते हैं।[५] जैसे शरीर की पुष्टि देखकर भोजन

---

१. "यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते" के अनुसार विज्ञानवादी विज्ञानव्यतिरिक्त बाह्यार्थ रूप जगत् को मिथ्या कहते हैं॥ ब्रह्मसूत्र २।२।२८ पर शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है।

२. प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि ताराः खपुष्पाणि निदर्शयन्ती।
निशाह शून्याध्वान योगिनीयं मृषा जगद् दृष्टमपि स्फुटाभम्॥ नै० २१।२४

३. नै० १७।३८

४. वाचस्पति ने ब्रह्मसूत्र २।२।२८ के शाङ्करभाष्य पर अपनी भामती में स्पष्ट कहा है—

यद्यप्यनुभवात् नान्योनुभाव्योऽनुभविताऽनुभवनं तथापि... बुद्धिपरिकल्पितेन रूपेण अन्तःस्थ एवैष प्रमाणप्रमेयफलव्यवहार : प्रमातृव्यवहारश्चेत्यपि द्रष्टव्यं न पारमार्थिक इत्यर्थः।

५. विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव—नै० १०।८८

६. इन्द्रियसन्निकृष्टस्यविषयस्योत्पाद्येज्ञाने स्वाकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकरेण तस्यार्थस्यानुभूयतोपपत्तेः..। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३६ बी० ओ० आर० आई०।

का, वोली सुनकर देश का तथा सम्भ्रम से स्नेह का अर्थापत्ति द्वारा अनुमान लगा लिया जाता है उसी प्रकार ज्ञान या बुद्धि पर पड़े पदार्थ के प्रतिविम्व से उस पदार्थ की सत्ता का अनुमान लगा लिया जाता है।[1] दूसरे शब्दों में जैसे दर्पणगत प्रतिविम्व को देखकर मुख की सत्ता का ज्ञान होता है उसी प्रकार ज्ञान में पड़े ज्ञेय वस्तु के प्रतिविम्व से उसकी सत्ता का ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता।[2]

श्रीहर्ष ने सरस्वती देवी का समस्त रूप ही साकारतावाद से कल्पित किया है।[3]

जैन-दर्शन

जैन-दर्शन में---(१) सम्यक्ज्ञान, (२) सम्यक्दर्शन तथा (३) सम्यक्चरित्र को त्रिरत्न कहा गया है। जैन कवियों ने वाद के काव्यों में इस त्रिरत्न को वड़ी प्रधानता दी है। जैन ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञान का नाम सम्यक् ज्ञान है, उनमें पूर्णश्रद्धा (आस्था) को सम्यक्दर्शन कहते हैं।[4] तथा पाप कार्यों से विमुखता का नाम सम्यक्चरित्र है। इसमें पञ्चमहाव्रत (अहिंसा, सूनृत, अस्तेय, ब्रह्म, तथा अपरिग्रह) भी आ जाते हैं।[5] इस त्रिरत्न के द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। जो तीनों का एक साथ अभ्यास करता है उसे इनका फल शीघ्र ही प्राप्त होता है।[6]

दमयन्ती दूत नल से देवों को वरने में अपने चरित्र की दुहाई देती हुई जैनों के इसी त्रिरत्न का उल्लेख करती है---"जिस सम्यक् चरित्ररूपी धर्मचिन्तामणि को जिन ने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चरित्र रूप त्रिरत्न में रक्खा है उसे जिस स्त्री ने शंकर की कोपाग्नि में भस्म हुए मदन के लिए त्यागा, उसने मानों अपने कुल में ही वह राख उड़ाई।"[7]

---

१. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३६१

२. ज्ञाने ज्ञेयप्रतिविम्वो बिम्बपुरः सरः, प्रतिबिम्बत्वात्, दर्पणगतमुखप्रतिबिम्बवदिति। एवञ्च प्रत्यक्षग्राह्यो वाह्यार्थो नास्ति। सर्वमत संग्रह, पृ० २१ त्रि० सं० सी०, १९१८ ई०।

३. साकारतासिद्धिमयाखिलेव---नै० १०।८८

४. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक् दर्शनम्---तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १।२

५. सर्वदर्शनसंग्रह, बी० ओ० आर० आई०, प्रकाशन पृ० ६५

६. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६६

७. न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले सृतं तया॥ नै० ९।७१

चार्वाक या लोकायत

नैषध में चार्वाक-सिद्धान्तों का वड़े विस्तार के साथ शास्त्रार्थ ढंग से आख्यान प्रत्याख्यान हुआ है। "चार्वाकों का अनात्मवाद नास्तिकदर्शनों में सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान माना जाता है। यद्यपि अश्लील ऐन्द्रियपरता के कारण भारत में इसको स्थायी सत्ता वनाने में सफलता नहीं मिली फिर भी कुछ लोगों की रुचि इसके प्रति अवश्य ही रही। वह रुचि भी विचित्र प्रकार की थी। कुछ लोग तो इसके सिद्धान्तों को जानने का कौतूहल रखते थे। तथा कुछ थोड़े ऐसे भी हुए जिन्होंने उन सिद्धान्तों का जीवन में प्रयोग भी किया। इनके सिद्धान्तों की (यद्यपि वे कोई सिद्धान्त नहीं कहे जा सकते) वैदिक तथा अवैदिक दोनों प्रकार के दर्शनों ने वड़ी निर्दयता के साथ धज्जियाँ उड़ाई हैं। अव तक उन चार्वाक मतों की जो कुछ भी सत्ता वनी है वह उसी प्रकार है जैसे अनेक विचार-धाराएं विवेकहीन होती हुई भी चलती रहती हैं।"[1]

इस आत्मवाद का प्रवर्तक वृहस्पति को माना जाता है। ये वृहस्पति कौन थे इस विषय में निश्चय ढंग से कुछ नहीं कहा जा सकता। वृहस्पति नीति के कर्त्ता भी यही रहे इसका निर्णय करना कठिन है। भास ने अपने प्रतिमा नाटक (५वें अंक) में तथा कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वृहस्पति को अर्थशास्त्र-रचयिता कहा है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के समुद्देशखण्ड (मैसूर प्रकाशन, पृ० ६) में वृहस्पति के मत से केवल वार्ता तथा दंडनीति ही अध्येतव्य विद्याएँ कही गई हैं। आन्वीक्षिकी तथा त्रयी गौण मानी गई हैं। इससे भी पता चलता है कि वृहस्पति का मत भौतिकवाद की ओर है। अतएव वार्हस्पत्य सिद्धान्त चार्वाक का अनुयायी भी कहा जाता है।[2] वृहस्पति कोई पौराणिक व्यक्ति नहीं थे क्योंकि चार्वाक सूत्रों का उल्लेख उन्हींके द्वारा विरचित होने के रूप में किया जाता है।[3] चार्वाक का मुख्य सिद्धान्त यह है कि "इन्द्रियोपलब्धि ही सत्ता का एकमात्र प्रमाण है...अतः यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति" इस मत से स्वभावतया अश्रद्धा या नास्तिकवाद का प्रादुर्भाव होता है।[4] चार्वाक ईश्वर को नहीं मानता। "ईश्वरवाद के पक्ष में दिये गए तर्कों में उसे अधिक मान्यता नहीं दिखाई पड़ती। अदृष्ट या भौतिक हेतुवाद का तो वह तिरस्कार करता ही है। फिर यह कहना निष्प्रयोजन है कि ईश्वर संसार का नियन्ता है,

---

१. सरस्वतीभवन स्टडीज, भाग ३, पृ० ६७-७७ म० म० डा० गोपीनाथ कविराज।

२. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० २१०-१८, सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ४ पूना प्रकाशन।

३. सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ३ पृष्ठ ६७-७७ म० म० डा० गोपीनाथ कविराज।

४. वही

जो कि जीवों के कर्मों की व्यवस्था करता है तथा वही विश्वकर्ता है। और जो वेद की प्रामाणिकता मानता ही नहीं, उससे वेद के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करना भी व्यर्थ ही है। सब से बड़ी बात तो यह है कि चार्वाक अनुमान को प्रमाण मानता ही नहीं। ईश्वर इन्द्रियों का गोचर ही नहीं, और शब्द-प्रमाण भी अनुमान ही की कोटि में होने के कारण एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सत्ता को सिद्ध करने का कोई साधन ही नहीं रह जाता। अतः चार्वाकों के यहाँ ईश्वर की नहीं, स्वभाव की प्रतिष्ठा है।[१] "अतः इन्द्रादि देवों से न्याय वेदान्त प्रतिपादित ईश्वर सत्ता के प्रति अनास्था प्रकट करता हुआ चार्वाक प्रत्यक्ष तर्क देता है—"यदि सर्वज्ञ करुणामय तथा सत्यभाषी परमात्मा की सत्ता वास्तव में है तो वह भुक्ति-मुक्ति चाहने वाले हम लोगों को अपनी स्वीकृति के दो शब्दों (एवमस्तु) आदि द्वारा ही क्यों पूर्णमनोरथ नहीं करता?"[२] तथा "यदि हम अपने कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख पाते हैं, और ईश्वर का उसमें कोई हाथ नहीं तो हमें उन सुख दुखों का अनुभव करने के लिये उसका यह बलात् हस्तक्षेप अवश्य उसको हमारा अकारण शत्रु बनाता है। और अन्य से शत्रुता का तो कुछ कारण भी होता है।"[३]

विवरण-प्रमेय-संग्रह में लोकायतिक सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार कहा है:—

"पृथ्वी, अप, तेज, वायु ये ही चार भूत तत्त्व हैं, प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, स्वभाववाद ही परम सत्य है।"[४]

नैषध में सर्वप्रथम चार्वाक वेद की प्रामाणिकता पर ही आक्षेप करता है तथा बल के साथ स्वेच्छाचारिता का समर्थन करता हुआ कहता है:—

"जैसे पत्थर का पानी पर तैरना कभी सत्य नहीं, उसी प्रकार यज्ञ के फल (स्वर्गादिप्राप्ति) के प्रति वेद-वचन को भी सत्य नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार अन्य वेद वाक्यों में भी क्या आस्था की जाय, जिसके कारण से यह स्वेच्छा-

---

१. वही

२. देवश्चेदस्ति सर्वज्ञः करुणाभागवन्ध्यवाक्।
तत्किं वाग्व्यय-मात्रान्नः कृतार्थयतिनार्थिनः॥ नै० १७।७७

३. भविनां भावयन् दुःखं स्वकर्मजमपीश्वरः।
स्यादकारणवैरी नः कारणादपरेपरे॥ नै० १७।७८

४. भूतचतुष्टयमेवतत्त्वं, प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, स्वभाववाद एव पारमार्थिकः पृ० २११, सरस्वती भवन स्टडीज़, भाग ३, पृ० ७७ की टिप्पणी में म० म० डा० गोपीनाथ कविराज द्वारा उद्धृत।

चारिता आप लोगों ने त्याग दी।"[1] वह वेद की प्रामाणिकता का विरोध करने के कारण ही बुद्ध की प्रशंसा करता है।[2] बृहस्पति ने अग्निहोत्र, वेद, दंडधारण करने तथा भस्म आदि लगाने को बुद्धि-पौरुष-रहित व्यक्तियों की जीविका का साधन मात्र कहा है।[3] "नैषध में भी चार्वाक उसी उक्ति को दुहराते हुए कहता है— "बृहस्पति ने तो कहा है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदंड धारण करना, भस्म लगाना, तिलक देना, ये सब बुद्धिहीन दरिद्रों की जीविका के साधन हैं।"[4]

चार्वाक मत केवल काम को परम पुरुषार्थ मानता है।[5] अङ्गनालिङ्गन में जो सुख मिलता है उसे ही चार्वाक-दर्शन में पुरुषार्थ कहते हैं तथा कांटे आदि के गड़ने से जो पीड़ा या दुःख होता है उसे नरक मानते हैं।[6] नैषध में चार्वाक ने काम पुरुषार्थ का अनेक वार तथा अनेक विधि से समर्थन किया है। वह उसे सारे पुण्य कर्मों से अधिक श्रेयस्कर बताता हुआ कहता है—"व्रत आदि पुण्य कार्य में आप लोगों की इतनी आस्था क्यों है और स्त्री-संभोग में क्यों नहीं है? अरे, मनुष्य को वही करना चाहिए जिससे अन्त में उसे सुख प्राप्त हो (पुण्यफल तो जन्मान्तर में मिलेगा जो स्वयं सन्देहास्पद है, पर सुरतफल तो स्वयं सुरत-वेला में ही मिल जाता है।)।"[7] वह कामाज्ञा को सबसे अधिक गरीयसी बताता है, "आप लोग भगवन् कामदेव की आज्ञा मानें जिसका कि ब्रह्मा शिव आदि समर्थ देव भी उल्लङ्घन नहीं कर सकते। अरे मूर्खों, वेद देवाज्ञा होने के कारण ही तो मान्य है। तो क्या कामदेव देव नहीं? फिर दोनों

---

१. ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलेपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः कामाध्वा यत्खिलीकृतः॥ नै० १७।३७

२. केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदेजगदस्थिरम्॥ नै० १७।३८

३. अग्निहोत्रं अयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुंठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १३

४. अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं, त्रिदण्डं भस्मपुंड्रकम्।
प्रज्ञापौरुनिःस्वानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ नै० १७।३९

५. कामएवैकः पुरुषार्थ ......(गीता १६।११ के भाष्य में मधुसूदन नीलकंठ तथा धनपति द्वारा उल्लिखित) म० म० कविराज सर० भ० स्टडीज।

६. अङ्गनालिङ्गाज्जयन्यसुखमेवपुमर्थता।
कंटकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते॥ सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६

७. सुकृते वः कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा।
तत्कर्म पुरुषः कुर्यात् येनान्ते सुखमेधते॥ नै० १७।४८

में अधिक किसी को क्या मानें? दोनों ही आज्ञायें समान हैं।"[१] उसे सारी क्रियाओं के फलरूप में काम पुरुषार्थ की प्राप्ति ही समझ पड़ती है—"यज्ञ के समय जो चित्त शांत रखते हैं तथा स्त्री-भोग की भावना का त्याग करते हैं उस विडम्बना की क्या प्रशंसा की जाय? आखिर उनकी उस यज्ञ में शान्त-चित्तता किस बात की लिप्सा से है? यही न कि स्वर्ग जाकर भी मृगनयनियों का सम्भोग सुलभ हो?"[२]

वृहस्पति ने वर्णाश्रम आदि कुछ भी नहीं माना है।[३]

चार्वाक भी नैषध में जातिशुद्धि का उपहास करते हुए कहता है "यदि माता पिता दोनों के वंशों के पितरों को एक एक करके देखा जाय तो किसी वंश में शुद्धता शायद ही मिले। क्योंकि एक वंश की असंख्य शाखाएँ होने के कारण दोष कहीं न कहीं सबमें होगा ही। अतः कौन सी जाति भला निर्दोष कही जा सकती है।"[४]

लोकायत दर्शन में देह को ही आत्मा मानते हैं तथा देहनाश (मृत्यु) को ही मोक्ष या अपवर्ग कहते हैं।[५]

चार्वाक उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए देवों से कहता है, यदि देह ही आत्मा है तो इसके जल जाने पर कुछ शेष ही नहीं बचता, फिर पाप का फल भोगने वाला कोई बचता ही नहीं। और यदि आत्मा इस शरीर से भिन्न कोई वस्तु है

---

१. कुरुध्वं कामदेवाज्ञां ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम्।
वेदोऽपि देवकीयाज्ञा तत्राज्ञाः काधिगर्हणा॥ नै० १७।५९

२. साधुकामुकता मुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः।
सारङ्गलोचनासारां दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः॥ नै० १७।६८

३. नैववर्णाश्रमादीनां क्रियाश्चफलदायिकाः—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १३

४. शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोःपित्रोर्यदेकशः।
तदानन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का॥ नै० १७।४०

५. चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः (शाङ्कर भाष्य में ब्रह्मसूत्र ३।३।५३ पर) तथा मरणमेवापवर्गः।
क. (अद्वैतब्रह्मसिद्धि में) म० म० डा० कविराज द्वारा स० भ० वृ० स्टडीज, भाग ३ पृ० ६९ पर उद्धृत।
ख. देहःस्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी॥ स० द० सं०, पृ० ६
ग. तथा...देहस्यनाशःमुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते—सर्वदर्शन सं०, पृ० ६

जिसकी वेद आदि दूसरा कोई गवाही दे, तब तो सभी आत्मा समान है, फिर एक का किया दूसरा क्यों नहीं भोगता ?[1]

फिर "तत्त्वमसि" आदि आत्मबोध विषय वाक्यों का उपहास करता हुआ देहात्मवाद का समर्थन करता है "मनुष्य जानता है कि यह शरीर में ही हूं, किन्तु वेद बताता है कि नहीं, तुम यह शरीर नहीं हो बल्कि 'तत्त्वमसि'। कितनी बड़ी धूर्तता है।[2]

लोकयतिकों ने श्राद्ध का बड़ा तीव्र खण्डन किया है। अभ्यङ्कर शास्त्री ने सर्वदर्शन संग्रह की टीका में श्राद्ध-विषय में बृहस्पति के वचनों का उद्धरण दिया है। "यदि मेरे प्राणी के लिए श्राद्ध तृप्ति कारण है तो बुझे हुए दीप की भी ज्योति-शिखा को तेल प्रज्वलित कर सकता है, पथिक को पाथेय लेने की भी आवश्यकता नहीं। घर पर कोई श्राद्ध कर दे रास्ते में उसकी निश्चित तृप्ति हो जायगी। यदि स्वर्ग गया हुआ प्राणी यहाँ के दान से तृप्ति प्राप्त करता है तो महल के ऊपर स्थित लोगों के लिए नीचे क्यों नहीं दिया जाता।" अतः अन्त में बृहस्पति ने यही सारांश निकाला कि इन श्राद्धादि प्रेत-कार्यों को ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का एक साधन बनाया है।[3]

चार्वाक देवों से पूर्वोक्त मत के अनुसार श्राद्ध के प्रति उपहास करते हुए कहता है "यह कहना कितनी बड़ी धूर्तता है कि मरने पर प्राणी अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करता है, मरने पर उसे अपने पूर्व कृत कर्मों की फल परम्परा को भोगना पड़ता है, तथा ब्राह्मणों को खिला दे तो मृत आत्मा तृप्त हो जायगी।"[4]

---

१. यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्दाहे वः किमेनसा।
   क्वापि तत्किं फलं न स्यादात्मेतिपरसाक्षिके॥ नै० १७।५२
२. जनैर्नंजानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ।
   त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहोश्रुत्यातिधूर्तया॥ नै० १७।५४
३. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
   निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः समवर्धयेच्छिखाम्॥
   गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थंपाथेय-कल्पनम्।
   गेहस्थकृतश्राद्धेन पथितृंप्तिखारिता ॥
   स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्रदानतः।
   प्रासादस्यौपरिस्थानामत्र कस्मान्नदीयते॥
   ततश्चजीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
   मृतानां प्रेत-कार्याणि न त्वन्याद्विद्यतेक्वचित्॥ सर्व द० सं०, पृ० १३
४. मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः।
   अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्तया॥ नै० १७।५३

चार्वाक दर्शन में न परलोक के लिए कोई स्थान है न स्वर्ग के लिए ही[1] और न ही अदृश्य-वश भविष्य में प्राप्त होने वाले कर्मफल के लिए। यदि किसी कर्म का फल प्राप्त भी हो जाता है तो चार्वाक उसे स्वभाववश या यादृच्छिक ही समझता है। बात यह है कि चार्वाक अदृष्टवाद को कभी स्वीकार ही नहीं करता। उसके अनुसार विश्व का नियन्ता कोई नहीं। अतः कर्म की उसके फल के साथ सङ्गति बैठाने की समस्या उठती ही नहीं। सुख दुख का भोग किसी पूर्वकृत कर्म के फलस्वरूप में नहीं मिलता, अपितु यदृच्छा से मिलता है, जिसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में कार्यकारण के सम्बन्ध को समझने के लिए कर्ता के एकत्व को स्थापित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[2]

पूर्वोक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए चार्वाक मन्त्रानुष्ठान के मिथ्यापन का उपहास करता है, "दो सन्दिग्ध बातों में एक का होना तो निश्चित ही है। उनमें यदि अभीष्ट बात हो गयी तो धूर्त लोग कहते हैं यह हमारे मंत्र का प्रभाव है, और यदि अभीष्ट बात न हुई तो कहते हैं अनुष्ठान[3] ही ठीक से न हो सका। दक्षिणा आदि की गड़बड़ी हो गयी।"[4]

इसी तरह परलोक की सत्ता का भी निराकरण करते हुए कहता है:—"वेद का कहना है, 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा' इस प्रकार जब स्वयं वेद ही परलोक के विषय में संशयग्रस्त है तो उनको प्रमाण मानने वाला संसार परलोक में कैसे विश्वास करे?"[5]

---

१. म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, स० भ० स्ट० भाग ३

२. क्वचित् फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधिवद् यादृच्छिकः। अतस्तत् साध्यमनिष्टादिकमपिनास्ति। नन्वदृष्टनिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्, तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुत्पत्तेः। तदुक्तम्-
अग्निरुष्णोजलंशीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३

३. इस विषय का कि (वेदादि मन्त्र रूप) शब्द प्रमाण है पूर्वपक्ष—"तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः"॥ २।१।५८ और उत्तर (सिद्धान्त) पक्ष—"न कर्म कर्तृसाधनवैगुण्यात्" २।१।५९ इन गौतमीयन्यायसूत्रों तथा इनके वात्स्यायन भाष्य में विद्यमान है। उसी सिद्धान्त पक्ष पर चार्वाक का यह आक्षेप है।

४. एकं सन्दिग्धयोस्तावद्भावि तत्रेष्ट-जन्मनि।
हेतुमाहुः स्वमन्त्रादीनसङ्गानन्यथा विटाः॥ नै० १७।५५

५. को हि वेदास्त्यमुष्मिन्वा लोक इत्याह या श्रुतिः।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम्॥ नै० १७।६२

चार्वाक पुनर्जन्म नहीं मानते। जो शरीर भस्म हो गया (जब कि शरीर ही आत्मा है) तो फिर कहाँ कौन जाता है, और कहाँ से कौन आता है। अतः परजन्म का भय न रहने से उनके लिये न कोई पाप कर्म है न कोई पुण्य। सुख-दुख-पूर्वक जीवन विताना ही उनके लिये आदर्श वचन हो जाता है। चार्वाकों का यह प्रसिद्ध नारा है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥[1]

उसी प्रकार पुनर्जन्म के विषय में उनका कहना है, यदि यह आत्मा शरीर से निकल कर परलोक को चला जाता है तो वन्धु-स्नेह से आकुल हो फिर क्यों नहीं लौट आता।[2]

नैषध में चार्वाक इन्हीं सिद्धान्तों का दूसरे शब्दों में देवों के सम्मुख प्रतिपादन करता है, "शान्ति नाम की कौन सी वस्तु है? अरे मूर्खों, प्रिया को प्रसन्न करने के लिए परिश्रम करो। प्राणी एक वार मरा तो दुवारा यहां नहीं आता।[3] तथा 'अमुक पाप करने से तिर्यक् (पशु-पक्षी) की योनि प्राप्त होती है' इस प्रकार की बातों से क्या भय? अरे, जल में रहने वाला सांप भी तो अपने आहार-विहार आदि सुख के साधनों से राजा की भांति सुखी रहता है।"[4]

कुछ वेदवाक्यों तथा विधियों का उपहास करते हुए चार्वाक भांड़, धूर्त, तथा निशाचरों को वेद का कर्ता मानता है।[5]

नल की राजधानी में अश्वमेध विधि को देखकर कलि को वेद विषयक पूर्वोक्त चार्वाक मत का स्मरण हो आता है।[6]

---

१. स० द० सं०, पृ० १३

२. यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥ स० द० सं०, पृ० १४

३. कः शमः क्रियतां प्राज्ञाः प्रियाप्रीतौ परिश्रमः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ नै० १७।६९

४. एनसानेनतिर्यक्स्यादित्यादिः का विभीषिका।
राजिलोऽपि हि राजेव स्वैः सुखी सुख-हेतुभिः॥ नै० १७।७२

५. त्रयोवेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः। स० द० सं०, पृ० १३

६. यज्वभार्याश्वमेधाश्वलिङ्गालिङ्गिवरांगताम्।
दृष्ट्वाचष्ट सकर्तारं श्रुतेर्भण्डमपण्डितः॥ नै० १७।२०४

गीता-दर्शन

यद्यपि गीता में सांख्य, योग, वेदान्त आदि के ही सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उपनिषदों के ही तत्त्व निरूपित हैं, जिससे उन सिद्धान्तों तथा तत्त्वों के विवेचन के प्रसंग में गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी विवेचन हो जाता, तथापि ज्ञान, भक्ति, और कर्म की इस त्रिपथगा ने मानव-जीवन का जितना कल्याण किया है, तत्त्वों की जिस नितान्त अभिनव ढंग से मीमांसा की है, उसकी दृष्टि से तो इसे एक पृथक् दर्शन की कोटि में रखना ही अधिक उपयुक्त होगा। नैषध में श्रीहर्ष ने स्थान-स्थान पर गीता के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं, जो ब्रह्मानन्द सारे प्राणियों के लिए निशा है उसमें आत्मनिष्ठ योगी जागता है, तथा जिस क्षणिक (भंगुर) सांसारिक सुख में सभी प्राणी जागते हैं वह उस तत्त्वज्ञ के लिए निशा है।[1]

कुण्डिनपुरी का वर्णन करते समय श्रीहर्ष उसकी निशीथस्तब्धता के प्रति गीता की पूर्वोक्त योग-समाधि की उत्प्रेक्षा करते हैं—

"जब निशीथ वेला में कुछ क्षण के लिए नगरी में नीरवता होती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों वह (नगरी) प्राकार (चहारदीवारी) पंक्ति का योगवस्त्र धारण कर मणिभवनरूपी किसी विशुद्ध अन्तर्ज्योति की उपासना कर रही है।"[2]

भगवान् ने यज्ञावशेष अन्न को अमृत बताया है, तथा उसे खानेवाले को सारे पापों से मुक्त तथा सनातन ब्रह्म की प्राप्ति बताई है।[3]

हंस ने दमयन्ती के सम्मुख नल की प्रशंसा करते हुए उन्हें इसी प्रकार यज्ञा-वशिष्टभोजी बताया है। यहाँ कवि का संकेत गीता के उक्त वचनों की ही ओर समझ पड़ता है। हंस कहता है—

"यज्ञशील उस राजा ने यज्ञघृत के समान अपने राज्य को भी विबुधों (देवों, विद्वानों) को समर्पित कर दिया है। हां, प्रथम (यज्ञघृत) का तो अवशिष्ट भाग

---

१. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ गीता २।६९

२. क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमिज्यते॥ नै० २।७८

३. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः—गी० ३।१३
तथा—यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम्। गीता ४।३१

का, तथा अन्तिम (राज्य) का अशेष सम्पूर्ण भाग का उपभोग करता है—आश्रित श्रोत्रियों को विपुल धन दान करता है।"[1]

गीता का मत है कि मनुष्य अन्तकाल में जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है[2]—क्योंकि उसी में उसका चित्त सदा लीन रहा।

दमयन्ती हंस के 'पिता की आज्ञा से अथवा स्वेच्छा से ही यदि कहीं तुमने किसी दूसरे तरुण को वर लिया'[3]...इत्यादि सन्देह का उत्तर देती हुई गीता के पूर्वोक्त वचन को ध्यान में रखती हुई कहती है "यदि पिता मुझ नल के अतिरिक्त किसी और को देना चाहते हैं तो शरीरमात्र-शेष (निष्प्राण) मुझे अग्नि में ही क्यों नहीं हवन कर देते। पिता अपने शरीर से जन्म पाने वाले केवल मेरे शरीर के स्वामी हैं। किन्तु मेरे प्राणनाथ तो नल ही हैं। (प्राणों को अन्त में नल में लीन कर मर कर दूसरे जन्म में फिर नल प्राप्ति की ही प्रार्थना करूंगी)।"[4]

दमयन्ती की विरह दशाओं के वर्णन के प्रसंग में दमयन्ती की सखी दूतरूप में आए प्रिय नल के सम्मुख बीती घटनाओं का उल्लेख करती हुई, नल-चित्र के सम्मुख दमयन्ती द्वारा कही हुई बात सुना रही है—"दमयन्ती कहा करती है—हे नल, कृपाकर तुम अपने बाणों को मदन को दे दो। जिससे वह अपने कुसुमशरों को त्याग कर उन्हीं से मुझे मार डाले, फिर तुम्हीं में चित्त लगाए हुए प्राण त्यागकर मैं तुम्हारा ही रूप धारण कर उसे तृण के समान जीत लूं।"[5]

चार्वाक भी गीता के पूर्वोक्त सिद्धान्त तथा 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' गी० २।३७ (मर कर स्वर्ग प्राप्त करोगे) की ओर संकेत करते हुए कहता है—"यदि रण में मरने पर स्वर्ग ही मिलता है तो विष्णु द्वारा मारे गए दैत्य लोग स्वर्ग में पहुंच कर उनसे क्यों नहीं लड़ते (क्योंकि मरते समय वे विष्णु से विरोध भाव लेकर

---

१. राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयैव राज्यम्।
भुंक्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम्॥ नै० ३।२४

२. यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ गीता ८।६

३. पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे॥ नै० ३।७२

४. अनैषधायैव जुहोति तातः किं मां कृशानौ न शरीरशेषाम्।
ईष्टे तनूजन्मतनोः स नूनं मत्प्राणनाथस्तु नलस्तथापि॥ नै०३।७९

५. प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मां तैर्धुतकौसुमाशुगः।
त्वदेकचित्ताहमसून् विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम्। नै० ९।१४७

ही मरते थे, तो स्वर्ग में भी उसी के अनुसार क्यों न भिड़ें) किन्तु आज तक किसी ने नहीं बताया कि स्वर्ग में भी देव-दानव युद्ध चल रहा है।"[१]

गीता का वचन है कि "यज्ञादि पुण्य करके पाप-रहित हो सोमपायी व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त करते हैं, और वहां स्वर्ग-सुख भोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में वापस आते हैं।"[२]

दमयन्ती गीता के उक्त मत को ध्यान में रखती हुई इन्द्रदूती को उत्तर देती हुई कहती है—"पुण्यशील प्राणी का भी स्वर्ग से नीचे की ओर ही गमन होता। किन्तु यहाँ से महाप्रयाण करने पर स्वर्ग ही मिलता है। इस प्रकार यदि मन में दोनों का फल विचारा जाय तो एक बालू और दूसरा शक्कर के समान ही लगता है।"[३] तथा "जो स्वर्ग मनुष्यों को स्वकर्मोपार्जित आयु के क्षीण हो जाने पर ही (मरने पर ही) मिलता है आयु रहते नहीं प्राप्त होता, उस आपात-रमणीय अत्यन्त कुपथ्यरूप स्वर्ग की किस धीर पुरुष को बुभुक्षा होगी?"[४]

गीता में भगवान् ने कहा है—"अर्जुन तुम सर्वदा मुझमें मन तथा बुद्धि लगाओ और निःसन्देह मुझे प्राप्त होवोगे।"[५]

चार्वाक इस वचन को अतथ्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है—"लोगों का कहना है शिव या विष्णु का जो एक वार भी नाम ले लेता है वह मुक्त हो जाता है। किन्तु उन्हीं शिव-विष्णु की पत्नियां उमा, लक्ष्मी आदि सदा अपने आराध्य पति-

---

१. हताश्चेद्दिवि दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे।
तत्रापि तेन युध्यन्तां हता अपि तथैव ते॥ नै० १७।७३

२. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते॥ गीता ९।२०
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥ गी० ९।२१

३. साधोरपि स्वः खलु गामिताधो गमी स तु स्वर्गमितःप्रयाणे।
इत्यायती चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न॥ नै० ६।९९

४. प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते यः।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः॥ नै० ६।१००

५. मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥ गीता ८।७
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ गीता १२।८

चरणों में लीन रहती हैं। वे मुक्त क्यों न हुई? क्यों सदा काम-वासना से पीड़ित रहती हैं?"[१]

गीता ने आत्मज्ञानी को कर्म के पुण्य पाप से परे बताया है।[२] वश्यात्मा पुरुष राग-द्वेष-रहित इन्द्रियों से विषय भोग करता हुआ भी शान्ति प्राप्त करता है।[३] क्योंकि आत्मज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को भस्म कर देती है।[४]

नववधू दमयन्ती के साथ अहर्निश विलास में रत आत्मज्ञानी नल के प्रति श्रीहर्ष गीता के उपर्युक्त वचनों का स्मरण कर कहते हैं—"दिन रात दयमन्ती के साथ भोग का आनन्द करते हुए भी आत्मज्ञानी नल को कोई पाप का लेश भी नहीं छू जाता था, क्योंकि जिनका अन्तःकरण ज्ञान से निर्मल हो चुका है, उनको कृत्रिम रूप से किए गए भोगों में कोई आसक्ति नहीं होती।"[५]

---

१. दारा हरिहरादीनां तन्मग्नमनसो भृशम्।
किं न मुक्ताः कुतः सन्ति कारागारे मनोभुवः॥ नै० १७।७६

२. आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ गीता ४।४१

३. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ गीता २।६४

४. ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ गीता ४।३७

५. आत्मवित्सह तया दिवानिशं भोगभागपि न पापमाप सः।
आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२

द्वादश अध्याय

व्युत्पत्ति—पुराणेतिहास

इतिहास-पुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ।। काव्यमीमांसा, अ० ८

नैषध का गाम्भीर्य ऐतिहासिक एवं पौराणिक संकेतों के बाहुल्य के कारण और भी बढ़ जाता है। श्रीहर्ष को इतिहास-पुराण का विस्तृत ज्ञान था। अत्यन्त प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त उन्होंने अत्यन्त अपरिचित कथाओं का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। एक ही कथानक कई रूपों में कई स्थानों पर उल्लिखित हुआ है। कभी उसका एक रूप एक दृष्टि से देखा गया कभी दूसरा रूप दूसरी दृष्टि से। उदाहरणार्थ—अगस्त्य के समुद्रपान का एक-स्थल में इस प्रकार उल्लेख किया जाता है—दमयन्ती चंद्र को उपालम्भ देती है—"चन्द्र, तू समुद्र पीनेवाले मुनि की जठराग्नि में ही क्यों न जीर्ण हो गया।"[1] दूसरे स्थान पर उसी को दूसरे रूप में स्मरण किया जाता है। दमयन्ती चन्द्रोपालम्भ के प्रसङ्ग में ही कहती है—"सखी मेरा यह चकोर-शावक सिन्धु-पीने वाले मुनि का शिष्य क्यों नहीं हो जाता। यदि उनसे समुद्र पीने की कला सीख जाता तो फिर इसके लिए चंद्रमा की किरणें कितनी बूंदें होतीं?"[2] फिर एक तीसरे स्थान पर उसी कथानक का यों उल्लेख किया जाता है—"दूत-धर्म में दत्तचित्त नल ने दमयन्ती के विरह की उसी प्रकार परवाह न की जैसे अगस्त्य मुनि ने समुद्र का पान करते समय दुर्धर्ष बड़वाग्नि को कोई विघ्न नहीं माना था।"[3] इस प्रकार एक कथानक का कई बार उल्लेख उद्वेजक नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत् प्रत्येक बार कवि उसे अपनी नई नई कल्पना के परिधान में नितान्त विभिन्न भावों की पुष्टि द्वारा रुचिकर बना देता है।

---

१. अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः।। नै० ४।५१

२. अयि! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम्।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः।। नै ०४।५८

३. भैम्या समं नाजगणद्वियोगं स दूतधर्मं स्थिरधीरधीशः।
पयोधिपानेमुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः।। नै० ६।२

ये कथानक प्रायः उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान्, समासोक्ति आदि अलंकारों के साथ ही आते हैं। इस प्रकार से श्रीहर्ष की अलंकार-प्रियता के साथ उनकी पुराणज्ञता का सुन्दर समन्वय हुआ है। अपने काव्य में चमत्कार वढ़ाने के लिए उन्होंने जो पुराणों का सहारा लिया यह ठीक ही किया, क्योंकि पौराणिक कथाओं के समाज में अत्यन्त प्रिय होने के कारण उनके द्वारा भाव-वोध कराने में वड़ी सुगमता हो जाती है। कवि ने जहाँ अप्रचलित कथाओं का उल्लेख किया है वहाँ उसकी केवल वैदुष्य-प्रदर्शन की भावना मानी जायगी। यहाँ नैषधान्तर्गत केवल प्रसिद्ध कथानकों को ही पुराणोक्त ढंग से अति संक्षेप में रखने का प्रयत्न किया जाता है। जो कथा कई पुराणों में मिलती है उसे वहीं से उद्धृत किया गया है जहाँ कि कथा से नैषधोक्त कथा सबसे अधिक सङ्गति खाती है।

बाणासुर की अग्निपरिवेष्टित पुरी में प्रद्युम्न का गरुड़ पर पहुँचना[१]

वाणासुर की कन्या ऊषा ने गुप्त रूप में भगवान् कृष्ण के पौत्र प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध को द्वारका से अपने सखी चित्रलेखा द्वारा वुलवाकर उनके साथ गांधर्व विधि से विवाह कर लिया। जव बाणासुर को इसका पता चला तो उसने युद्ध में अनिरुद्ध को वन्दी वना लिया। नारद द्वारा यह समाचार पाकर कृष्ण ने गरुड़ पर वलराम तथा प्रद्युम्न को चढ़ाकर शोणितपुर की ओर शीघ्रता से प्रस्थान किया[२]। वहां चारों ओर से अपनी ज्वालाओं द्वारा घेरकर अग्निदेव शोणित-पुरी की रक्षा कर रहे थे।[३] गरुड़ ने योगवल से सहस्रमुख करके आकाश-गङ्गा का जल लाकर अग्नि को प्रशमित किया, तथा कृष्ण ने अपने अस्त्रवल से अङ्गिरा आदि अन्य अग्नियों को परास्त किया, फिर सव ने वाणापुरी में प्रवेश किया।

नैषध में इस कथानक का उल्लेख दो वार हुआ है (१) प्रथम दमयन्ती के यौवनोद्गम के साथ-साथ नल के अनुराग वर्णन में[४] फिर (२) कुण्डिनपुर के वर्णन प्रसङ्ग में।[५]

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व--अध्याय ११६-१२५
२. आस्थितौगरुड़ं देवस्तस्य चानुहलायुधः।
पृष्ठतोनु बलस्यापि प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः॥ हरिवंश, विष्णुपर्व अ० १२१।४२
३. रक्षार्थं तस्य निर्यातोवह्निरेषस्थितो ज्वलन्॥ वही, विष्णुपर्व, अ० १२२।१३
४. यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्यपत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसव वेशितः॥ नै० १।३२
५. अनलैः परिवेषमेत्यया ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्‌बाणपुरीपरार्ध्यताम्॥ नै० २।८७

प्रद्युम्न द्वारा शम्बरासुर का वध, मायावती (रति) से विवाह तथा अनिरुद्ध-जन्म[1]

रुद्र के कोप से भस्म होकर कामदेव दूसरे जन्म में रुक्मिणी के गर्भ से कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में उत्पन्न हुआ। शम्बर नामक मायावी दैत्य ने वालक प्रद्युम्न को अपना अन्तक शत्रु समझ कर सूतिकागृह से चुराकर समुद्र में फेंक दिया। वहाँ एक वलवान् मत्स्य ने उन्हें निगल लिया। संयोगवश धीवरों ने उसी मत्स्य को पकड़ कर शम्वर के भोजन गृह में पहुंचाया। चीरने पर मत्स्य के उदर में एक सुन्दर वालक मिला। रति अपने पति काम के भस्म हो जाने पर उसकी प्रतीक्षा करती हुई मायावती के रूप में शम्वर के भोजन-गृह का कार्य किया करती थी। नारद ने उससे वालक के विषय में सारा वृतान्त वता दिया। मायावती ने वालक का सब प्रकार से पोषण किया। प्रद्युम्न के युवा होने पर उसने अपने तथा उनके पूर्व-जन्म और इस जन्म का रहस्य वताया और उन्हें सारी मायाओं को नष्ट करने वाली 'महामाया-विद्या' दी, जिससे प्रद्युम्न ने युद्ध में शम्वर का वध किया। तत्पश्चात् वे मायावती के साथ द्वारका आए।

प्रद्युम्न का एक और विवाह उनके मामा रुक्मी की कन्या से हुआ था। उसका नाम भागवत में रुक्मवती तथा हरिवंश में चंद्रसेना कहा गया है।[2] प्रद्युम्न की इसी पत्नी से अनिरुद्ध का जन्म हुआ, जैसा भागवत[3] तथा हरिवंश[4] पुराणों से प्रमाणित है।

नैषध में उक्त कथानक का उल्लेख तीन स्थलों पर हुआ है: (१) नल के दमयन्ती-गत पूर्व-राग के वर्णन-प्रसंग में श्रीहर्ष कहते हैं—"कामदेव अनुराग के समय अवार्य चञ्चलता उत्पन्न करता है—अथवा कामदेव (प्रद्युम्न) रति नामक अपनी पत्नी में अनिरुद्ध ही को पैदा करता है।"[5] (२) दूतरूप में दमयन्ती के अन्तः-

---

१. श्रीमद्भागवत, स्कंध १०, अ० ५५

२. हरिवंश, विष्णुपर्व—अ० ६१।७

३. प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूत्रुक्मवत्यां महाबलः।
पुत्र्यां तु रुक्मिणोराजन् नाम्नाभोजकटेपुरे॥ भा०, १०।६१।१८–१९

४. स तस्यां (चन्द्रसेनायां) जनयामास देवगर्भोपमंसुतम्।
अनिरुद्धमितिख्यातं कर्मणाप्रतिमं भुवि॥ हरिवंश, विष्णुपर्व—६१।१०

५. स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत् सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः॥ नै० १।५४

यहाँ श्रीहर्ष ने अपने श्लेष की रक्षा के लिए अनिरुद्ध को जो रति (मायावती) का पुत्र वता दिया है, वह वस्तुतः सकल पौराणिक कथाओं से विरुद्ध पड़ता है, जैसा भागवत और हरिवंश के उक्त उद्धरणों से सिद्ध है।

पुर में पहुंचे हुए नल चारों ओर दमयन्ती को ही देख रहे थे। अथवा "मानों दमयन्ती भगवान् कामदेव की शाम्बरी मायामयीरचना हो गयी थी।"[1] (३) "अपने पिता चतुर्भुज कृष्णरूप (विष्णु) के आत्मा (स्वरूप) ही होने के कारण कामदेव भी चतुर्भुज ठीक ही हुआ।"[2]

वामन अवतार[3]

विष्णु अवतारों के वर्णन-प्रसङ्ग में ब्रह्म, वामन, पद्म, स्कन्द और हरिवंश पुराणों ने भी वामन अवतार का विस्तृत वर्णन किया है।

कश्यप के आदेश से देवमाता अदिति ने पयोव्रत किया जिससे प्रसन्न हो भगवान् विष्णु ने इन्द्र आदि देवों की सहायता के लिए उसके गर्भ से वामन अवतार धारण किया। वटु रूप भगवान् वामन वलि की अश्वमेधशाला में पहुँचे। वलि के आतिथ्य को स्वीकार कर उसके आग्रह करने पर वामन ने उसकी तथा उसके पूर्वजों की प्रशंसा करते हुए (अपने ही पैरों के नाप से) केवल तीन पग भूमि मांगी।[4] पूर्व शुक्राचार्य ने वटु को कपट-रूप विष्णु वतलाते हुए वलि को दान देने से वहुत रोका, शाप भी दिया, पर वलि ने उनकी एक न सुनी और सङ्कल्प पढ़कर तीन पग भूमि दे दी। तत्पश्चात् वामन ने त्रिविक्रम नाम से प्रसिद्ध अपना विराट रूप धारण कर एक पग से सम्पूर्ण पृथ्वी तथा दूसरे से त्रिविष्टप (स्वर्ग) नाप लिया। भागवत में वामन के दो रूप वामन (माया-वटु) तथा त्रिविक्रम (विश्वरूप) से यथाक्रम स्थल पर तथा आकाश में रक्षा करने के लिए प्रार्थना की गई है। जब उन्होंने तीसरा पग उठाया तो उसे नापने के लिए कुछ वचा ही नहीं।[5] उसी समय जाम्ववान् नामक ऋक्षराज ने उस विराट रूप की प्रदक्षिणा की तथा सभी दिशाओं में भगवान् की जय-घोषणा की। वामन ने जब वलि से तीसरे पग के लिए भी स्थान देने को कहा तो कुछ शेष न देखकर वामन के वरुण-पाश में बंधे वलि ने अपने सिर को ही तीसरे पग से नापने की प्रार्थना की।[6]

---

१. जातेव यद्वा जितशम्वरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु॥ नै० ६।१४
२. आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दोरुचितः स्मरोऽपि॥ नै० ७।६५
३. भागवत स्कंध ८, अध्याय १८–२३
४. तस्मात्वत्तो महीमीषद् वृणेहं वरदर्षभात्।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम॥ वही, ८।१९।१६
५. स्थलेषु मायावटुवामनोव्यात्त्रिविक्रमः खेवतु विश्वरूपः॥ वही, ६।८।१३
६. पदं तृतीयं कुरुशीर्ष्णिमे निजम्॥ भागवत ८।२२।२

नैषधमें इस कथा के कई प्रसङ्गों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। वामन के आकाश में उठे एक चरण का[१], वलि-यज्ञ-विध्वंसकारी कपट-पूर्ण वामन-रूप का[२] सत्य-पाश में वँधे वलि का,[३] वलि के वाँधे जाने का[४], वलि-वंध-कारी विष्णु का[५], वामन की वलि से की गयी कपट-पूर्ण वात का[६], वामन ऐसे लघु तथा उसी समय त्रिविक्रम जैसे विराट रूप का[७], त्रिविक्रम के आकाश में उठे पैर का, जाम्ववान् की प्रदक्षिणाओं का तथा वलि को वाँधने के लिए पाश[८] का उल्लेख हुआ है।

शिवपूजा-बहिष्कृत केतकी[९]

अपने को एक-दूसरे से महान् कहने वाले विवादशील ब्रह्मा तथा विष्णु दोनों में विवाद हुआ। ज्योतिर्लिङ्ग रूप शिव के दोनों अन्तभागों का पता लगाने के लिए दोनों का अलग-अलग जाना निश्चित हुआ। विष्णु तो नीचे पाताल लोक की ओर चले और ब्रह्मा शिरोभाग का पता लगाने के लिए ऊपर सत्य लोक की ओर चले। विष्णु ने पाताल में कहीं उस लिङ्ग-शरीर का अन्त न पाया और आ कर सत्य रूप में अपनी हार मान ली। किन्तु ब्रह्मा ने झूठ ही कह दिया कि मैंने शिव-लिङ्ग के शिरोभाग का अन्त पा लिया है। इस विषय में केतकी के पुष्प और सुरभी गौ को साक्षी वनाया, और यह वताया कि यह केतकी पुष्प वहाँ शिव लिङ्ग के सिर पर चढ़ा हुआ था, किन्तु उसी समय आकाशवाणी द्वारा ब्रह्मा के इस असत्याचरण की निन्दा की गयी तथा ब्रह्मा, सुरभी, एवं केतकी को शाप मिले। शाप के कारण केतकी-पुष्प शङ्कर की पूजा से वहिष्कृत कर दिया गया।

---

१. हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं—नै० १।७०
२. विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्॥ नै० १।१२४
३. अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ॥ नै० ५।१३०
४. दत्तत्रा सर्वधनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान्बलिः॥ नै० १७।८१
५. मेचकोत्पलमयी बलिबन्धुस्तद्बलिस्त्रगुरसि स्फुरति स्म॥ नै० २१।४३
६. स्वेन पूर्यत इयंसकलाशा भो बले! नमम किं भवतेति।
   त्वं बटुः कपटवाचिपटीयान्देहि वामन! मनः प्रमदं नः॥ नै० २१।६१
७. वामनादणुतमादनु जीयास्त्वं त्रिविक्रमंतनूभृतदिक्कः॥ नै० २१।९५
८. मां त्रिविक्रम पुनीहि पदेते किं लगन्नजनिराहुरुपानत्।
   किं प्रदक्षिणनकृद्भ्रमिपाशं जाम्ववानदित ते बलि-बन्धे॥ नै० २१।९६
९. स्कन्दपुराणं माहेश्वरखण्ड-केदारखण्ड अ० ६ तथा अरुणाचल माहात्म्य १०। १५०, इनके अतिरिक्तः शिवपुराण विद्येश्वर संहिता अ० ६।८ एवं लिंगपुराण अ० ७।१९ में भी यह कथा सविस्तार वर्णित है।

नैषध में केतकी के शिवपूजा से वर्जित होने[1], ब्रह्मा के शिवलिङ्ग-शिरोभाग देखे विना ही केतकी से झूठी गवाही दिलवाने[2] और केतकी के रुद्र-कोप-भाजन होने के अंशों में[3] इस कथानक का उल्लेख हुआ है।

मदन-दाह[4]

शङ्कर द्वारा कामदेव को भस्म करने की कथा ब्रह्म, मत्स्य, शिव आदि पुराणों में प्रसिद्ध है। कालिदास ने कुमार-सम्भव में इसे अत्यन्त सरस काव्य-रूप दिया। इन्द्र की प्रेरणा से मदन देव-कार्य साधने के लिए हिमवान् पर तपोनिरत शिव के हृदय में पार्वती के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए वसन्त के साथ जाता है और वहां सहकार (आम्र वृक्ष) की आड़ से शिव के हृदय में सम्मोहन-वाण चलाता है। क्षण भर के लिए पार्वती के ध्यान में चञ्चल होते हुए मन को शिव ने स्वयं वश में करके इसका कारण जानने के लिए चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। और सहकार वृक्ष पर मदन को देख अत्यन्त क्रोध से तीसरा नेत्र खोल दिया। फलतः देवों के हाहाकार के साथ ही मदन क्षण में भस्म हो गया। रति ने वड़ा करुण विलाप किया, जिससे शिव ने उसे शीघ्र अपने पति को पुनः प्राप्त करने का वरदान दिया।

श्रीहर्ष ने अनेक स्थलों पर मदन-दाह कथानक के अंशों—मदन के शंकर पर वाण चलाने,[5] शिव के मदन को अपने तीसरे नेत्र से भस्म करने[6], शिव-नेत्राग्नि में कन्दर्प के अपने शरीर को हवन करने[7], शिव की कोपाग्नि मदन के भस्म रूप हो

---

१. विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम्॥ नै० १।७८
२. लैङ्गीनदृष्ट्वापि शिरःश्रियं यो वृष्टौ मृषावादितकेतकीकः॥ नै० १०।५२
३. उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी।
रुद्रक्रधस्तदरिकामधिया नले सा वासार्थितामधृत काञ्चनकेतकीव॥
नै० १२।११०
४. मत्स्यपुराण, अध्याय १५४।
५. स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम्॥ नै० १।८७
६. पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया॥ नै० ४।७६
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः॥ नै० ४।८०
त्वमुचितं नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविःकृतः॥ नै० ४।९९
७. चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम्॥ नै० ८।३३

जाने[1], शिव के मदन को विनष्ट करने[2], मदन के शिव की क्रोधाग्नि में इंधन-रूप होने,[3] मदन की रुद्र को जीतने की इच्छा,[4] तथा त्रिनेत्र द्वारा मदन के निर्जरत्वापहरण[5] का उल्लेख किया है।

राहु द्वारा चन्द्र-ग्रसन[6]

भगवान् विष्णु की आज्ञा से देवों ने दानवों की सहायता से अमृत-प्राप्ति के लिए क्षीर-सागर का मन्थन किया, जिससे लक्ष्मी आदि अनेक रत्न प्राप्त हुए। अन्त में भगवान् धन्वन्तरि हाथ में अमृत-कलश लिए प्रकट हुए। दानवों ने झपटकर उनके हाथ से अमृत छीन लिया। उस समय विष्णु ने देवों की सहायता के लिए मोहिनी का रूप धारण किया और दानवों को कपट से छलकर उनसे अमृत लेकर देवों को पिलाया। उस समय उसी देव-पंक्ति में देव-वेष से राहु भी बैठा था। उसने ज्योंही अमृत पिया त्योंहि सूर्य चन्द्र ने सङ्केत द्वारा विष्णु को सूचित कर दिया। उन्होंने तुरन्त चक्र द्वारा उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। किन्तु उसके अमृत-भोजी होने के कारण सिर धड़ दोनों अमर हो गए तथा ग्रहों में गिने जाने लगे। वही राहु-सिर आज भी पर्व-पर्व पर सूर्य चन्द्र को ग्रसा करता है।[7]

नैषध के कई स्थलों पर सिंहिका-पुत्र (राहु) के चन्द्रमा को निगलने तथा

---

१. कपालिकोपानलभस्मनः कृते॥ नै० १।७१

२. एकाकिभावेन पुरा पुरारिर्यः पञ्चतां पञ्चशरं निनाय॥ नै० १०।६१

३. हरारब्धक्रोधेन्धनमदन ॥ नै० १५।८३

४. रुद्रभूमविजिगीषया रतिस्वामिनोपदशमूर्तिताभृता॥ नै० १८।१३८

५. त्रैयक्षवीक्षणखिलीकृतनिर्जरत्व॥ नै० २१।१३२

६. भागवत स्कं० ८, अ० ६।९

७. देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि।
प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः॥
चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतःशिरः।
हरिस्तस्यकबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत्॥
शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत्।
यस्तु पर्वाणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः॥ भागवत ८।९।२४—२६

उगलने[1], राहु के अपने शत्रु सुदर्शन चक्र के भ्रम से चन्द्र को ग्रसने[2], राहु-चन्द्र-वैर[3], 'सिंहिका'-सुत राहु के चन्द्रमा को मृग के लोभ से निगलने,[4] इत्यादि रूपों में इस कथानक के विविध प्रसङ्गों का उल्लेख हुआ है।

मैनाक-पर्वत का सागर-वास[5]

पुराने समय में कृतयुग में पर्वतों के भी पङ्ख थे, जिससे वे विशाल गरुड़ की भांति चारों ओर उड़ा करते थे उनके उड़ने से देव, ऋषि तथा अन्य सभी जीव डर के मारे कांपते रहते थे कि ऐसा न हो कि हमारे ही ऊपर कोई पर्वत बैठ जाय। इस पर इन्द्र क्रुद्ध होकर वज्र से उनके पङ्ख ही काटने लगे। जब उन्होंने मैनाक के पङ्खों को काटने के लिए वज्र उठाया तो पवन देव ने उसे बचा कर सागर में झोंक दिया। अतः उसके पङ्ख बच गए। वह अपने पङ्खों को छिपा कर आज भी वहीं पड़ा है।

नैषध में नल के उपवन में क्रीडा-सरोवर के वर्णन के प्रसङ्ग में[6] इस कथानक का उल्लेख हुआ है।

मयूरवाहन वाले स्वामिकार्तिकेय का नैष्ठिक ब्रह्मचर्य[7]

महाबली तारकासुर को मारने के लिए देवों ने पार्वती के गर्भ से उत्पन्न शिव के पुत्र कुमार कार्तिकेय को अपना सेनापति बनाया। मयूर पर सवार होकर

---

१. मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेमुनाम्न्यदत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन्॥ नै० १।९६
दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गवडवद्द्विजवासनयोज्झितः॥ नै० ४।७१
द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः॥ नै० ४।७३
२. स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्किमु विधुं ग्रसते स विधुन्तुदः॥ नै० ४।६४
३. एतत्कीर्तिप्रतानैर्विधुभिरिव युधे राहुराहूयमानः॥ नै० १२।९४
४. मृगस्य लोभात्खलु सिंहिकायाः सूनुर्मृगाङ्कं कवलीकरोति॥ नै० २२।६६
स्वर्भानुना प्रसभपानविभीषिकाभिः॥ नै० २२।१३६
स्वर्भानुप्रतिवारपारणमिलद्दन्तौघयन्त्रोद्भव॥ नै० २२।१४८
५. वाल्मीकि रामायण—सुन्दरकाण्ड, सर्ग १।११५–११९
६. यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरंगैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान्धुवतः सपक्षताम्॥ नै० १।११६
७. स्कन्दपुराण—चातुर्मास्य माहात्म्य।

कार्तिकेय ने घोर संग्राम में शक्ति से तारक का वध किया। मन्दराचल पर जाकर कुमार ने स्वयं माता-पिता से सारा वृत्तान्त कहा। शिव ने कुमार का विवाह करना चाहा, इस पर कार्तिकेय ने उत्तर दिया—'भगवन् संसार में जितनी स्त्रियाँ हैं, वे सब मेरे लिए माता पार्वती के समान हैं। मैं संसार बन्धन से छूटने की इच्छा रखता हूँ, अतः मुझसे इस प्रकार विवाह आदि करने की बात न कीजिए' इत्यादि। और जब देवी पार्वती ने भी विवाह के लिए बार बार आग्रह किया तब कार्तिकेय जी माता-पिता को प्रणाम कर क्रौञ्चपर्वत पर चले गए और वहां पवित्र आश्रम में बैठकर तपस्या करने लगे[1]।

नैषध में कुमार का दो बार उल्लेख हुआ है। षडानन के वाहन मयूर[2] का तथा कुमार के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का।[3]

स्वर्ग से भी रम्य पाताल लोक[4]

एक बार नारद ने देवों की सभा में पाताल लोक की बड़ी प्रशंसा की। बड़े विस्तार के साथ वहां के वैभव का वर्णन किया।

नैषध में कुण्डिनपुर की प्रशंसा करते समय श्रीहर्ष ने नारद के उसी वर्णन का उल्लेख किया है[5]।

मार्कण्डेय का प्रलय-काल में विष्णु के उदर में प्रवेश[6]

प्रलय-कालीन अवस्था की जिज्ञासा से युधिष्ठर के प्रश्न करने पर मार्कण्डेय मुनि ने उनसे प्रलय की साक्षात् अनुभूति का विस्तृत विवरण दिया। समस्त विश्व

---

१. महाभारत वनपर्व—अध्याय १८८

पद्मपुराण सृष्टिखण्ड तथा ब्रह्मपुराण में भी यह कथा प्रायः इसी रूप में आई है।

२. स्कन्दपुराण—चातुर्मास्य माहात्म्य।

३. भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः॥ नै० २।३३

४. स्वामिना च वहता च तं मया स स्मरः सुरतवर्जनाज्जितः॥ नै० १८।२७

किन्तु मत्स्यपुराण (अध्याय १५९) में इन्द्र-द्वारा देवसेना नामक कन्या का स्वामिकार्तिकेय की स्त्री के पद के लिए सौंपा जाना कदाचित् स्वामिकार्तिकेय के उक्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का विरोधी ही माना जावेगा।

५. विष्णुपुराण—अंश २ अध्याय ५

६. बलिसद्मदिनं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः॥ नै० २।८४

के जल-प्लावित हो जाने पर उस अनन्त एकार्णव में तैरते हुए श्रान्त मार्कण्डेय को दैवयोग से एक विशाल वट वृक्ष की शाखा पर दिव्य पर्यङ्क (पलंग) पर सोते हुए एक शिशु का दर्शन हुआ। बालक ने मार्कण्डेय को अपने शरीर में आराम करने के लिए बुलाया और उसके मुंह फैलाते ही विवश की भांति मार्कण्डेय उसमें चले गए[1]। और सैकड़ों वर्ष विश्वम्भर के उदर में घूमते हुए उन्होंने वहां समस्त विश्व देखा।[2] अन्त में भगवत् कृपा से सहास वायु-वेग-वश वे बाहर निकल आए।

श्रीहर्ष ने नैषध में मार्कण्डेय का विष्णु के उदर में सारे जगत के पदार्थों को देखने,[3] प्रलयकाल में संसार के मुरारि-जठर में समा जाने,[4] हरि के उदर में समस्त विश्व-प्रपञ्च के साथ विद्यमान मार्कंडेय मुनि के अपने को भी देखने और फिर उदर से बाहर आने[5] का उल्लेख किया है।

विष्णु का मत्स्यावतार[6]

हयग्रीव-नामक दानव द्वारा वेद के हरे जाने पर वेदों का उद्धार करने के लिए भगवान् विष्णु को मत्स्यावतार धारण करना पड़ा। एक दिन सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु तर्पण कर रहे थे। उनके हाथ में एक शफरी (छोटी मछली) गिरी। उसने मनु से रक्षा की प्रार्थना की। मनु ने उसे अपने कमंडल में डाल दिया। वहां वह एक दिन-रात में बड़ी हो गयी। अतः मनु ने उसे दूसरे जल-पात्र में रक्खा। किन्तु वहां भी बढ़ी। मनु ने उसे कुवाँ, तालाव, गङ्गा और अन्त में समुद्र में पहुंचाया और उसे बढ़ते ही देखकर कोई दिव्य प्राणी समझा। अन्त में मत्स्यरूप विष्णु ने भी संतुष्ट हो मनु को अपना परिचय दिया। उन्हें शीघ्र होने वाले प्रलय की चेतावनी

---

१. ततोबालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम्।
तस्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः॥ महा० व० प० १८८।१००

२. यच्च किञ्चिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्।
सर्वपश्याम्यहं राजस्तस्य कुक्षौ महात्मनः॥ म० व० १८८।१२१, १२२

३. मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः॥ नै० २।९१

४. यथा जगद्वा जठरे मुरारेः॥ नै० १०।३०
आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरीं यावलम्ब्य त्रिलोकी॥ नै० १२।९५

५. वस्तु विश्वमुदरे तव दृष्ट्वा बाह्यवत् किल मृकण्डुतनूजः।
स्वं विमिश्रमुभयं न विविञ्चन्निर्ययौ स कतमस्त्वमवैषि॥ नै० २१।१०८

६. महाभारत, वनपर्व—अध्याय १८७

दी, तथा उससे रक्षा के उपाय बताए और अन्त में मनु की प्रार्थना पर उन्हें सृष्टि आदि के विषय में अनेक उपदेश दिए।[१]

नैषध में—श्रीवत्साङ्कित (विष्णुरूप) होने के कारण मत्स्य-रूप के पूज्य होने,[२] मत्स्य रूप विष्णु के मनु को उपदेश देने,[३] मत्स्य रूप में छिपे विष्णु के समुद्र-जल को अपनी पूंछ से उछालने[४], इत्यादि अंशों को लेकर मत्स्यावतार की कथा का उल्लेख किया गया है।

अगस्त्य का सागर-पान[५]

इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के मारे जाने पर कालेय नामक असुर भागकर समुद्र में घुस गया। समुद्र में छिपे रहकर वे दैत्य प्रतिरात्रि बाहर निकल कर आश्रमों में ऋषियों का वध करने लगे। जल-दुर्ग में उन्हें पराजित करना तो दूर था, कोई पता भी नहीं पाता था कि वे कहां हैं और कौन हैं? अतः निराश्रित देवगण विष्णु की शरण में गए। विष्णु ने उनसे कहा कि समुद्र-शोषण के अतिरिक्त उनके नाश का कोई और उपाय नहीं, और समुद्र को सोखने में केवल अगस्त्य मुनि ही समर्थ हैं।[६] अब देवगण अगस्त्य के पास पहुंचे, उनकी स्तुति कर उन्हें प्रसन्न किया, फिर समुद्र सोखने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने उनकी बात मान ली और सब के साथ समुद्र के किनारे पहुंचकर सबके देखते-देखते समुद्र पी गए।[७]

---

१. मत्स्यपुराण, अध्याय १ तथा भागवत ८।२४ में भी इस कथा का वर्णन हुआ है।

२. श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः॥ नै० ३।५७

३. मत्स्यस्याप्युपदेश्यान्वः॥ नै० १७।६४

४. छद्ममत्स्यवपुषस्तव पुच्छास्फालनाज्जलमिवोद्धतमब्धेः॥ नै० २१।५५

इस श्लोक का भाव मत्स्यपुराण के आदि में पठित इस मंगल श्लोक के भाव से, बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

पातालादुत्पतिष्णोर्मकरवसतयो यस्य पुच्छाभिघाता

दूर्ध्वं ब्रह्माडखण्ड व्यतिकरविहितव्यत्ययेनापतन्ति।

विष्णोर्मत्स्यावतारे सकलवसुमतीमण्डलं व्यश्नुवाना

स्तस्यास्योदीरितानां ध्वनिरपहरतादश्रियं वः श्रुतीनाम्॥ म० पु० १।२

५. म० भा०, व० प०, अ० १०१–१०५

६. समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः सम्प्रधार्यताम्।

अगस्त्येन विना को हि शक्तोन्योर्णव शोषणे॥

अन्यथा हि न शक्यास्ते विनासागरशोषणम्॥ महाभारत वनपर्व १०३।१०–११

७. समुद्रमपिवत् क्रुद्धःसर्वलोकस्यपश्यतः॥महा०वनपर्व १०५।३

नैषध में इस घटना का कई वार स्मरण किया गया है। एक स्थल में चन्द्रिका-परितप्त दमयन्ती चन्द्रमा को उपालम्भ देती हुई कहती है—चन्द्र, तू समुद्र पीने वाले मुनि की जठराग्नि में ही क्यों न जीर्ण हो गया (पच गया)[1]। फिर वही दमयन्ती प्रिय के साथ चन्द्र-ज्योत्स्ना का सुख लेती हुई, चन्द्र का वर्णन करती हुई कहती है प्राचीन काल में कुम्भज ऋषि ने इसके पिता समुद्र को पीकर तुच्छ कर दिया था।[2] इत्यादि।

जरासन्धोत्पत्ति[3]

मगधराज वृहद्रथ के दो पत्नियां थीं—दोनों काशिराज की यमज (जोड़वां) पुत्रियां थीं। किन्तु वहुत समय वीतने पर भी बृहद्रथ के कोई सन्तान न हुई। अन्त में दुखी राजा दोनों पत्नियों समेत चण्डकौशिक मुनि के पास पहुंचे, तथा उन्हें अपनी व्यथा सुनाई। मुनि आम की छाया में बैठे थे। उस समय दैवात् मुनि की गोद में एक आम का फल गिरा जिसे उन्होंने राजा की इच्छा का पूरक समझकर राजा को दे दिया। राजा ने उसे अपनी दोनों पत्नियों को दे दिया। दोनों ने उसे आधा-आधा खाया। फलतः दोनों को गर्भ रहा। किन्तु नियत समय पर दोनों से आधे-आधे अंगों वाले सजीव टुकड़े पैदा हुए। उन दोनों ने डर कर उन दोनों टुकड़ों को गुप्तरूप से चौराहे पर फेंकवा दिया। जरा नाम की राक्षसी ने मांस भोजन की इच्छा से उन टुकड़ों को उठा लिया तथा दैवेच्छा से दोनों टुकड़े को संयुक्त कर दिया जिससे तुरन्त एक अति सुन्दर बालक वन गया। जरा स्वयं यह विधान देखकर चकित हो गई, और अन्त में राजा वृहद्रथ के पास उन टुकड़ों को लेकर आई। राजा को उनका पुत्र देकर अपना नाम तथा सारा वृत्तान्त बताया। वृहद्रथ अत्यन्त हर्षित हुए तथा जरा के प्रति कृतज्ञता की भावना से पुत्र का नाम जरासंध रक्खा।[4]

दमयन्ती चन्द्रोपालम्भ करती हुई उक्त कथानक की ओर संकेत करती है—'प्रिय सखि ! तू जरा नाम की राक्षसी से पूछ कि वह कवन्ध रूप 'राहु' के

---

१. अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः॥ नै० ४।५१
२. पुरा निपीयास्य पितापि सिन्धुरकारि तुच्छः कलशोद्भवेन॥ नै० २२।६७
३. महाभारत सभा पर्व—अध्याय १७, १८
४. जरया सन्धितो यस्माज्जरासन्धोभवत्वयम्॥ महा० स० प० १८।११

साथ 'केतु' रूप शिर को मगधराज के दो अङ्ग-भागों की भांति एक साथ क्यों नहीं सी देती ?[१]

अन्धकासुर-वध[२]

पुत्रों के वध से दुखी दैत्य-माता दिति की प्रार्थना से प्रसन्न हो कश्यप ने उसे एक महा-बलवान् पुत्र पाने का वर दिया जिसे रुद्र के अतिरिक्त कोई पराजित नहीं कर सकता था। उस दैत्य के सहस्र बाहु तथा सहस्र शिर थे।[३] अन्धा न होकर भी वह अन्धे की भांति चलता था। अतः लोग उसे अन्धक कहने लगे।[४] उसके अत्याचार से त्रस्त देवों ने नारद द्वारा शिव के पास कैलाश पर अन्धक के वध के लिए प्रार्थना भेजी। नारद शिव से सब वृतान्त कहकर उनकी अनुज्ञा ले मन्दार-वन में आए जहां शङ्कर का नित्य निवास है, और वहां स्वयं एक अति सुगन्धित रम्य माला बनाकर पहनी। फिर माला-सहित अन्धकासुर के पास पहुंचे। माला की लोकोत्तर गंध से अन्धक का मन लुब्ध हो गया। उसके पूछने पर नारद ने मन्दर पर्वत पर स्थित उस दिव्य वन का विस्तृत विवरण दिया। असुरों-सहित अन्धक उस पर्वत पर पहुंचा और वहां मन्दार वन को छिन्न-भिन्न करने लगा। यह देख भगवान्-रुद्र ने क्रुद्ध हो अपने त्रिशूल द्वारा अन्धक को भस्म कर डाला।[५]

दमयन्ती उक्त आख्यान की ओर संकेत करती हुई कहती है—मद-हर्ष में अन्धे, वियोगिजनान्तक, तुझ एक मदन को जो शङ्कर ने पराजित किया, इसीलिए तो उन्हें मदन-जित्, अन्धकजित् तथा मृत्यु-जित् कहा जाता है।[६]

---

१. सखि ! जरां परिपृच्छ तमः शिरः सममसौ दधतापि कबन्धताम्।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न व्यतिसीव्यति केतुना ॥ नै० ४।६९

२. हरिवंश २।८६-८७

३. सहस्रबाहु कौरव्य सहस्रशिरसंतथा।
द्विसहस्रेक्षणं चैव तावच्चरणमेव च ॥ हरिवंश २।८६।१०

४. स व्रजत्यन्धवद्यस्मादनन्धोऽपि हि भारत।
तमन्धकोयं नाम्नेति प्रोचुस्तत्रनिवासिनः ॥ हरिवंश २।८६।११

५. मुमोच भगवाञ्छूलं प्रदीप्ताग्निसमप्रभम्।
भस्मसाच्चाकरोद्रौद्रमन्धकं साधुकण्टकम् ॥ हरिवंश २।८७।३२-३३

६. किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम्।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान्मदनान्धकमृत्युजित् ॥ नै० ४।९७

दधीचि का अस्थि-दान[1]

वृत्रासुर से त्रस्त इन्द्रादि देवों ने भगवान् विष्णु की शरण ली। विष्णु ने उन्हें दधीचि (दध्यङ) ऋषि से उनकी अस्थि मांगने के लिए कहा।[2] दधीचि ने देवों की याचना स्वीकार कर उन्हें योग से अपना शरीर त्याग कर अस्थि-दान किया।[3] विश्वकर्मा ने उन अस्थियों से वज्र बनाया, जिससे इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया।[4]

नैषध में नल देवों से तर्क करते हुए उसी कथानक का स्मरण करते हैं। जिस दान-यश का दानियों द्वारा मूल्य आंकने पर दधीचि पर्यन्त ने केवल प्राणों की अन्तिम सीमा रक्खी है।[5]—इत्यादि।

अगस्त्य द्वारा विन्ध्यपर्वत को झुकाना[6]

एक बार देवर्षि नारद से सुमेरुगिरि द्वारा अपना अपमान सुनकर विन्ध्याचल ईर्ष्या तथा क्रोध में आकाश की ओर ऊपर बढ़ने लगा और सूर्य का मार्ग रोककर खड़ा हो गया, जिससे समस्त विश्व में बड़ी खलबली मची। देवता घबड़ा कर ब्रह्मा के पास गए। देवों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें इस विपत्ति को दूर करने के लिए काशी में तपस्या करने वाले मित्रावरुण के पुत्र महर्षि अगस्त्य के पास जाकर प्रार्थना करने को कहा। देवों ने अगस्त्य के पास जाकर उनसे विन्ध्य-पर्वत की बाढ़ रोकने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली तथा उनका कार्य सिद्ध करने का वचन दिया। फिर लोपामुद्रा के साथ बड़े कष्ट से काशी छोड़कर अगस्त्य विन्ध्य के पास पहुंचे। उन्हें देखते ही विन्ध्य इतना छोटा हो

---

१. भागवत—६ अध्याय ९।१०

२. मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्।
   विद्याव्रततपः सारं गात्रं याचत मा चिरम्॥ भागवत ६।९।५१

३. एवं कृतव्यवसितोदध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम्।
   परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं संनयञ्जहौ॥
   यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग् ध्वस्तबन्धनः।
   आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम्॥ भागवत ६।१०।११–१२

४. महाभारत वन पर्व—अध्याय १०० में भी दधीचि-चरित वर्णित है।

५. आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत्॥ नै० ५।१११

६. स्कन्दपुराण, काशीखंड, पूर्वार्द्ध, अध्याय १ से ५ तक।

गया मानों धरती में समा जाना चाहता हो।[1] अगस्त्य ने पर्वत को आदेश दिया कि देखो, जब तक मैं यहां पुनः लौटकर न आऊं तब तक तुम इसी भांति लघु रूप में रहना।[2] अगस्त्य दक्षिण दिशा को चले गए और विन्ध्याचल आज भी उनकी प्रतीक्षा में उसी भांति पड़ा है।[3]

नैषध में उक्त कथा का स्मरण दिलाते हुए वरुणदेव नल से कहते हैं—"जिससे निबद्ध होकर राजा बलि तथा विन्ध्यगिरि आज भी विचलित होने में समर्थ न हुए······।"[4]

सूर्यदेव की सन्तानें[5]

सूर्यदेव के दो पत्नियां थीं—१–राज्ञी और २–निक्षुभा। राज्ञी विश्वकर्मा की पुत्री थी। इसी का नाम संज्ञा था। संज्ञा की छाया ही निक्षुभा थी। संज्ञा बड़ी रूपवती तथा पतिव्रता थी। उसके तीन सन्तानें मनु, यम, तथा यमुना थीं। सूर्य का अतिदीप्तिमान् रूप संज्ञा को प्रिय न था, अतः वह पिता के यहां चली गयी और वहां हजार वर्ष तक रही। जब पिता ने पति के घर जाने का बहुत आग्रह किया तो संज्ञा वहां से उत्तर-कुरु की ओर चली गयी और वहां घोड़ी का रूप धारण कर रहने लगी। इधर छाया संज्ञा का रूप धारण कर सूर्यदेव के साथ रहने लगी थी। सूर्य उसे संज्ञा ही समझा करते थे। छाया से सूर्य को श्रुतश्रवा और श्रुतकर्मा दो पुत्र तथा तपती नामक कन्या हुई। श्रुतश्रवा सावर्णि मनु हुआ तथा श्रुतकर्मा शनैश्चर बना और तपती ताप्ती नदी बनी। छाया संज्ञा की सन्तानों के साथ प्रेम नहीं करती थी। एक दिन संज्ञा के छोटे पुत्र यम से उसका कलह हो गया। सूर्य को जब इसका पता चला तो उन्हें संज्ञा बनी छाया पर क्रोध आया। छाया ने भय से अपना वास्तविक रूप बता दिया। इसी समय विश्वकर्मा ने सूर्य को शाकद्वीप में शाण (खराद) पर चढ़ाकर उनका प्रचण्ड तेज क्षीण कर डाला और उनका रूप उत्तम बना दिया। सूर्य को जब संज्ञा का उत्तर कुरु में पता चला तो वे वहां घोड़े के रूप में गए। वहां सूर्य के संयोग से घोड़ी-रूप संज्ञा की नासिका

---

१. गिरिः खर्वतरो भूत्वा विविक्षुरवनीमिव—वही, ५।५६

२. विन्ध्य साधुरसि प्राज्ञ मां च जानासि तत्त्वतः।
पुनरागमनं चेन्मे तावत् खर्वतरो भव॥ वही—५।५७

३. महाभारत, वनपर्व, अध्याय १०६ में भी विन्ध्यविनमन कथा है।

४. अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ इत्यादि—नै० ५।१३०

५. भविष्यपुराण—अध्याय ७५

से अश्विनिकुमारों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार मनु, यमुना, यम तथा दो अश्विनि-कुमार ये पांच संतानें संज्ञा के तथा सावर्णि, शनैश्चर एवं तापती ये तीन सन्तानें छाया के हुईं।

श्रीहर्ष ने पूर्वोक्त पौराणिक विवरण के अनेक अंशों—सहस्रपादों वाले सूर्य से उत्पन्न होते हुए भी छायापुत्र शनैश्चर के लंगड़े (खञ्ज) होने[1] यम की उत्पत्ति के प्रति सूर्यप्रिया संज्ञा के हेतुत्व (जननीत्व) तथा छाया के अहेतुत्व (यम की जननी न होने)[2] सूर्य के यम-पिता होने,[3] यम के अश्विनीकुमारसहोदर होने,[4] काले रंग वाले यम, यमुना और शनैश्चर के गोरे सूर्य की सन्तान होने[5] तथा लोकत्राणार्थ सूर्य के शनि एवं यम का सुतरूप में उत्पन्न[6] करने का उल्लेख किया है। सूर्य के विश्वकर्मा-कृत शाणोल्लेख का भी श्री हर्ष ने इन शब्दों में सङ्केत किया है—"गवाक्ष से आने वाली सूर्यरश्मियों में पड़े त्रसरेणुओं को तेजी से घूमते हुए देखकर वन्दी-जन उत्प्रेक्षा करते हैं मानों विश्वकर्मा ने सूर्यदेव को पुनः शाण पर चढ़ाया है और उसी की चिनगारियां निकल रही हैं"।[7]

पृथु-चरित तथा पृथ्वी-दोहन[8]

स्वायम्भुव मनु के वंश में अङ्ग नामक प्रजापति हुए। उन्होंने मृत्यु की पुत्री सुनीथा से विवाह किया जिससे वेन-नामक महापराक्रमी पुत्र हुआ, जो आगे चलकर महाविधर्मी एवं अत्याचारी शासक हुआ। महर्षियों के अनुनय-विनय करने पर भी

---

१. यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं। · · · सच्छायातनयः॥ नै० ५।१३६

२. मित्रप्रियोपजननं प्रति हेतुरस्य संज्ञा श्रुता सुहृदयं न जनस्य कस्य।
············छायेदृगस्य च न कुत्रचिदध्यगायि॥ नै० १३।१७

३. किं च प्रभावनमिताखिलराजतेजा देवः पिताम्बरमणी रमणीयमूर्तिः॥
नै० १३।१८

४. भूतेषु यस्य खलु भूरियमस्य वश्यभावं समाश्रयति दस्रसहोदरस्य॥ नै० १३।१९

५. शमनयमुनाक्रोडैः कालैरितस्तमसां पिबा—
दपि यदमलच्छायात्कायादभूयत भास्वतः॥ नै० १९।४५

६. शनिं शमनमपि स त्रातुं लोकानसूत सुताविति॥ नै० १९।४७

७. भ्रमदणुगणक्रान्ता भान्ति भ्रमन्त्य इवाशु याः।
पुनरपि धृताः कुन्दे किं वा न वर्धकिना दिवः॥ नै० १९।५४

८. मत्स्यपुराण अध्याय १०, हरिवंश १।५६ तथा भागवत ४।१७-१८ में भी यह कथा प्रायः वर्णित है।

जब उसने कुमार्ग से हटना न चाहा तो उन्होंने उसे शाप देकर भस्म कर डाला। महर्षियों ने उसके दाहिने बाहु को मथा। उससे पृथु की उत्पत्ति हुई जो विष्णु के एक अवतार माने जाते हैं। वेन के कुप्रबन्ध के कारण जो अधर्म और अराजकता थी, तथा दुर्भिक्ष पड़ रहा था उससे क्रुद्ध होकर पृथु ने धनुष-बाण लेकर भूमण्डल को भस्म कर डालने का निश्चय किया। पृथ्वी भय से गो-रूप धारण कर भागी। पर कहीं त्राण न देखकर उन्हीं को त्राण माना। पृथ्वी ने उनसे कहा कि उचित वत्स लाकर आप मुझसे अभीप्सित वस्तु दुह लीजिए। तदनुसार सभी जीवधारी वर्गों ने अपना अभीप्सित दुहा। पर्वतों ने सुमेरु को दोग्धा (दुहनेवाला) और हिमालय को बछड़ा बनाकर शैलमय पात्र में अनेक प्रकार के रत्नों तथा दिव्य तेजोमयी ओषधियों को दुहा।[1] राजा पृथु ने प्रजा-कल्याण की भावना से प्रेरित हो बड़े-बड़े पर्वतों को अपनी धनुष्कोटि से उखाड़कर सुव्यवस्थित किया तथा पृथ्वी-तल को सम किया।[2]

नैषध में सरस्वती के मुख से देव-वर्णन के अवसर पर सुमेरु-द्वारा गोरूप पृथ्वी के दुहे जाने का[3] तथा पाण्डयनरेश-वर्णन के अवसर पर पृथु-द्वारा पर्वतों को सुव्यवस्थित करने का[4] उल्लेख हुआ है।

सप्तद्वीप-वर्णन[5]

दमयन्ती के स्वयंवर में सातों द्वीपों के नरेश आए थे। श्रीहर्ष ने उनका वर्णन विष्णु-पुराण के द्वीप-वर्णन से लिया है। यहां तक कि स्वयंवर में

---

१. शैलैश्चश्रूयते राजन् पुनर्दुग्धा वसुन्धरा।
औषधीर्वै मूर्तिमती रत्नानि विविधानि च॥
वत्सस्तुहिमवानासीन्मेरुर्दोग्धामहागिरिः।
पात्रं तु शैलमेवासीत् तेन शैला विवर्धिताः॥ हरिवंश १।६।४०—४१

२. चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः॥ भागवत ४।१८।२९

३. एषां गिरेः सकलरत्नफलस्तरुः स प्रादुग्धभूमिसुरभेः खलु पञ्चशाखः॥
नै० ११।१०

४. पृथ्वीन्द्रः पृथुरेतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामर।
श्रेणीमध्यचरः पुनः क्षितिधरक्षेपाय धत्तेधियम्॥ नै० १२।२०

५. विष्णुपुराण—अंश २, अध्याय १—४

आनेवाले नरेशों के नाम भी वही हैं जो विष्णुपुराण में दिए गए हैं। श्रीहर्ष ने स्वयं शाकद्वीप के वर्णन-प्रसङ्ग (पराशर-पुराण[1]-कथान्तर) में पराशर-मुनि द्वारा कथित पुराण-कथा का उल्लेख कर अपने इस द्वीप-वर्णन का उद्गम विष्णुपुराण को स्वीकार किया है, क्योंकि विष्णुपुराण पराशर मुनि ने मैत्रैय को सुनाया है।[2]

विष्णु-पुराण में इन द्वीपों का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार का मिलता है। राजा प्रियव्रत के कर्दम-मुनि-पुत्री 'कन्या' नाम पत्नी से अग्नीध्र, अग्निवाहु, वपुष्मान्, द्युतिमान्, मेधा, मेधातिथि, भव्य, सवन, पुत्र तथा ज्योतिष्मान् ये दस पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें मेधा, अग्निवाहु तथा पुत्र ये तीनों राज्य से विरक्त थे। शेष सात को प्रियव्रत ने सात द्वीप बांट दिए। जम्बूद्वीप अग्नीध्र को, शाल्मलि वपुष्मान् को, कुश ज्योतिष्मान् को, क्रौञ्च द्युतिमान् को, शाक भव्य को, पुष्कर सवन को तथा प्लक्ष मेधातिथि को दिया। सातों (जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक, पुष्कर) द्वीप क्रम से—लवणोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, दधिमण्डोद, दुग्धोद तथा शुद्धजलोद—इन सात समुद्रों से घिरे हुए हैं।

प्लक्षद्वीप—दो लाख योजन का है। प्रियव्रत के पुत्र मेधातिथि वहाँ के राजा हैं। वहाँ गोमेद, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सोमक, सुमन और वैभ्राज ये सात पर्वत हैं। उन्हीं पर्वतों पर देव, गन्धर्व, आदि प्रजाएं भी वसती हैं। अनुतप्ता, शिरणी, विपाशा, त्रिदिवा, क्रतु, अमृता और सुकृता ये सात नदियां हैं। वहां युगों के अनुसार धर्म की घटती-वढ़ती नहीं होती, सदा त्रेता युग के समान ही काल वना रहता है। वहां ब्राह्मणों को आर्यक, क्षत्रियों को कुरव, वैश्यों को विश तथा शूद्रों को भाविती कहते हैं। उस द्वीप में प्लक्ष (पाकरि) का विशाल वृक्ष है जिससे इसका नाम प्लक्ष पड़ा। वहां चन्द्र-रूपी हरि की पूजा सब आर्यक आदि करते हैं। प्लक्ष द्वीप के किनारे किनारे दो लाख योजन का इक्षुरसोद नामक समुद्र है।

उक्त पौराणिक विवरण के आधार पर ही नैषध में सरस्वती ने दमयन्ती से

---

१. नै० ११।३९

२. ब्रह्मपुराण अध्याय १९, २० में भी इन द्वीपों का वर्णन ठीक विष्णुपुराण जैसा है।

प्लक्ष द्वीप के राजा मेधातिथि,[1] प्रधान वृक्ष प्लक्ष,[2] समुद्र इक्षुरसोद[3], देवता चन्द्र देव[4] तथा नदी विपाशा[5] का उल्लेख किया है।

शाल्मलिद्वीप—चार सहस्र योजन का है। वहां के अधिपति वपुष्मान् हैं। कुमुद, उन्नत, सुवलाहक, (ओषधियों का उद्भव-स्थान) द्रोणाचल, कङ्क, महिष, ककुद्मान् ये सात पर्वत हैं। योनी, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, शुक्ला, विमोचनी तथा निवृत्ति ये सात नदियां हैं। यहां भी चार वर्ण हैं। ब्राह्मण को कपिल, क्षत्रिय को अरुण, वैश्य को पीत तथा शूद्र को कृष्ण कहते हैं। ये सब पवन रूप भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं। इसमें देवता लोग बहुत रहते हैं। यहां एक बहुत बड़ा शाल्मलि (सेमर) का वृक्ष है। उसी के नाम से यह शाल्मलि द्वीप कहलाता है। इसके चारों ओर चार सहस्त्र योजन का सुरोद नामक समुद्र है।

नैषध में शाल्मलि-द्वीप के राजा वपुष्मान्, सागर सुरोद,[6] पर्वत द्रोणगिरि[7] तथा प्रधान वृक्ष शाल्मलि[8] (सेमर) इत्यादि का वर्णन विष्णुपुराण के अनुसार ही हुआ है।

कुशद्वीप—इसके महाराज ज्योतिष्मान् हैं। वहां मानव-दानव सब एक साथ बसते हैं। देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, आदि भी रहते हैं। उस द्वीप में ब्राह्मण को दमी, क्षत्रिय को शुष्मी, वैश्य को स्नेह तथा शूद्र को मन्देह कहते हैं। वहां ब्रह्म-रूप विष्णु की पूजा होती है। विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशद्वीप, हरि और मन्दराचल ये सात पर्वत हैं। धूतपापा, शिवा, पवित्रा, सम्मति, विद्युत्

---

१. द्वीपं द्विपाधिपतिमन्दपदे ! प्रशास्ति
प्लक्षोपलक्षितमयं क्षितिपस्तदस्य।
मेधातिथेस्त्वमुरसि स्फुर सृष्टसौख्या
साक्षाद्यथैव कमला यमलार्जुनारेः॥ नै० ११।७३

२. प्लक्षे महीयसि महीवलयातपत्रे॥ नै० ११।७४

३. न श्रद्दधातु रसमिक्षुरसोदवाराम्॥ नै० ११।७५

४. तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव॥ नै० ११।७६

५. त्वन्नेत्रयोरहह तत्र विपाशि जाता॥ नै० ११।७७

६. द्वीपस्य शाल्मल इति प्रथितस्य नाथः पाथोधिना वलयितस्य सुराम्बुनायम्।
अस्मिन्वपुष्मति न विस्मयसे गुणाढ्यौ रक्ता तिलप्रसवनासिकि नासि किं वा॥
नै० ११।६७

७. द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्य॥ नै० ११।६९

८. तद्द्वीपलक्ष्मपृथुशाल्मलितूलजालैः ॥ नै० ११।७०

अम्मा और मही ये सात नदियां हैं। वहां कुशों का एक बड़ा भारी स्तम्ब (समूह) है, इसी से उसका नाम कुश-द्वीप पड़ा है। उसे चारों ओर से घृतोदक परिवेष्टित किए हुए है।

श्रीहर्ष ने कुश-द्वीप के नरेश ज्योतिष्मान्, समुद्र घृतोद[1], विशाल कुश-स्तम्ब[2] और प्रधान पर्वत मन्दराचल[3] का वर्णन इसी आधार पर किया है।

क्रौञ्च-द्वीप—के नरेश का नाम द्युतिमान् है। उसमें पत्र, क्रौञ्च, वामन, अन्धकार, देवावृत, पुण्डरीकवान्, दुन्दुभि और महाक्रौञ्च ये सात पर्वत हैं। उन सब पर देवता, गन्धर्व, मनुष्य आदि बसते हैं। वहां ब्राह्मण को पुष्कर, क्षत्रिय को पुष्कल वैश्य को धन्य तथा शूद्र को तिग्म कहते हैं। गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रि, मनोजवा, ख्याति और पुण्डरीका ये सात नदियां हैं। वहां रुद्र-रूप भगवान् जनार्दन की पूजा होती है। इस द्वीप को चारों ओर से दधि-मण्डोद घेरे हुए है।

सरस्वती नैषध में भी क्रौञ्च-द्वीप के राजा द्युतिमान्, सागर दधिमण्डोद[4] पर्वत क्रौञ्चगिरि,[5] तथा अभीष्ट देवता शङ्कर[6] का सुन्दर विवरण देती है।

शाक-द्वीप—क्रौञ्च द्वीप का दूना है। वहां का राजा भव है। उदयगिरि, जलाधार, रैवतक, श्याम, आम्बिकेय, रम्य और केशरी ये सात पर्वत हैं। शाक नाम का एक बड़ा भारी वृक्ष है। इसी कारण उस द्वीप का नाम शाकद्वीप पड़ा। उस वृक्ष का वायु बड़ा ही सुखद होता है। सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, रेणुका, इक्षु, धेनुका और गभस्ति ये सात पापनाशिनी नदियां कुशद्वीप में बहती हैं। वहां के लोग सदा सुमना तथा सानन्द रहते हैं। वहां ब्राह्मण को भग, क्षत्रिय को मागध, वैश्य को मानस तथा शूद्र को मन्दाग्न कहते हैं। उस द्वीप में सूर्यरूप भगवान् विष्णु की पूजा होती है। उसके किनारे-किनारे क्षीरोद समुद्र है।

---

१. ईशः कुशेशयसनाभिशये कुशेन द्वीपस्य लाञ्छिततनोर्यदि वाञ्छितस्ते।
ज्योतिष्मता सममनेन वनीघनासु तत्त्वं विनोदय घृतोदतटीषु चेतः॥
नै० ११।५८

२. स्तम्बः कुशस्य भविताम्बरचुम्बिचूडः॥ नै० ११।५९

३. आनन्दमिन्दुमुखि मन्दरकन्दरासु॥ नै० ११।६०

४. द्वीपस्य पश्य दयितं द्युतिमन्तमेतं क्रौञ्चस्य चञ्चलदृगञ्चलविभ्रमेण।
यन्मण्डले स खलु मण्डलसन्निवेशः पाण्डुश्चकास्ति दधिमण्डपयोधिपूरः॥
नै० ११।४९

५. क्रौञ्चः स्फुरिष्यति गुणानिव यस्त्वदीयान्॥ नै० ११।५०

६. तस्यार्चनां रचय तत्र मृगाङ्कमौलेः॥ नै० ११।५१

दमयन्ती के स्वयंवर में शाक-द्वीप के राजा हव्य[1] और शाक[2] नाम के विशाल वृक्ष का वर्णन है। इस वृक्ष का वायु अत्यन्त आनन्दप्रद[3] तथा वह द्वीप क्षीरसागर के तट पर अवस्थित वतलाया गया है।[4]

पुष्कर-द्वीप—क्षीरोद के उस पार, शाक-द्वीप का दूना है। वहां का अधिपति सवन है। वहां मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। उस द्वीप के निवासी दस हजार वर्ष जीते हैं। सब नीरोग तथा स्नेहपूर्ण हैं। वहां न अन्य कोई नदी है न कोई पहाड़। देवता मनुष्य दोनों उस द्वीप में एक ही रूप से फिरते हैं। वर्णों और आश्रमों की भी व्यवस्था नहीं। उस द्वीप में एक बड़ा भारी कमल का वृक्ष है—उसके पत्रपर ब्रह्मा का निवास है—देव-दानव सब उसकी पूजा करते हैं। यह चारों ओर जलोद से घिरा है।

नैषध में पुष्कर-द्वीप के स्वामी सवन, सागर जलधि[5] तथा देव पद्मयोनि[6] का मनोरम वर्णन हुआ है। श्रीहर्ष ने वहां एक न्यग्रोध (वट) वृक्ष का[7] विशेष वर्णन किया है, यद्यपि विष्णु पुराण में विशाल कमल का वर्णन हुआ है।

जम्बू-द्वीप—का विष्णुपुराण में सबसे अधिक (विस्तृत) वर्णन हुआ है। इसके मध्य में सुमेरु-नामक स्वर्ण-पर्वत है। सुमेरु के चारों ओर चार पर्वत हैं—पूर्व में मन्दराचल, दक्षिण में गन्धमादन, पश्चिम में विपुल तथा उत्तर में सुपार्श्व। इन मन्दराचल आदि पर्वतों के ऊपर क्रम से कदम्ब, जामुन, पीपल और वरगद के वृक्ष हैं। प्रत्येक वृक्ष ११०० योजन ऊंचा है। इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप इसीलिए हुआ कि इसमें जम्बू (जामुन) का पेड़ है। इस जम्बू वृक्ष के फल वड़े वड़े हाथियों के समान होते हैं और पहाड़ पर गिरने से फूट जाते हैं; उन्हीं के रस से निकली हुई एक 'जम्बू-नाम' नदी वहती है। इसी नदी में जाम्बूनद नाम का सुवर्ण होता है। सुमेरु के ऊपर १४०००योजन की ब्रह्मा की पुरी है। इसकी चारों दिशाओं और

---

१. नन्वत्र हव्य इति विश्रुतनाम्नि॥ नै० ११।३७
२. शाकः शुकच्छदसमच्छविपत्रमालभारी॥ नै० ११।३८
३. यन्मारुतः कमपि संमदमादधाति॥ नै० ११।३९
४. क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानाम्॥ नै० ११।४०
५. स्वादूदके जलनिधौ सवनेन सार्धम्॥ नै० ११।२७
६. देवः स्वयं वसति तत्र किल स्वयम्भू-
न्यग्रोधमण्डलतले हिमशीतले यः॥ नै० ११।२९
७. न्यग्रोधनादिव दिवः पतदातपादे-
र्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः॥ नै० ११।३०

उपदिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों की सात पुरियां है। इस द्वीप के भारत, केतुमाल, कुरु, इलावर्त आदि अनेक खंड हैं। प्रत्येक में अनेक प्रसिद्ध पर्वत तथा नदियां हैं। दक्षिण महासागर से उत्तर में हिमालय पर्वत तक के मध्य वाले देश को भारतवर्ष कहते हैं। इस भू-खण्ड में महेन्द्र, मलय, सत्य, शुक्तिमान् ऋक्षवान् विन्ध्य तथा पारियात्र ये सात मुख्य पर्वत हैं। इस भारतवर्ष में नव द्वीप हैं—इन्द्र, कशेरुमान्, ताम्रवर्ण, गभिस्तमान्, नाग, सौम्य, गान्धर्व और वरुण। इसके पूर्व में किरात देश और पश्चिम में यवन-देश है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण इसी में बसते हैं। नदियां भी प्रसिद्ध हो हैं। इसमें कुरु, पाञ्चाल, मध्यदेश, पूर्वदेश, कामरूप, पुण्ड्र, कलिङ्ग, मगध, दाक्षिणात्य, परान्त, सौराष्ट्र, सूर, आभीर, अर्बुद, मालूफ, मालव, परियात्र, सौवीर संघ सैन्धव, हूण, शाल्व, शाकल मद्र, राम, अम्बष्ठ, पारीक आदि देश बसते हैं। कृत (सत्य), त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चार युग इसी भारतखंड में माने जाते हैं, अन्यत्र नहीं।

श्रीहर्ष ने जम्बू द्वीप का वर्णन उक्त पौराणिक आधार पर, किन्तु अत्यन्त संक्षेप में किया है, जिसके अन्तर्गत चारों ओर से घेरे हुए द्वीप मध्य में स्थित हेमाद्रि (सुमेरु) और कैलाशपर्वतों[1], विशाल शिलाखण्ड में समान काले फलों वाले जम्बू वृक्ष,[2] उसके फलों के रस से निकली हुई जम्बू नदी उसमें प्राप्त होने वाले जाम्बूनद स्वर्ण[3] आदि का उल्लेख उसी प्रकार किया है जैसा विष्णु पुराण में देखा जाता है।

अग्नि से सुवर्ण की उत्पत्ति[4]

एक वार सारे देवगण स्वर्ग की सभा में बैठे थे। अप्सराओं का मनोहर नृत्य-गीत हो रहा था। उनमें अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा रम्भा को देखकर अग्नि देव को मदन-विकार हो आया। उस समय उनका जो शुक्र गिरा उसे उन्होंने लज्जावश अपने वस्त्र से ढकना चाहा, किन्तु वह शुक्र अतिशय-देदीप्यमान् स्वर्णपुञ्ज के रूप में, वस्त्र को हटाकर बढ़ने लगा और क्षण भर में इतना बढ़ा कि एक विशाल स्वर्ण

---

१. हेमाद्रिणा कनकदण्डमहातपत्रः कैलाशरश्मिचयचामरचक्रचिह्नः॥ नै० ११।८४
२. एतत्तरुस्तरुणि राजति राजजम्बूः॥ नै० ११।८५
३. जाम्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्स्ना कृत्स्नापि सा तव रुचा विजितश्रि यस्याः।
तज्जाम्बवद्रवभवास्य सुधाविधाम्बुर्जम्बूसरिद्वहति सीमनि कम्बुकण्ठि॥
नै० ११।८६
४. ब्रह्मवैवर्त-पुराण—श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अ० १३१

पर्वत बन गया जिसका नाम सुमेरु-गिरि पड़ा[1]। और तभी से अग्नि को हिरण्य-रेताः कहा जाने लगा।[2]

नैषध में एक स्थान पर अग्नि से सुवर्ण की उत्पत्ति का सङ्केत हुआ है। स्वयंवर में सरस्वती अग्नि तथा नल का श्लिष्टार्थ वर्णन करती हुई अग्नि-देव से प्रभूत स्वर्ण प्राप्त करने का उल्लेख करती हैं।[3]

बलराम-द्वारा यमुना-कर्षण[4]

एक बार बलराम अपने प्रियजनों से मिलने व्रज गए। वहां गोप गोपियों से मिलकर बड़े आनन्दित हुए। एक दिन वहीं गोपों के साथ वन-विहार करने चले गये। वहां गोपालों ने उन्हें वारुणी (मदिरा) भेंट की। मदिरा पीकर बलराम मत्त हो उठे, और मदविह्वल हो यमुना-स्नान की इच्छा की। उन्होंने मस्ती में यमुना को अपने पास बुलाया।[5] पर उनकी बात कैसे पूरी होती? अतः मदविह्वल बलराम क्रुद्ध हो गये और उन्होंने हल की नोक से यमुना को अपनी ओर खींचा। नदी खिंचकर उनके पास चली आई।[6] आज भी यमुना उसी कारण वहां वक्र दिखायी पड़ती हैं।[7]

नैषध में विवाहोचित प्रसाधन-वर्णन के प्रसंग में केशों का सौन्दर्य चित्रित करते हुए श्रीहर्ष ने उपर्युक्त कथानक का सङ्केत किया है।[8]

---

१. उत्तस्थौ स्वर्णपुञ्जश्च वस्त्रं क्षिप्त्वा ज्वलत्प्रभम्।
क्षणेन वर्धयामास स सुमेरुर्बभूव ह॥ वही—अ० १३१-३७

२. हिरण्यरेतसं वह्निं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ वही—१३१-३८
(महाभारत आनुशासिकपर्व अध्याय ८६ में भी अग्नि से स्वर्णोत्पत्ति की कथा कही गयी है)

३. हेमप्रभूतमधिगच्छ शुचेरमुष्मात्॥ नै० १३।१०

४. हरिवंश पुराण—विष्णु-पर्व अध्याय ४६

५. स्नातुमिच्छे महानदि! एहि मामभिगच्छ त्वं रूपिणी सागरङ्गमे।
ह० पु० २।४६।३०

६. साविह्वलजलभीता हृदयस्थितसञ्चया।
व्यावर्तत नदी भीता हलमार्गानुसारिणा॥ ह० पु० २।४६।३५

७. विष्णुपुराण ५।२४-२५ तथा भागवत १०।६५ में भी इस कथानक का इसी प्रकार उल्लेख हुआ है।

८. बलस्य कृष्टेव हलेन भाति या कलिन्दकन्या घनभङ्गभङ्गुरा॥ नै० १५।३१

पुरूरवा (ऐल) की उत्पत्ति तथा उनमें उर्वशी का अनुराग[1]

वैवस्वत मनु को मित्रावरुण का यज्ञ करने पर सुद्युम्न नाम का पुत्र मिला। एक बार मृगया-प्रसङ्ग में सुद्युम्न पार्वती-वन में चले गए। शिव का ऐसा शाप था कि जो पुरुष उस वन में घुसे वह स्त्री हो जाय। फलतः सुद्युम्न भी इला नामक स्त्री हो गए। फिर इला को अकेली घूमती देखकर चन्द्रमा के पुत्र बुध कामातुर हो उसे अपने आश्रम में लाए और उससे पुरूरवा नामक त्रैलोक्यसुन्दर पुत्र उत्पन्न किया। मित्रावरुण के शाप से स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी को भूलोक पर आना पड़ा। वह नारद के मुख से पुरूरवा की प्रशंसा सुन चुकी थी। अतः भूलोक में उन्हीं के पास आयी। अपने दो मेषों की रक्षा, घृत-भोजन तथा राजा का अनग्न दर्शन, इन तीन संविदों (शर्तों) को पुरूरवा से मनवा कर वह उनकी रानी के रूप में उनके साथ रहने लगी। कुछ समय के पश्चात् गन्धर्वों ने उर्वशी को पुनः स्वर्ग ले जाने की इच्छा से रात्रि में उसके मेषों को चुरा लिया जिससे राजा पुरूरवा उनकी रक्षा के लिए शयन से त्वरा-वश नग्न हो दौड़ पड़े। उर्वशी ने उन्हें देख लिया, अतः प्रतिज्ञा-भङ्ग दोष के कारण वह राजा को छोड़ कर चली गयी।

वरयात्रा के समय नल के विवाहोचित नेपथ्य (वेशभूषा) से विभूषित सौन्दर्य को देखकर पुर-सुन्दरियों को पुरूरवा का स्मरण हो आया। अतः साथ ही उपर्युक्त पौराणिक कथानक का उल्लेख करती हुई वे कहती हैं—"राजा सुद्युम्न ने स्त्री होकर जिनको उत्पन्न किया, उन्हीं उर्वशी के प्राणप्रिय पुरूरवा को जिसने अपने देहकान्ति से जीत लिया है,"[2] आदि।

दुर्वासा का इन्द्र को शाप[3]

शिव के अंश दुर्वासा मुनि ने (उन्मत्त-व्रत धारण किए हुए) एक बार घूमते हुए एक विद्याधरी के हाथ में कल्पवृक्ष के फूलों की अत्यन्त सुगन्धित माला देखकर उससे मांगी। विद्याधरी ने प्रणाम कर वह माला उन्हें समर्पित कर दी। दुर्वासा उसे सिर पर रखकर विचरने लगे। एक दिन उन्हें ऐरावत पर चढ़े इन्द्र दिखायी पड़े। दुर्वासा ने वह माला अपने सिरसे उतारकर इन्द्र के ऊपर फेंक दी। इन्द्र

---

१. हरिवंशपुराण—हरिवंश पर्व—१०।२६

२. भवन्सुद्युम्नः स्त्री नरपतिरभूद्यस्यजननी।
तमुर्वश्याः प्राणानपि विजयमानस्तनुरुचा॥ नै० १५।८३

३- विष्णुपुराण—अंश १ अध्याय ९

न उसे ऐरावत के सिरपर रख दिया। माला की सुगंध से मस्त हो ऐरावत ने उसे अपनी सूंड से पृथ्वी पर डाल दिया। दुर्वासा यह देख कर अत्यन्त क्रुद्ध हो गए। उन्होंने उसी समय इन्द्र को उनकी त्रैलोक्य-श्री के नष्ट हो जाने का शाप दे दिया।

श्रीहर्ष ने इस विषय का उल्लेख यों किया है—"दमयन्ती के पिता भीम ने नल को दहेज में जो यह सदा ऐरावत की सी वर्षा करने वाला हाथी भेंट किया क्या वही इन्द्र का हाथी तो नहीं जो दुर्वासा वाली माला फेंकने के कारण उनके शाप-वश मर्त्यलोक में आ गिरा है।"[1]

शङ्कर का शक्ति को अस्त्र बनाना तथा त्रिपुर-दाह[2]

मय दानव ने ब्रह्मा के वरदान से लोहे, चांदी तथा सोने के तीन पुर सौ-सौ योजन के बनाए जिनमें तारक, विद्युमाली तथा स्वयं मय रहते थे, और जिन्हें शङ्कर के सिवा कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचा सकता था। शङ्कर भी उन्हें तभी केवल एक वाण से जला सकते थे जब पुष्य नक्षत्र में ये तीनों पुर मिलते। वहां रहने वाले दैत्य जब तक पुरी के भीतर रहते तब तक अवध्य थे। त्रिपुर-निवासी असुरों का वध करने के लिए देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर शिव ने पृथ्वी का दिव्य-रथ बनाया, संवत्सर का धनुष बनाया तथा कभी वृद्धा न होने वाली अम्बिका (शक्ति) को प्रत्यञ्चा बनाया। भगवान् रुद्र स्वयं काल-स्वरूप हैं। काल ही का नाम संवत्सर है। इसी कारण भगवती काल-रात्रि रूप से उस महान् धनुष की चिर-नवीन प्रत्यञ्चा बनी। विष्णु, चन्द्रमा एवं अग्नि वाण बने, ब्रह्मा सारथी बने। इस प्रकार दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर शिव ने उन दिव्य अस्त्रों से त्रिपुर को भस्म करने के लिए प्रस्थान किया।

नैषध में त्रिपुर-दाह का उल्लेख करती हुई विरह-व्यथित दमयन्ती मदन को फटकारती है—"शङ्कर की वाणाग्नि ने जिस प्रकार त्रिपुर को भस्म कर दिया था कहीं उसी प्रकार तुम्हारी वाणाग्नि भी त्रैलोक्य को दग्ध न कर दे, इसी कारण विधाता ने तुम्हारे वाणों को भीतर ही भीतर मकरन्द से सिक्त कर दिया है।"[3]

---

१. विराध्य दुर्वाससमस्खलद्दिवः स्रजं त्यजन्नस्य किमिन्द्रसिन्धुरः।
अदत्त तस्मै स मदच्छलात्सदा यमभ्रमातङ्गतयैव वर्षुकम्॥ नै० १६।३१

२. मत्स्यपुराण—अध्याय १२९-१४०

३. स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा त्रयम्।
इति विधिस्त्वदिषून्कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृतः॥ नै० ४।८७

तथा एक और स्थल में श्रीहर्ष स्त्रियों को अपना शस्त्र बनाने वाले कामदेव को शिव से स्पर्धा करने वाला बताते हुए कहते हैं—"वही काम जो स्त्रियों को अस्त्र बनाकर शङ्कर से वैर मानता हुआ-सा, उनकी रचना इस अखिल विश्व को व्याकुल कर रहा है।"[1]

अर्जुन की सहायता में शिव-द्वारा कुरु-सेना का विनाश[2]

द्रोणाचार्य के वध के बाद व्यास घूमते हुए पाण्डव-शिविर में अर्जुन के पास पहुंचे। अर्जुन ने अपनी इस रण-विजय के विषय में एक आश्चर्य भरी बात सुनायी। अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में जिन शत्रुओं पर अस्त्र-प्रहार करते, उन्हें अपने आगे पावक के समान तेजस्वी एक व्यक्ति दीप्तिमान् शूल लिए पहले ही उन शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ दिखायी पड़ता। इस प्रकार शत्रु पहले ही से मरे रहते। अर्जुन के बाण नाममात्र को उनके मारक बनते[3]। हाथ में शूल लिए वह सूर्य के समान तेजस्वी था। उसके पैर न भूमि का स्पर्श करते थे, और न वह अपने शूल को हाथ से पृथक् करता था। उसके तेज से उस शूल से ही सहस्त्रों शूल निकल रहे थे।[4] अर्जुन की जिज्ञासा पर व्यास ने भगवान् शिव की महिमा बताते हुए उनसे कहा कि "पार्थ, जिन्हें तुमने अपने आगे शत्रुओं का वध करते देखा है वे भगवान् शङ्कर हैं। जिस समय तुमने जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा की थी उस समय कृष्ण ने स्वप्न में तुम्हें कैलाश-शिखर पर इनका दर्शन कराया था। ये वही भगवान्

---

१. ईश्वरस्य जगत्कृत्स्नं सृष्टिमाकुलयन्निमाम्।
अस्ति योऽस्त्रीकृतस्त्रीकस्तस्य वैरं स्मरन्निव॥ नै० १।१७

२. महाभारत—द्रोणपर्व, अध्याय २०२

३. संग्रामेन्यहनंशत्रूञ्छरोघैर्विमलैरहम्। अग्रतो लक्षये यान्तं पुरुषं पावकप्रभम्॥
ज्वलन्तशूलमुद्यम्य यां दिशं प्रतिपद्यते।
तस्यां दिशि विदीर्यन्ते शत्रवो मे महामुने॥
तेन भग्नानरीन् सर्वान् मद्भग्नान्मन्यते जनः।
तेन भग्नानि सैन्यानि पृष्ठतोऽनुव्रजाम्यहम्॥ म०, द्रोणपर्व २०२।४–६

४. तेजसा सूर्यसन्निभः।
न पद्भ्यां स्पृशते भूमिं न च शूलं विमुञ्चति।
शूलाच्छूलसहस्राणि निष्पेतुस्तस्य तेजसा॥ वही—२०२।७-८

शङ्कर तुम्हारे आगे आगे चलते हैं, जिन्होंने तुम्हें वे अस्त्र दिए, जिनसे तुमने दानवों का वध किया।"[1]

नैषध में मोह का परिचय देते हुए श्रीहर्ष महाभारत के उक्त आख्यान का स्मरण करते हैं—"महाभारत के युद्ध में जिस प्रकार क्रुद्ध भगवान् शङ्कर द्वारा हत कौरव-सैन्य को जीतते हुए अर्जुन न लजाए, उसी प्रकार अज्ञानरूप तमोगुण का सेवन करने वाले जिस मोह द्वारा मारे हुए संसार को विजित करता हुआ कामदेव न लजाया।"[2]

गुरु-पत्नी तारा में चन्द्रमा की आसक्ति[3]

ब्रह्मा ने चन्द्रमा को ओषधियों, ब्राह्मणों तथा नक्षत्रों का राजा बनाया। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ भी किया। इन सबसे उसे बड़ा अहंकार हो गया। अहंकार इतना बढ़ा कि उसने गुरु बृहस्पति की सुन्दरी पत्नी तारा का बलात् हरण कर लिया। बृहस्पति ने ब्रह्मा से कहा। सप्तर्षियों ने भी समझाया, पर चन्द्रमा ने किसी की न सुनी। इस पर तारकामय नामक संग्राम हुआ जिसमें शुक्र (बृहस्पति से ईर्ष्या के कारण) तथा उनके साथी अन्य दैत्य चन्द्रमा के सहायक हुए और इन्द्र आदि देवता बृहस्पति के पक्ष में लड़े। अन्त में ब्रह्मा ने दोनों पक्षों को समझाकर युद्ध शान्त किया और तारा बृहस्पति को दिलवाई। उसी बीच तारा को चन्द्रमा का गर्भ रह गया था, जिससे बुध का जन्म हुआ।[4]

उक्त आख्यान का उपयोग नैषध के कतिपय स्थलों में इस प्रकार से किया गया है:—

१—चार्वाक देवों से गुरु-तल्प-गमन के विषय में पूर्वोक्त पौराणिक आख्यान

---

१. एष देवो महादेवो योसौ पार्थ तवाग्रतः।
संग्रामे शस्त्रवान् निघ्नंस्त्वया दृष्टः पिनाकधृक्॥
सिन्धुराजवधार्थाय प्रतिज्ञाते त्वयानघ।
कृष्णेन दर्शितः स्वप्ने यस्तु शैलेन्द्रमूर्द्धनि॥
एषवै भगवान् देवः संग्रामे भाति तेऽग्रतः।
येन दत्तानि तेऽस्त्राणि यैस्त्वया दानवा हताः॥ वही—२०२।४५-४७

२. कुरुसैन्यं हरेणेव प्रागलज्जत नार्जुनः।
हतं येन जयन्कामस्तमोगुणजुषा जगत्॥ नै० १७।३४

३. विष्णुपुराण—अंश ४, अध्याय ६

४. मत्स्यपुराण अ० २३, भविष्यपुराण अध्याय ८८ तथा भागवत ९।१४ में भी यह कथा थोड़े हेरफेर के साथ प्रायः इसी प्रकार कही गयी है।

का स्मरण दिलाता है—"अरे द्विजों, गुरु स्त्री-गमन में पाप की कोई संभावना ही न करो। और की कौन कहे, आप लोगों के स्वामी द्विजराज चन्द्रदेव ने स्वयं गुरु वृहस्पति की पत्नी तारा में अनुराग किया था।"[1]

२—नल के विलास-भवन में भी उसी कथानकको लेकर नाटिका खेली जा रही थी।[2]

३—फिर पत्नी से चन्द्रवर्णन करते हुये नल उस वृत्त का स्मरण करते हैं—

"प्रिये, देखो गुरु-पत्नी-गमन करने पर भी यह चन्द्रमा पतित न हुआ, क्यों? वात यह है कि जो जीवन-मुक्त आत्मप्रकाश रूप हैं, वे बुरे-भले कार्यों के प्रकृति-बन्धन से परे रहते हैं।"[3]

वेदव्यास द्वारा भ्रातृ-पत्नियों में पुत्रोत्पत्ति[4]

विचित्रवीर्य के राजयक्ष्मा-वश अकाल में ही अनपत्य मर जाने पर दुखी माता सत्यवती ने भीष्म की सलाह से अपने पुत्र वेदव्यास का आह्वान किया। व्यास के आने पर उनसे वंश की रक्षा के लिये विचित्रवीर्य की पत्नियों में सन्तान उत्पन्न करने के लिये सत्यवती ने अनुनय किया। व्यास ने माता की आज्ञा का पालन किया, किन्तु माता से वता दिया कि एक (अम्बिका) का पुत्र अन्धा तथा दूसरी (अम्वालिका) का रोगी होगा। अतः सत्यवती ने एक और पुत्र चाहा जो सब प्रकार से स्वस्थ हो, और उसके लिए वड़ी वधू (अम्बिका) को नियुक्त किया।[5] किन्तु व्यास के पूर्वानुभूत भयानक रूप, गन्ध आदि को सोचकर अम्बिका ने स्वयं न जाकर अपने स्थान पर वस्त्रालंकार से विभूषित करके अपनी दासी को भेज दिया,[6] जिससे विदुर का जन्म हुआ।

---

१. गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः॥ नै० १७।४४

२. गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा॥ नै० १८।२३

३. नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान्गुरोर्यातवतोऽपि पातः।
प्रवृत्तयोप्यात्मनयप्रकाशान्नह्यन्ति नहह्यन्तिसदेहमाप्तान्॥ नै० २२।११८

४. महाभारत—आदिपर्व अध्याय १०५, १०६

५. ऋतुकाले ततो ज्येष्ठो वधूं तस्मै न्ययोजयत्॥ वही—१०६।२२

६. ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता॥ वही—१०६-२४

नैषध में चार्वाक महाभारत के इसी प्रसङ्ग का उद्घाटन करता है—"मान लिया कि व्यास ने अपनी माता की आज्ञा से ही मृत भाई विचित्रवीर्य की पत्नी से सम्भोग किया—कामवश नहीं। पर उस समय जो दासी (विदुर-माता) से सम्भोग करने लगे, क्या माता ने उसके लिए भी आज्ञा दी थी?"[१]

ब्रह्मा का अपनी कन्या के साथ दुर्वृत्त[२]

ब्रह्मा ने लोक की रचना करने की इच्छा से अपने हृदय में सावित्री का ध्यान करके तपस्या करनी प्रारम्भ की। जप करते समय उनके निष्पाप शरीर के दो भाग हो गए। इनमें एक का स्त्रीरूप तथा दूसरे अर्द्धभाग का पुरुषरूप हो गया। उस स्त्री का नाम शतरूपा पड़ा जो सावित्री, सरस्वती, गायत्री और ब्रह्माणी के नाम से विख्यात है। इस प्रकार अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली सावित्री को ब्रह्मा ने अपनी कन्या के रूप में स्वीकार किया। किन्तु सावित्री के अतिशय मनोहारि रूप को देखकर काम-वाण से व्यथित होकर वे कहने लगे—"अहा, कितना मनोहर रूप है! कितनी अपूर्व सुन्दरता है!" वसिष्ठ आदि ऋषियों के मना करने पर भी उनको बोध न हुआ। सावित्री ने उन्हें विनम्र भाव से प्रणाम किया और अपने रूप के प्रति मुग्ध पिता की प्रदक्षिणा की। ब्रह्मा लज्जित हो गए, सावित्री के प्रदक्षिणा करते समय उनके शेष तीन ओर तीन मुंह और हो गए तथा जव सावित्री ऊपर जाने लगी तो एक पाँचवाँ मस्तक ऊपर की ओर भी हो गया जो जटाओं से ढका था। अपने पुत्रों को सृष्टि-रचना में लगाकर ब्रह्मा ने उस परमसुन्दरी शतरूपा का पाणिग्रहण किया और सामान्य कामातुर मनुष्यों की भांति लज्जा से अवनत-मुखी शतरूपा के साथ विशेष कामातुर होकर समुद्र में देवताओं के सौ वर्ष तक विहार करते रहे।

कलि ब्रह्मा के इसी दुर्वृत्त का उपहास करता हुआ देवों से कहता है—"ब्रह्मा चाहे जिस (पुत्री-आदि) के साथ क्रीडाविलास करें इत्यादि।"[३]

---

१. न भ्रातुः किल देव्यां स व्यासः कामात्समासजत्।
   दासीरतस्तदासीद्यन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम्॥ नै० १७।६६
२. मत्स्यपुराण—अध्याय ३ श्लोक ३०–४७
   यह कथा वैदिक साहित्य तक में वर्णित है। इसका सविस्तार वर्णन शतपथ ब्राह्मण १।७।४ में हुआ है। ब्रह्मपुराण, अध्याय १०२ में भी इसका वर्णन है।
३. कयापि क्रीडतु ब्रह्मा॥ नै० १७।१२२

नल के विलास भवन में भी चित्रभित्ति पर ब्रह्मा का यह दुःसाहस चित्रित मिलता है।[1]

व्यासोत्पत्ति[2]

एक बार पाराशर मुनि यमुना पार कर रहे थे। उनकी नौका वहां के दाश (धीवर) राजा की युवती कन्या चला रही थी। ऋषि कन्या को देखकर मोहित हो उठे। नाव पर ही योग से अन्धकार कर उसे अपने तेज से वश में कर लिया।[3] उसके शरीर को मत्स्य-गन्ध रहित कर सुगन्ध-युक्त कर दिया।[4] उनके संयोग से कृष्ण-द्वैपायन की उत्पत्ति हुई जो महर्षि व्यास हुए। मुनि ने धीवर-कन्या का कन्यात्व भी अक्षुण्ण रक्खा।[5] इन्हीं व्यास के पुत्र महायोगी शुकदेव मुनि हुए।

नल के आनन्द-भवन का शुकपक्षी पूर्वोक्त आख्यान गाया करता है कि किस प्रकार यमुना पर धीवर कन्या के साथ शुकदेव मुनि के पितामह महर्षि पाराशर दिन में ही भोग करने लगे, क्योंकि कामवेग में प्राणी स्थान-पात्र-काल सब कुछ भूल जाता है।[6]

इन्द्र का ब्राह्मण-रूप में कर्ण से कवच-कुण्डल माँगना[7]

अर्जुन का हित साधने की भावना से देवराज इन्द्र ब्राह्मण-वेश में कर्ण के पास आए। कर्ण मध्याह्न-वेला में जल में सूर्य की उपासना किया करता था। उस समय उसे ब्राह्मणों के लिए कोई वस्तु अदेय नहीं रहती थी। अतः इन्द्र ने उसी वेला में

---

१. भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः॥ नै० १८।२०

२. महाभारत—आदिपर्व अध्याय १०५

३. अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत्।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत॥ वही—१०५।११

४. मत्स्यगन्धो महानासीत्पुरा मम जुगुप्सितः।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रदात्स मे मुनिः॥ वही—१०५।१२

५. ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम्।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्येव त्वं भविष्यसि॥ म० भा० आदिपर्व १०५।१३

६. अह्नि भानुभुवि दाशदारिकां यच्चरः परिचरन्तमुज्जगौ।
कालदेशविषयासहात्स्मराद्वुत्सुकं शुकपितामहं शुकः॥ नै० १८।२५

७. महाभारत—वनपर्व, अध्याय ३०९–३१०

उपस्थित होकर कर्ण से उसके जन्म के साथ उत्पन्न होने वाले कवच तथा कुण्डलों को मांगा। यद्यपि उसके पिता सूर्य ने इन्द्र की इस कपट-चर्या के विषय में कर्ण को सचेत कर दिया था किन्तु यशस्काम कर्ण ने उन्हें देना अस्वीकृत न किया। प्रसन्नता से कवच-कुण्डलों को अपने हाथ से काट कर दे दिया। किन्तु उससे उसका तेज कम न हुआ।[1] वदले में केवल उनकी शक्ति मांग ली। इन्द्र ने शक्ति देकर यह कहा कि इसे तुम एक ही शत्रु पर चला सकते हो और उसे मार कर फिर यह मेरे पास चली आएगी।[2] महाभारत के युद्ध में जब तक वह शक्ति कर्ण के हाथ में रही तब तक कृष्ण अर्जुन को उससे बचाते रहे और कर्ण के सम्मुख अर्जुन का रथ न जाने दिया।[3] कृष्ण को कर्ण का वह अभिप्राय ज्ञात था कि वह शक्ति केवल अर्जुन पर चलाना चाहता है। अतः अन्त में घटोत्कच राक्षस को भेजकर उसी के ऊपर शक्ति चलाने के लिए कर्ण को विवश कर दिया।[4] बाद में सात्यकि के पूछने पर कि 'कर्ण उस शक्ति को अर्जुन पर क्यों न चला पाया' कृष्ण ने स्वयं उत्तर दिया कि "मैं ही राधेय की बुद्धि को मोह लेता था, जिससे वह अर्जुन पर शक्ति नहीं चला पाता था।"[5]

नैषध में प्रभात-वर्णन करते हुए बन्दी-गण इन्द्र के कर्ण से कुण्डल मांगने का उल्लेख करते हैं—"देवेन्द्र ने ब्राह्मण-रूप में याचना कर वीर कर्ण से दो कुण्डल लिए थे। उन कुण्डलों को उन्होंने सहर्ष अपनी प्रिया प्राची को दे दिया। उनमें से एक तो सन्ध्या समय उदीयमान चन्द्र के रूप में दिखायी पड़ा था और दूसरा अपनी नूतन कान्ति छिटकाता हुआ वह उदीयमान सूर्य के रूप में अब दिखायी पड़ता

---

१. न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथञ्चन।
   व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि॥ वही–३१०।३१

२. सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम्।
   गर्जन्तं प्रतपन्तं च मामेवैष्यति सूतज॥ वही–३१०।२५

३. अर्जुनं चापि राधेयात् सदारक्षति केशवः।
   न तेन मैच्छत्प्रमुखे सौतेः स्थापयितुं रणे॥ महाभारत, द्रोणपर्व १८२।२९

४. एतच्चिकीर्षितं ज्ञात्वा कर्णस्य मधुसूदनः।
   नियोजयामास तदा द्वैरथे राक्षसेश्वरम्॥
   घटोत्कचं महावीर्यं महाबुद्धिर्जनार्दनः।
   अमोघाया विघातार्थं राजन् दुर्मन्त्रिते तव॥ म० भा०, द्रो० प० १८२।११–१२

५. अहमेव तु राधेयं मोहयामि युधांवर।
   ततो नावासृजच्छक्तिं पाण्डवे श्वेतवाहने॥ म० भा०, द्रो० १८२।४०

हैं।[1] कृष्ण-रूप विष्णुकी स्तुति करते हुए नल कर्ण-शक्ति के निष्फल होने वाले आख्यान का स्मरण करते हुए कहते हैं—"प्रिय लक्ष्मण के हृदय में लगी शक्ति को जिस महावीर ने संजीवनी ओषधि लाकर दूर किया था उसी महावीर को अर्जुन की रथपताका पर बैठाकर आपने कर्ण की शक्ति को भी निष्फल करने का उचित विधान किया। देव आपको अनेक नमः।"[2]

सूर्यभक्त साम्ब[3]

कृष्ण का जाम्बवती से उत्पन्न पुत्र साम्ब अत्यन्त सुन्दर था। अपने रूप के दर्प से उसने दुर्वासा का अपमान किया। उन्होंने उसे श्वेतकुष्ठ होने का शाप दे दिया। उसी समय उसके दुर्व्यवहार से खिन्न देवर्षि नारद के षड्यन्त्र से उसके पिता कृष्ण ने भी साम्ब को श्वेतकुष्ठ का शाप दिया। अत्यन्त दुःखी साम्ब पिता से अपनी निरपराधता बताता हुआ उस दारुणरोग से मुक्ति पाने का उपाय पूछने लगा। कृष्ण ने उसे सूर्य भगवान् की आराधना बतायी। साम्ब ने नारद मुनि की बतायी विधि से चन्द्रभागा के तट पर सूर्य की कठोर उपासना की, जिससे भगवान् सूर्य-देव प्रसन्न हुए और उसे नीरोग कर अक्षय कीर्ति का तथा नित्य स्वप्न में दर्शन देने का वरदान दिया।

श्रीहर्ष सूर्य की उपासना में लीन नल की उपमा साम्ब से देते हुए उसी पौराणिक कथानक का उल्लेख करते हैं—"नल की श्रद्धा को देखकर सूर्यदेव ने उन्हें कृष्णपुत्र साम्ब ही समझ लिया।"[4]

द्वादश केशव-मूर्तियाँ[5]

जैमिनी मुनि ने ब्राह्मणों को विष्णु की बारह मूर्तियों का पूजन करना बताया

---

१. सुरपरिवृढः कर्णात्त्रत्यग्रहीत्किल कुण्डलद्वयमथखलुप्राच्यैप्रादामुदा सहि तत्पतिः।
विधुरुदयभागैकं तत्र व्यलोकि विलोक्यते नवतरकरस्वर्णस्त्रावि-द्वितीयमहर्मणिः ॥
नै० १९।४३

२. कर्णशक्तिमफलां खलु क तुंसज्जितार्जुनरथाय नमस्ते।
केतनेन कपिनोरसिशक्तिं लक्ष्मणं कृतवता हृतशल्यम्॥ नै० २१।८०

३. भविष्यपुराण—अध्याय ४३। ६८।६९।७१ तथा १२१

४. सम्यगर्चति नलेऽर्कमतूर्णं भक्तिगन्धिरसुनाकलि कर्णः।
श्रद्दधानहृदयप्रति चातः साम्बमम्बरमणिर्निरचैषीत्॥ नै० २१।३२

५. स्कन्दपुराण, उत्कलखंड अध्याय ४३ काशी खण्ड अध्याय ६१ में भी केशव की द्वादश मूर्तियों का वर्णन है।

है उनमें से एक-एक मूर्ति की एक-एक मास में प्रतिदिन पूजा करते हुए वारह महीनों में वारह मूर्तियों की पूजा सम्पन्न होती है। पूजन में क्रमशः वारह पुष्पों तथा वारह फलों का उपयोग किया जाता है। अशोक, मल्लिका, पाटल, कदम्व, कनेर, चमेली, मालती, शतदल-कमल, नीलकमल, वासन्ती, कुन्द और पुन्नाग इन वारह पुष्पों तथा अनार, नारियल, आम, कटहल, खजूर, ताल, प्राचीन आँवला, श्रीफल, नारंगी, सुपारी, करौंदा और जायफल इन वारह फलों का क्रमशः एक एक का एक एक माह में प्रयोग करना चाहिये। भक्ष्य, भोजन, चोष्य, लेह्य, और अन्य मधुर व्यञ्जन तथा आसन समर्पित करने चाहिये। मूर्तियां स्वर्णमयी होनी चाहिये और श्वेतवस्त्र से ढके कलसों पर स्थापित होनी चाहिये। द्वादशाक्षर मन्त्र से मूर्तियों की पूजा करनी चाहिए। महाभारत में भी भीष्म ने युधिष्ठिर को वर्ष के वारहों महीनों में प्रतिमास एक एक के अनुसार विष्णु की वारह मूर्तियों की पूजा तथा व्रत का उपदेश दिया है। उनका क्रम इस प्रकार है—अगहन में केशव, पौष में नारायण, माघ में माधव, फागुन में गोविन्द, चैत में विष्णु, वैसाख में मधुसूदन, जेष्ठ में त्रिविक्रम, असाढ़ में वामन, श्रावण में श्रीधर, भाद्रपद में हृषीकेश, आश्विन में पद्मनाभ तथा कार्तिक में दामोदर। पूजा की तिथि द्वादशी वतायी है।

अग्निपुराण में[2] विष्णु की चौवीस मूर्तियों का भी उल्लेख हुआ है। उनके चिह्न विभिन्न वताए गए हैं। वहाँ द्वादशाक्षर मन्त्र से चौवीस मूर्तियों के स्तोत्र का विधान है।[3]

अहिर्बुध्न्यसंहिता[4] में केवल वारह मूर्तियों का ही उल्लेख है।

परम-भागवत श्रीहर्ष नल की पूजा में विष्णु की पुराणोक्त द्वादश मूर्तियों का उल्लेख करते हैं—"शिव की पूजा के पश्चात् राजा ने पुरुष-सूक्त के अनुसार पुरुषोत्तम भगवान् की वारहों मूर्तियों की 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते हुए वन्दना की।"[5] चाण्डू पण्डित ने इस श्लोक की टीका में विष्णु की वारह मूर्तियों का नामोल्लेख करते हुए शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म को वारहों

---

१. महाभारत—अनुशासन पर्व अध्याय १०९
२. अग्निपुराण—अध्याय ४८
३. द्वादशाक्षरकं स्तोत्रं चतुर्विंशतिमूर्तिमत्।
   य पठेच्छृणुयाद्वापिनिर्मलः सर्वमाप्नुयात् ॥ अग्नि पु० ४८।१५
४. अहिर्बुध्न संहिता—अध्याय २६
५. उत्तमं स महति स्म महीभृत्पूरुषं पुरुषसूक्तविधानैः।
   द्वादशापि च स केशवमूर्तीर्द्वादशाक्षरमुदीर्य ववन्दे॥ नै० २१।४१

की चार भुजाओं में विभिन्न क्रम से रक्खी हुई वताया है। उन्होंने यहां भी वारह मूर्तियों को विष्णु के प्रधान दस अवतार तथा लक्ष्मण और वलराम का भी उल्लेख किया है।[1]

द्वादशाक्षर मन्त्र पुराणों में वड़ा प्रसिद्ध है। भागवतपुराण में नारद ने ध्रुव को भगवदाराधन की विधि वताते हुए उसी मन्त्र का उपदेश दिया था।[2]

---

१. समहीभृत्–उत्तमं पुरुषं श्रीकृष्णं पुरुषसूक्तविधानैः सहस्रशीर्षा इत्यादि षोडशार्चनेन आह्वानासनवस्त्रोपवीतपादार्घ्याचमनगन्ध पुष्पधूपदीपनैवेद्य प्रणामप्रदक्षिणविसर्जनैःषोडशोपचारैः तथा षडर्चनेन तेनैव निजशरीरे श्रीकृष्ण शरीरे चाङ्गन्यासकरन्यासैश्च महति स्म पूजयति स्म। तथा द्वादशापिकेशव मूर्तीः द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति मन्त्रमुदीर्य ववन्दे ननाम। केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमवामनश्रीधर-हृशीकेशपद्मनाभदामोदरसंज्ञाः। उपरितनदक्षिणभुजाप्रभृतिप्रादक्षिण्येनभुज-चतुष्टये यथासंख्यं शंखचक्रगदापद्मानिकेशवमूर्तौ। अधस्तनदक्षिण-भुजादारभ्यशंखचक्रगदापद्मैः नारायणः। उपरितनवामभुजादारभ्यशंख-पद्मगदाचक्रैर्माधवः। अधस्तनवामभुजादारभ्य शंखचक्रगदापद्मैर्गोविंदः। उपरितनवामभुजादारभ्य शंखचक्रगदापद्मैर्विष्णुः। उपरितनदक्षिणभुजाच्च शंखपद्मगदाचक्रैर्मधुसूदनः। अधस्तनवामहस्तात् शंखपद्मगदाचक्रैः त्रिविक्रमः। अधस्तनदक्षिणभुजात् शंखचक्रगदापद्मैर्वामनः। अधस्तनवामभुजात् शंखपद्मचक्रगदाभिः श्रीधरः अधस्तनवामभुजात् शंखगदाचक्रपद्मैः हृषीकेशः। अधस्तात् दक्षिणभुजात् शंखपद्मचक्रगदाभिः पद्मनाभः। उपरिदक्षिण-भुजात्शंखगदाचक्रपद्मैः दामोदरः। मार्गमासप्रवृति द्वादशमासेषु केशवादि मूर्तयः पूज्याः। अथवा दशावताराः बलभद्रलक्ष्मणौ च इत्थं द्वादश।
—(चाण्डूपण्डित रचित नैषधदीपिका)।

२. जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान्॥
"ओम् नमो भगवते वासुदेवाय"—
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्यात् द्रव्यमयीं बुधः।
सपर्यां सविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥ भा० पु० ४।८।५३–५४

कश्यप ने अदिति को पयोव्रत का विधान बतलाते हुए इसी मन्त्र का उपदेश दिया है तथा इसे द्वादशाक्षर विद्या कहा है।[1]

विष्णुपुराण में भी पाराशर ने मैत्रेय से द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करने वालों को विष्णु-पद की प्राप्ति बतायी है। चाण्डू पण्डित ने उसी को ध्यान में रखकर—सहस्रशीर्षा आदि पुरुष सूक्त का प्रत्येक मन्त्र पढ़ते हुए विष्णु की आह्वान आदि षोडशोपचार पूजा-इत्यादि लिखा है।

पद्मपुराण में पुरुष सूक्त के साथ विष्णु पूजा का विधान है।[2]

परशुराम द्वारा इक्कीस बार क्षत्रिय-वध[3]

माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य ने एक बार नर्मदा में जल-क्रीड़ा करते समय अपनी सहस्र भुजाओं से नर्मदा का प्रवाह ही रोक लिया। धारा के उलटे ऊपर की ओर बढ़ने से रावण का वहां लगा हुआ शिविर ही बह चला। क्रुद्ध हो दशानन उसके ऊपर चढ़ दौड़ा। किन्तु स्त्रियों के सम्मुख ही कार्तवीर्य ने उसे बन्दी बना लिया। फिर जैसे कोई बानर बांध कर छोड़ दे वैसे ही छोड़ दिया।[4] वही कार्तवीर्य एक बार मृगया-प्रसंग में जमदग्नि ऋषि के आश्रम में आया। जमदग्नि ने उसका राजोचित सत्कार किया। ऋषि की योग-विभूति उसके राजैश्वर्य से बढ़कर थी। उसने ऋषि की होम-धेनु का बलात् अपहरण कर लिया। परशुराम ने आश्रम में आकर यह सब अत्याचार सुना। उन्होंने क्रोधवश तुरन्त कार्तवीर्य की राजधानी में पहुंचकर परशु से उसके सहस्रों बाहुओं और सिर को काट डाला।[5] कुछ समय के पश्चात् कार्तवीर्य के पुत्र-गण पितृ-वध का प्रतिशोध लेने जमदग्नि के आश्रम में आए। और उन्होंने ऋषि को अकेला पाकर उनका वध कर डाला। परशुराम को इससे

---

१. वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद् द्वादशाक्षरविद्यया। भागवत पु० ८।१६।३९

२. प्रत्यृचं पुरुषसूक्तेन मूलमन्त्रेण वैष्णवः।
मन्त्रद्वयेन कुर्वीत षोडशैरुपचारकैः॥
भूयः प्रत्युपचारेषु दद्यात् पुष्पांजलिंततः॥ पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २५८ ५८–५९

३. महाभारत—वनपर्व अध्याय ११६, ११७; भागवत ९।१५,१६

४. गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः।
माहिष्मत्यां संनिरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा॥ भाग० ९।१५।२२

५. कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत्॥ भाग० ९।१५।३६

अपार क्रोध हुआ। पिता की अन्त्येष्टिक्रिया से मुक्त होकर उन्होंने इक्कीस वार पृथ्वी के क्षत्रियों का खोज खोज कर वध किया, तथा उनके रुधिर से समन्तपञ्चक में पांच रुधिरकुण्ड वनाए,[1] जिनमें अपने पितरों का तर्पण किया और यज्ञ करके ब्राह्मणों को सारी पृथ्वी का दान कर दिया। पूर्व दिशा होता को, दक्षिण ब्रह्मा को, पश्चिम अध्वर्यु को, उत्तर उद्गाता को, मध्य कश्यप को, आर्यावर्त उपद्रष्टा को तथा शेष दूसरे यज्ञ के सदस्यों को दिया।[2]

विष्णु के परशुराम-अवतार की प्रार्थना करते हुए नल पूर्वोक्त पौराणिक घटनाओं का स्मरण करते हैं। क्षत्रिय-वध का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"प्रभो, सृष्टि करते समय आपने अपनी भुजाओं से जिस क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया, फिर परशुराम का रूप धारणकर अपनी उन्हीं भुजाओं से उस जाति को लीन भी कर लिया। आप की उन वीर भुजाओं को यह उचित ही था, क्योंकि कारण में ही कार्य का लय होता है।[3] आगे ब्राह्मणों को पृथ्वी देने का समर्थन करते हैं—पांसुला (धूलिपूर्ण, पुश्चली), मनु से लेकर असंख्य पतियों द्वारा भुक्त तथा ब्रह्मा ने जिसे नव खण्डों में विभक्त कर दिया है ऐसी पृथ्वी को ब्राह्मणसात् करके आपने उचित ही किया।[4]

अन्त में कार्तवीर्य द्वारा रावण-पराजय तथा कार्तवीर्य के वध का स्मरण करते हुए कहते हैं—"रेणुकानन्दन, जव आप ने सहस्रार्जुन को सुख से विनष्ट कर दिया तो रावण को नष्ट करने में क्या कष्ट हो सकता था क्योंकि रावण तो सहस्रार्जुन से भी पराजित हुआ था। फिर रावण वध के लिये आपको उसी समय एक दूसरा अवतार क्यों लेना पड़ा? इसका समाधान मैं नहीं कर सकता हूँ। अतः उन दोनों राम रूप आपको मेरा प्रणाम।[5]

---

१. त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपंचके पंच चकार रुधिरह्लदान्॥ महाभारत, वनपर्व ११७।९

२. ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम्।
अन्येभ्यो वान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम्॥ भागवत ९।१६।२१-२२

३. क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक्।
जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम्॥ नै० २१।६५

४. पांसुला बहुपतिर्नियतं या वेधसारचि रुषां नवखण्डा।
तां भुवं कृतवतो द्विजभुक्तां युक्तकारितरता तव जीयात्॥ नै० २१।६६

५. कार्तवीर्यभिदुरेण दशास्ये रेणुकेय! भवता सुखनाश्ये।
कालभेदविरहादसमाधिं नौमि रामपुनरुक्तिमहं ते॥ नै० २१।६७

पारिजात-हरण[1]

पृथ्वी से उत्पन्न नरकासुर नामक दैत्य इन्द्रादि देवों को पराजित कर देवमाता अदिति के दो कुण्डल, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा तथा स्वर्ग की अन्य सम्पत्तियाँ लूट ले गया था। देव-गण ने कृष्ण की शरण जाकर उनसे नरकासुर के वध की प्रार्थना की। कृष्ण ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी प्रिया सत्यभामा-सहित गरुड़ पर सवार होकर असुर को मारने के लिए प्रस्थान किया, और उसका वध कर देवों की लूटी हुई सम्पति उन्हें पुनः वापस दिलवाई। अनेक नरेशों की सोलह हजार कन्याओं को, जो असुर के यहाँ वन्दी थीं, मुक्त किया तथा उनकी ही प्रार्थनापर उनसे विवाह किया। फिर देवमाता का दर्शन करने तथा उनके कुण्डल देने स्वर्ग-लोक गए। देवमाता को प्रणाम कर उनके कुण्डल उन्हें समर्पित किए। उस समय सत्य भामा शची के महल में गईं। इन्द्राणी ने उनका उचित स्वागत किया। उसी समय सेवकों ने इन्द्र का भेजा सुन्दर पारिजात का पुष्प शची को दिया। शची ने उसे मर्त्योचित न समझ सत्यभामा से पूछा भी नहीं और वह पुष्प अपने ही केशों में गूँथ लिया। सत्यभामा इस अपमान से बड़ी क्रुद्ध हुईं। उन्होंने कृष्ण के पास जाकर उनको शची के पारिजात-विषयक गर्व का वृत्तान्त बताया। वासुदेव ने प्रिया की बात सुनकर पारिजात का वृक्ष ही उखाड़ लिया और उसे गरुड़ पर लाद कर प्रिया के साथ द्वारका को चल दिये। इस पर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। देवों को साथ लेकर उन्होंने कृष्ण से युद्ध किया, पर अन्त में पराजित होकर इन्द्र ने पारिजात का स्वर्ग से जाना सह लिया। कृष्ण ने उसे सत्यभामा के महल में लगाया।

यह कथा हरिवंश में[2] बड़े विस्तार के साथ तथा पद्मपुराण की कथा से कुछ भिन्न कही गयी है। वहां नारद का स्वर्ग से एक पारिजात पुष्प लाना, कृष्ण को देना तथा कृष्ण का उसे रुक्मिणी को सौंपना, उससे सत्यभामा का क्रोध, कृष्ण का सत्यभामा के अनुनयार्थ स्वर्ग से पारिजात वृक्ष ही उखाड़ लाने की प्रतिज्ञा, नारद द्वारा कृष्ण तथा इन्द्र के बीच सन्देश-वार्ता, इन्द्र की पारिजात देने में असम्मति, इन्द्रकृष्णयुद्ध, स्वर्ग से पारिजात का लाया जाना तथा एक संवत्सर बीतने पर पुण्यक-व्रतोत्सव के समय पुनः स्वर्ग में वापस पहुंचाया जाना—आदि का वर्णन हुआ है, जो पद्मपुराण के कथानक से कुछ भिन्न पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर तो हरिवंश में ही[3] पद्मपुराण जैसा कथानक भी है।

---

१. पद्मपुराण उत्तरखंड—अध्याय २७६ श्लोक ४२।११०

२. हरिवंश पुराण अध्याय ६५–७६

३. हरिवंश २।६४

नैषध में पारिजात-हरण का दो बार स्मरण किया गया है।

१—दमयन्ती-स्वयंवर में इन्द्रादि चारों देवों का कृतक-नल-रूप धारण कर उपस्थित होने पर पांचवें वास्तविक नल के विना उस सभा के वर्णन में श्री हर्ष उसे पारिजात-रहित अन्य देव-वृक्षों से युक्त स्वर्गपुरी के समान वताते हैं।[1]

२—फिर विष्णु के कृष्णावतार की स्तुति करते हुए नल दान के विषय में भगवान् के हाथों को पारिजात से वढ़कर वताकर पारिजात-हरण आख्यान का उल्लेख करते हैं।[2]

राम द्वारा शम्बूक-वध[3]

राम के राज्य-काल में एक वार किसी ब्राह्मण के वालक का अकाल मरण हो गया। वह वालक का शव लिए राम के पास आया और अपने पुत्र की मृत्यु का कारण राजा का दुर्वृत्त ही वतलाता हुआ अपनी पत्नी-सहित स्वयं भी वहीं प्राण देने पर उतारू हो गया। नारद ने राम से इस अनर्थ का कारण किसी शूद्र का तपस्याचरण वताया। राम मृत-वालक का शव तेल में रखवाकर पुष्पक विमान पर वैठकर क्रम से पश्चिम, उत्तर तथा पूर्व दिशाओं में गए। अन्त में दक्षिण दिशा में विन्ध्य के समीप शैवल-गिरि पर एक सरोवर के किनारे मुंह नीचे की ओर किए और लटकते हुए एक व्यक्ति को तपस्या में लीन देखा।[4] राम के पूछने पर उसने अपने को जाति से शूद्र तथा नाम से शम्बूक वताया।[5] राम ने तुरन्त खड्ग से उसका सिर उड़ा दिया[6] और उसी समय ब्राह्मण का वालक भी जीवित हो उठा।[7]

---

१. सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाभूद्धृतदिव्यरत्नैः।
भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजातैः॥ नै० १०।२४

२. ते हरन्तु दुरितव्रतीति मे यैः स कल्पविटपी तव दोर्भिः।
छद्मयादवतनोरुदपाटि स्पर्धमान इव दानमदेन॥ नै० २१।७८

३. वाल्मीकिरामायण—उत्तरकांड, सर्ग ७३—७६

४. तस्मिन्सरसि तप्यन्तं तापसं सुमहत्तपः।
ददर्श राघवः श्रीमाँल्लम्बमानमधोमुखम्॥ वही—७५।१४

५. शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूको नाम नामतः॥ वही—७६।३

६. भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।
निष्कृष्य कोशाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः॥ वही—७६।१५

७. तस्मिन्मुहूर्ते बालोऽसौ जीवेन समयुज्जत॥ वही—उ० का० ७६।१५

नैषध में नल विष्णु के रामावतार की स्तुति करते हुए राम के उक्त चरित्र का भी उल्लेख इस रूप में करते हैं—जिन्होंने रावण ऐसे प्रतापी को उसकी दुर्दान्त सेना के साथ विनष्ट किया, आप के उन्हीं हाथों से शम्बूक नामक शूद्र को भी अन्तिम गति मिली। क्या इससे शम्बूक का यह शङ्ख-धवल यश सागर-पर्यन्त नहीं फैला ?[१]

विष्णु के सितकेश-रूप बलराम[२]

कंस के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी ब्रह्मा आदि देवों के साथ विष्णु के पास क्षीरसागर के किनारे जाती है। वहां उनकी प्रार्थना सुनकर प्रसन्न हो उनके कष्ट को दूर करने के लिए विष्णु भगवान ने अपने श्वेत तथा कृष्ण दो वाल उखाड़कर देवों से कहा कि हमारे ये ही दोनों केश पृथ्वी पर अवतार धारण कर उसका भार उतारेंगे। हमारा एक वाल तो वसुदेव की स्त्री देवकी के आठवें गर्भ में उत्पन्न होगा और कंस को मारेगा तथा दूसरा श्वेत वाल रोहिणी के गर्भ से उत्पन्न होगा। भागवत-पुराण में भी वलराम और कृष्ण को विष्णु का सित-कृष्ण केश कहा गया है।[३] वलराम को विष्णु का अनन्तावतार[४] तथा शेषावतार[५] भी बताया गया है।

श्री हर्ष ने वलदेव को विष्णु का ही एक दूसरा शेष रूप तथा सित-केश कहते हुए उक्त पौराणिक वृत्त का स्मरण किया है। "भगवन् आप की सात्त्विक मूर्ति के श्वेतकेश के समान गौरवर्ण वलदेव जी आप के ही रूप हैं और वही भगवान् शेष कहे जाते हैं। आपका वह वलदेव-रूप अवतार आप की सात्त्विक मूर्ति के जरा-पलित केशों के समान धवल रूप ठीक ही है।"[६]

---

१. तद्यशो हसति कम्बुकदम्बं शम्बुकस्य न किमम्बुधिचुम्बि।
नामशेषितससैन्यदशास्यादस्तमाप यदसौ तव हस्तात्॥ नै० २१।७३

२. विष्णुपुराण ५।१

३. भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः क्लेशव्ययायकलयासितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥
भा० २।७।२६

४. सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते। भागवत १०।२।५

५. शेषाख्यं धाम मामकम्॥ भाग० १०।२।८

६. तावकापरतनोः सितकेशस्त्वं हली किल स एव च शेषः।
साध्वसाववतरस्तव धत्ते तज्जरच्चिकुरनालविलासः॥ नै० २१।८४

दत्तात्रेय अवतार

साधारणतया विष्णु के दस प्रसिद्ध अवतारों में दत्तात्रेय की गणना नहीं है। मत्स्यपुराण (अध्याय ४) में एक स्थान पर विष्णु के दस अवतारों की गणना में दत्तात्रेय का भी नाम रक्खा गया है। किन्तु ये दस अन्य प्रसिद्ध दसों से पृथक् हैं—धर्म, नारायण, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य, राम, व्यास, बुद्ध तथा कल्कि इनमें प्रथम तीन अवतार तो—जो दिव्य उत्पत्तियां कही जाती हैं—विभिन्न मन्वन्तरों में हुए थे, तथा शेष सात शुक्र के शाप के कारण विभिन्न त्रेता, द्वापर तथा कलियुगों में हुए थे। प्रथम त्रेता में धर्म, एक चतुर्थांश नष्ट होने पर दत्तात्रेय अवतार हुआ। इसी प्रकार पन्द्रहवें त्रेता में मान्धाता, उन्नीसवें में परशु-राम (जामदग्न्य) तथा चौबीसवें में राम हुए। अट्ठाइसवें द्वापर में व्यास-अवतार हुआ, जो आठवां अवतार था। नवां बुद्ध तथा दसवां कल्कि अवतार हुआ। हरि-वंश पुराण[1] में विष्णु के वाराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास तथा कल्कि अवतारों का वर्णन है। वेदों तथा वैदिक यज्ञों के नष्ट होने पर, वर्णधर्म के अव्यवस्थित हो जाने पर, धर्म के शिथिल होने एवं अधर्म आदि के बढ़ने पर, विष्णु का दत्तात्रेय अवतार हुआ।[2] उन्होंने सारी वैदिक व्यवस्थाएँ ठीक कीं तथा हैहयराज को वरदान दिया।

भागवतपुराण में अनेक अवतारों की प्रार्थना करते हुए ब्रह्मा जी दत्तात्रेय का भी उल्लेख करते हैं, उन्हें अत्रि का पुत्र तथा यदुहैहय आदि को योग-समृद्धि देने वाला बतलाते हैं।[3] इसी प्रकार विश्वरूप ने इन्द्र को नारायण वर्म (कवच) का उपदेश देते हुए दत्तात्रेय को योगनाथ कहा है।[4]

मार्कण्डेयपुराण में अनसूया के गर्भ से अत्रि के यहां ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश

---

१. हरिवंश १।४१

२. तेन नष्टेषु वेदेषु प्रक्रियासु मखेषु च।
चातुर्वर्ण्ये च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते॥
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टेऽनृते स्थिते।
प्रजासु शीर्यमाणासु धर्मे चाकुलतां गते॥ इत्यादि, वही १।४१।५-६

३. अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो दत्तोमयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहाः योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः॥
भागवत २।७।४

४. दत्तस्त्वयोगादथयोगनाथः पायाद्॥ वही ६।८।१६

तीनों देवों का सोम, दत्तात्रेय तथा दुर्वासा के रूप में अवतार लेना बताया गया है।[१] लक्ष्मी दत्तात्रेय की पत्नी के रूप में मानी गयी हैं। विष्णु-रूप दत्तात्रेय योगस्थ रहकर विषयों का अनुभव करते थे,[२] तथा उनके उपदेश से देवगण दैत्यों का वध कर सके।[३] उन्होंने कार्तवीर्य को अनेक वरदान दिए[४] तथा अलर्क को बड़े विस्तार के साथ योग का उपदेश दिया।[५]

ब्रह्मपुराण में वैदिक[६] धर्मों के पतन के समय विष्णु का दत्तात्रेय के रूप में उत्पन्न होकर वैदिक विधियों एवं समाज को पुनः स्थापित करना लिखा गया है।

बाल-दत्तात्रेय के नाम से एक उपनिषद् भी है जिसमें उन्हें उन्मत्त तथा पिशाच-वेषधारी, महायोगी तथा अवधूत आदि कहा गया है। किन्तु यह उपनिषद् बहुत बाद का समझ पड़ता है।

स्कन्द-पुराण के काशी-खण्ड में[७] एक दत्तात्रेय तीर्थ का वर्णन है, जिसमें स्नान करने वाले को पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति बतायी गई है। अद्वैतवादी अवधूत गीता के भी प्रतिपादक दत्तात्रेय यही माने जाते हैं।

नैषध में नल विष्णु के दत्तात्रेय-रूप की प्रार्थना करते हुए उन्हें अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक, सहस्रार्जुन को वरदान देने वाला, योगी होने के कारण अनघ नाम से प्रसिद्ध, तथा राजा अलर्क के सांसारिक मोह-रूप अन्धकार को अपने सूर्य-रूप ज्ञानोपदेश से विनष्ट करने वाला बताते हैं।[८]

राम का सीता तथा लक्ष्मण से वियोग

राम का सीता से दो वार वियोग हुआ। एक वार वन में रावण के हरने पर, दूसरी तथा अन्तिम वार लोकापवाद से डरकर सीता को त्याग देने पर।[९] राम

---

१. सोमो ब्रह्माभवत् विष्णुर्दत्तात्रेयोऽभ्यजायत।
दुर्वासाः शंकरो जज्ञे वरदानाद्दिवौकसाम्॥ मार्कण्डेयपुराण १७।११

२. दत्तात्रेयोऽपि विषयान् योगस्थो बुभुजे हरिः॥ वही—१७।१५

३. वही—अध्याय १८

४. वही—अध्याय १९

५. वही—अध्याय ३९-४३

६. ब्रह्मपुराण—२१३।१०७–९

७. स्कन्दपुराण—काशीखंड ८४।१८

८. सन्तमद्वयमयेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोर्जनबीजम्।
नौमियोगजयितानघसंज्ञं त्वामलर्कभवमोहतमोऽर्कम्॥ नै० २१।९३

९. वाल्मीकिरामायण—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४३–४९

का लक्ष्मण से भी दो वार वियोग हुआ। दोनों वार राम दुःख को न सह सके। प्रथम वार जव लङ्का के युद्ध में रावण की शक्ति लगने पर लक्ष्मण मूर्च्छित हुए थे, राम के लिए वह इतना असह्य शोक था कि उन्होंने स्वयम् अपने मरण का भी निश्चय कर लिया।[१] फिर सुषेण ने विशल्यकरणी ओषधि द्वारा उन्हें सचेत किया। वास्तव में यह वियोग नहीं था, किन्तु राम को वियोग की असह्य वेदना सहनी पड़ी थी। दूसरी वार, राम के राज्यकाल के अन्तिम समय में स्वयं काल तापस का रूप धारण करके आया। राम ने उसकी पूजा की। तापस ने एकान्त में वात करने की इच्छा की और यह शर्त लगा दी कि इस समय जो हम दोनों की वात सुने, या हमें देखे आप उसका वध कर दें।[२] राम ने शर्त पूरी करने की प्रतिज्ञा कर लक्ष्मण को द्वार पर वैठा दिया। तापस ने एकान्त में अपना वास्तविक परिचय देते हुए पितामह ब्रह्मा का सारा सन्देश कह सुनाया। वे दोनों बात कर ही रहे थे कि इसी वीच में दुर्वासा द्वार पर आ पहुंचे। उन्होंने तुरन्त राम से मिलने की इच्छा प्रकट की। जव उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा कि राम इसी समय मुझसे मिलें अन्यथा तुम सब को शाप देता हूँ।[३] तव डर कर लक्ष्मण सारे परिवार को वचाने के लिये अकेले का वध श्रेयस्कर समझते हुए राम को सूचना देने भीतर चले गए। प्रतिज्ञावद्ध राम ने मन्त्रियों तथा वशिष्ठादि ऋषियों से सलाह कर लक्ष्मण को त्याग दिया, क्योंकि त्याग और वध दोनों समान ही हैं।[४] किन्तु वे इस लक्ष्मण-वियोग को एक क्षण भी नहीं सह सकते थे। अतः पुत्रों को राज्य-भार सौंप कर शेष भाइयों के साथ सरयू-जल में आप्लावित हो पुनः अपने वैष्णव तेज में मिल गए।[५]

---

१. अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्।
इहैव मरणं श्रेयो न तु बन्धुविगर्हणम्॥ वही—उ० का० १०१।१२

२. यः श्रृणोति निरीक्षेद्वा स वध्यौ भविता तव॥ वही—उ० का० १०३।१२

३. अस्मिन्क्षणे मां सौमित्रे रामाय प्रतिवेदय।
विषयं त्वां परं चैव शपिष्ये राघवं तथा॥
भरतं चैव सौमित्रे युष्माकं या च सन्ततिः।
न हि शक्ष्याम्यहं भूयो मन्युं धारयितुं हृदि॥ वही—उ० का० १०५।६-७

४. विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद्धर्मविपर्ययः।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं मतम्॥ वही—उ० का० १०६।१३

५. विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥ वही—उ० का० ११०।१२

श्रीहर्ष पूर्वोक्त कथानकों के आधार पर राम के सीता-वियोग सह लेने तथा लक्ष्मण-वियोग में कातर होने का अत्यन्त मार्मिक ढंग से वर्णन करते हैं।[1]

हरिहर[2]

स्कन्दपुराण में शिव के हरिहर रूप धारण करने का आख्यान इस प्रकार है। एक वार देवासुर-संग्राम में दैत्यों से पराजित होकर देवगण ब्रह्मा की शरण में गए। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना सुनकर उनसे शङ्कर के हरिहर रूप की उत्पत्ति इस प्रकार बताई—एक वार शिवभक्तों तथा विष्णु-भक्तों के बीच विवाद हुआ। शिव ने उनके देखते-देखते एक अद्‌भुत रूप धारण कर लिया। वे आधे से शिव तथा आधे से विष्णु हो गए। एक ओर गरुड़ दूसरी ओर नन्दी वृषभ उपस्थित थे। एक ओर मेघ के समान श्यामवर्ण तथा दूसरी ओर कर्पूर के समान गौरवर्ण था। इस तरह उन्होंने भक्तों को शिव-विष्णु की एकता का बोध कराया। श्रुतियों और स्मृतियों के अर्थ को बाधित करने वाली भेद-बुद्धि नष्ट हो गयी। पाखण्डी और युक्तिवादी सब चकित हो गए। मन्दराचल पर वह हरिहर रूप आज भी विद्यमान है। सर्जन, पालन एवं संहार करने वाली वह मूर्ति सम्पूर्ण विश्व का बीज है, एवं अनन्त है।

देवों की प्रार्थना से प्रकट होकर उस हरिहर मूर्ति ने बताया कि वह उनके शत्रु दानवों का पहिले ही वध कर चुकी है।

मत्स्यपुराण[3] में हरिहर की प्रतिमा बनाने की विधि का सविस्तार वर्णन है। उस प्रतिमा को शिवनारायण नाम दिया गया है। प्रतिमा के वामार्द्ध भाग में विष्णु तथा दक्षिणार्द्ध में शूलपाणि को बनाने का उल्लेख है। कृष्ण (विष्णु) की दोनों भुजाएं मणि-जटित केयूर से विभूषित होनी चाहिएँ। दोनों में शङ्ख एवं चक्र धारण किए हों। कटि के आधे भाग में उज्ज्वल आभूषण हो, पीला वस्त्र हो, तथा चरण में मणि-जटित आभूषण हों, इत्यादि। इसी प्रकार दक्षिणार्द्ध जटा के भार तथा आधे चन्द्रमा से विभूषित होना चाहिए। वर देने वाले दाहिने हाथ को भुजङ्गों के हार-रूप वलय से विभूषित होना चाहिए। दूसरा हाथ सुन्दर त्रिशूल से विभूषित रहे। मूर्ति में यज्ञोपवीत के स्थान में सर्प हों। कटि का आधा भाग गज-चर्म से परिवृत हो। नाग से विभूषित चरण मणियों तथा रत्नों से अलङ्कृत हों, इत्यादि।

---

१. इष्टदारविरहौर्वपयोधिस्त्वं शरण्य! शरणं स ममैधि।
लक्ष्मणक्षणवियोगकृशानौ यः स्वजीविततृणाहुतियज्वा॥ नै० २१।७५

२. स्कन्दपुराण—ब्राह्मखण्ड, चातुर्मास्यमाहात्म्य।

३. मत्स्यपुराण—अध्याय २६०

श्रीहर्ष इस प्रकार के हरिहर-रूप का चित्रात्मक वर्णन करते हुए पूर्वोक्त पौराणिक विवरणों का उल्लेख-सा करते प्रतीत होते हैं। "भगवन् आप के हरिहर-रूप में यह आधा शिव का रूप कैसा, आप तो सम्पूर्ण रूप से महेश ही हैं?[1] इसी प्रकार वेद विद्वानों ने शेष-रूप धारण करते हुए आपको अशेष (सर्वस्वरूप) कहा है।"[2] "आपने हरिहर रूप में धड़ के ऊपर भी दो रूप क्यों धारण किए? हरिहर-रूप में एक रूप धड़ होना चाहिए था और दूसरा सिर। उसी प्रकार नरसिंह रूप में क्यों सिर और धड़ में भेद कर दिया? पर स्वतन्त्र-सत्ता वाले से कोई प्रश्न ही कैसा?"[3]

शर्कराचल-दान

मत्स्यपुराण[4] में शङ्कर ने नारद से दस प्रकार के मेरु पर्वत का दान बताया है। धान्य, लवण, गुड़, सुवर्ण, तिल, कपास, घृत, रत्न, रजत, (चांदी) तथा शक्कर की विशेष विधि से विशाल राशि (पर्वत) बनाकर दान देने को मेरू-दान कहते हैं। इन दानों के लिए विशेष प्रकार का विधान तथा समय बताया गया है। पुण्य-प्रद अयन में, तुला या मेष की संक्रान्ति पर जब सूर्य दक्षिण से उत्तर या उत्तर से दक्षिण हो रहे हों, व्यतीपात नामक योग पर, चन्द्रग्रहण पर, शुक्लपक्ष की तृतीया तिथि को, ग्रहण आदि के अवसर पर, चन्द्रमा के डूब जाने पर, विवाह आदि उत्सवों में द्वादशी तिथि को अथवा शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को जब पुण्यप्रद माङ्गलिक नक्षत्रों का योग हो—तब शास्त्रीय यथोचित नियमों को जानने वाले पुरुष को इन धान्य आदि शैलों का दान करना चाहिए। दान देने का स्थान तीर्थ, देवालय, गोशाला, या अपने ही भवन का आंगन होना चाहिए।

दसवां (अन्तिम) दान शर्कराचल का बताया गया है।[5] इसके दान से ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा शिव सन्तुष्ट रहते हैं। शक्कर के आठ भार द्वारा उत्तम या महान्

---

१. केयमर्धभवता भवतो हे मायिना ननु भवः सकलस्त्वम्।
शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयनो हि जनस्त्वाम्॥ नै० २१।१०२

२. केयमर्धभवता भवतोहे मायिना ननु भवः सकलस्त्वम्।
शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयनो हि जनस्त्वाम्॥ नै० २१।१०२

३. ऊर्ध्वदिक्कदलनां द्विरिकार्धैः किं तनुं हरिहरीभवनाय।
किं च तिर्यगभिनो नृहरित्वे कः स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः॥ नै० २१।१०४

४. मत्स्यपुराण—अध्याय ८३

५. मत्स्यपुराण—अध्याय ९२

अचल, चार भार द्वारा मध्यम अचल तथा दो भारों द्वारा अधम अचल बतलाया जाता है। थोड़ी सम्पत्ति वाला व्यक्ति एक भार अथवा आधे भार द्वारा इसकी रचना कर सकता है। बीच में मुख्य (मेरु) पर्वत (शर्कराराशि) तथा चारों ओर चार (घेरे हुए) पर्वत (शर्कराराशि) होने चाहिएँ—जो विष्कम्भक कहे जाते हैं। मुख्य पर्वत के चौथाई अंश के बराबर विष्कम्भक-पर्वतों की रचना होनी चाहिए। अन्य विशेष विधियों के पश्चात् विशेष मन्त्रों द्वारा इन पर्वतों का आवाहन किया जाता है। फिर मुख्य पर्वत का गुरु के लिए दान कर दिया जाता है। शेष चार विष्कम्भक पर्वत पुरोहित को दे देने चाहिए।

नल-प्रिया दमयन्ती की वाणी की मधुरता की प्रशंसा करते हुए उसे मदन-द्वारा गुडपाक (सीडे) के तागे की मथानी बनाकर मत्स्य-पुराणोक्त पूर्वोक्त शर्कराचल से मथने पर इक्षुसागर से उत्पन्न सुधा के समान बताते हैं—"यदि इक्षु-रस के सागर को अमृतभोजी मदन गुडपाक (सीडे) के तागे से बांधकर दानखण्ड में वर्णित शर्कराचल से मथे तो उस समय जो नूतन सुधा निकलेगी प्रिये, वही सुधा स्यात् मेरे कानों को तृप्ति देने वाली तुम्हारी वाणी की समता करे।"[1]

गरुडामरेन्द्र समर[2]

अपनी माता विनता को उसकी सौत सर्पों की माता कद्रू की दासता से मुक्त करने के लिए गरुड़ अमृत लाने चले। क्योंकि सर्पों ने अमृत पाने पर ही उनकी माता को मुक्त करने को कहा था।[3] चलते समय उन्होंने माता से वहां मिलने वाली कोई अपने खाने योग्य वस्तु पूंछी। विनता ने वहां समुद्र के किनारे एकान्त में स्थित निषादों की एक बस्ती बतायी, और कहा कि "वहां हजारों निषाद रहते हैं। तुम उन्हें खाना।[4] परन्तु ब्राह्मण को मारने का विचार भी कभी[5] मत करना। गरुड़ के

---

१. उन्मीलद्गुडपाकतन्तुलतया रज्ज्वा भ्रमीरर्जयन्।
दानान्तःश्रुतशर्कराचलमथः स्वेनामृतान्धाः स्मरः॥
नव्यामिक्षुरसोदधेर्यदि सुधामुत्थापयेत्साभव-
ज्जिह्वायाः कृतिमाह्वयेत परमां मत्कर्णयोः पारणाम्॥ नै० २१।१५३

२. महाभारत—आदि पर्व, अध्याय २०–३४

३. श्रुत्वा तमब्रुवन् सर्पा आहरामृतोजसा।
ततो दास्याद् विप्र मोक्षो भविता तव खेचर॥ वही—आदिपर्व २७।१६

४. समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम्।
निषादानां सहस्राणि तान् भुक्त्वामृतमानय॥ वही—२८।२

५. न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथञ्चन॥ वही—आदिपर्व २८।३

पूछने पर ब्राह्मणों का लक्षण बताती हुई विनता ने कहा, जो तुम्हारे कण्ठ में पहुँच कर आग के अंगारे की तरह जलने लगे तथा तुम्हारी जठराग्नि जिसे पचा न सके उसे तुम ब्राह्मण समझना"।[1] गरुड़ ने समुद्र के किनारे जाकर अपने मुंह को बड़े विस्तार के साथ फैलाया। उसमें निषाद अपने आप समाने लगे। संयोग से एक ब्राह्मण भी अपनी निषाद-कुलोत्पन्ना भार्या के साथ उनके कण्ठ में पहुंच गया। जिससे गरुड़ का कण्ठ जलने लगा।[2] घबड़ाकर गरुड़ ने उसे शीघ्र पत्नी-सहित बाहर चले आने को कहा। बाहर आकर ब्राह्मण ने गरुड़ को अनेक आशीर्वाद दिए।

गरुड़ अमृत लेने के लिये आगे बढ़े, तो इन्हें इन्द्रादि देवों के साथ भयानक युद्ध करना पड़ा। उन्हें परास्त करके ये अमृत ले आए। इस प्रकार गरुड़ ने अपनी माता को दासता के बन्धन से मुक्त किया।

नैषध में दमयन्ती की वाणी की मधुरता की प्रशंसा करने में अपने को असमर्थ बताते हुए नल उस अमृत की ही प्रशंसा करते हैं, जिसके लिए गरुड़ से अमरेन्द्र का समर हुआ था। माधुर्य में द्राक्षा और क्षीर का तो वह वाणी सदा से अपमान ही करती रही है।[3]

२---दमयन्ती चन्द्रमा को राहु के गले में जाकर भी मुक्त होता जानकर राहु को महाभारत के पूर्वोक्त उपाख्यान का उल्लेख करती हुई सचेत करती है कि "राहु तुम्हारे द्वारा भक्षित यह चन्द्रमा तुम्हारा गला जलाता है, क्या इसी से गरुड़ के समान तुम ब्राह्मण समझ कर इसे छोड़ देते हो, कि जैसे गरुड़ ने ब्राह्मण को त्याग दिया था उसी प्रकार तुमने भी इसे ब्राह्मण समझ कर उगिल दिया? अरे भाई, इसका तो व्यक्तिगत स्वभाव ही दूसरे को जलाने का है, (ब्राह्मण जाति

---

१. यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा।
देहदङ्गारवत्पुत्र तं विद्याद् ब्राह्मणर्षभम्।। वही---आदिपर्व २८।१०-१२
जठरे न च जीर्येद् यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम्।

२. तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया।
दहन् दीप्त इवाङ्गारः ······ वही--आ० प० २९।१

३. त्वद्वाचः स्तुतये वयं न पटवः पीयूषमेव स्तुम-
स्तस्यार्थे गरुडामरेन्द्रसमरः स्थाने न जानेऽजनि।
द्राक्षापानकमानमर्दनसृजा क्षीरे दृढावज्ञया।
यस्मिन्नाम धृतोऽनया निजपदप्रक्षालनानुग्रहः।। नै० २१।१६०

की इस विषय में क्या बात है ?) भला बताओ कि मुझ निरपराध को भी जलाने में ब्राह्मणता कैसी ?[1]

अत्रि-नेत्र से चन्द्रमा की उत्पत्ति तथा दक्ष की सत्ताइस कन्याओं से उनका विवाह[2]

प्राचीनकाल में ब्रह्मा ने महर्षि अत्रि को सृष्टि करने की आज्ञा दी। महर्षि ने सृष्टि करने की शक्ति पाकर अनुत्तर नाम का तप किया। वे पूर्ण संयम के साथ परमानन्दमय ब्रह्म का चिन्तन करने लगे। एक दिन महर्षि के नेत्र से कुछ जल की बूंदें टपकने लगीं, जो अपने प्रकाश से सम्पूर्ण चराचर जगत् को प्रकाशित कर रहीं थीं। दिशाओं की अधिष्ठात्री देवियों ने स्त्री-रूप में आकर पुत्र पाने की इच्छा से उस जल को ग्रहण कर लिया। उनके उदर में वह जल गर्भ-रूप से स्थित हुआ। दिशाएं उसे धारण करने में असमर्थ हो गयीं। अतः उन्होंने उस गर्भ को त्याग दिया। तब ब्रह्मा ने उनके छोड़े हुए गर्भ को एकत्रित करके उसे एक तरुण पुरुष के रूप में प्रकट किया। वह सब प्रकार के आयुधों को धारण करने वाला था। फिर वे उस तरुण पुरुष को देव-शक्ति-सम्पन्न 'सहस्र' नामक रथ पर बैठा कर अपने लोक में ले गए। ऋषियों ने उन्हें अपना स्वामी कहा। उनके बढ़े हुए तेज से पृथ्वी पर दिव्य ओषधियां हुईं, इसी से चन्द्रमा को ओषधियों का स्वामी कहा जाने लगा।

कुछ समय के पश्चात् प्रचेताओं के पुत्र दक्ष प्रजापति ने अपनी सत्ताईस कन्याएं—जो रूप और लावण्य से युक्त तथा अत्यन्त तेजस्विनी थीं—चन्द्रमा को पत्नी-रूप में अर्पित कीं।

उक्त कथा पद्मपुराण[3] में वर्णित है। भागवत पुराण[4] में भी चन्द्रमा को अत्रि के नेत्र से उत्पन्न, विप्रों और ओषधियों तथा ताराओं का पति कहा गया है।[5] स्कन्द

---

१. दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद्द्विजवासनयोज्झितः।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि कां वद विप्रता॥ नै० ४।७१

२. पद्मपुराण—सृष्टिखण्ड, अध्याय १२

३. पद्मपुराण—सृष्टिखण्ड अध्याय १२

४. भागवत-९।१४

५. जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमोगुणैः।
तस्यदृग्भ्योभवत्पुत्रः सोमोमृतमयः किल॥
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः। भागवत ९।१४।२–३

पुराण में दक्ष की सत्ताइस कन्याओं द्वारा चन्द्रमा का प्रेम पाने के लिये चण्डी की आराधना तथा सप्तविंशतिक नामक शिवलिङ्ग की स्थापना का वर्णन है।[1] मत्स्य-पुराण[2] में भी प्रायः पद्मपुराण की जैसी ही कथा है।

नैषध (वाइसवें सर्ग) में चन्द्रवर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने पूर्वोक्त पौराणिक आख्यान का अनेक वार अनेक रूप से उल्लेख किया है।

एक वार तो विरोधाभास के चमत्कार के लिए त्रिनेत्र (शिव) तथा अत्रि-नेत्र का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"त्रिनेत्र (शिव) के मस्तक पर सुशोभित इस चन्द्र की उत्पत्ति अत्रि मुनि के नेत्र से हुई थी।"[3] फिर चन्द्रमा के द्विजत्व का अर्थ (दो से उत्पन्न) लगाते हुए कहते हैं कि "चन्द्रमा एक तो सागर, दूसरे अत्रि-नेत्र से से उत्पन्न होने के कारण ही द्विज कहा जाता है। इसी से यह अत्रि-ज (तीन से नहीं अत्रि मुनि से उत्पन्न) भी कहा जाता है।"[4]

चन्द्रमा के पिता अत्रि की नेत्र-कनीनिका-रूप एक तारा तथा चन्द्रमा की पत्नी-रूप सत्ताइस ताराएं भी उसी कथानक के आधार पर उल्लिखित हुई हैं।[5]

चन्द्रमा की सागर से उत्पत्ति

भगवान् विष्णु की सहायता से मन्दराचल को मथानी वनाकर तथा वासुकि नाग को रस्सी वनाकर जब देवों और दानवों ने मिलकर क्षीर-सागर का मन्थन किया उस समय सागर से जो रत्न निकले उनकी संख्या तथा नामों के विषय में पुराणों में बड़ा पाठ-भेद मिलता है।

श्रीमद्भागवत पुराण[6] कालकूटविष, हविर्धानी (कामधेनु), उच्चैःश्रवा, ऐरावत, कौस्तुभ, पारिजात, अप्सरायें, श्री, वारुणी, अमृत-कलश-सहित धन्वन्तरि इन्हीं ग्यारह रत्नों का इसी क्रम से उल्लेख करता है। वहां सागर-मन्थन से

---

१. स्कन्दपुराण---नागर खण्ड, अ० ८६

२. वही अध्याय २३

३. त्रिनेत्रभूरप्ययमत्रिनेत्रादुत्पादमासादयति स्म चित्रम्॥ नै० २२।७३

४. सागरान्मुनिविलोचनोदराद्यत् द्वयादजनि तेन किं द्विजः।
एवमेव च भवन्नयं द्विजः पर्यवस्यति विधुः किमत्रिजः॥ नै० २२।१३३

५. एकैव तारा मुनिलोचनस्य जाता किलैतज्जनकस्य तस्य।
ताताधिका सम्पदभूदियं तु सप्तान्विता विंशतिरस्य यत्ताः॥ नै० २२।१२७

६. स्कन्दपुराण ८।७–८।

चन्द्रमा को उत्पत्ति नहीं कही गयी है, किन्तु महाभारत में[1] सोम (चन्द्रमा), श्री, सुरा, तुरग, कौस्तुभ, धन्वन्तरि, अमृत, ऐरावत और कालकूट इन नव रत्नों का इसी क्रम से उद्भव बताया गया है। सर्वप्रथम चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, जिनका तेज सैकड़ों सूर्यों से बढ़कर था।[2] कालकूट की उत्पत्ति सब के बाद होती है, जिसे महेश्वर ने अपने कण्ठ में धारण कर नीलकण्ठ रूप प्राप्त किया।

मत्स्यपुराण में[3] चन्द्रमा, लक्ष्मी, सुरा देवी, पीला घोड़ा, कौस्तुभमणि, पारिजात, सशरीर विष, धन्वन्तरि, मदिरा, अमृत, कामधेनु, ऐरावत, छत्र, तथा कुण्डल इन चौदहों का उल्लेख इसी क्रम से हुआ है। इसमें भी चन्द्रमा को सौ सूर्यों की कान्ति-वाला बताया गया है। विष के साथ असंख्य विषधर जीव भी निकले। विष की ही सलाह से देवों ने शङ्कर से उसे निगलने की प्रार्थना की। उन्होंने उनकी प्रार्थना मानकर विष को पी लिया।

विष्णुपुराण में[4]—कामधेनु, मदिरा, कल्पवृक्ष, अप्सराओं का झुंड, चन्द्रमा, विष, अमृतभरा कलश लिए धन्वन्तरि और अन्त में लक्ष्मी—ये नव रत्न इसी क्रम से निकले बताए गए हैं। चन्द्रमा को महादेव जी ने अपने मस्तक पर धारण कर लिया। जो विष निकला उसे नागों ने ले लिया।

स्कन्दपुराण में,[5] हलाहल विष, चन्द्रदेव, सुरभि, कल्पवृक्ष, पारिजात्त, चूत (आम), सन्तान (चारों) कौस्तुभ, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, मदिरा, भांग, काकड़ासिंगी लहसुन, गाजर, धतूर, पुष्कर आदि उन्मादक वस्तुएं, महालक्ष्मी, तथा कलश में अमृत लिए धन्वन्तरि—इतनों का इसी क्रम से उद्भव बताया गया है। सूर्य, चन्द्रमा का संकेत पाकर मोहिनी-रूप विष्णु ने राहु का शिरच्छेद किया था, अतः वह बदला लेने को चन्द्रमा के पीछे दौड़ा। चन्द्रमा भागकर शिव के शरण में गए। नील-कण्ठ ने उन्हें मस्तक पर धारण कर अभयदान दिया।

श्रीहर्ष ने चन्द्रमा के सागर से उत्पन्न होने का अनेक बार उल्लेख किया है। चन्द्रमा को भर्त्सना देती हुई दमयन्ती उसके विरहिणियों का वध करने आदि नीच कृत्यों की ओर संकेत कर उसके उच्च कुल सागर में जन्म तथा शिव के मस्तक पर

---

१. आदिपर्व, अध्याय १८

२. ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात्।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः॥ वही—आदिपर्व १८।३३

३. अध्याय २५०।५१

४. विष्णुपुराण १।९

५. माहेश्वरखण्ड—केदारखण्ड अध्याय, नैषध ४।५०

निवास का स्मरण करती है।[१] फिर मानती है कि समुद्र में मन्दराचल को मथानी बनाकर रक्खे जानेपर वहां पहले ही से विद्यमान चन्द्रमा वहीं क्यों न चूर्ण हो गया।[२] बाद में प्रिय-प्रिया संयुक्त होकर जब सानन्द चन्द्र-वर्णन करने लगते हैं तो चन्द्रमा को पर्वतशिर से उदय होता देख कर समुद्र-मन्थन का स्मरण नल करते हैं :—"सागर में पर्वत से मन्थन करने पर चन्द्रमा निकला था, हम इस पौराणिक कथानक को निःसन्देह सत्य मानते हैं क्योंकि अब भी तो चन्द्रमा सागर में जाकर पर्वत से निकलता है।"[३] अन्त में चन्द्रमा में द्विजत्व का अर्थ दो बार उत्पन्न होना लगाते हुए कहते हैं—"चन्द्रमा की उत्पत्ति सागर से ही बतायी जाती है और अत्रि मुनि के नेत्र से भी। क्या दो से उत्पन्न होने के कारण ही इसे (द्विज) कहते हैं?"[४]

श्रीहर्ष ने समुद्र से उत्पन्न दो प्रकार के कालकूट और श्वेत विष (चन्द्ररूप)—का तथा भगवान् शङ्कर के द्वारा कालकूट के एवं देवों से चन्द्रात्मक श्वेत विष के पिए जाने का भी उल्लेख किया है। विरह-व्यथिता दमयन्ती एक (महा) देव द्वारा पिए जाने पर फिर सदा के लिए समाप्त हुए कालकूट की अपेक्षा सारे सुरों के पी लेने पर भी पुनः नूतन उदय पाने वाले श्वेतविष-रूपी चन्द्रमा का व्यतिरेक (आधिक्य) प्रदर्शित करती हुई उसकी निन्दा करती हैं।[५]

विदर्भ-राज भीम ने शिवभक्त मय दानव द्वारा अपने को उपहार रूप में भेंट किया हुआ विषापहारी गरुड़—मणियों से जटित एक विशाल भोजनपात्र नल को दहेज में दिया। कवि कल्पना करता है कि यदि भगवान् शङ्कर ने कालकूट को इस पात्र में रखकर पिया होता तो उनका कण्ठ काला न होता क्योंकि उसमें रखते ही गरुड़ मणियों के प्रभाव से उस विष की शक्ति नष्ट ही हो गई होती।[६]

---

१. त्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया।
न गणितं यदि जन्म पयोनधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता॥ नै० ४।५०

२. निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन! चूर्णितः। नै० ४।५१

३. असंशयं सागरभागुदस्थात् पृथ्वीधरादेव मथःपुरायम्।
अमुष्य यस्मादधुनापि सिन्धौ स्थितस्य शैलादुदयं प्रतीमः॥ नै० २२।४३

४. सागरान्मुनिविलोचनोदराद्यद् द्वयादजनि तेन किं द्विजः।
एवमेव च भवन्नयं द्विजः पर्यवस्यति विधुःकिमत्रिजः॥ नै० २२।१३३

५. असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष विधुर्विशदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम्॥ नै० ४।६१

६. न नीलकण्ठत्वमधास्यदत्र चेत् स कालकूटं भगवानभोक्ष्यत॥ नै० १६।३०

अन्य प्रसंगों में भी मन्थन का नैषध में कई बार उल्लेख हुआ है। लक्ष्मी की उत्पत्ति की ओर संकेत करती हुई इन्द्र-दूती कहती है—"वैदर्भि, तुम इन्द्र को न त्यागो। जिन देवों ने क्षीर-सागर का मन्थन कर इनके अनुज विष्णु के लिए लक्ष्मी निकाली, उन्हें इनके लिए इक्षुरस-समुद्र को मथ कर एक अन्य (उससे श्रेष्ठ) लक्ष्मी निकालने का श्रम न करना पड़े।"[1] (अर्थात् लक्ष्मी से भी अधिक सुन्दर होने के कारण तुम्हीं जव इन्द्र को मिल जाओगी तो इन्द्र के लिए एक अन्य श्रेष्ठ लक्ष्मी को इक्षुरस-सागर मथकर निकालने का परिश्रम देवों को न करना पड़ेगा।)

शुक्र द्वारा कच को संजीवनी-विद्या का दान[2]

देवदानव-संघर्ष में दैत्यों के गुरु शुक्र अपनी संजीवनी-विद्या के वल से मरे हुए दैत्यों को जिला देते थे। किन्तु देवों के गुरु बृहस्पति को वह विद्या न ज्ञात थी। अतः देवों ने दुःखी होकर बृहस्पति के पुत्र कच को शुक्र से वह विद्या सीखने की प्रेरणा की। कच ने एक सहस्र वर्ष तक शुक्र के यहां रहते हुए उनको अपनी सेवा से प्रसन्न कर अनेक विद्याएँ सीखीं। शुक्र की युवती कन्या देवयानी कच के ऊपर मुग्ध रहती थी। एक दिन दैत्यों ने कच को वन में गाय चराते हुए अकेले पाकर मार डाला, और उसके शरीर को भेड़ियों तथा गीदड़ों को खिला दिया। शाम को कच के न लौटने पर देवयानी की अनुनय से शुक्र ने संजीवनी-विद्या के वल से उसे जीवित कर दिया। कुछ दिन के वाद दैत्यों ने फिर कच को देवयानी के लिए फूल तोड़ते हुए उपवन में अकेला पाया। इस वार उन्हें मार कर जला दिया और मदिरा में मिलाकर शुक्र को ही पिला दिया। वड़ी देर होने पर भी जव कच न लौटा तो देवयानी ने अनर्थ की आशंका से पुनः कच को वुलाने के लिए शुक्र से प्रार्थना की। इस वार शुक्र के वुलाने पर कच उनके पेट में ही बोला और वताया कि किस प्रकार दैत्यों ने उसे गुरु के उदर में पहुंचा दिया है। अव यदि शुक्र कच को वाहर निकालते हैं तो स्वयं मरते हैं। नहीं निकालते तो पुत्री देवयानी कच के विना प्राण दे रही है। अतः विवश होकर उन्होंने कच को पहले संजीवनी-विद्या ही पढ़ा दी, जिससे शुक्र की कोख फाड़ कर वह वाहर निकल आया और पुनः उसी संजीवनी के वल से शुक्र को जिला दिया।

नैषध में सूर्य की किरणों से अन्धकार को विनष्ट होता देख तथा सूर्य को आदित्य (अदितिपुत्र) तथा अन्धकार को तमस् (दैत्य भी काले होते हैं तथा राहु का नाम

---

१. नैनं त्यज क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्यानुजायोद्गमितामरैः श्रीः॥ नै० ६।८०

२. मत्स्यपुराण—अध्याय २५

भी तमस् है) जानकर श्रीहर्ष को दैत्य-गुरु शुक्र के द्वारा कच के पुनर्जीवित किए जाने वाली घटना की स्मृति हो आती है। कवि शंका करता है कि इस तमस् को शुक्र संजीवनी क्यों नहीं दे रहे हैं? फिर स्वयं समाधान भी करता है कि प्रभात-वला होने के कारण शुक्र इस समय निश्चय ही सन्ध्योपासन में मौन हो गए होंगे, जिससे बेचारा तमस् यह विपत्ति भोग रहा है।[1]

शङ्ख-लिखित का आख्यान[2]

शंख और लिखित दो भाई थे। दोनों व्रतशील तपस्वी बाहुदा नदी के किनारे अलग-अलग रमणीय आश्रम बनाकर रहते थे। एक दिन लिखित शंख के आश्रम में गए। उस समय संयोग से शंख कहीं बाहर गए हुए थे। लिखित आश्रम के पके फलों को गिरा कर निःशंक हो खाने लगे। उसी समय शंख अपने आश्रम में आ गए। उन्होंने लिखित को, आश्रम में बिना पूछे फल तोड़ने के कारण चोरी का अपराधी बताया, और राजा सुद्युम्न के पास जाकर एवं स्वयम् अपना अपराध बताकर दण्ड माँगने का आदेश दिया। लिखित ने ऐसा ही किया। राजा सुद्युम्न ने लिखित के दण्ड-प्राप्ति के लिए हठ करने पर उनके दोनों हाथ कटवा लिए।[3] भाई शंख ने लिखित को बाहुदा में स्नान करके देवों, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करने और पुनः अधर्म में मन न ले जाने का आदेश दिया। बाहुदा में स्नान कर ज्योंही लिखित आचमन आदि उदक्क्रिया करने को हुए त्योंही उनके दोनों हाथ पुनः पूर्ववत् हो गए।

बन्दी-जन नल के यश की तुलना धवल शंख से देते समय आकाश में लिखित (चित्रित) चन्द्रमा को सकलंक बताते हुए 'करच्छेद' इत्यादि में श्लेष द्वारा महाभारत के शङ्ख-लिखित उपाख्यान की ओर भी संकेत कर देते हैं।[4]

---

१. असुरहितमथ्यादित्योत्थांविपत्तिमुपागतंदितिसुतगुरुःप्राणैर्योक्तुर्नकिंकचवत्तमः।
पठति लुठतींकण्ठेविद्यामयम्मृतजीवनींयदिन वहतेसंध्यामौनव्रतव्ययभीरुताम्॥
नै० १९।१५

२. महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय २३

३. करौ प्रच्छेदयामास—वही—शान्तिपर्व, २३।३६

४. ब्रूमः शङ्खं तव नल यशः श्रेयसे सृष्टशब्दं।
यत्सोदर्यं स दिवि लिखितः स्पष्टमस्ति द्विजेन्द्रः॥
अद्धा श्रद्धाकरमिह करच्छेदमप्यस्य पश्य।
म्लानिस्थानं तदपि नितरां हारिणो यः कलङ्कः॥ नै० १९।५६

विश्वामित्र का त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग भेजना
तथा
नूतन सृष्टि रचना

इक्ष्वाकुवंशीय राजा त्रिशङ्कु ने सशरीर स्वर्ग जाने की अभिलाषा से अपने कुलपुरोहित वसिष्ठ से यज्ञ कराने के लिए कहा। वसिष्ठ ने इस कार्य को असम्भव बताया। अतः वह उनके तपःशील सौ पुत्रों के पास गया। उन्होंने भी त्रिशङ्कु से सारी भूतपूर्व घटना सुनकर उस कार्य को कराने में अपने को असमर्थ बताया। और त्रिशङ्कु ने जब दूसरे के पास जाने की बात कही तो गुरु-पुत्रों ने उसे चाण्डाल होने का शाप दे दिया। त्रिशङ्कु उस शापवश चाण्डाल हो गया। अन्त में अत्यन्त दुःखित होकर वह विश्वामित्र के पास गया। इक्ष्वाकुवंशीय राजा की वह हीन दशा देखकर विश्वामित्र को उस पर बड़ी करुणा आई। त्रिशङ्कु से सारा वृत्तान्त सुनकर उन्होंने उसे सशरीर स्वर्ग भेजने का वचन दिया।[२] इसके बाद अपने पुत्रों से यज्ञ की सामग्री एकत्रित करने को कहा तथा शिष्यों से सभी ऋषियों तथा विद्वानों को बुलाने को कहा। विश्वामित्र ने वसिष्ठ के पुत्रों को आने से इन्कार करते सुना तो उन्हें शाप देकर जला डाला।

अन्त में जब सभी ऋषि मुनि एकत्रित हुए तो उन्होंने त्रिशङ्कु के लिए यज्ञ कराने का प्रस्ताव किया। सब ने विश्वामित्र के भय से यज्ञ में भाग लिया क्योंकि सब को विश्वामित्र के शाप से भय था।[३] किन्तु उस यज्ञ में आवाहन करने पर भी कोई देवता अपना भाग लेने न आए।[४] इस पर अत्यन्त क्रुद्ध हो विश्वामित्र ने अपनी तपस्या के फल-रूप में त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग भेज दिया। किन्तु इन्द्र ने उसे गुरु-शाप-भागी समझ कर पुनः पृथ्वी पर मुंह के बल ढकेल दिया। त्रिशङ्कु 'त्राहि त्राहि' करता हुआ नीचे गिरने लगा। अब विश्वामित्र के क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। उन्होंने त्रिशङ्कु को बीच में ही रोक दिया और स्वयं नये स्वर्ग की रचना

---

१. वाल्मीकिरामायण—बालकांड, सर्ग ५९, ६०

२. हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः॥ वही—बा० का० ५९।५

३. यदाह वचनं सम्यगेतत्कार्यं न संशयः।
अग्निकल्पो हि भगवान्शापं दास्यति रोषतः॥ वही—बालकाण्ड ६०।६

४. नाभ्यागमस्तदा तत्र भागार्थं सर्वदेवताः॥ वही—बालकाण्ड ६०।६

करने लगे। नये नक्षत्र बनाये, नये देवता बनाये। इस पर सभी देवदानव, ऋषि मुनि घबड़ा कर विश्वामित्र की शरण आए और उनसे ऐसा न करने की प्रार्थना करने लगे। अन्त में विश्वामित्र की आज्ञा से देवों ने त्रिशंकु को स्वर्ग में स्थान दिया किन्तु उसका सिर नीचे की ओर ही रहा।[1]

स्कन्दपुराण[2] में इस कथा में कुछ भेद है। वहाँ विश्वामित्र ने पहले तो त्रिशंकु को साथ लेकर पृथ्वी के सभी तीर्थों का पर्यटन किया, फिर पाताल-गंगा के स्नान तथा हाटकेश्वर के दर्शन से उसे चांडालता से मुक्त करा कर स्वयं ब्रह्मा के पास गमन किया और उनसे अपना उद्देश्य कहा। ब्रह्मा ने भौतिक शरीर त्यागे विना स्वर्ग-प्राप्ति असम्भव बताई।[3] विश्वामित्र ने त्रिशंकु को वेदविहित विधि से बारह वर्ष तक यज्ञ कराया पर अभीष्ट फल न हुआ। त्रिशंकु को बड़ी ग्लानि हुई। अपनी विफलता पर क्षुब्ध विश्वामित्र ने शिव को संतुष्ट कर उनसे नूतन सृष्टि करने की शक्ति मांगी। शिव के वरदान से विश्वामित्र ब्रह्मा की स्पर्धा से नयी सृष्टि रचने लगे। देवता, नक्षत्र, ग्रह, संध्या, मनुष्य, उरग, राक्षस, वृक्ष, लता, सप्तर्षि, ध्रुव, आकाशचारी जीव सभी की दोहरी रचना हो गई और सब अपनी अपनी क्रिया में भी लग गये। इस पर इन्द्रादि देवता अत्यन्त घबड़ाए और ब्रह्मा की शरण में जाकर उनसे इस अनर्थ को रुकवाने की प्रार्थना करने लगे।[4] ब्रह्मा ने जाकर विश्वामित्र को शान्त किया। त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग ले जाने का वचन दिया किन्तु विश्वामित्र-रचित सृष्टि के यज्ञ में अनुपयुक्त होने की बात रक्खी।[5]

कुण्डिनपुर के राजप्रासाद की धवल पताका के प्रति श्रीहर्ष की कल्पना है कि मानों विश्वामित्र द्वारा आधी बनाकर छोड़ी हुई आकाशगंगा हो। उस स्वर्ग-निर्माण कार्य में ब्रह्मा के द्वारा विघ्न किए जाने की घटना का उल्लेख कर हर्ष

---

१. अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः॥ वही—बा० का० ७।६०।३२
२. नागरखंड अध्याय २–७
३. न यज्ञकर्मणा स्वर्गः स्वेन कायेन लभ्यते।
मुक्त्वा देहान्तरं ब्रह्मंस्तस्मान्नैवं वदस्व माम्॥ वही—नागर खंड ४।६९
४. तस्मात् वारय तं गत्वा स्वयमेव पितामह।
यावन्न व्याप्यते सर्वं तत्सृष्ट्येदं चराचरम्॥ वही—नागर खंड ७।१०
५. भविष्यति ध्रुवाविप्र सृष्टिर्या भवता कृता।
परं सर्वेषु कृत्येषु यज्ञार्हा न भविष्यति॥ वही—नागर खंड ७।१८

ने स्कन्दपुराणोक्त कथा की ओर संकेत किया है।[१] पुनः विमानों पर दमयन्ती-स्वयंवर देखने आये हुए देवों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष फिर उसी "नूतन स्वर्ग" का स्मरण करते हैं। "यदि विश्वामित्र स्वर्ग तथा पृथ्वी के बीच में एक दूसरे ही स्वर्गलोक का निर्माण करते तो वह जैसा सुन्दर होता, स्वयंवर को देखने आये हुए देवों के दिव्य विमानों से वह आकाश-भाग वैसा ही सुन्दर हो गया था।"[२] अन्त में इन्द्र के सम्मुख पहुंचने पर उनके तेज से नतमस्तक कलि को स्वर्ग से अधोमुख लौटने वाले त्रिशंकु के समान बताते हैं। यहां श्रीहर्ष ने वाल्मीकि-रामायणोक्त कथानक की ओर संकेत किया है।[३] क्योंकि वहीं त्रिशंकु के अवाक्-शिरा गिरने का उल्लेख है।

"शोकः श्लोकत्वमागतः"[४]

देवर्षि नारद के रामायण की मूल कथा संक्षेप में सुनाकर चले जाने पर महर्षि वाल्मीकि तमसा के किनारे शिष्य भारद्वाज के साथ स्नान करने चल दिये। वहाँ तट के वन में उनके देखते ही एक व्याध ने क्रौञ्च के जोड़े में एक पक्षी (नर) को मार डाला।[५] क्रौञ्ची के करुण रोदन ने मुनि का हृदय द्रवित कर दिया। शोकामर्ष से अभिभूत उनके कंठ से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ बालकांड २।१५

---

१. अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी।
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥ नै० २।१०२

२. द्यामन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम्।
चारुः स यादृगभविष्यदभूद्विमानैस्तादृक्तदभ्रमवलोकितुमागतानाम् ॥
नै० ११।३

३. गुरोरीढावलीढः प्रागभून्नमितमस्तकः।
स त्रिशंकुरिवाक्रान्तस्तेजसेव विडौजसः॥ नै० १७।१११

४. वाल्मीकि-रामायण—बालकांड २

५. तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः॥ वही—बा० का०, सर्ग २।१०

यह विश्व की (मानव-रचित) प्रथम कविता थी। स्वयं मुनि को वह एक अद्भुत वस्तु प्रतीत हुई। उन्होंने भारद्वाज से कह भी दिया।[1] उसके बाद आश्रम में उनके पास स्वयं ब्रह्मा आए और उस नूतन रचना के लिये उनकी प्रशंसा करते हुए राम के सम्पूर्ण चरित्र को रचने का आदेश दिया।

श्रीहर्ष वाल्मीकि की इस अकस्मात् दिव्य-शक्ति-प्रदर्शन के प्रति संकेत करते हैं, "जिनके अनेक शाखाओं से युक्त वेदत्रयी रूप वृक्षों की पंक्ति वाले कंठमार्ग से क्लेश के बिना ही दैवी वाणी (संस्कृत) स्वर्ग से सर्वप्रथम पृथ्वी पर आयी थी उन्हीं महर्षि वाल्मीकि ने उस सभा की प्रशंसा की।"[2]

गौतम का इन्द्र और अहल्या को शाप[3]

मिथिला के समीप उपवन में महर्षि गौतम का आश्रम था। एक दिन महर्षि की अनुपस्थिति में इन्द्र गौतम का वेष धारण कर आश्रम में पहुँचे। उनकी पत्नी अहल्या उस समय ऋतु-स्नात थी। इन्द्र ने अहल्या से संगम की प्रार्थना की। अहल्या मुनिवेष में उन्हें इन्द्र जानकर भी कौतूहलवश प्रमाद कर बैठी।[4] दैवयोग से ज्यों ही इन्द्र आश्रम से बाहर निकल रहे थे त्यों ही महर्षि गौतम वहां आ पहुंचे। उनके दुराचार से क्रुद्ध हो उन्होंने इन्द्र को विफल (नपुंसक) होने तथा अहल्या को सहस्रों वर्ष तक अदृश्य रूप धारण कर, वायु पीती हुई, निराहार, भस्म पर शयन करती हुई तप करने का शाप दिया, और बताया कि जब राजा दशरथ के पुत्र राम इस वन में कभी आएंगे तो उनका आतिथ्य करने से तुम्हारा शाप छूटेगा।

इन्द्र के इस गर्हित आचरण का श्रीहर्ष ने कई बार उल्लेख किया है। सदाचार के विषय में स्वयं देवों का दम्भ दिखाते हुए कलि कहता है—"पर-स्त्री-गमन न करना चाहिए, इस प्रकार के पाखण्ड का अहल्या से सम्भोग करने वाले स्वयम् इन्द्र भी जब आदर न कर सके तो और कोई क्या कर सकता है।"[5] फिर नल के

---

१. पादबद्धोक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥ वही—बा० का० २।१८

२. वाल्मीकिरश्लाघत . तामनेकशाखत्रयी भूरुहराजिभाजा।
क्लेशं विना कंठपथेन यस्य दैवी दिवः प्राग्भुवमागमद्वाक्॥ नै० १०।५७

३. वाल्मीकिरामायण—बालकांड, सर्ग ४८, ४९

४. मुनिवेशं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्॥ वही—बा० का० ४८।१९

५. परदारनिवृत्तिर्या सोयं स्वयमनादृतः।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना॥ नै० १७।४३

विलास-भवन में इन्द्र का यह दुःसाहस भी चित्रित किया दिखायी पड़ता है जो वास्तव में कामदेव की विजय-घोषणा सा प्रतीत होता है।[1] आनन्दोपहास के समय दमयन्ती की सखी कला नल को इन्द्र का ही कपट-रूप बताती हुई कहती है—"राजन्, सखी दमयन्ती कह रही है, कि मैं जब कुमारी थी उस समय इन्द्र ने नल का जो कपट रूप बनाया था मैं उसे जान गयी थी, और अब मैं यद्यपि विवाहित होकर पर-स्त्री हो गयी हूं पर अहल्या के साथ दुर्व्यवहार करने वाले की बदमाशी से तो भली-भांति परिचित हो हूँ।"[2]

मेघनाद द्वारा मायानिर्मित सीता का वध[3]

मेघनाद ने राम की सेना की वुद्धि भ्रम में डालने के लिए माया की सीता बनाई और उसे रथ पर बैठा कर वह वानरों के सम्मुख पहुँचा।[4] और हनुमान् आदि सेना-नायकों के सामने एक हाथ से उसके केश पकड़कर दूसरे हाथ में नङ्गी तलवार उसकी गर्दन पर चलाने के लिए ली। यह देख हनुमान् के नेत्रों से दुःख के आंसू गिरने लगे।[5] उन्होंने मेघनाद को स्त्री-वधरूपी पाप करने से मना किया किन्तु उसने अवज्ञा के साथ उत्तर दिया कि "जिससे शत्रु को पीड़ा हो वही अपना कर्तव्य होता है।"[6] फिर तलवार की तीक्ष्ण धार से उस रोती हुई माया-निर्मित सीता को मौत के घाट पहुँचा दिया।[7] हनुमान् से मेघनाद द्वारा इस प्रकार सीतावध का वृत्तान्त सुनकर राम मूर्च्छित हो गए। लक्ष्मण ने उन्हें अपनी गोद में लेकर होश में लाने के अनेक प्रयत्न किए। उसी समय विभीषण ने आकर यह रहस्य खोला कि मेघनाद ने स्वमाया-द्वारा सीता बनाकर उसका वध किया था।

---

१. पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतमकलत्रकामिनः।
पारदारिकविलाससाहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भित्तिषु॥ नै० १८।२१

२. भाषते नैषधच्छायामायामायि मया हरेः।
आह चाहमहल्यायां तस्याकर्णितदुर्नया॥ नै० २०।७०

३. वाल्मीकिरामायण—युद्धकाण्ड, सर्ग ८१, ८३, ८४

४. मोहनार्थं तु सर्वेषां बुद्धिं कृत्वा सुदुर्मतिः।
हन्तुं सीतां व्यवसितो वानराभिमुखो ययौ॥ वही—८१।६

५. गृहीतमूर्द्धजां दृष्ट्वा हनूमान् दैन्यमागतः।
दुःखजं वारि नेत्राभ्यामुत्सृजन्मारुतात्मजः॥ वही—युद्ध का० ८१।१६

६. न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥ वही—युद्ध का० ८१।२८

७. वही—युद्धकाण्ड ८१।२९

नैषध में सूर्य की किरणों द्वारा रात्रि के विनाश, चन्द्रमा की मलिनता, कुमुदों के संकोच आदि का वर्णन करते हुए वन्दीजन लंका युद्ध की उक्त पूरी घटना का उल्लेख श्लेष द्वारा कर जाते हैं।[1]

मन्देह नामक राक्षसों पर सूर्य का प्रात्यहिक विजय[2]

मन्देह राक्षसों की संख्या तीन करोड़ है,[3] जिनका शरीर अक्षय है[4] तथा जिनका कभी मरण नहीं होता। वे प्रतिदिन संध्या (प्रभात तथा सायंकाल) के समय सूर्य के तेज को निगल जाना चाहते हैं। प्रतिदिन सूर्य को उनसे दारुण युद्ध करना पड़ता है। उस समय ब्रह्मा, देवता, तथा ब्राह्मण लोग सन्ध्योपासन करते हुए सदा सूर्य को ओंकार सहित गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जलांजलि देते हैं। उसके बल से सूर्य की ज्योति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, और वे अपने प्रचण्ड तेज, बल तथा पराक्रम के साथ लाखों योजन ऊपर उठ आते हैं, फिर बालखिल्य आदि ब्राह्मणों द्वारा सुरक्षित हो पूर्ण दीप्ति के साथ प्रयाण करते हैं।

नल को प्रभातवेला में सूर्याञ्जलि देने की प्रेरणा देते हुए वन्दीजन मन्देहवृत्त की ओर संकेत करते हैं.....यज्ञशील महाराज, यदि सूर्यदेव के प्रति आपकी श्रद्धा है तो अब वे उदय हो रहे हैं, शीघ्र इनकी अर्चना में लग जाइए। क्योंकि इसी समय सूर्य को अर्घ्यरूप में दी गयी जलांजलियां मन्देह राक्षसों को मारने में सूर्य के लिए जलमयवज्र होकर सहायक होंगी।[5]

शम्भु-दारु-वन-सम्भुजि-क्रिया[6]

देव-दारुवन के मुनियों की तपस्या से प्रसन्न होकर एक बार शंकर नग्न विकृत रूप में वहाँ गए, और विकारोत्पादक चेष्टाएँ करने लगे। उन्हें देखकर आश्रम

---

१. व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोहं दृशोरपिधायके।
भवति च नले दूरं तारापतौ च हृतौजसि।
लघु रघुपतेर्जायां मायामयीमिव रावणि-
स्तिमिरचिकुरग्राहं रात्रिं हिनस्ति गभस्तिराट्॥ नै० १९।८

२. ब्रह्माण्डपुराण—पूर्वभाग, अनुषंगपाद, अध्याय २१।१०९-११५

३. तिस्रःकोटयस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसाः॥ वही—अनु० पा० २१।११०

४. अक्षयत्वं तु देहस्य प्रापितामरणं तथा॥ वही—अनु० २१।११०

५. नै० १९।४१

६. ब्रह्माण्डपुराण—अनुषङ्गपाद २, अध्याय २७

की स्त्रियों में प्रबल कामविकार उत्पन्न हुआ। उन्होंने सारी मर्यादाएँ तोड़ कर उनको घेर लिया। किन्तु शंकर के मन में कोई विकार नहीं था। मुनियों ने उन्हें नहीं पहिचाना अतः इस दुश्चेष्टा से क्रुद्ध होकर उन्हें कठिन शाप देने लगे। किन्तु उनके शापों का शिव के ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा। अन्त में वे मुनियों के देखते ही देखते अन्तर्हित हो गए, जिससे मुनियों का भी तेज विनष्ट हो गया। वे स्वयं भी अपने को सब प्रकार से अशक्त समझने लगे। मुनिगण बहुत घबड़ाए और ब्रह्मा की शरण में गए। ब्रह्मा ने उन्हें शिव की प्रार्थना करने के लिये कहा। मुनियों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हें फिर उसी वेश में दर्शन दिया, तथा देवदारु वन में शिवलिंग की स्थापना हुई।[1]

श्रीहर्ष ने इस कथानक का उल्लेख नल के विलास-भवन के वर्णन में किया है। भवन की भित्ति पर यह घटना भी अंकित रहती है—"प्रासाद में स्वर्णमय कपोतपालिका पर शंकर के देवदारुवन में सुरतविलास आदि वृत्तान्त उल्लिखित थे।"[2]

तारा देवी

तारा बौद्ध-मतानुयायियों की पूज्य देवी हैं। वज्रयान पन्थ वाले बौद्धों की साधन-माला में आर्यावलोकितेश्वर बोधिसत्त्व के साथ तारा (आर्यतारा) का अनेक बार उल्लेख होता है।[3] तारा को कमल पर स्थित[4] और कभी कभी कमल से उत्पन्न भी मानते हैं। उसे मातृ (सप्तमातृका) मण्डल में एक कहा गया है।[5]

---

१. लिंगपुराण अध्याय २९ में भी यह कथा इसी प्रकार ज्यों की त्यों कही गयी है।

२. शम्भुदारुवनसम्भुजि...यस्य हाटकविटंकमङ्कितम्॥ नै० १८।२४

३. (क) नम आर्यावलोकितेश्वराय बोधिसत्त्वाय महासत्त्वाय महाकारुणिकाय तद्यथा ॐ तारे तुत्तारे॥ सा० मा० १।१७८

(ख) नम आर्यावलोकितेश्वराय बोधिसत्त्वाय महासत्त्वाय महाकारुणिकाय नमस्तारायै॥ वही—सा० मा०, भा० १ पृ० २२१ (गायकवाड ओरियण्टल सिरीज)।

(ग) नमस्तारायै नम आर्याविलोकितेश्वराय बोधिसत्त्वाय इत्यादि॥ वही—भाग १, पृ० २३७

४. सितकमलोपरि चन्द्रासनस्थाम्॥ वही—भाग १, पृ० १९३

५. मातृमण्डलमध्यस्थां तारादेवीं विभावयेत्॥ वही—भाग १, पृ० १७९

पुराणों में भी तारा देवी का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मांड तथा लिंगपुराणों में तारा देवी का वर्णन है। स्कन्दपुराण में तो तारा को बौद्धों के विरुद्ध कहा है।[१] किन्तु अट्ठारहवीं शताब्दी के तान्त्रिक विद्वान् भास्करार्य ने ललितासहस्र नाम की टीका में तारा को बौद्ध मत की देवी कहा है—परन्तु उन्होंने भी त्रिपुरा का ही एक रूप माना है।

नैषध में तारा बौद्ध मत की देवी के ही रूप में मानी गयी हैं। रात्रि में तारों के मध्य में (धवल) चन्द्रमण्डल तथा उसके मध्य में (श्याम) हरिण की समता बौद्ध विहार में तारा की पूजा के लिए बनाए गए (धवल) कर्पूर तथा (श्याम) कस्तूरी के गोल चक्र से करते हुए तथा बौद्धमतानुसार उस चक्र के बनाने वाले को बड़ा पुण्यशाली बताते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—

"ब्रह्मा ने भगवान् 'जिन' के लिए ताराओं के विहार-स्थान आकाश में अति शीतल मृगनाभि (कस्तूरी) से सुवासित जो चन्द्ररूप एक कर्पूरमण्डली बनाई उसी पुण्य के कारण तो वे स्वर्गलोक में सर्वोपरि हैं।"[२]

बुद्ध द्वारा मारविजय[३]

जिस समय बोधिवृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर गौतम बुद्ध बोधिप्राप्ति के लिए 'अपराजित' आसन लगाकर बैठे, उस समय मार देव-पुत्र ने सोचा—"सिद्धार्थकुमार मेरे अधिकार से बाहर निकलना चाहता है, इसे नहीं जाने दूंगा—" और अपनी सेना के पास जा, यह बात कह, घोषणा करवा कर अपनी अत्यन्त विशाल सेना के साथ निकल पड़ा। स्वयं मार डेढ़ सौ योजन के गिरि-मेखल

---

१. दक्षिणस्यां तथा तारा संस्थिता स्थापिता मया।
तारणार्थाय वेदानां यस्मात् कूर्मं समाश्रिता॥
अनयाविष्टदेहश्च बुधो बौद्धान् हनिष्यति।
कोटिशो वेदमार्गस्य ध्वंसकान् पापकर्मिणः॥
स्कन्दपुराण, माहे० ख०, कु० ख०, अ० ४७

२. ताराविहारभुवि चन्द्रमयीं चकार
यन्मण्डलीं हिमभुवं मृगनाभिवासम्।
तेनैव तन्वि सुकृतेन मते जिनस्य
स्वर्लोकलोकतिलकत्वमवाप धाता॥ नै० २२।१३४

३. जातक—अविदूरेनिदान—पृ० ७१ वी० फाउसबोल द्वारा सम्पादित, लन्दन में ट्रूबनर एंड कम्पनी १८७७ ई०।

नामक हाथी पर चढ़ा था। उसके भयानक सैनिक नाना प्रकार के रंग तथा मुख वाले बनकर वोधिसत्त्व को डराते हुए आये। मार-सेना में देवगण भी थे। किन्तु वोधि-मण्डप तक पहुँचते-पहुँचते उस सेना में से एक भी खड़ा न रह सका। सभी सामने आते ही भाग गए। वुद्ध ने अपनी दस पारमिताओं के द्वारा ही मार को पराजित करने का निश्चय किया। मार ने वात, वर्षा, पाषाण, अस्त्र, धधकती राख, वालू, कीचड़, अन्धकार द्वारा घोर उत्पात किया, किन्तु उससे वोधिसत्त्व विचलित न हुए। मार अपनी सारी शक्ति लगाकर हार गया, और अन्त में जव पृथ्वी ने साक्षी के रूप में वोधिसत्त्व द्वारा 'वेस्सन्तर' जन्म के समय सात सप्ताह तक दिए गए दानों का प्रमाण दिया तो मार का गिरिमेखल हाथी बुद्धि के सामने घुटने टेककर वैठ गया और मार की सारी सेना भाग निकली। फिर नाग, गरुड़, देवगण तथा व्रह्मा उस वोधि-आसन के पास पहुंचकर वोधिसत्त्व की जयकार करने लगे।[1]

नैषध में मार-विजय की कथा का उल्लेख कई वार हुआ है। दमयन्ती मदन को उपालम्भ देती हुई सुगत (वुद्ध) द्वारा उसको जीतकर उसकी कीर्ति को विनष्ट करने का उल्लेख करती है।[2] फिर, नल विष्णु के बुद्धावतार की प्रार्थना करते हुए बुद्ध द्वारा मार की पराजय तथा देवों द्वारा की गयी पुष्पवृष्टि की चर्चा करते हैं।[3]

---

१. जयो हि वुद्धस्स सिरीमतो अयं। मारस्स च पापिमतो पराजयो॥ इत्यादि

२. सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत्—नै० ४।८०

३. पञ्चबाणविजयी—नै० २१।८७

तत्र मारजयिनि त्वयि साक्षात्कुर्वति क्षणिकतात्मनिषेधौ।
पुष्पवृष्टिरपतत् सुरहस्तात्पुष्पशस्त्रशरसन्ततिरेव॥ नै० २१।८८

त्रयोदश अध्याय

व्युत्पत्ति–धर्मशास्त्र तथा अन्य विविध विषय

धर्मशास्त्र-विषयक भावों को नैषध में अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है। मनु ने नग्न स्त्री को देखना निषिद्ध बताया है।[1] याज्ञवल्क्य-स्मृति में सूर्य, नग्न स्त्री तथा सुरतलीन-स्त्री को देखना निषिद्ध कहा गया है।[2]

नल के उपवन-विहार का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष स्मृति की पूर्वोक्त आज्ञा का स्मरण करते हैं—"पुष्पलताओं के साथ पवन की केलियों को देखकर नल आँखें बन्द कर लेते। पवन सर्वप्रथम लताओं की ओस की बूंदों के कारण पाण्डुपत्र रूपी वस्त्र बलात् हटाता फिर उनसे विलास क्रीडाएं करता।"[3]

नल को भीमनरेश के अन्तःपुर में इसी प्रकार का धर्मसंकट हुआ था। अन्तःपुर में किसी रमणी की आलिंगनार्थ खुली जांघों को देखकर नल ने आंखें बन्द कर लीं, जिससे उधर से आती हुई एक अन्य रमणी से टक्कर खाकर चौंक पड़े।[4]

वृक्ष, लता आदि उद्भिजों के विषय में मनु का मत है—"अपने कर्मों के फलस्वरूप अनेक प्रकार से तमोगुण से परिवेष्टित ये (वृक्षादि) अन्तश्चेतना से युक्त तथा सुख-दुख का अनुभव करने वाले होते हैं।"[5]

राजाओं द्वारा मृगया को अनिन्दित बताते हुए हंस स्मृति के पूर्वोक्त मत की ओर संकेत करता है—"मत्स्य अपने कुल के ही निर्बलों को खा जाते हैं, पक्षी अपने आश्रय वृक्षों को ही कष्ट देते रहते हैं तथा मृग निर्दोष घास आदि तृणपौधों को

---

१. नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।—मनु स्मृ० ४।५३

२. नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम्॥ आचारा० १३५

३. पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं ससृजुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ नै० १।९७

४. अन्तःपुरान्तः स विलोक्य बालां कांचित्समालब्धुमसंवृतोरुम्।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार॥ नै० ६।१३

५. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता॥ मनुस्मृति १।४९

सताया करते हैं। अतः इन मत्स्य, खग, मृग को मृगया में मारने से राजाओं को पाप नहीं लगता।"[1]

याज्ञवल्क्य का मत है कि अयाचित वस्तु यदि भेंट की जाती है तो चाहे वह दुष्कृतकारी की ही क्यों न हो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।[2] हंस स्मृति की उसी आज्ञा को प्रमाण रूप में नल के सम्मुख उपस्थित करता है। "और आपको भी यह अयाचित लाभ त्यागना उचित न होगा क्योंकि मुझ जैसे व्यक्ति को अपना सहायक हाथ बनाकर मंगलकारी दैव ही आप को यह उपहार अर्पित कर रहा है।"[3]

जल-परीक्षा के विषय में याज्ञवल्क्य ने एक विशेष विधि का उल्लेख किया है। उसके अनुसार तीन बाण चलाए जाते हैं। एक व्यक्ति बीच वाले बाण को लाने के लिए भेज दिया जाता है, एक दूसरा शीघ्र धावक व्यक्ति जहाँ से बाण चलाए जाते हैं वहां तैयार खड़ा रहता है, और संकेत पाने पर उसी स्थल की ओर दौड़ता है जहां पहले जाने वाला अपने हाथ में बाण लिए उसकी प्रतीक्षा करता रहता है। इसके साथ ही जिसकी जल-परीक्षा की जाती है वह एक जल-कुण्ड में गोता लगाता है और जो व्यक्ति हाथ में बाण लिए दूसरे धावक की प्रतीक्षा कर रहा था अब दौड़ता हुआ गोता लगाने के स्थान पर पहुँचता है और यदि उसे उस समय गोता लगाने वाला जल में निमग्न मिलता है तो गोताखोर की विजय होती है, और यदि वह जल पर उन्मग्न (उतराया हुआ) मिलता है तो उसकी हार घोषित कर दी जाती है। इस प्रकार जल की सतह पर रहना पराजय का लक्षण है।[4]

---

१. अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान्।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाघाय न भूभुजां घ्नताम्॥ नै० २।१०

२. अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः॥ याज्ञ० स्मृ०, आचा० २।१५

३. उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्राप्ति स हि प्रतिग्रहः॥ नै० २।१२

४. समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जवीनरः। गते तस्मिन्निमग्नांग पश्येच्छुद्धि-मवाप्नुयः एतदुक्तं भवति-त्रिषु शरेषु मुक्तेष्वेको वेगवान् मध्यमशरपातस्थानं गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति। अन्यस्तु पुरुषो वेगवान् शरमोक्षस्थाने तोरणमूले तिष्ठति। एवं स्थितयोस्तृतीयस्यां करतालिकायां शोध्यो निमज्जति। तत्समकालमेव तोरणमूल स्थितोपि द्रुततरं मध्यशरपातस्थानं गच्छति। शरग्राही च तस्मिन् प्राप्ते द्रुततरं तोरणमूलं प्राप्यान्तर्जलगतं यदि न पश्यति तदा शुद्धो भवति।

स्मृति की पूर्वोक्त विधि का भाव नैषध के इस श्लोक में व्यक्त किया गया है—सुषमा-विषयक परीक्षा के समय दमयन्ती के मुख से सभी कमल परास्त हो गए। स्पष्ट है कि आज भी वे कमल उसी पराजय के कारण जल से बाहर नहीं निकलते।[1]

पति की मृत्यु के पश्चात् पतिव्रता स्त्री का देहत्याग करना धर्मशास्त्र-संगत है।[2] किन्तु यदि पति को किसी महापातक का दोष लगा हो तो जब तक वह शुद्ध न हो जाय तब तक स्त्री उससे स्वतन्त्र रहती है। शुद्धिकाल तक पति की प्रतीक्षा करती है।[3]

धर्मशास्त्र की पूर्वोक्त दोनों आज्ञाओं को ध्यान में रखकर दमयन्ती मदन को फटकारती है :—"मदन, अतिप्रख्यात पतिव्रता होकर भी रति तेरे पीछे क्यों न सती हुई? तो क्या इतनी विरहिणियों के वध के पातकी तुझे तेरी प्रिया ने भी त्याग दिया।"[4]

दान के विषय में धर्मशास्त्र की आज्ञा है :—

जो दान (पात्र के पास) जाकर दिया जाता है उसका अनन्त फल होता है, और जो दान बुलाकर दिया जाता है उसका सहस्रगुण (हज़ार गुना) फल मिलता

अथमत्र प्रयोगक्रमः। उक्तलक्षणजलाशयसन्निधावुक्तलक्षणं तोरणं विधाय उक्तप्रमाणे देशे लक्ष्यं निधाय तोरणं सन्निधौ सशरंधनुःसंपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादींश्च देवान् हवनान्तमिष्ट्वा शोध्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रमाबध्य प्राड्विपाको जलमभिमन्त्रयते तोय त्वं प्राणिना प्राणः इत्यादिना मन्त्रेण अथ शोध्यः सत्येन इत्यादिना मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य गृहीतस्थूणस्य नाभात्रोदकावस्थितस्य बलीयसः पुरुषस्य समीपमुपसर्पति। अथ शरेषु त्रिषु मुक्तेषु मध्यमशरपातस्थाने मध्यमशरं गृहीत्वा जविन्येकस्मिन्पुरुषे स्थिते अन्यस्मिंश्च तोरणमूले स्थिते प्राड्विपाके न तालत्रये दत्ते युगपद् गमनमज्जनमथ शरानयनम्॥ इति।—या० व० स्मृ० व्यवहाराध्याय १०९ तथा उस पर मिताक्षरा टीका।

१. सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणम् सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम्॥ नै० २।२७

२. मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।—मिताक्षरा आचाराध्याय पृ० ८६ में उद्धृत हारीतमत।

३. आशुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः। या० व० आचाराध्याय ७७

४. अनुममार न मार कथं नु सा रतिरतिप्रथितापि पतिव्रता।
इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तयासि किमुज्झितः॥ नै० ४।७९

है, और जो दान याचना करने पर दिया जाता है उसका (पहले वाले से) आधा फल होता है।[1]

नल की अयाचित दान देने की अधीरता में स्मृति की पूर्वोक्त आज्ञा स्पष्ट सुनाई पड़ती है—"इन देवों के अभीष्ट का कैसे पता चले? विना मांगे क्या दिया ही जाय? धिक् है उस दानी को, जो याचक की इच्छा जानते हुए भी उसकी प्रतीक्षा करता है।"[2]

मनु का वचन है—"मिलने पर ब्राह्मण से सर्वप्रथम उसका कुशल पूछना चाहिए, क्षत्रिय से अनामय (नैरोग्य), वैश्य से क्षेम तथा शूद्र से आरोग्य।[3] देव-सन्देश प्रारम्भ करने के उपोद्धात में नल दमयन्ती (क्षत्रियकुलोत्पन्ना कुमारी) से कहते हैं:—"सर्वप्रथम इन्द्र ने सलील गाढ़ आलिंगन देते हुए तुम्हारा अनामय पूछा है, फिर तुम्हारे समालिंगन की भावना-मात्र से पुलकित उनकी रोमावलियों ने शेष सन्देश भेजा है।"[4]

मनु ने गृहस्थाश्रम को सव आश्रमों का आश्रयदाता, ज्ञानदाता, तथा अन्नदाता वताते हुए उसे सवसे श्रेष्ठ आश्रम माना है और उसके प्रयत्नपूर्वक पालन को स्वर्गेच्छु का कर्तव्य वताया है।[5]

दमयन्ती स्मृतिकार के पूर्वोक्त वचनों का स्मरण नल को दिलाती है—

मनु आदिक श्रेष्ठ महापुरुषों ने आश्रमों में गृहस्थाश्रम की भांति देशों में भारतवर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मैं उसी पुण्यदेश में रहती हुई

---

१. गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम्।
सहस्रगुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम्॥ मिताक्षरा, आचाराध्याय, २०३

२. मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां कथमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ नै० ५।८३

३. ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥ मनु० २।१२७

४. सलीलमालिंगनयोप्पीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम्।
शेषस्त्वदाश्लेषकथापनिद्रैस्तद्रोमभिः संदिदिशे भवत्यै॥ नै० ६।७८

५. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैवधार्यन्ते तस्माज्जेष्ठाश्रमोगृही॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं यो धार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ मनुस्मृति ३।७७-७९

(स्वर्ग न जाकर) पति-सेवा द्वारा अपना परम मंगलमय धर्म अर्जित करना चाहती हूँ।[1]

नैषध में मोह वर्णन के प्रसंग में गृहस्थाश्रम की इस श्रेष्ठता का एक वार और भी उल्लेख हुआ है—जिस प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी —ये तीनों आश्रम वाले गृहस्थ के सहारे जीते हैं उसी प्रकार काम, क्रोध तथा लोभ तीनों मोह के आधीन रहते हैं।[2]

उत्तमर्ण (महाजन) अधमर्ण (ऋणगृहीता) से अपना मूलधन कई गुना करके वसूल करता है। स्मृतिकारों ने इसका स्पष्ट विधान किया है। भगवान् मनु का मत है—वार्धुषिक (सूदखोर) महाजन को प्रतिमास १/८० प्रतिशत वृद्धिव्याज लेना चाहिए। अथवा सद्वृत्ति का ध्यान रखते हुए दो प्रतिशत भी ले सकता है। उसमें उसे धनसंबंधी कोई पाप न लगेगा और यहां तक कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से क्रमशः, २, ३, ४, ५ प्रतिशत भी प्रतिमास ले सकता है, इत्यादि।[3] महर्षि याज्ञवल्क्य का भी मत है कि वन्धक (गिरवीं) रक्खी वस्तु पर १/८० प्रतिशत प्रतिमास व्याज होना चाहिए। अन्यथा (विना वन्धक के) ब्राह्मणादि क्रम से २, ३, ४, ५ प्रतिशत प्रतिमास व्याज होना चाहिये।[4]

वेचारा अधमर्ण सदा उत्तमर्ण से डरता ही रहता है। व्यवहार के पूर्वोक्त सिद्धान्त का भाव हमें दमयन्ती की नेत्र-सम्पत्ति के वर्णन में मिलता है—"क्या

---

१. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः॥ नै० ६।९७

२. ब्रह्मचारिवनस्थायियतयो गृहिणं यथा।
त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवाः॥ नै० १७।३२

३. अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद् वार्धुषिकः शते॥ मनु० ८।१४०
द्विकं शतं वा गृह्णीयात् सतां धर्ममनुस्मरन्।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी॥ मनुस्मृति ८।१४१
द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शतं समम्।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः॥ ८।१४२

४. अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासिमासि सबन्धके।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपंचकमन्यथा॥ याज्ञ० स्मृ०, व्यवहाराध्याय ३७

हरिणियों ने दमयन्ती से दोनों नेत्रों की कान्ति ऋण रूप में ली थी, जो इसने डरती हुई उन मृगियों से वह सम्पूर्ण कान्ति कई गुनी करके वसूल की।"[१]

ऋण आदि के विषय में उत्तमर्ण और अधमर्ण (महाजन तथा लगुवा) के बीच एक प्रतिभू (मध्यस्थ या जामिन) होता है। यदि अधमर्ण ने ऋण न दिया तो उत्तमर्ण प्रतिभू को पकड़ता है।[२]

दमयन्ती से काशी-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती धर्मशास्त्र के पूर्वोक्त सिद्धान्त की ओर संकेत करती है—"जब अन्य राजाओं तथा इस राजा के बीच कर देने के विषय में इसका कृपाण ही मध्यस्थ है तो उस मध्यस्थ की बात अन्य राजा लोग क्यों न मानें। क्यों न इसे कर दें। और कहीं यदि दैवयोग से उन्होंने कर न दिया तो ये महाराज भी कृपाण को पकड़ने में दया नहीं दिखाते (फिर तो कृपाण उठ ही जाता है।)[३]"

अतिथि-सत्कार के विषय में धर्मशास्त्रकारों ने बहुत कुछ कहा है। भगवान् मनु ने तो यहां तक कहा है कि "तृण, भूमि, जल, तथा (चौथी वस्तु) सत्य एवं प्रिय-वाणी ये चार वस्तुयें सज्जनों के घर से कभी नहीं जातीं।"[४]

स्मृतिकार की पूर्वोक्त आज्ञा का ध्यान कर कुमारी दमयन्ती दूत रूप में अभ्यागत नल से निवेदन करती है—"शीलपूर्वक अपने शरीर को भी तृण के समान नम्र कर दे, अपने ही आसन की भूमि छोड़कर अतिथि को दे दे, (जल न रहने पर) आनन्द के आंसुओं को ही जल बनावे तथा अतिमधुर वचनों से कुशल पूंछे।"[५]

जीविका-वृत्तियों का विवेचन करते हुए स्मृतिकारों ने शिल और उञ्छ वृत्तियों को ऋत-वृत्ति कहा है तथा इन्हें सर्वोत्तम माना है। ब्राह्मण के लिए ये ही सर्वश्रेष्ठ वृत्तियाँ कही गयी हैं।

---

१. ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः।
भूयोगुणेयं सकलाबलाग्रताभ्यो नयालभ्यत बिभ्यतीभ्यः॥ नै० ७।३३

२. दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।
आद्यौ तु वितथे दाप्याविततरस्य सुता अपि॥ याज्ञ० स्मृ०, व्यवहाराध्याय, ५३

३. अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मादस्यैव तत्र यदभूत् प्रतिभूः कृपाणः।
दैवाद्यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव नेदं कृपा निजकृपाणकरग्रहाय॥ नै० ११।१२६

४. तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ मनु० ३।१०१

५. स्वात्माऽपि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि।
आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः॥ नै० ८।२१

ऋत (उञ्छ-शिल) या अमृत (अयाचित बिना मांगे मिले हुए) अथवा मृत (भिक्षा) या प्रमृत (कृषि) से, और या फिर सत्यानृत (वाणिज्य) से ही जीवन निर्वाह करना चाहिए। किन्तु श्ववृत्ति (सेवा या नौकरी) को कभी न ग्रहण करे।[1]

इसी शिलोञ्छवृत्ति का पुण्य-फल वटु चन्द्रमा को नैषध में मिलता है। दूत रूपी नल के रूप की प्रशंसा करती हुई दमयन्ती कहती है—"आपके द्वारा संसार की शोभा के उत्तम भाग के ले लिए जाने पर चन्द्रमा ने जो शिल तथा उञ्छ (खेत में तथा बाजार में पड़े हुए धान्य कणों को चुनने की) वृत्ति अपनाई, उसके फलस्वरूप भगवान् शंकर ने बाल रूपी होते हुए भी चन्द्रमा को अपने मस्तक पर धारण किया तथा यज्ञकर्त्ताओं में श्रेष्ठ द्विजराज पद पर उसे आरोपित किया।"[2]

धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि युवती स्त्री के पास अकेले नहीं होना चाहिये। मनु ने तो यहां तक कह डाला है कि "माता, बहिन तथा पुत्री के पास भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए। ये इन्द्रियां बड़ी बलवती होती हैं, विद्वान् को भी बलात् आकर्षित कर लेती हैं।"[3]

दमयन्ती-स्वयंवर में आते समय वरुण पूर्वोक्त स्मृति-निर्देश का ठीक अर्थ ही न समझ सके, "किसी स्त्री के पास अकेले नहीं अपितु सद्वितीय जाना चाहिए,"—इस नीति का वरुण ठीक अर्थ न समझ सके और यह सोचकर कि जो सभार्य (द्वितीया के साथ) होगा उसे दूसरी कैसे मिल सकती है, उन्होंने अपने साथ कोई भृत्य भी न लिया (जडाधिप जो ठहरे, यहां द्वितीय शब्द पत्नीवाचक नहीं है। यहाँ द्वितीय का अर्थ है दूसरा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष।)[4]

---

१. ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितभैक्षंप्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवाश्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ मनु० ४।४६
वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।—मनु० ४।१०

२. त्वया जगत्युच्चितकान्तिसारे यदिन्दुनाशीलि शिलोञ्छवृत्तिः।
आरोपितन्माणवकोपि मौलो स यौवराज्येऽपि महेश्वरेण॥ नै० ८।४२

३. मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ मनु० २।२०

४. सहद्वितीयः स्त्रियमभ्युपेयादेवं स दुर्बुध्य नयोपदेशम्।
अन्यां सभार्यः कथमृच्छतीति जलाधिपोऽभूदसहाय एव॥ नै० १४।६८

जो दूसरे के रक्खे निक्षेप (न्यास) का अपहरण करता है उसके लिए धर्मशास्त्र ने चोर के योग्य कठोर दण्ड का विधान किया है।[1]

राजा नल के वेश-प्रसाधन के समय श्रीहर्ष ने स्मृति के पूर्वोक्त विधान का स्मरण किया है—"राजा के केशप्रसाधन में नियुक्त पुरुषों ने वड़े विचार एवं अवधान के साथ केशों का शृंगार किया। शरद् ऋतु में मयूर अपने पंखों को गिरा देते हैं। मानों कलापों को गिराते समय मयूरों ने उनकी शोभा को उन केशों के पास न्यास-रूप में रख दिया था। किन्तु वाद में जव उन मयूरों ने उन्हें वापस माँगा तो इन केशों ने 'न' कर दिया। अतः राजदण्ड-रूप में उन्हें वांधा जा रहा है।"[2]

विवाह-विधि में सप्तपदी का सविशेष महत्त्व है। लाजा होम, सांगुष्ठवधूहस्त-ग्रहण, अश्मारोहण, गाथागान, और अग्निप्रदक्षिणा तीन बार हो चुकने पर अवशिष्ट लाजाओं को आहुति 'ॐ भगाय स्वाहा' मंत्र से हो जाने के अनन्तर, चतुर्थ अग्नि प्रदक्षिणा मौन वर आगे और वधू पीछे चलकर समाप्त करते हैं, और वर प्रजापति को आहुति देने के उपरान्त आलेपन (ऐपन) से उत्तरोत्तर वनाए हुए सात मण्डपों पर वधू का दाहिना पद ॐ कार सहित १—'एकमिषे विष्णुत्व नयतु' २—'द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु' ३—'त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु' ४—'चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु' ५—पंचपशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ६—'षड ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु' ७—'सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु।' इन सात मन्त्रों द्वारा रखवाता हुआ उत्तर को चलाता है। तथा इन सात पदों के रखने में वधू एक एक करके सात वचन मांगती हैं, और अन्त में वर अपना वचन देता है। विवाह विधि के मंत्रों की निष्ठा (उद्देश्य पूर्ति) उक्त सप्तपदी के सातवें पद पर समाप्त होती है।[3]

विवाहोचित शृंगार के समय नल के तिलक के प्रति कवि विवाह-विधि की पूर्णता-द्योतक उक्त सप्तपदी का उल्लेख करता है।

नल के मस्तक पर वह तिलकविंदु इस प्रकार लगता था मानों इन्द्र ने नल की ललाटस्थ दैवी-लिपि को पढ़ने के लिए चन्द्रमा को भेजा है, क्योंकि उन्हें अव

---

१. यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यो दाप्यो वा तत्समं दमम्॥ मनु० ८।१९१

२. नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य तान् वन्धमवापिपन् कचान्।
कलापलीलोपनिधिर्गिरत्यजः स यैरपालापि कलापिसम्पदः॥ नै० १५।५८

३. निष्ठा विवामन्त्राणां तासां स्यात् सप्तमे पदे॥ याज्ञ० स्मृ०, मिताक्षर १।५५ के कुछ पुस्तकों में उपलब्ध।

भी यह दुराशा बनी है कि जब तक सप्तपदी (सात) पूरी नहीं हो जाती दमयन्ती पूर्ण रूप से नल की पत्नी नहीं हो सकती, और यदि कहीं नल की भाग्य-लिपि में दमयन्ती पत्नी के रूप में नहीं लिखी है तो अब भी उसके पाने का प्रयत्न किया जा सकता है।[1]

धर्मशास्त्र के अनुसार विवाह की प्रधान विधियों का श्रीहर्ष ने नल के विवाह के समय उल्लेख किया है। जहाँ कहीं विधि-क्रम में कुछ अव्यवस्था समझ पड़ती है वह देशाचार तथा कुलाचार की विशेषता के कारण ही है। उसे कवि की अज्ञता का फल न समझना चाहिए। अतएव नैषध प्रकाशकार नारायण ने लिखा है :—

"यहाँ कहीं-कहीं जो विधि का क्रम भंग मिलता है वह देशाचार, शाखाभेद अथवा कुलाचार-विशेष के कारण हुआ समझना चाहिए। वहाँ श्रीहर्ष कवि के अज्ञान का तो लेशमात्र भी नहीं है।[2]"

विवाह के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वर को कांसे के पात्र में दधि, मधु तथा घृत को मिलाकर बना हुआ मधुपर्क खिलाया जाता है। कन्यादान करने वाला उसे मंत्र सहित वर के हाथ में देता है। वर मंत्रसहित उसे अपने हाथ में लेता है। इसके पश्चात् अनामिका और अंगुष्ठ से उसे मंत्र पढ़ते हुए आलोडन करता हुआ तीन बार भूमि पर गिराता है। और तब मंत्र[3] पढ़ते हुए तीन बार स्वयं खाता है।

नल के विवाह में श्रीहर्ष मधपर्क-प्राशन का वर्णन और उपयोग सचमत्कार करते हुए बतलाते हैं :—

"नल ने जो मधुपर्क (दधि, घृत, मिश्रित मधु) का आस्वादन किया उसका फल सोचने वालों ने यह तर्क लगाया कि भविष्य में यह जो दमयन्ती के अधर मधु का पान करेंगे उसी का इन्होंने यह शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ किया है।[4]"

---

१. न यावदग्निभ्रममेत्युदूढतां नलस्य भैमीति हरेर्दुराशया।
स विन्दुरिन्दुः प्रहितः किमस्य सा न वेत्ति भाले पठितुं लिपीम्निव॥
नै० १५।६४

२. अत्र क्वचित् क्वचित् विधिक्रमभंगो देशाचाराच्छाखाभेदात् कुलाचारविशेषाद्वा बोद्धव्यः। न पुनः श्रीहर्षकवेरज्ञानलेशोपि—नै० १६।३५ की नारायण की टीका।

३. यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमन्नाद्यं तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेण। न्नाद्येनपरमोमधव्योन्नादोऽसानि।

४. असिस्वदद्यन्मधुपर्कमर्पितं स तद्व्यधात्तर्कमुदिर्कदर्शिने।
यदेष पास्यन्मधुभीमजाधरं मिषेण पुण्याहविधिं तदाकृता॥ नै० १६।१३·

इसके आगे १६।१४, १५ में कन्यादान-विधि-गत जामातृ-(नल)-दक्षिण-कर के ऊपर कन्या-(विदर्भजा)-दक्षिण-कर के रखे जाने का उल्लेख शुक्ल-यजुर्वेदीय विवाह विधि के अनुसार करके श्रीहर्ष ने कन्यापिता के द्वारा दिए हुए यौतक का वर्णन १६।१६–३४ में किया है। यौतक में जो चिन्तामणि, माला खड्ग, क्षुरिका, सखियां, रथ, अश्व, माणिक्यमय पतद् ग्रह (उगालदान) गरुडमणि निर्मित (अर्थात् विषापहारक) थाल, गज, स्वर्ण, रत्नादि कन्यादान की दक्षिणा रूप में दिए गये[1] वे उक्त विधि के क्षात्रोचित महादानों के निर्देशक हैं। इसके आगे शुक्लयजुर्वेदीय विवाह विधि के अनुसार वर वधू का (दक्षिण) पाणिग्रहण करके "ॐ यदैषि" इत्यादि मंत्र पढ़ता हुआ मंडप से अग्नि के समीप वधू को ले जाता है और फिर अग्नि प्रदक्षिणा कर कुश-कण्डिका-पूर्वक होम करके लाजाहोम सांगुष्ठ वधूदक्षिण-हस्त-ग्रहणादि विधि का पालन करता है। उसका उल्लेख श्रीहर्ष ने इस प्रकार से किया है —

"जो अग्नि इन्द्र-वरुण-यम के साथ उन दोनों के पाणिग्रहण (विवाह के विषय) में वामता (वक्रत्व) धारण किये हुए था, (अर्थात् दमयन्ती को चाहता हुआ नल-रूपधारी होकर पहले विरुद्ध था) और बाद में दमयन्ती द्वारा (नल-वरण के अवसर पर स्तुत्यादि से) प्रसन्न किया जा कर दाहिना (अनुकूल) कर लिया गया था, वही अग्नि, पाणिग्रहण के अनन्तर नल द्वारा (कुशकण्डिका विध्यनुसार उल्लेखनादि-संस्कारपूर्वक) आगे स्थापित किया जा कर उस समय प्रदक्षिणा किया गया (पहले जो वाम एवं वामभाग में था वह अर्चनादि द्वारा अत्यन्त अनुकूल बना लिया गया, एवं प्रकृष्टतया दक्षिण भाग में कर लिया गया)।[2]"

हिरण्य-पर्ण शब्द वनस्पति पद वाच्य अग्नि के लिये निरुक्त ८।१९ के अनुसार देवेभ्यो वनस्पते' इत्यादि मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। पाणिग्रहण के ॐ यदैषि.

---

१. नै० १६।१६–३४

२. कर ग्रहे वाम्यमधत्त यस्तयोः प्रसाद्य भैम्यानु च दक्षिणीकृतः।
कृतः पुरस्कृत्य ततो नलेन स प्रदक्षिणस्तत्क्षणमाशुशुक्षणिः॥ नै० १६।३

यहाँ करग्रहे का अन्वय नलेन तत्क्षणं प्रदिक्षिणः कृतः के साथ कर के विधिगत वरद्वारा वधू के साङ्गुष्ठ दक्षिण-हस्तग्रहण का भी परामर्श हो सकता है, जिस के मंत्र—ॐगृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यसः। भगोऽर्यमा इत्यादि 'अमोहमस्मि' इत्यादि और 'तावेव विवहाव' इत्यादि तीन है। इसके पश्चात् ही अश्मारोहणादि आगे का कृत्य आ जाता है।

इत्यादि मंत्र में भी हिरण्यपर्ण-शब्द-सूचित उसी अग्नि से वधू को वरमनाः (Husband minded) बना देने की प्रार्थना की गयी है।

हस्तग्रहण के पश्चात् अश्मारोहण-विधि में पूर्वाभिमुख वर अग्नि के उत्तर की ओर रखे हुए पाषाण (शिल) पर वधू को दाहिने पैर से खड़ी करता हुआ जिस मंत्र को पढ़ता है, उसमें पत्नी से कहा गया है—"तू इस पत्थर पर चढ़ (और इस प्रकार संस्कार को प्राप्त होने पर) तू पत्थर के समान स्थिर (दृढ़ाङ्गी) अथवा पतिव्रता के अथवा गृहस्थी के धर्म में दृढ़ हो। कलह-कारियों पर अपना रोब जमा कर विरोधियों को भग्नोद्यम कर।" किन्तु नैषधीयचरित में जैसे ही यह मंत्र दमयन्ती से कहा गया वैसे ही शीघ्र आकाश में नष्ट (लीन) हो गया। क्यों? "पत्थर तो मनुष्यों के हिलाने से अपने स्थान से चल देता है, किन्तु दमयन्ती को तो इन्द्र भी अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ पातिव्रत्य की मर्यादा से तिल मात्र भी न डिगा सके।" इस प्रकार से स्थिरता में पत्थर की उपमा दमयन्ती के लिये हीन (अपमानजनक) है और मुझे ऐसी उपमा देना मेरे लिये लज्जाजनक है, मानों यही सोचकर वह मंत्र-वचन स्वयं लज्जा से अभिभूत होकर शीघ्र शून्य में विलीन हो गया।[1]

ग्रन्थि-बन्धन का विधान स्विष्टकृत् होम (अग्नि की अन्तिम आहुति) से पूर्व है। नैषध में चमत्कार-पूर्वक इसकी भी उल्लेख मिलता है। यथा—

"उस समय पुरोहित ने दमयन्ती का प्रिय के साथ ग्रन्थि-बन्धन किया। मानों वह त्रिकाल-वेत्ता दमयन्ती से कह रहा हो कि नल का विश्वास न करना क्योंकि वन में तुम्हारा आधा वस्त्र लेकर तुम्हें एकाकिनी छोड़ कर ये चले जायेंगे, अतः अभी से बांध रक्खो।[2]"

वर वधू को ध्रुव देखने के लिये (ध्रुवमुदीक्षस्व) कहता है और वधू ध्रुव को देखती हुई "तुम ध्रुव हो, ध्रुव रूप तुमको मैं देखती हूँ" इतना मंत्र भाग पढ़ती है। उसको देखते हुए शेष मंत्र वर पढ़ता है। फिर वधू चाहे न देख रही

---

१. ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतो ववाधस्वपृतनायता॥
स्थिरात्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेशदाशास्य क्षिमाशु तां ह्रिया।
शिला चलेत्प्रेरणयानृणामपि स्थितेस्तु नाचालि विडौजसापि सा॥ नै० १६।३६

२. प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं तदा पुरोधा विदधे विदर्भजाम्।
जगाद विच्छिद्य पटं प्रयास्यतो नलादविश्वासमिवैष विश्ववित्॥ नै० १६।३७

हो तो भी, "देखती हूँ" ऐसा कहती है।[१] इस विधि का उल्लेख नैषध में यों किया गया है:—"भौंहे उठाकर देखते हुए नल ने ध्रुव की ओर संकेत करके दमयन्ती को देखने को कहा। क्या ध्रुवतारा लघु होने पर भी दमयन्ती को स्वयं न दीखता। किन्तु नल ने वैदिक विधि को प्रमाण माना और उसके अनुसार स्वयं दमयन्ती को दिखाया।[२]"

लाजा-होम का स्थल पहले ही सूचित किया जा चुका है। लाजा-होम पहले तीन वार मंत्रों से किया जाता है, और प्रतिवार तीन-तीन मंत्र "ॐ अर्यमणं–" "ॐ इयं नारी–" "ॐ इमाल्लाजना . . . ."पढ़े जाते हैं। चौथे वार में शेष लाजों का ॐ भगाय स्वाहा इदं भगाय न मम" इस मंत्र से होम समाप्त होता है। लाजा-होम में वर की अञ्जलि के ऊपर वधू की अञ्जलि रहती है। अतः वधू-कर्तृक ही होम और मंत्रपाठ भी होता है। दोनों की अञ्जुलियों के नीचे के छिद्र से गिर कर, दोनों के खड़े-खड़े लाजा गिराने से वे लाजे आकाश में होते हुए, अन्ततः अग्नि में आ पड़ते हैं। इस विधि का अति सुन्दर आलङ्कारिक चित्र श्रीहर्ष ने इस प्रकार खींचा है:—"दमयन्ती के करपल्लवों में लाजे श्वेतपुष्प के समान लग रहे हैं। उसके हाथ से छूट कर वे निराधार गिरते हुए तारों की भाँति चमक रहे थे और देवों के मुख रूप अग्नि में पड़कर श्वेत दन्तों की शोभा पा रहे थे। (पत्तों में फूल, आकाश में तारों तथा मुख में दातों से समानता देकर कवि ने औचित्य को अद्भुत रूप से निभाया है)।[३]"

स्त्री स्वभावतः काम, क्रोध, अनार्जव, द्रोह आदि दुर्वृत्तियों का आधार मानी गयी है।[४] अतः "पतित के साथ एक वर्ष तक व्यवहार करने से मनुष्य स्वयं भी पतित हो जाता है।"[५] के अनुसार स्त्री-संसर्ग से सभी पतित हुए। चार्वाक पूर्वोक्त स्मृति-

---

१. ॐ ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि। ॐ ध्रुवैधिपोष्यामयि मह्यन्त्वादाद् बृहस्पति
तर्मयापत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्।

२. ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याभिदधे विदर्भजा।
किमस्य न स्यादणिमाक्षिसाक्षिकस्तथापि तथ्यो महिमागमोदितः॥
नै० १६।३८

३. प्रसूनता तत्करपल्लवस्थितैरुडुच्छविर्व्योमविहारिभिः पथि।
मुखेऽमराणामनलेरदावलेरभाजि लाजैरनयोज्झितैर्द्युतिः ॥ नै० १६।४०

४. शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधमनार्जवम्।
द्रोहभावं कुचर्यांच स्त्रीभ्योमनुरकल्पयत्॥ मनु० ९।१७

५. संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। वही—११।१८०

वचनों की एक साथ अपने अनुसार व्याख्या करते हुए उपहास करता है—"कामिनियों के संसर्ग से किसको पातक नहीं लगा? और जव संसार काम से जीर्ण है तो एकादशी-चान्द्रायणादि-व्रतों में भोजन न करना और तीर्थ आदि में स्नान करना यह सव मोह-हेतुक ही है।[1]"

धर्मशास्त्र के आचार्यों ने परदाराभिमर्शन को अत्यन्त निन्द्य कहा है। मनु का वचन है, "संसार में पुरुष के लिये पर स्त्री-गमन-से वढ़कर आयु का नाश करने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं। अतः जो प्राज्ञ है, विनयशील है, ज्ञान विज्ञान को जानने वाला है, एवम् अपनी आयु चाहता है, उसे पर स्त्री गमन कभी न करना चाहिए।[2]"

चार्वाक पूर्वोक्त स्मृति वचन का आश्रय लेकर देवों का उपहास करता है "पर-स्त्री-गमन न करना चाहिए, इस प्रकार के पाखण्ड को अहल्या के साथ सम्भोग करने वाले इन्द्र स्वयं न पूरा कर सके, तो और कोई क्या कर सकता है?[3]"

स्मृतियों ने गुरु-तल्पगामी को पञ्च महापातकियों में एक वताया है।[4]

चार्वाक चन्द्रमा को पूर्वोक्त शास्त्राज्ञा का उल्लङ्घनकर्ता सिद्ध करते हुए कहता है—"अरे द्विजो, गुरु-तल्प-गमन में किसी पाप की सम्भावना ही मत करो। और की कौन कहे, आप लोगों के स्वामी द्विजराज चन्द्रदेव स्वयम् अपने गुरु वृहस्पति की पत्नी तारा में अनुरक्त हुए थे।[5]"

---

१. कामिनीवर्गसंसर्गै र्न कः संक्रान्तपातकः।
नाश्नाति स्नाति हा मोहात् काम-क्षामव्रतं जगत्॥ नै० १७।४१

२. न हि दृशमनायुष्यं लोकेकिंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥ मनु० ४।१३४
तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति॥ वही—९।४१

३. परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना॥ नै० १७।४३

४. ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः।
एते सर्वे पृथग् ज्ञेया महापातकिनो नराः॥ मनु० ९।२३५
याज्ञवल्क्य का भी मत है:—
ब्रह्महामद्यपस्तेन स्तथैवगुरुतल्पगः।
एतेमहापातकिनो यश्च तैः सहसंवसेत्॥ याज्ञ० स्मृ० प्रायश्चित्ताध्याय, २२७

५. गुरुतल्पगतौ पाप-कल्पनां त्यजत द्विजाः।
येषां वः पत्युरत्युच्चैः गुरुदारग्रहे ग्रहः॥ नै० १७।४४

मनु ने बलात् दिये हुए, बलात् भोगे हुए, बलात् लिखाए हुए तथा बलात् किए हुए सभी कार्यों को न किये हुए के बराबर माना है।[१]

अतः चार्वाक देवों से कहता है—"आप लोग बलात् पाप कर्म किया करें, वे सब आप के न किए के बराबर ही हैं, क्योंकि स्वयं मनु ने कहा है—बलात् किए गए सारे दोष नगण्य होते हैं।"[२] (यहां दोषान् पद के रख देने से चार्वाक ने मनु के अर्थ का अनर्थ कर दिया है।)

धर्मशास्त्रकारों ने विधि-निषेध की बड़ी विस्तृत सूची दी है। उसमें अहिंसा-पालन आदि विधि तथा गुरुपत्नी-गमन आदि निषेध परिगणित हैं? उसी प्रकार कुछ विहित कर्मों के न करने से तथा कुछ निषिद्ध के आचरण से मनुष्य पतित हो जाता है।[३]

बौद्ध, जैन तथा चार्वाक आदि नास्तिक सिद्धान्तों में इसी प्रकार विधि-निषेध का कुछ न कुछ विधान है ही। अतः यमदेव चार्वाक को मुँहतोड़ उत्तर देते हुए कहते हैं—"कुछ वैदिक सिद्धान्तों को तो आप लोग भी एकमत होकर मानते ही हैं। और आप के यहाँ भी जो सर्वसम्मत धर्म को नहीं मानता तथा जो निन्दित का अनुसरण करता है वह पतित होता है। इस प्रकार कुछ वेद-विहित धर्मों को आप भी विहित तथा कुछ वेद-निषिद्ध को आप भी निन्दित समझते हैं। तो अन्य (स्मार्त आदि) विधि-निषेध भी, जो श्रुति-सम्मत हों, आप को मान्य होने चाहिए।"[४]

स्मृति की आज्ञा है कि सदा वेदाध्ययन के प्रारम्भ में तथा समाप्ति पर गुरु के (दक्षिण वाम) चरणों का स्पर्श अपने तर-ऊपर किए हुए वाम-दक्षिण हस्तों से करना चाहिए। इसे ब्रह्माञ्जलि कहते हैं।[५]

---

१. बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्॥ मनु० ८।१६८

२. बलात् कुरुतपापानि सन्तु तान्यकृतानि वः।
सर्वान्बलकृतान् दोषानकृतान्मनुरब्रवीत्॥ नै० १७।४९

३. विहितस्याननुष्ठानान्निषिद्धस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥ याज्ञ० प्रायश्चित्ताध्याय २१९

४. क्वापि सर्वैरवैमत्यात्पातित्यादन्यथाक्वचित्।
स्थातव्यं श्रौत एव स्याद्धर्मे शेषेपि तत्कृते।नै०१७।१०१

५. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥ मनु० २।७१

निषधपुरी में कलि को वेद-विद्वान् ब्रह्माञ्जलि बाँधे दिखायी पड़े, कलि ने उस नगर में वेदपाठ करते समय वैदिक विद्वानों को अञ्जलि बाँधे हुए देखा। उसके हृदय में इतनी व्यथा उठी कि जितनी ब्रह्माञ्जलियाँ उसने देखी उसके उतने ही दुःख के आँसू गिरे होंगे।[1]

जो सूर्यास्त तथा सूर्योदय के समय सोता रहता है उसे क्रम से अभिनिर्मुक्त तथा अभ्युदित कहा जाता है।[2] धर्मशास्त्र में ऐसे दोनों प्रकार के पातकियों के लिये प्रायश्चित्त का विधान है।

मनु ने कहा है---सूर्यास्तमय तथा सूर्योदय के समय सोने वाला पुरुष बिना प्रायश्चित्त किए बड़े पाप से युक्त हो जाता है।[3]

किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी कलि को निषध-राजधानी में कोई अभिनिर्मुक्त न मिला। कलि ने उस नगर में वीर शत्रुओं को मारने वाले वीर क्षत्रियों को देखा, किन्तु ऐसे कहीं न मिले जो सदाचारियों को मारने वाले हों। उसने जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानियों को तो देखा, पर सूर्यास्त के समय सोने वाले आचारभ्रष्टों को कहीं न देखा।[4]

धर्मशास्त्र के अनुसार स्नान पाँच प्रकार का माना गया है---आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य तथा दिव्य। इनमें गोरज (गोशाला की धूलि) लगाना वायव्य स्नान कहा जाता है।[5]

कलि को निषध-राजधानी में एक व्यक्ति वायव्यस्नान किए हुए सुन पड़ा। कलि ने सुना कि अमुक व्यक्ति रजोलिप्त है। उसे बड़ा सन्तोष हुआ कि मेरा आश्रय

---

१. अपश्यद्यावतो वेदविदां ब्रह्माञ्जलीनसौ।
उदडीयन्त तावन्तस्तस्यास्राञ्जलयोहृदः॥ नै० १७।१८३

२. सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च।
अंशुमानभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ च यथाक्रमम्॥ अमरकोष

३. सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तःशयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा॥ मनु० २।२२१

४. तेनादृश्यन्त वीरघ्ना न तु वीरहणो जनाः।
नापश्यत् सोऽभिनिर्मुक्ताञ्जीवन्मुक्तानवैक्षत॥ नै० १७।१९७

५ आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वारुणं जलमवगाहनम्॥
आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्।
यत्तु सातपवर्षेण तत्स्नानं दिव्यमुच्यते॥ पराशर बृ०दे०रं०, पृ०१०० में उद्धृत

तो मिला। पर जब जाकर देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह व्यक्ति वास्तव में गोरज लगा कर पवन-स्नान से पवित्र हुआ है। उस अभागे कलि को कहीं शरण नहीं।[1]

श्रोत्रिय अतिथि के सत्कार में याज्ञवल्क्य का मत है कि महोक्ष (विशाल बैल) अथवा महाज (बड़ा बकरा) भेंट करना चाहिए।[2]

नलपुर में एक स्थान पर कलि ने धर्मशास्त्र की पूर्वोक्त आज्ञा का निर्वाह होता देखा। कलि कहीं पर गोवध होता देखकर प्रसन्न हो उधर दौड़ा, किन्तु जाकर देखा कि वह तो अतिथियों के लिये किया गया है। नीच चुपचाप उलटे पाँव लौटा।[3]

---

१. श्रुत्वा जनं रजोजुष्टं तुष्टिं प्राप्नोज्झटित्यसौ।
तं पश्यन् पावनस्नानावस्थं दुःस्थस्ततोऽभवत्॥ नै० १७।१९९

२. महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्।
सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः॥ याज्ञ० स्मृति, आचाराध्याय १०९

३. अधावत् क्वापि गां वीक्ष्य हन्यमानामयं मुदा।
अतिथिभ्यस्तया बुद्ध्वा मन्दो मन्दं न्यवर्तत॥ नै० १७।२००

परन्तु इस पर मिताक्षरा तो "महान्तमुक्षाणंबौरयं महाजं वा श्रोत्रियायोक्त-लक्षणायोपकल्पयेद् भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पतु इति तत्प्रीत्यर्थं, न तु दानाय व्यापादानाय वा। यथा सर्वमेतद् भवदीयमिति। प्रतिश्रोत्रियमुक्षासम्भवात्। अस्वर्ग्यंलोकविद्विष्टंधर्म्यमप्याचरेन्न तु इति निषेधाच्च। तस्मात् सत्क्रिया ह्येव कर्तव्याः।" इन शब्दों में गौ (बैल) के व्यापादन तो क्या दान तक का युक्ति-प्रमाण सहित स्पष्ट खण्डन करती है। क्योंकि श्रोत्रिय अभ्यागतों के सत्कार विशेष के लिये ही धर्म का प्रतीक बड़ा बैल, अथवा अग्निपरिचर्या का प्रतीक बड़ा बकरा उपस्थित किया जाता था, तथा उत्तरार्ध में कहे हुए मीठे वचन इत्यादि द्वारा भी उनकी प्रीति ही अभिप्रेत थी। बैल का दान वा व्यापादन दो कारणों से असम्भव है। एक तो जब नहीं तब आने वाले प्रत्येक श्रोत्रिय के लिये अलग-अलग इतने बैल कहाँ से आते, दूसरे अस्वर्ग्य और लोक-विद्विष्ट आचरण का धर्मसंगत होने पर भी शास्त्र में निषेध किया गया है। अतः केवल इसी भाव से कि यह सब हमारा धर्म और अग्निचर्यादि-जनित पुण्य आप ही का है, महोक्ष वा महाज उपस्थित किया जाता था। जैसे आजकल भी सन्तान बच्चों को उच्च अभ्यागतों के चरणों या गोद में डाल कर सर्वस्व भेंट करने का भाव प्रदर्शित किया जाता है। अश्रोत्रिय (साधारण) अभ्यागत का सत्कार केवल जल और आसन से किया जाता था, जैसा गौतम का वचन है—अश्रोत्रियस्योदकासने।

धर्मशास्त्र ने भोजन के प्रारम्भ में अपोशन (अपोशान आपोशन, आपोशान) क्रिया करने की आज्ञा दी है।[1]

ऐसा विश्वास है कि इस क्रिया के करने से भोजन पदार्थ अमृत में परिणत हो जाता है। वीरमित्रोदय के आह्निक प्रकाश में ब्रह्मपुराण का यह श्लोक आपोशान के विषय में उद्धृत किया गया है। अमृतोपस्तरणमसि विष्णोः (विष्णु के अमृतमय उपस्तरण हो) इत्यादि कहते हुए आपोशान लेना चाहिए।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति के पूर्वोक्त१।३१ श्लोक की मिताक्षरा टीका में आपोशान की व्याख्या में ब्रह्मपुराण के पूर्वोक्त भाव का ही उल्लेख किया गया है।[3]

प्रभात वर्णन के प्रसंग में श्रीहर्ष ने बड़ी युक्ति के साथ पूर्वोक्त क्रिया की कल्पना की है—"प्रभात वेला में कमलिनी की प्रथम पंखुड़ी को विकसित तथा अन्य पंखुड़ियों को सम्पुटित देखकर लोगों के मन में यही ध्यान आता है, मानों सूर्य की किरणों का प्रथम वार भोग करने के लिये कमलिनी आपोशान क्रिया कर रही है।[4]" कनिष्ठिका अंगुली फैलाकर तथा शेष अंगुलियों को मोड़कर भोजन के पूर्व आचमन करना आपोशान क्रिया है।[5]

मरणाशौच में मरण के दिन तो वन्धु-बान्धव सभी उपवास अथवा क्रीतायशन करते हैं, किन्तु कुछ दिनों में सभी मिलकर एक साथ भोजन करते हैं। धर्म शास्त्र की आज्ञा भी ऐसी ही है।[6]

---

१. कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतोगुर्वनुज्ञया।
अपोशनक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन्॥ या० व०, आ० ३१

२. आपोशानं तु गृह्णीयात् सर्वतीर्थमयं हि तत्।
अमृतोपस्तरणमसिविष्णोरन्नमयस्य च॥

३. अपोशानक्रियाम् अमृतोपस्तरणमसीत्यादिका पूर्वं कृत्वा भुञ्जीत।

४. मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुंप्रवृत्ततया पुरः।
कलितचुलुकापोशानस्य ग्रहार्थमियं किमु॥
इति विकसितेनैकेनप्राग्दलेन सरोजिनी।
जनयति मति साक्षात्कर्तुंर्जनस्य दिनोदये॥ नै० १७।२८

५. आपोशानग्रहीता कर-कमले एकाङ्कनिष्ठामङ्गुलिं प्रसारयति अन्याश्च संकोचयतीति सम्प्रदायः॥ नै० १९।२८ की टीका में नारायण।

६. तिलान् ददतु पानीयं दीपं ददतु जाग्रतु।
ज्ञातिभिः सह भोक्तव्यमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम्॥ निर्णयसिन्धौ तृतीय परिच्छेदे भारतम्

श्रीहर्ष ने इस विधि की भी कल्पना प्रभात-वर्णन के ही प्रसंग में की है। "गत दिन के बीतने पर जब सन्ध्या आयी तो मानों दयावश कमल संकुचित होने लगे। किन्तु कुछ भ्रमर कमल के क्रोड में पड़े रहे। जो बाहर गए वे भीतर पड़े वालों के जीवन से निराश-से हो गए, और रात भर शोक में उपवास करते रहे। प्रातः कमलों के विकसित होने पर भीतर पड़े मधुकर अपने बाहर से आने वाले साथियों के साथ अब पुष्प मकरन्द का पारण कर रहे हैं।[1]"

धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि जो मनुष्य जिसके हाथमें जो धन जिस प्रकार समर्पित करे वह उसे उसी प्रकार वापस ले, क्योंकि जिस प्रकार समर्पण होता है उसी प्रकार वापस भी होना चाहिए।[2]

नल दमयन्ती की सुरत-वेला की एक घटना के प्रसंग में एक ऐसे ही निक्षेप का उल्लेख करते हैं:—"क्या तुम्हारी स्मृति में वह घटना भी होगी जब मैंने अपने मुख से चबाये हुए पान के बीड़े के खंड तुम्हारे मुख में रख दिए थे और फिर शास्त्रोक्त न्याय के अनुसार उनको मांगा था।[3]"

धर्मशास्त्र में विवाद-निर्णय के लिये लिखित, साक्षी और भुक्ति रूप तीन प्रकार के मानुष प्रमाण, तथा तुला अग्नि जलविष इत्यादि दिव्य प्रमाण अपेक्षित हैं। दिव्य प्रमाणों में शपथ भी आते हैं। इनका वर्णन मनुस्मृति ८।१०९-११५ में मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति २।९६ की मिताक्षरा अल्पार्थ अभियोग विषयक शपथों में (नारद इत्यादि के मतानुसार) सत्य, वाहन, शस्त्र, गो, बीज, कनक, देवता-पितरों के पादों इत्यादि के स्पर्शादि का उल्लेख करती है। यद्यपि राजकीय

प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे दशमे तथा।
ज्ञातिभिः सह भोक्तव्यमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम्॥—निर्णयसिन्धु तृतीय, परिच्छेद, तृतीय भाग में उद्धृत मरीचिमत। पृ० ४१०, नि० सा० प्रे०, प्रकाशन १९०६ ई०।
"अशौचमध्ये यत्नेन भोजयेच्च स्वगोत्रजान्"—वहीं, उद्धृत ब्राह्ममत।

१. गतचरदिनस्यायुर्भ्रंशे दयोदयसंकुचत्कमलमुकुलक्रोडान्नीडप्रवेशमुपेयुषाम्।
इह मधुलिहां भिन्नेऽम्भोरुहेषु समागतां सहसहरैश्चरालोक्यन्तेऽधुना मधुपारणा॥
नै० १९।३०

२. यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथादायस्तथाग्रहः॥ मनु० ८।१८०

३. जागर्ति तत्र संस्कारः स्वमुखाद्भवदानने।
निक्षिप्यायाचितं यत्ता न्यायात्ताम्बूलफालिकाः॥ नै० २०।८२

न्यायालयों में प्राड्विवाक (जज) के द्वारा ही मानुष प्रमाणों के ही समान दिव्य प्रमाणों और शपथों से विवाद का निर्णय किया जाता था, तथापि मानव-समाज में अपनी कही हुई बात को श्रोता का अविश्वास दूर करके प्रमाणित करने के लिए स्वयं शपथ लेने की प्रथा चल पड़ी। नैषधीयचरित (२०।१०८) में दमयन्ती की सखी कला ने अपनी बात का देव-शपथ पूर्वक विश्वास दिलाया है।[१]

परन्तु धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़े भी कार्य के लिये झूठी शपथ न करनी चाहिए, क्योंकि झूठी शपथ करने से मनुष्य का इस लोक तथा परलोक दोनों में विनाश होता है।[२]

इसी भय से दमयन्ती की सखी अपने शपथ में देव शब्द की व्याख्या कर रही है—

"राजन् मैंने जो 'व्यर्थाः स्युर्मम देवताः' (नै० २०।१०८) कहा था उसमें 'देव' पद आप के सम्बोधन में कहकर मैं उन सारी बातों की व्यर्थता का समर्थन करती हूँ। अन्यथा देवता-सम्बन्धी किये गए शपथ का निश्चित ही बड़ा कठोर परिणाम हुआ करता है।[३]"

आयुर्वेद

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार कुछ रोग ऐसे होते हैं जो[४] एक व्यक्ति से दूसरे में भी संक्रमण कर जाते हैं, अतः उन्हें संक्रामक रोग कहते हैं।[५] दमयन्ती के सम्मुख

---

१. मिथ्या वेत्थ गिरश्चेत्तद् व्यर्थाःस्युर्मम देवताः।

२. न वृथा शपथं कुर्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरोबुधः।
वृथाहि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति॥ मनु० ८।१११

३. आमन्त्र्य तेन देव त्वां तद्वैयर्थ्यंसमर्थये।
शपथःकर्कशोदर्कःसत्यंसत्योपि दैवतः॥ नै० २०।११८

४. शरीरस्पर्श, निःश्वास, सहभोज, सहशयन, सहस्थिति तथा वस्त्रमाल्य अनुलेपन द्वारा।

५. प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥
सुश्रुत-संहिता, निदानस्थान ५।३३,३४

मदन-व्यथित नल की कामदशाओं[1] के वर्णन के प्रसंग में 'त्रपानाश' का वर्णन करते हुए हंस आयुर्वेद के पूर्वोक्त सिद्धान्त को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त करता है। "अत्यन्त लज्जाशील नल के मदन-ज्वर की चिकित्सा करने के लिये सिद्ध वैद्यों के समूह आए, पर उस रोग के निदान के विषय में ही सभी मौन हो गए, मानों एक संक्रामक रोग की भांति नल की लज्जा ने उन सबको आक्रान्त कर लिया।[2]"

वैद्यक सिद्धान्त के अनुसार ताप की शन्ति के लिए उशीर (नलद, खस) का प्रयोग किया जाता है।[3] दमयन्ती के विरहताप की शान्ति के लिए कन्यान्तःपुर में नियुक्त वैद्य भी राजा भीम से उशीर के प्रयोग की सलाह देता है। "कन्यान्तःपुर में साधिकार नियुक्त मंत्री तथा वैद्य, जिनके नियंत्रण में कन्यान्तःपुर को दूषित करने के लिये कोई दोष (वातादि तथा व्यभिचारादि) समर्थ नहीं हो सकते थे, दोनों ने एक साथ राजा से निवेदन किया—

---

१. काम-दशायें दस मानी गई हैं—

चक्षूरागः प्रथमं चिन्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः।
उन्मादो मूर्छास्मृतिरित्येता स्मरदशा दशैवस्युः॥

२. स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोः सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद् विशाला सांक्रामिकी तस्यरुजेव लज्जा॥ नै० ३।११२

३. दाहाभिभूतमथवा परिषेचयेत्तु शीतैरुशीरजलचन्दन तोय-तोयैः। इत्यादि सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र ४७।५८; लाजाचन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूची ह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति। चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय ४।१८(४१)।

सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलंवा चन्दनादिकम्।
दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक्॥ २५७

अथचन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः चन्दनभद्रश्रीकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवा-मधुक...........मधूकानामन्येषां च शीतवीर्याणांयथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्।...साधयेत् तैलम् एतत्तैलमभ्यंगात् सद्योदाहज्वरमपनयति।......२५८॥ चरक, चिकित्सास्थान, अध्याय ३

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यंगादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः। अगुरु—कुष्ठ—तगर—पत्र—नलद.........तिल—बदर—कुलत्थमाषाणामेवंविधानामन्येषां यथालाभमौषधानांकषायं कारयेत—.....प्रयुञ्जीत शीतज्वर प्रशमार्थम्—चरक संहिता चिकित्सास्थान, अ० ३।२६७

मन्त्रि-प्रवर—"देव, सुनिए, स्वयम् अच्छी तरह से सुनकर तथा गुप्तचर के कहने से मैं सारी बात जानता हूँ। दमयन्ती के ताप को दूर करने में नल नामक राजा के प्रदान के सिवा अन्य कोई समर्थ नहीं हो सकता।"

वैद्य—"राजन् सुनिए, सुश्रुत तथा चरक की कहीं बातों से मैं सब जानता हूँ कि बिना "उशीर" दिए राजकुमारी के ताप को ब्रह्मा भी (कोऽपि) दूर नहीं कर सकते।"[1]

मूर्छा आने पर उसकी शान्ति का एक उपचार रोगी के ऊपर जल छिड़कना भी है। आचार्य सुश्रुत ने मूर्छा को साधारण चिकित्साओं में जलसेक को प्रथम स्थान दिया है।[2]

दान देते समय हाथ में लिए जल की उपयोगिता श्रीहर्ष के अनुसार याचक की मूर्च्छाकृत अपमृत्यु दूर करने के लिए ही है। दानी देय वस्तु के साथ याचक को जल देता है। वह याचक को याचना के निष्फल होने की शङ्का से बढ़ती हुई (मूर्च्छात्मक) अपमृत्यु की चिकित्सा है।[3]

मूर्छाशान्ति के लिए विशल्या ओषधि (गुडूची) लता का भी प्रयोग किया जाता है। आचार्य शोढल ने मूर्छा-प्रशमन के लिए 'गदनिग्रह' में सोंठ, गुडुची, द्राक्षा आदि कई ओषधियों का एक क्वाथ बताया है।[4]

देवगण अपनी विरह-मूर्छा में दमयन्ती-रूपी विशल्या की दूत-नल द्वारा याचना करते हैं! "उन देवों ने पृथक्-पृथक् गाढालिङ्गन पूर्वक तुम्हें यह संदेश

---

१. कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकारान्न दोषानृपं ।
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः ॥
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जाने खिलं ।
स्यादस्या नलदंविना न दलने तापस्य कोऽपिक्षमः ॥ नै० ४।११६

२. सेकावगाही मणयः सहाराः शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च ।
शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ॥
—सुश्रुत-संहिता, उत्तर-तंत्र, ४७।१४

३. यत्प्रदेयमुपनीयवदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय।
सार्थनोज्झितविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छदपमृत्युचिकित्सा ॥ नै० ५।८५

४. महौषधामृता द्राक्षा पौषकरग्रन्थिकोद्भवम् ।
पिबेत् क्वाथंकणायुक्तं मूर्च्छायां च मदेषु च ॥ गदनिग्रह, मूर्च्छाधिकार १६।३०

भेजा है--"सुन्दरि" मदनरूपी भील के वाणों से मूछित हम लोगो के कल्याण के लिए तुम विशल्या नाम की ओषधि वनो।"[१]

धनुर्वेद

जिस वाँस का धनुष वनाना होता है पहले उसकी परीक्षा की जाती है। उस पर सिन्दूर की रेखा खींची जाती है। यदि रेखा स्पष्ट हुई तो वह वाँस धनुष बनाने के सर्वथा योग्य समझा जाता है।[२]

दमयन्ती को कामदेव का चाप-रूप बताते हुए हंस उसे धनुर्वेद के पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार भलीभाँति धनुर्लता होने योग्य वताता है--"सुन्दरि, निर्दोष वंश में उत्पन्न, गुणों से सम्पन्न तुम्हें अच्छे बाँस की बनी, अधिज्य धनुर्लता के समान पाकर कामदेव अपने पुष्प-चाप से दुर्जेय उस राजा को अव जीतने के लिए प्रहृष्ट हो रहा है। तुम्हारी पीठ पर दूर तक लटकने वाली ग्रीवाकार रेशम की डोरी ही मानों उस धनुर्लता के वाँस की परीक्षा के लिए खींची गई सिन्दूर की घर्षण-रेखा है।"[३]

पक्षियों को उड़ाने के लिए एक विशेष प्रकार का धनुष होता है जिसे गुलिका-धनुष कहते हैं। उससे बाण नहीं चलाए जाते, अपितु गोलियाँ चलाई जाती हैं और उसकी मौर्वी के वीचों वीच गोलियों को रखने के लिए एक स्थान होता है जिसे गुलिका-विल कहते हैं।

हंस दमयन्ती को मदन की गुलिका-धनुर्लता-रूप कहता है:--"सुन्दरि, तुम अपने हार के मोतियों को उस प्रभु कामदेव की गोलियाँ (जिनसे चिड़ियों पर निशाना मारा जाता है), उस राजहंस (नल) को लक्ष्य तथा अपने को मनोज्ञ धनुर्लता जानो। मध्य में तुम्हारी नाभिरूपी विलवाली यह रोमपंक्ति उस

---

१. एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशंति।
त्वं मूर्च्छतां नः स्मरभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि॥ नै० ८।९०

२. कषणधारया धनुर्योग्यवेणुपरीक्षायां निघृष्यमाणं सिन्दूरं चलति चेत्तदा परिपाको ज्ञेयः इति धानुष्कप्रसिद्धिः॥ नै० ३।१०६ की नारायण-टीका।

३. कामःकौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्यमाद्यत्यसौ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतयापृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयैवनिवसत् सिन्दूर सौन्दर्यया॥ नै० ३।१२६

धनुर्लता के मध्य में गुलिका-विल-रूप से सुन्दर प्रत्यञ्चा की सारी क्रियाओं को धारण किए हुए हैं।[1]"

लक्ष्यभेद का अभ्यास करने के लिए दूर किसी ऊँचे (पुरुष की आकृतिवाले) स्थान पर एक गोल चिह्न लक्ष्य-रूप में वना दिया जाता है। धनुर्धारी उसी गोल लक्ष्य में अपना वाण मारता है। यदि वाण मध्य से पार हो गया तो वह सफल माना जाता है अन्यथा विफल।[2] दक्ष धनुर्धर तो सव्यापसव्य (दाहिने और वाँएं) दोनों हाथों से तीर चलाते हैं।

स्वयंवर-सभा में सुन्दरी दमयन्ती के प्रवेश करने पर उसके आलोक-सामान्य रूप की परस्पर प्रशंसा करते हुए राजा लोग सुन्दरी के कुण्डलों के प्रति उत्प्रेक्षा करते हैं—"सुन्दरी के दोनों कर्णाभरण क्या धनुर्धारी मदन के निशाना मारने के लिये दो गोल चिह्न वनाकर रक्खे गए हैं! क्या दायें वाएं दोनों हाथों से मारे हुए उसके वाण इन्हीं गोलों के वीच से होकर जाते हैं?"[3] और "इन्दीवर को कर्णफूल वनाकर दमयन्ती कुसुमधन्वा की अपकीर्ति फैला रही है, क्योंकि दुर्जन

---

१. त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानिगुलिकास्तं राजहंसं विभो-
वेंध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मंजुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालितमज्याभुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमालिरालम्बते॥ नै० ३।१२७

२. मनोलक्ष्यगतं कृत्वामुष्टिना च विधानवित्।
दक्षिणे गात्र-भागे तु कृत्वा वर्णं विमोक्षयेत्॥
ललाटपुट-संस्थानं दण्डं लक्ष्ये निवेशयेत्।
आकृष्य ताडयेत्तत्र चन्द्रकं षोडशाङ्गुलम्॥
मुक्त्वा बाणं ततः पश्चाद्वर्णाशिक्यं तदातया।
निगृह्णीयान् मध्यमया ततोऽङ्गुल्या पुनः पुनः॥
अलिलक्ष्यं क्षिपेत्तूणाच्चतुरस्रं च दक्षिणम्।
चतुरस्रगतं वेध्यमभ्यसेच्चादितः स्थितः॥ अग्निपुराण २५०।७–१०.
कर्तव्यं शिक्षकैस्तस्यं स्थानंकक्षासु वै तदा।
वामहस्तेनसंगृह्य दक्षिणेनोद्धरेत्ततः॥
कुण्डलस्याकृतिंकृत्वाऽऽभ्राम्यैकं मस्तकोपरि।
क्षिपेत्तूणमयैतूर्णं पुरुषे चर्मवेष्टिते॥ वही

३. लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्यां ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने किम्।
सव्यापसव्यं विशिखा विसृष्टास्तेनानयोर्यान्ति किमन्तरेव॥ नै० १०।११७.

लोग इन कर्णपूरों के कारण यह कहेंगे कि "मदन के बाण-रूपी ये इन्दीवर सुन्दरी के कुण्डली (लक्ष्य) को पार न कर सके, अतः वे भ्रष्ट-लक्ष्य हैं।[1]"

शराभ्यास करने को उपासन[2] तथा शराभ्यासशाला को शरोपासन-वेदिका कहते हैं, जिसमें वेध्य-लक्ष्य के रूप में डण्डे गड़े रहते हैं।

स्वयंवर में नल को वरमाला पहनाती हुई रोमाञ्चिताङ्गी दमयन्ती मदन की शरोपासन-वेदिका-सी ही प्रतीत होती थी—"दमयन्ती का सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा था, तथा उसके रमणीय अधर उसे और भी सौन्दर्य प्रदान कर रहे थे। उस समय वह इस प्रकार प्रतीत होती थी, मानों कामदेव की बाणविद्या सीखने की वेदी हो, जिसमें पुलकित रोम वेध्य लक्ष्य-दण्ड के समान सुशोभित हो रहे थे।[3]"

धनुर्वेद में अस्त्र-शस्त्र के अभ्यास को खुरली[4] कहते हैं।

राजा नल अपनी दिनचर्या में अन्य राजकुमारों को स्वयं अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास कराते हैं— "उस महापराक्रमी ने विद्या सीखने के लिए आए हुए राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास (खुरली) कराया।"[5]

श्रीहर्ष को धनुर्वेद से इतना गाढ़ परिचय रहा है कि सौन्दर्य वर्णन करते समय उन्हें मदन के धनुष की तथा धनुर्वेद के किसी न किसी सिद्धान्त की याद अवश्य

---

१. तनोत्यकीर्ति कुसुमाशुगस्य सैषा बतेन्दीवरकर्णपूरी।
यतःश्रवःकुण्डलिकापराद्धशरं खलःख्यापयिता तमाभ्याम्॥ नै० १०।११८

२. शराभ्यासे उपासनम्—अमरकोष

३. रोमाङ्कुरैर्दन्तुरिताखिलाङ्गी रम्याधरा सा सुतरां विरेजे।
शरव्यदण्डैः श्रितमण्डनश्रीः स्मारी शरोपासनवेदिकेव॥ नै० १४।५४

४. अभ्यासः खुरली योग्या—इति हारावली—रुचिपति द्वारा अनर्घराघव की ४।२४ की टीका में उद्धृत।

विद्याधर नैषध के २१।५ श्लोक की टीका में खुरली का मल्लशाला या श्रमस्थान अर्थ करते हैं और प्रतापमार्तण्ड का उद्धरण देते हुए कहते हैं—खुरली श्रमस्थानम्। यदुक्तं प्रतापमार्तण्डे—श्रमस्थानं खुरलिका खुरली च।...

विह्लण ने अपनी कर्णसुन्दरी (२।६) में खुरली शब्द का प्रयोग लक्ष्य के अर्थ में किया है—"सापि स्वैरं विशिखखुरली कल्पिता मन्मथेन"—श्रीहार्न्दिकी—नैषधचरित, पृ० ५५१

५. अस्त्र-शस्त्र-खुरलीषु विनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजाः॥ नै० २१।५

आई है—उदाहरणार्थ भौहों के वर्णन में उनकी कल्पना है—"आज मदन अपने पुराने पुष्पधनुष को, जिसका पराग-स्थान भ्रमर आदि कीड़ों ने खा लिया है—त्याग कर दमयन्ती की भौहों को—जिनके मध्य में मुट्ठी रखने का स्थान है—अपना धनुष बनाने का सम्मान दे। (धनुष् के भी मध्य में मुट्ठी रखने का स्थान होता है।)[1]" उसी प्रकार दमयन्ती के अधरों एवं वाणी के वर्णन में वे नल-मुखेन कल्पना करते हैं—"प्रिये, तुम्हारा ऊपर का अरुण होठ मदन का वन्धूक-माला–विनिर्मित धनुष है, तथा नीचे का अधर उसकी मौर्वी-लता है। सुन्दरि, तुम्हारी वाणी साक्षात् मदन का धनुर्वेद ही है। तो अपने (बजाने के) कोणरूप धनुष को लेकर वीणा उस धनुर्वेद का ही अभ्यास कर रही है।[2]"

सामुद्रिक शास्त्र

जहाँ तक स्त्री-पुरुष-लक्षण-विवेचन का संबन्ध है वहाँ तक तो सामुद्रिक शास्त्र भी कामशास्त्र का ही भाग माना जाता है। किन्तु जब उन लक्षणों के साथ ही वह अन्य सूक्ष्म बातों का भी विवेचन करने लगता है तो वह स्वयं एक पृथक् शास्त्र के रूप में गिना जाने लगता है। नैषध में जहाँ कहीं उसके सिद्धान्त को व्यक्त किया गया है वहां उसे एक पृथक् शास्त्र के ही रूप में मान कर। श्रीहर्ष ने सामुद्रिक शास्त्र का अध्ययन एक शास्त्र के नाते किया होगा। रूप-वर्णन के प्रसंग में श्रीहर्ष ने अपने सामुद्रिक-शास्त्र-विषयक ज्ञान का पूर्ण परिचय दिया है।

जिस व्यक्ति के चरण में ऊर्ध्व रेखा का चिह्न होता है, सामुद्रिक-मत से वह निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट पद का प्राप्त करने वाला होता है।

नल के चरणों में इसी प्रकार की ऊर्ध्व रेखा तथा उसके फल का वर्णन श्रीहर्ष करते हैं—"कमल तथा प्रवाल से उच्च होने के कारण तथा समस्त भूपों के सिर पर रक्खे जाने के कारण ये नल-चरण ऊर्ध्वस्थानभागी होंगे, यह विचार मानों

---

१. रजः पदं षट्पदकीटजुष्टं हित्वात्मनः पुष्पमयं पुराणम्।
अद्यात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टि चापम्॥ नै० १०।११९

२. ऊर्ध्वस्ते रदनच्छदः स्मरधनुर्वन्धूकमालामयं
मौर्वी तत्रतवाधराधरतटाधः सीमलेखालता।
एषा वागपि तावकी ननु धनुर्वेदः प्रिये मान्मथः
सोयं कोणधनुष्मतीभिरुचितैर्वीणाभिरभ्यस्यते॥ नै० २१।१५७

विधाता ने पहले से ही कर लिया था। तभी तो इनके चरणों को ऊर्ध्व रेखा से अङ्कित कर दिया था।[१]"

सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं, तथा पार्थिवों के प्रत्येक शरीर-रोम का एक एक रोम-कूप होता है।[२]

नल के शरीर के रोमों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कल्पना करते हैं —

"क्या ब्रह्मा ने रोमावलियों के व्याज से करोड़ों रेखाएं बनाकर नल के गुणों को तो नहीं गिना था? तथा जगत्-स्रष्टा ने रोम-छिद्रों के रूप में दोषों के शून्य-विन्दु तो नहीं बनाए थे?[३]"

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार किसी व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) के हाथ अथवा पैर में मत्स्य आदि का चिह्न होना उसके चक्रवर्ती सम्राट् होने का लक्षण होता है।[४]

नल के कर-कमल में मत्स्य-चिह्न देखकर कवि कल्पना करता है :—

"नल के हाथ में (चक्रवर्ती का) मत्स्यचिह्न था। मानों स्वयं कामदेव अपने ध्वज-चिह्न मत्स्य को, वृक्षों के आलवाल में घुस जाने की शङ्का से हाथ में धारण किए हुए समस्त-ऋतु-सम्पन्न इस वन में मित्र वसन्त का अनुसरण करते हुए विहार कर रहा है।[५]"

सामुद्रिक शास्त्र का मत है कि जिसमें सुन्दर रूप होता है उसमें सुन्दर गुण भी होते हैं।[६] हंस में सुन्दर रूप तथा सुन्दर गुणों को एक साथ देखकर नल कहते हैं —

---

१. अधोविधानात्कमलप्रवालयोः शिरःसु दानादखिलक्ष्माभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वम् भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ नै० १।१८

२. तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।—नारायण द्वारा नै० १।२१ की टीका में उद्धृत।

३. किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न लेखाभिरजीगणद्गुणान्।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः॥ नै० १।२१

४. भृङ्गारासनवाजिकुंजररथश्रीवृक्षयूपेषुभि-
र्मालाकुण्डलतोमराङ्कुशयवैः शैलैर्ध्वजैस्तोरणैः।
मत्स्यस्वस्तिकवेदिकाव्यजनकैर्यस्याङ्कितावतंते
पादे पाणितलेऽथवा स भवति त्रैलोक्यभूमीश्वरः॥
इतिवराहः श्रीहान्दिकी द्वारा उद्धृत, नरहरि पृ० ३४७

५. करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया।
व्यर्तांक सर्वर्तुधने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निवस्मरः॥ नै० १।१०५

६. यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति—नारायण द्वारा उद्धृत नै० १।५१ की टीका

"प्रिय हंस, तुम्हारा रूप अतुलनीय है, तुम्हारी सुशीलता अवर्णनीय है, तथा रूप में गुण भी होते हैं—सामुद्रिक शास्त्र के इस सिद्धान्त के तुम्हीं प्रत्यक्ष उदाहरण हो।[१]"

सामुद्रिकशास्त्र में अधरों की मध्य रेखा के दोनों पार्श्वभागों का कुछ उठा (फूला) रहना सौन्दर्य एवं सौभाग्य का चिह्न माना जाता है।[२]

दमयन्ती के अधरों को उक्त सौन्दर्य से युक्त देखकर नल सोचते हैं—"वैदर्भी के अधरोष्ठ मध्यभाग में जो कुछ उठे हुए-से सुन्दर लग रहे हैं, यह क्या स्वप्न-संभोग के समय दन्तक्षत करने वाले का, (मेरा) ही अपराध तो नहीं है।[३]"

उत्तम सुन्दरियों का चिवुक (ठुड्ढी) स्वभावतया कुछ निम्न (गहरा-दवा) होता है।[४] दमयन्ती के चिबुक को देखकर नल कल्पना करते हैं—"सुन्दरी के मुख की सुषमा का निर्माण कर चुकने पर क्या ब्रह्मा ने इसके मुख को ऊपर करके देखा था जो इसके मध्य में थोड़ी दवी ठुड्डी में अंगुली के दवने का चिह्न-सा वन गया है।[५]"

गुल्फों का निम्न (दवा) रूप सामुद्रिकशास्त्र में शुभ एवं सुन्दर माना गया है।[६] वैदर्भी के गुल्फों का वर्णन करते हुए नल कहते हैं—"अरुन्धती, रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी, तथा नव अम्विकाओं के साथ चौदहवीं संख्या दमयन्ती की है, (और चतुर्दशी होने के कारण) इसको भी अदृश्यवस्तु की सिद्धि होनी ही चाहिए, और वह सिद्धि सुन्दर गुल्फों के रूप में प्राप्त हुई है।[७]"

---

१. न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा॥ नै० २।५१

२. अधरोष्ठस्य मध्यसमीपवर्तिनोः पार्श्वदेशयोः किंचिदुच्छूनता सामुद्रिको गुणः।
—नै० ७।४० की टीका में नारायण

३. मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातःकिमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः।
तत्स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम्॥ नै० ७।४०

४. उत्तमस्त्रीणां स्वभावादेव चिबुकं निम्नं भवति—नै० ७।५१ की टीका में नारायण

५. विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ।
भृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव॥ नै० ७।५१

६. निम्नगुल्फत्वं नाम सामुद्रिकं लक्षणम्॥ नै० ७।९८ की टीका में नारायण

७. अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः॥ नै० ७।९८

सङ्गीत

संगीत के तीन भाग होते हैं—नृत्य, गीत तथा वाद्य। तीनों की संगीत संज्ञा है। श्रीहर्ष संगीत के गूढ रहस्यों के ज्ञाता थे। नैषध में संगीत का जितना उद्धरण हुआ है वह कवि के इस शास्त्र-विषयक ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण है।

सातों स्वरों के आरोह-अवरोह-क्रम को संगीतशास्त्र में मूर्छना कहते हैं।[1] प्रेम-व्यथित नल के प्रलाप को वीणा-वादक की पञ्चम स्वर की मूर्च्छना ने छिपा दिया—"मोह-वश मिथ्या देखी गई दमयन्ती को सम्बोधित करके नल ने कह दिया 'अये न'। अब उसे कैसे छिपाएं ? किन्तु सौभाग्य से उसी समय वीणा बजाने वालों द्वारा पञ्चम राग के गाने पर सारी सभा ही विमुग्ध हो गई। किसी ने नल का प्रलाप सुना ही नहीं।[2]"

नर्तकी-नर्तक मृदंग के शब्द के अनुसार अपने अङ्गों का विक्षेप करते हुए नृत्य करते हैं।[3] नृत्य-कला के इस नियम का उल्लेख नैषध के इस श्लोक में मिलता है—"धवलगृहपंक्तियाँ मञ्जुमृदङ्गों की उच्च ध्वनि का सम्पूर्ण रूप से प्रतिशब्द करके अपनी गम्भीरता का परिचय देती हुई अपनी चञ्चल पताका द्वारा मानों लोगों को अपनी नृत्यकला के पाण्डित्य का अभिनय दिखा रहीं थीं।[4]"

एक कुतूहलपूर्ण नृत्य का उल्लेख श्रीहर्ष ने किया है जिसमें संगीतशास्त्र के सिद्धान्तों का विशेष कोई प्रयोग नहीं है, किन्तु जो आज भी कौतूहल के रूप में नट, भांड़ आदि जातियों द्वारा दिखाया जाता है।

पाण्ड्य-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती हैं—"कीर्तिनर्तकी की भांति पहले समस्त पृथ्वी-मण्डल में व्याप्त होकर फिर आकाश में विहार करने

---

१. क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
सामूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च॥ माघ १।१० की टीका में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

२. शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च॥ नै० १।५२

३. अन्या अपि नर्तक्यो मञ्जुमृदंगनिनादभङ्गीनामनुवादेन स्वीयं नृत्तकौशलं हस्ताद्यभिनयेन लोकेषु प्रदर्शयन्ति॥ नै० ११।६ की टीका में नारायण

४. उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेधाः।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम्॥
नै० ११।६

की अभिलाषा से इस महाकुलीन पाण्ड्यनरेश का आश्रय लेकर सहर्ष लोकान्तरों में नर्तन कर रही है। (नर्तकी भी पहले पृथ्वी पर नृत्य दिखा कर फिर निरालम्ब आकाश में नृत्य दिखाने के लिए बड़े वांस पर कौतूहलमय नृत्य करती है।)[1]"

नल-विवाह के अवसर पर कुछ विशेष वाद्यों की स्वर-संगति का उल्लेख करते हुए श्रीहर्ष ने अपने वाद्यज्ञान का परिचय दिया है।[2] उदाहरणार्थ—नल के आने के समय वहां कांस्यताल (घड़ी घण्टे) वजने लगे। वीणा आदि का स्वर व्याप्त हो उठा। शहनाई का उच्च मधुर शब्द निकलने लगा, तथा ढोल मृदंग आदि का अपार नाद होने लगा[3]—और, वीणा का स्वर वंशी के स्वर से दव नहीं गया था। उसी प्रकार कण्ठगीत से वंशीरव, झँझरी से कण्ठगीत, हुडुक से झँझरी, डफले से हुडुक तथा मृदङ्ग से डफला और डफले से मृदङ्ग की ध्वनि संक्रान्त नहीं थी—प्रत्येक वाद्य स्वर-संगति के साथ वजता हुआ भी, वादक के कौशल से, अपनी ध्वनि स्पष्ट दे रहा था।[4]

नैषध में पुत्तलिका-नृत्य-विषयक-ज्ञान का भी सप्रपञ्च उल्लेख हुआ है। नल के नव-निर्मित विलास-भवन का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"उस प्रासाद में कहीं पर सूत्र-निर्मित यन्त्र से पुत्तलिकाओं के आश्चर्यकारी नृत्य आदि अभिनय हो रहे थे। उनके सूत्रधार दीवाल की आड़ में छिपे रहते थे और वाहर उन कौतुक-पूर्ण कथाओं का अभिनय हो रहा था।"[5]

श्रीहर्ष के संगीत-कौशल का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण वह प्रसंग है जहां मध्याह्न भोजनादि के पश्चात् विश्राम करते हुए नल को दमयन्ती की शिष्या गन्धर्वकुमारियां वीणा सुनाने के लिए आती हैं—"दमयन्ती से कलाएं सीखने वाली सखी-रूप

---

१. भुवि भ्रमित्वानवलम्बमम्बरे विहर्तुमभ्यासपरम्परापरा।
अहो महावंशममुं समाश्रिता सकौतुकं नृत्यति कीर्तिनर्तकी॥ नै० १२।१६

२. ततं वीणादिकं वाद्यम् आनद्धं मुरजादिकम्।
वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्॥ अमरकोष

३. तदा निसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम्।
अवापुरुच्चैःसुषिराणि राणितामभानमानद्धमियत्तयाध्वनीत्॥ नै० १५।१६

४. विपंचिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेपि झर्झरैः।
न ते हुडुक्केन न सोपि ढक्कया न मर्दलैः सापि न तेपि ढक्कया॥ नै० १५।१७

५. भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्भुतकथादि कौतुकः।
सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाश्चर्यसंजिबहुशालभंजिकः॥ नै० १८।१३

गन्धर्व राजकुमारियां, जो मधुर वीणावादन में अत्यन्त कुशल थीं, महल में बैठे महाराज नल को वीणा सुनाने के लिए गईं।[1]"

गीत आरम्भ करने के पूर्व सुन्दरियों ने काकली[2] (अव्यक्त मधुर तान) सुनाई। उन मृगनयनियों ने गीत प्रारम्भ करने के पूर्व तार मिलाते समय वीणा से कुछ अव्यक्त अतिमधुर शब्द किए, मानों उनकी वीणा अत्यन्त मृदुकण्ठी दमयन्ती के सम्मुख कुछ स्वर करने में पहिले लजा रही थी।[3]

निषाद-स्वर में वजती वीणा का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—"राज-शिरोमणि नल के पास वीणा उच्च मधुर निषाद स्वर में वज रही थी—वादिका की अंगुलियां द्रुतगति से तारों पर दौड़ रही थीं, तथा ऊपर की खूंटियां रह-रह कर घुमाई जा रही थीं,—जैसे सकामा करिणी गजेन्द्र के पास अपने सिर-सूंड हिलाती हुई, चञ्चलतापूर्वक क्रीडाएं करती हुई निषाद-ध्वनि में शब्द करती है।[4]" संगीत-शास्त्र के अनुसार हाथी की ध्वनि निषाद-स्वर में होती है।[5]

वीणा-दण्ड के छिद्र जितने ही विशद होते हैं, उसका स्वर उतना ही प्रशस्त गम्भीर होता है।[6] वीच-वीच में लय मिलाते समय वीणावादक कोण वड़ी द्रुत गति से तारों पर दौड़ता है।

श्रीहर्ष संगीत के पूर्वोक्त सिद्धान्त के प्रति कल्पना करते हैं—"स्यात् दमयन्ती का मधुर कण्ठ वीणा-दण्ड के समस्त उत्तम अंश को लेकर वनाया गया है—इसी-

---

१. शिष्याः कलाविधिषु भीमभुवो वयस्या वीणामृदुक्वणनकर्मणि याः प्रवीणाः।
आसीनमेनमुपवीणयितुं ययुस्ता गन्धर्वराजतनुजा मनुजाधिराजम्॥
नै० २१।१२४

२. काकली तु कले सूक्ष्मे—अमरकोष

३. तासामभासत कुरङ्गदृशां विपञ्ची किञ्चिन्मधुरः कलितनिष्कलकाकलीका।
भैमी तथा मधुरकण्ठलतोपकण्ठे शब्दायितुं प्रथममप्रतिभावतीव॥
नै० २१।१२५

४. नादं निषादमधुरं ततमुज्जगार साभ्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य।
स्तम्बेरमीव कृतसश्रुतिमूर्धकम्पा वीणा विचित्रकरचापलमाभजन्ती॥
नै० २१।१२७

५. निषादं रौति कुञ्जरः—नारदमत, अमरकोष की १।७।१ की टीका में श्री भानुजी दीक्षित द्वारा उद्धृत।

६. पुष्कलच्छिद्रस्य वीणादण्डस्य स्वरोतिगम्भीरः प्रशस्ततरो भवति॥
नै० २१।१२८ की टीका

लिए तो वीणा अपने अन्तः (भीतरी भाग) को खोखला पाकर अपनी मूर्च्छनाओं में लज्जित होकर कोण पकड़ लेती है।[१]"

नाट्य

कोष के अनुसार तो नृत्य, गीत, वाद्य इन तीनों को ही नाट्य कहते हैं।[२] किन्तु यहां नाट्य से केवल नाटच-शास्त्र अभिप्रेत है। आचार्यों ने व्युत्पत्ति-विषयों में इसे भरतशास्त्र (अर्थात् भरतप्रणीत शास्त्र) नाम से अभिहित किया है।

दमयन्ती-प्रलाप से उद्भ्रान्त नल अपने को प्रकट कर दमयन्ती के प्रति प्रियचाटूक्तियां सुनाते हुए नाटच-शास्त्र-विषय का उल्लेख करते हैं—

"सुन्दर रोमावलि-रूप सूत्र धारण करने वाली तुम कैसे मदन-नाटिका न हो! प्रिये, तुम्हारे हार का मध्यमणि अत्यन्त सुन्दर लगता है, तथा तुम्हारा चूड़ामणि चन्द्रमा का भी उपहास कर रहा है।" नाटिका-पक्ष में—प्रकाशमान रोमावलि ही सूत्रधार है, तुम्हारे अङ्ग-विक्षेप में कथानायक विश्राम लेता है। ब्राह्मण अपनी शिखा में मणि बांधकर विदूषक बना है।[३]

नाटच-कला की अभिज्ञा का परिचय श्रीहर्ष ने आगे भी दिया है।

"राजा नल के विलास-भवन के प्राङ्गण में चन्द्रमा के अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के साथ कामुक व्यवहार के आख्यान को लेकर भरत-मुनि-प्रणीत नाटचशास्त्र के अनुसार लिखी गयी नाटिका खेली जा रही थी।[४]"

मन्त्र-तन्त्र

मन्त्र-तन्त्र विद्या में श्रीहर्ष कितने अभिज्ञ थे, इस विषय में स्वयं नैषध काव्य ही प्रमाणरूप है, जिसे उन्होंने प्रसिद्ध चिन्तामणि मन्त्र के चिन्तन का फल-रूप कहा है।[५] राजशेखर सूरि के 'प्रबन्ध-कोष' के अनुसार तो श्रीहर्ष का सारा वैदुष्य ही चिन्तामणि मन्त्र की कृपा के कारण था।[६]

---

१. आकृष्य सारमखिलं किमु वल्लकीनां तस्या मृदुस्वरससर्जि न कण्ठनालम्।

२. तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्। अमरकोष १।७।११

३. न वर्तसे मन्मथनाटिका कथं प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी।
तवाङ्गहारे रुचिमेति नायकः शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः॥ नै० ९।११७

४. गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा॥ नै० १८।२३

५. तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले—नै० १।१४५

६. राजशेखर-सूरि—प्रबन्धकोश-हर्षबन्ध:

नैषध में उन्होंने अपने मन्त्र ज्ञान का विशेष प्रदर्शन नहीं किया है, किन्तु यथा-वसर कुछ प्रसंग ऐसे आए हैं जिनसे श्रीहर्ष के मन्त्र-सिद्धि-विषयक ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

कृष्णाष्टमी में वशीकरण मन्त्रों को सिद्ध किया जाता है।[1] दमयन्ती के भाल का वर्णन करते हुए नल उसे तन्त्रसिद्धि के लिए प्रसिद्ध अष्टमी की रात्रि-रूप कहते हैं—"केशरूप अन्धकार के नीचे रमणीय भालरूप अर्द्धचन्द्र वाली यह सुन्दरी स्पष्ट रूप में अष्टमी तिथि है—(कृष्णपक्ष की अष्टमी में भी पहले अन्धकार फिर अर्द्ध-चन्द्रोदय होता है) अतः इसे पाकर कामदेव ने संसार को विजय करने की जो साधना की वह उचित ही है।"[2]

चतुर्दशी की रात्रि में अदृश्य शक्तियों की सिद्धि की जाती है।[3]

दमयन्ती के गुल्फों का वर्णन करते हुए नल उसे चतुर्दशी-रूप समझते हैं—"अरुन्धती, रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी तथा नवअम्बिकाओं में यह दमयन्ती चौदहवीं (चतुर्दशी) गणनीय है। अतः इसको भी अदृश्य वस्तु की सिद्धि होनी ही चाहिए। और वह सिद्धि सुन्दर गुल्फों के रूप में उचित ही प्राप्त हुई।"[4]

चिन्तामणि नाम से अनेक मन्त्र प्रसिद्ध हैं। बौद्ध सम्प्रदाय में एक चिन्तामणि

---

१. कृष्णाष्टम्यां जगद्वशीकर्तुं गुटिकादिसिद्धिः साध्यते॥ नै० ७।२३ की टीका में नारायण।

साथ ही यहां श्रीहर्ष ने अपने ज्योतिष-ज्ञान का भी परिचय दिया है। क्योंकि यदि कृष्णाष्टमी श्रवण या रोहिणी से युक्त रहे तो उस दिन जय-योग होता है। और वह विजयेच्छुओं को जय देने वाली होती है। नारायण ने टिप्पणी में एक प्रमाण भी उद्धृत किया है—

जयदाविजिगीषूणां यात्रायामसिताष्टमी।
श्रवणेनाथ रोहिण्या जययोगो युता यदि॥

२. केशान्धकारादथ दृश्यभालस्थलार्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम्।
एनां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु॥ नै० ७।२३

३. आगमे 'चतुर्दश्यामदृश्यत्व-सिद्धिर्भवति' इत्युक्तम्॥ नै० ७।९८ की टीका में नारायण।

४. अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः॥ नै० ७।९८

रत्न-मन्त्र है जिसका उल्लेख आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में हुआ है।[1] बौद्ध सम्प्रदाय में प्रसिद्ध तारा (देवी) की एकजटा वाली श्वेतमूर्ति की साधना में जिस मन्त्र का उल्लेख हुआ है वह बहुत कुछ नैषध में वर्णित चिन्तामणि के समान ही है। उस मन्त्र का रूप है 'ह्लीं'[2] तथा उसके विषय में 'यह चिन्तामणि नामक मन्त्रराज एकाक्षर है'[3] ऐसा कहा गया है। इसका भी फल कवित्व, वैदुष्य एवं वक्तृत्व है।[4]

'अहिर्बुध्न्यसंहिता'[5] में एक और चिन्तामणि मन्त्र का विवरण आता है, जो सहस्रारमातृकाचार के सम्बन्ध में पञ्चरात्र अनुष्ठान में प्रयुक्त होता है। उसके अधिष्ठातृ देवता अर्धनारीश्वर शिव माने गये हैं। किन्तु यह एक वशीकरण मन्त्र

---

१. स मन्त्रो पात्रभूतस्थः त्रिषु चिन्तामणिस्तथा।
करोति कर्मवैचित्र्यम् ईप्सितं साधकेच्छया॥
मन्त्रं चात्र भवति--"नमःसर्वबुद्धेभ्यः ॐ तेजो ज्वालसर्वार्थसाधक सिध्य सिध्य सिद्धि चिन्तामणिरत्न हुं"॥
चिन्तामणिरत्नमन्त्रः सर्वार्थसाधकम्।
ईप्सितां साधयेदर्थामन्त्राश्चापि सविस्तराम्॥
त्रिवेन्द्रम प्रकाशन भाग २, पृ० ३९३ (इसकी संस्कृत त्रुटियों पर ध्यान न दीजिएगा।)

२. तत्रायं मन्त्रोद्धारः--सप्तमस्य चतुर्थं वह्निसयुक्तं ईकारभेदितं अर्द्धेन्दुबिन्दुभूषितं इत्थं जपेत्। नाभिमध्ये अष्टदलकमलतदुपरि चन्द्रे देदीप्यमानं ह्लींकार जिह्वोपरि चन्द्रमण्डलं तदुपरि ह्लींकारं पश्येत्-- साधनमाला-गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, प्रकाशन भाग १ पृ० २६८

३. एकाक्षरोऽयं मन्त्रराजश्चिन्तामणिकल्पः--(वही)

४. लक्षजापेन महाकविर्भवति श्रुतिधरो वाग्मी च, वज्रवाणीं च लभते। महाधनो दीर्घायु सर्वशास्त्रविशारदो गरुडेश्वर इव त्रिभुवनं निर्विषं करोति। शीघ्रं च बोधिमभिसम्भोत्स्यते नास्ति अत्र सन्देहः। इत्यादि --वही भाग १, पृ० २६९-७०

५. एतत्तन्मातृकाचक्रं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यद्बीजं मातृकाक्षाद्यं तद्बहिः प्रधिमालिखेत्॥
ततश्चिन्तामणिं बाह्ये तद्बहिश्च लिखेत् पराम्।
परावरां तद्बहिश्च तद्बहिः श्रियमालिखेत्॥
--अ० बु० सं० २३।९६, ९७ अड्यार पुस्तकालय, अड्यार, मद्रास

है। इससे सरस्वती तथा कवित्व-शक्ति आदि से कोई सम्वन्ध नहीं। तन्त्रग्रन्थ 'ईशान-शिवगुरुदेवपद्धति' में भी एक चिन्तामणि मन्त्र का वर्णन हुआ है, जिसके अधिष्ठातृ देवता महारुद्र हैं।[1] पद्मपुराण में मन्त्रचिन्तामणि नामक एक मन्त्र का उल्लेख हुआ है जो कृष्णपरक है।[2]

नैषध में चिन्तामणि का उल्लेख स्वयंवर के अन्त में हुआ है। नल से प्रसन्न होकर सरस्वती उन्हें चिन्तामणि मन्त्र की सिद्धि का वरदान देती हुई कहती हैं:— "जिसका (एक) अर्धभाग काम तत्त्वप्रधान तथा (अन्य) अर्ध शिवतत्त्व प्रधान है, जो चन्द्रकान्ति से सुशोभित है, जो विशिष्ट-स्वरूप है अथवा जिसका कोई आकार नहीं, जिसका अर्धभाग पुरुष तथा अर्धभाग स्त्री है और इस प्रकार दोनों भाग मिलकर जिसे पूर्ण वनाते हैं, जो स्त्री पुरुष दो रूपों में विभक्त हैं, भगवती और भगवान् जिसके दो नाम हैं तथा जो मेरा परम गोप्य मन्त्र है, राजन्, शिव के उस अर्धनारीश्वर रूप का चिन्तन करो और मेरे आशीर्वाद से तुम साधु पुरुष को वह सिद्ध हो जाय"।[3] यह मन्त्र यद्यपि सरस्वती-परक है किन्तु इसमें शिव के अर्धनारीश्वर रूप का वर्णन किया गया है। नारायण ने अपनी टीका में आगम से इस मन्त्र का स्वरूप उद्धृत करते हुए इसे आदि अन्त में दो प्रणवों (ॐ) से सम्पुटित भुवनेश्वरी रूप सरस्वती का मन्त्र कहा है।[4]

---

१. बीजं चिन्तामणिर्नाम महारुद्रोऽस्य देवता।
ऋषिस्तुम्बुरुसंज्ञोस्यच्छन्दो गायत्रमेव हि॥९२, इत्यादि
—त्रिवेन्द्रम् प्रकाशन भाग २ मन्त्रपाद पाशुपताद्याधिकार पृ० १७९

२. पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय ५०

३. अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटना द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु स ते॥
नै० १४।८८

४. शिवान्त्यो वह्निसंयुक्तो ब्रह्मद्वितमध्यमन्तरा।
तुरीयस्वरशीतांशुरेखातारासमन्वितः॥
एषचिन्तामणिर्नाम मन्त्रः सर्वार्थसाधकः।
जगन्मातुः सरस्वत्या रहस्यं परमं मतम्॥
इत्यागमात् प्रणवद्वयसम्पुटितभुवनेश्वरीरूपं चिन्तामण्याख्यं मे सरस्वत्याः स्वरूपं मन्त्रं स्मर इत्यादिः—नै० १४।८८ की टीका में नारायण।

नैषध के पूर्वोक्त श्लोक की सबसे विशद व्याख्या चाण्डूपण्डित ने की है :— (सुविधा के लिए उसे पाद-टिप्पणी में पूरा उद्धृत किया जाता है)[1]

नैषध के श्लोक में गुप्त रूप में चिन्तामणि मन्त्र का 'ॐ ह्रीं ॐ' स्वरूप दिया गया है। श्रीहर्ष इस मन्त्र की साधना-विधि तथा उसका फल भी बताते हैं—

"जो पुरुष हंसवाहना मेरी पुष्प-गन्ध-धूप आदि से पूजा करके अनन्य भक्ति के साथ मेरा ध्यान करते हुए इस मन्त्र के रूप में मेरा जप करता है, वह एक वर्ष बाद इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि जिस किसी के सिर पर उसका हाथ पड़ जाय वह भी

---

१. वामे अर्धे वामपक्षार्धे प्रथमम् अवा ओकारेण तथा मा मकारेण ओंकारेणेत्यर्थः। यत् रूपं द्विधा द्विप्रकारं भूतं सत् द्वितीयेन ओंकारेण दक्षिणार्धेपि भूतं प्राप्तं भगवदभिधेयं भवति ब्रह्मवाचकम्। किं भूतम्—उभयाकारस्य ओंकारद्वयस्य घटनात् मेलनात् सकलम्। तदन्तःतयोः ओंकारयोरन्तर्मध्ये हरमयमीश्वरमयं मन्त्रं स्मर। अथ च हकारो रेफकारो मकार ईकारश्च। चतुष्टयेपि अकार उच्चारणार्थः। ईकारस्य पुरतःअकारस्य सुखोच्चारणार्थे य आदेशे ह्रींकारः। उभयपक्षे ओंकारेण सम्पुटित इत्यर्थः। सेन्दु अर्धमात्रायुक्तम्। अथवा हरमयमिति मयट्प्रत्ययः। अथवा सेन्दुमिति ईश्वरम्। ई इन्दुश्च ताभ्यां सह वर्तते सेन्दुः तं तथा। एतावता ईकारोनुस्वारश्च लब्धः। अमलं निराकारं चान्तर्जप। हे नरपते स ते तव सिध्यतु मे मम देव्या भारत्या मन्त्रःसिध्यतु सारस्वतो मन्त्रः।

अथवा यद्रूपं भगवद्योनिसदृशाकारं त्रिकोणयन्त्रमयं भवति। किं भूतम्- उभयाकार घटनात् द्विधाभूतं त्रिकोणयन्त्रद्वयघटनात् षट्कोणयन्त्रं तदन्तः मध्ये मे मन्त्रं स्मर। हरमयं हकाररेफमयम्। सकलम् ककारलकारसंयुक्तम्। अवा ओकारेण मा मकारेण त्रिष्वपि अक्षरेषु बिन्दुना (सह वर्तमानम्) तथा यत्र अर्धे वामा अस्ति। वामाशब्देन स्त्रीप्रत्यय ईकारो लक्ष्यते। अयमभिप्रायः षट्कोण यन्त्रमध्ये पूर्वं प्रणवस्ततः क्लीं ह्रीं।

अथवा अवामा न शक्तिः अपरा वामा नामशक्तिः इति द्वे अर्धे। एतत् स्वरूपं द्विधाभूतम् उभयाकारघटनात् योन्यर्धाकाररूपद्वयमेलनात् सकलं सम्पूर्णं सत् यत् रूपं भगवत् योनिवत् तदन्तर्मन्त्रं स्मर इति शेषं पूर्ववत्।

अथवा यस्य रूपस्यार्धे अवामा अप्रतिकूला वामा पार्वती अस्ति तत् हरमयम् उभयाकार-घटनात् सकलम् अर्धनारीश्वरं सेन्दुं सचन्द्रं मन्त्रं गोप्यं रहस्यं निराकारं स्मर जप स्तुहि चिन्तय च॥

—नै० १४।८८ की टीका में चाण्डूपण्डित

अकस्मात् श्लोक रचने लगता है। प्रयोग के द्वारा इसका चमत्कार अवश्य द्रष्टव्य है।[१]"

इस मन्त्र का और भी फल कहते हैं—"मेरे इस चिन्तामणि नामक परम मन्त्र को जिस सुकृती ने पुरश्चरणादि द्वारा अपने हृदय में धारण किया वह शृङ्गारादि नवों रसों से सिक्त अमृतमयीवाणी बोलने में साक्षात् बृहस्पति हो जाता है। उसके मदन-सुन्दर रूप पर दिव्याङ्गनाएं भी मुग्ध हो उसके वश में हो जाती हैं। अधिक क्या कहें, वह जो चाहता है, वही प्राप्त कर लेता है।[२]"

राजनीति

श्रीहर्ष ने नैषध में राजनीति के अनेक सिद्धान्तों की व्यञ्जना की है। नीति के अनुसार राजाओं के गुप्तचर ही आंख है।[३]

"राजा नल भी चार-चक्षु थे, नल अपने तेज से अमित्र—(शत्रु) जित् होते हुए भी मित्र-(सूर्य)-जित् थे, तथा चार (दूत)-दृष्टि होकर भी विचार (विवेक) दृष्टि रहे। मानों विपक्षी राजाओं की भांति विरुद्ध स्वभावों ने भी नल के भय से परस्पर विरोध त्याग दिया था। (यहां मित्र, अमित्र तथा चार, विचार में विरोधाभास अलङ्कार है।)[४]

नीति कहती है—"फूलों से भी लड़ाई न करनी चाहिए, फिर तीक्ष्ण वाणों की कौन कहे।[५]"

---

१. पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारुहंसेन मां चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
तत्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्याः॥ नै० १४।९०

२. सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः॥ नै० १४।८९

३. गन्धेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरेजनाः। नै० १।१३ में नारायण द्वारा उद्धृत

४. प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेतृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥ नै० १।१३

५. पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः—नै० ४।८१ की टीका में नारायण-द्वारा उद्धृत।

दमयन्ती मदन को उपालम्भ देती हुई कहती है---"अनङ्ग, विषमनेत्र (शिव) के साथ जो तूने फूलों द्वारा विग्रह ठाना उसका फल पा गया। तभी से तो यह भय-विषयक नीति बनी कि फूलों की भी लड़ाई ठीक नहीं।[1]"

यदि दो प्रबल राज्यों की सीमा पर कोई दुर्बल भी राज्य होता है, तो उस पर कोई बलवान् आक्रमण नहीं करता।[2]

"कृशोदरी दमयन्ती के उदर-सौन्दर्य का निरूपण करते हुए नल राजनीति के पूर्वोक्त विषय को सोचकर कौतुक में पड़ जाते हैं---"मध्य में होकर भी क्षीण उदर त्रिवलियों से आक्रान्त नहीं हो पाता। यह सर्वाङ्गीण निर्दोष इस भीमजा में फैले हुए आश्चर्यमय अनङ्ग-राज्य का प्रताप है।[3]"

शुक्राचार्य का मत है कि "सर्वज्ञ का विरोध नहीं करना चाहिए, विरोधी की उपेक्षा न करनी चाहिए, तथा असमर्थ को प्रसन्न करना चाहिए।"[4]

परिहास-प्रसङ्ग में सखियां दूर जाकर दमयन्ती को धमकातीं हैं---"बाहर आकर सखियों ने कहा। सखि दमयन्ति, तू तो नीतिशास्त्र जानती है। फिर अपने रहस्य को जाननेवाली (विरोधी) इन दो सखियों की उपेक्षा किसी प्रकार न करना।[5]"

अलङ्करण

चतुःषष्टि कलाओं में शरीर को अनेक विधि (लेप, वस्त्र तथा विभूषणों आदि) से अलङ्कृत करना भी गिना जाता है।[6]

---

१. फलमलभ्यत यत् कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्गविगृह्णता।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसमैरपि विग्रहमिच्छति॥ नै० ४।८१

२. अन्येनापि क्षीणेन दुर्बलेनोभयोः सीमायां विद्यमानेनापि स्वाम्यमात्यादीनां सप्ताङ्गानां शुद्धौ सत्यामपि बलिष्ठेभ्यो भयानकायां भूमौ पराभवो न प्राप्यते॥ नै० ७।८१ की टीका में नारायण।

३. क्षीणेन मध्येपि सतोदरेण यत्प्राप्यते नाक्रमणं वलिभ्यः।
सर्वाङ्गशुद्धौ तदनङ्गराज्यविजृम्भितं भीरुभुवीह चित्रम्॥ नै० ७।८१

४. विरोधयेन्न सर्वज्ञं नोपेक्षेत विरोधिनम्। प्रसादयेदशक्यं तु...॥नै० २०।१३३ की नारायण की टीका में उद्धृत।

५. ता बहिर्भूय वैदर्भीमूचुर्नीतावधीतिनि।
उपेक्ष्येते पुनः सख्यौ मर्मज्ञे नावुनाप्यजू। नै० २०।१३३

६. दशनाद्यङ्गरागश्च माल्यगुम्फविचित्रता। वेणुवीणादिकालापपाटवं शेखरक्रिया। नेपथ्यगन्धयुक्तिश्च कर्णपत्रक्रियाभिधाः। विशेषभेद्यक्लृप्तिश्च नानाभूषण-योजनम्॥

श्रीहर्ष ने शरीर-प्रसाधन की विधियों का अनेक स्थान पर उल्लेख किया है। कवि के लोकोत्तर स्वरूप वाले नायक तथा नायिका सदा उत्तम प्रसाधनों से परिष्कृत दिखायी पड़ते हैं।

"दमयन्ती-प्रेम की आधि में व्यथित नल अङ्गराग में कर्पूराधिक्य का वहाना करते, कभी-कभी झूठे विषाद का अभिनय करके विरहजन्य आहों को छिपाते तथा अङ्गराग में कर्पूर के अधिक होने का वहाना कर विरहजन्य पीतिमा का निराकरण करते।[1]"

विवाह के अवसर पर वधू-वर के शृङ्गार का विस्तृत वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने अपनी प्रतिकर्म-विशेषज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है। मङ्गलस्नान के पश्चात् समस्त कलाओं में चिरकाल से अभ्यास करने के कारण अत्यन्त कुशल सखियों ने दमयन्ती को पवित्र वेदी पर ले जाकर क्षण में, उसके प्रत्येक अङ्ग का शृङ्गार किया।[2]

अलङ्कारों आदि से विभूषित करने के पूर्व सुन्दरी की नैसर्गिक सुषमा की एक झांकी देते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"अलंकरणों के विना भी दमयन्ती स्वयं सुषमा की पराकाष्ठा थी। अतः कुशल सखियों ने इसे और भी विशिष्ट प्रकार से अलङ्कृत किया, जिससे वैदर्भी का सौन्दर्य सीमातीत लगने लगा। इसका कौन निर्णय कर सकता था कि विभूषणों से दमयन्ती की शोभा हो रही थी अथवा दमयन्ती से विभूषणों की।[3]"

सर्वप्रथम तिलक-प्रसाधित सुन्दरी के मुख का वर्णन करते हैं—"पूर्णिमा के चन्द्रमा की रक्त वन्धूक तथा दो नील कमलों से अर्चना करके ऊपर से चम्पा की कलिका चढ़ाई जाने की शोभा को अपने अरुणाभ अधरोष्ठों, नीलाभ नयनों तथा पीताभ मनःशिला के तिलक से दीप्तिमान् दमयन्ती के मुखमण्डल ने फीका कर दिया।[4]"

---

१. मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललापपाण्डुताम् ॥ नै० १।५१

२. अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्याश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः॥ नै० १५।२६

३. विनापि भूषामवधिः श्रियामियं व्यभूषि विज्ञाभिरदर्शि चाधिका।
न भूषयैषाधिचकास्ति किन्तु सा नयेति कस्यास्तु विचारचातुरी॥ नै० १५।२७

४. विधाय बन्धूकपयोजपूजने कृतांविधोर्गन्धफलीबलिश्रियम्।
निनिन्द लब्धाधरलोचनार्चनं मनःशिलाचित्रकमेत्य तन्मुखम्॥ नै० १५।२८

केशों को सुगन्धित धूप से सुवासित किया जाता था। सुन्दरी के धूप-सुवासित केशों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं–"किसी सखी ने सुगन्धित धूप से सुवासित करके दमयन्ती के कोमल केशपाश को मनोहर पुष्पमञ्जरी के समान गूँथा। मानों वह वेणी पृथ्वी के राजाओं की कामान्धतारूपी अन्धेरी रात के अन्धकाररूपी वस्त्र के श्यामतन्तु थी।[1]"

करुण पुष्प की कलियों से रम्य ग्रथित उर्मिल केशों के प्रति कवि की कल्पना है—"करुण पुष्प की कलियों से अलङ्कृत सुन्दरी की कुटिल केश-श्रेणी बलराम द्वारा अपने हल से टेढ़ी की हुई, निविड तरङ्गों से दन्तुर यमुना का उपहास करती थी।[2]"

ललाट पर सुशोभित स्वर्ण-पट्टिका (टीका) का सौन्दर्य वर्णन करते हैं—"दमयन्ती के भाल पर सुशोभित स्वर्णमयी पट्टिका उस केशरूपी श्यामघन की विद्युत् के समान थी। (विद्युत् तो क्षणस्थायिनी होती है) किन्तु इस विद्युत् की आयु लम्बी हो गयी थी, क्योंकि इसने समीपस्थ मुखचन्द्र की सुधा का पान किया था।[3]"

अञ्जन का वर्णन करते हुए कवि कल्पना करता है—"दमयन्ती के अपाङ्गों तक फैली हुई अञ्जन-रेखा अत्यन्त सुशोभित हो रही थी, मानों यौवन की सुषमा ने उसके नेत्रों को और दीर्घ करने के लिये नापने की डोरी लगाई है।[4]"

श्रवण-विभूषण-रूप दो इन्दीवर-दलों के प्रति कवि उत्प्रेक्षा करता है—"दमयन्ती के (कानों में पहने हुए) दो इन्दीवर अत्यन्त सुशोभित थे, मानों उन्हें देखकर कामान्ध होनेवाले किसी रसिक की दो आंखें हैं।[5]"

---

१. महीमघोनां मदनान्धतातमीतमः पटारम्भणतन्तुसन्ततिः।
अबाधि तन्मूर्धजपाशमञ्जरी कयापि धूपग्रहधूमकोमला॥ नै० १५।२९

२. बलस्य कृष्टेव हलेन भाति या कलिन्दकन्या घनभङ्गभङ्गुरा।
तदर्पितैस्तां करुणस्य कुड्मलैर्जहास तस्याः कुटिला कचच्छटा॥ नै० १५।३१

३. धृतैतया हाटकपट्टिकालिके बभूव केशाम्बुदविद्युदेव सा।
मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुधाजुषः स्थिरत्वमूहे नियतं तदायुषः॥ नै० १५।३२

४. अपाङ्गमालिङ्ग्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या।
अपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयःश्रिया वर्धयितुं विलोचने॥ नै० १५।३४

५. धृतं वतंसोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्यां पतिते दृशाविव।
मनोभुवान्ध्यं गमितस्य पश्यतः स्थिते लगित्वा रसिकस्य कस्यचित्॥
नै० १५।३९

श्रवण-कुण्डलों के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—"मानों सुन्दरी की बुद्धि ने उसके मुख से कहा कि दो चन्द्रमा तुम्हारी (मुख की) स्पर्धा करते हैं। और उस मुख ने सत्यासत्य का कोई विचार न करके तुरन्त मणिकुण्डल रूप उन दोनों चन्द्रों को अपनी कर्णलता से बाँध दिया।[1]"

अधर में अलक्तक लगाने के पूर्व मोम या उसी तरह की कोई स्निग्ध वस्तु लगाते हैं जिससे अलक्तक का रंग भी गाढ़ा आता है, और वह स्थायी भी होता है। दमयन्ती के अधरों पर यावक लगाने के पूर्व उसे और भी चटकीला करने के लिए मोम लगाया गया, मानों उस मोम ने अपने सदा के साथी मधु को त्याग दिया है। और अब अमृतमय उन अधरों पर सदा निवास करने के लिये उत्सुक हो रहा है।[2]

सुन्दरी के कण्ठ में सात लड़ियों वाला मोतियों का हार पहनाया गया। श्रीहर्ष ने उसके प्रति बड़ी मधुर कल्पना की है—"पहले तो दमयन्ती के कण्ठ को स्वर-माधुर्य के कारण वीणा कहा जाता था। किस प्रकार की वीणा इसका कोई निश्चय नहीं था। किन्तु अब मोती की सात लड़ी रूपी सात तारों से युक्त होने के कारण यह स्पष्ट हो गया कि यह सात लरोंवाली वीणा 'परिवादिनी' है।[3]"

मङ्गल-भूषणशंख-वलय से सुशोभित दमयन्ती के बाहुओं के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—"दमयन्ती के बाहु शङ्ख के बने मङ्गल-वलयों से सुशोभित थे, मानों उन बाहुओं से कोमलता सीखने के लिए बाल मृणालदण्ड उनकी गुरु-शुश्रूषा कर रहे हैं।[4]"

यावक-युत पद-कमलों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

दमयन्ती के चरणों में लगा हुआ यह यावक-राग (महावर) नहीं है, अपितु मदनाग्नि है, जिसने विरहावस्था में सुन्दरी को बहुत सताया था और जो अब उसका

---

१. अनाचरत्तथ्यमृषाविचारणां तदाननं कर्णलतायुगेन किम्।
बबन्ध जित्वा मणिकुण्डले विधू द्विचन्द्रबुध्या कथितावसूयकौ॥ नै० १५।४१

२. निवेशितं यावकराग दीप्तये लगत्तदीयाधरसीम्नि सिक्थकम्।
रराज तत्रैव निवस्तुमुत्सुकं मधूनि निर्धूय सुधासधर्मणि॥ नै० १४।४३

३. स्वरेण वीणेत्यविशेषणं पुरा स्फुरत्तदीया खलु कण्ठकन्दली।
अवाप्य तन्त्रीरथ सप्तमुक्तिकासरानराजत् परिवादिनी स्फुटम्॥ नै० १५।४४

४. उपास्यमानाविव शिक्षितुं ततो मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया।
रराजतुर्माङ्गलिकेन संगतौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः॥ नै० १५।४५

अपने कान्त के साथ समागम विचार कर अरुण राग के रूप में उसके चरणोंकी सेवा में रत है।[1]

पर अलंकार आदि प्रसाधनों के कारण इस कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा श्रीहर्ष सुन्दरी की नैसर्गिक सुषमा को छिपाना नहीं चाहते।

वे उसके सहज लावण्य का वर्णन करते हैं—"दमयन्ती के अंग स्वयम् अति रमणीय थे, तथा परस्पर एक अंग का सौन्दर्य दूसरे अंग को सुन्दर बना रहा था। अतः वे आभूषण, जिन्हें अलं (व्यर्थ) करण (पहिनना) कहा जाता है, उसका क्या सौन्दर्य बढ़ा सकते थे।[2]"

इस प्रकार स्त्री-प्रसाधन में अपनी अभिज्ञता दिखाकर श्रीहर्ष नल के भी विवाहोचित शृंगार के द्वारा अपने पुरुष-प्रसाधन की भी विशेषता का परिचय देते हैं। ('पुरुषों के जो विशेष अलंकरण होते हैं उनका ही वर्णन यहाँ उचित होगा।')

इधर उसी प्रकार शृंगार रचना में कुशल सेवकों ने उस समय अपने प्रभु महाराज नल की भी विवाहोचित सजावट की।[3]

सर्वप्रथम केश-संस्कार का वर्णन करते हैं—"नल के स्निग्ध कान्त दीर्घ केशों में लगी मालती आदि की कलिकाएं कामदेव की घर्षणचिह्नों वाली भ्रमरमयी धनुष की प्रत्यञ्चा से संयुक्त पुष्पबाणों की शोभा पा रही थीं।[4]"

सिर पर अमूल्य रत्नों से जटित मुकुट धारण किए हुए नल अतिशय शोभित थे। उस मुकुट से रत्नों की रश्मियाँ निकल रही थीं, मानों याचकों के लिए कल्पवृक्ष रूप उनकी ये रमणीय मञ्जरियाँ थीं। जैसे अन्य वृक्षों में मञ्जरियाँ लगती हैं उसी प्रकार कल्पवृक्षरूपी नल में भी मुकुट की रत्न-रश्मिरूपी मंजरियाँ लगी थीं।[5]

---

१. कृतापराधः सुतनोरनन्तरं विचिन्त्य कान्तेन समं समागमम्।
स्फुटं सिषेवे कुसुमेषुपावकः स रागचिह्नश्चरणौ न यावकः॥ नै० १५।४७

२. स्वयं तदङ्गेषु गतेषु चारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु च।
किमूचिरेलङ्करणानि तानि तद् वृथैव तेषां करणं बभूव यत्॥ नै० १५।४८

३. तथैवतत्कालमथोनुजीविभिः प्रसाधनासज्जनशिल्पपारगैः।
निजस्यपाणिग्रहणक्षणोचिता कृतानलस्यापिविभोर्विभूषणा॥ नै० १५।५७

४. पतत्रिणांद्राधिमशालिना धनुर्गुणेनसंयोगजुषां मनोभुवः।
कचेषु तस्याजितमार्जनश्रिया समेत्यसौभाग्यमलम्भिकुड्मलैः॥ नै० १५।५९

५. अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराजराजा मुकुटेन मूर्धनि।
वनीपकानां स हि कल्पभूरुहस्ततोविमुञ्चन्निवमञ्जुमञ्जरीम्॥ नै० १५।६०

पुरुषों के भाल पर एक स्वर्ण निर्मित पट्टिका अलंकार रूप में बाँधी जाती है, जिसे वीर-पट्टिका कहते हैं। नल के मस्तक पर बंधी वीर-पट्टिका के प्रति श्रीहर्ष उत्प्रेक्षा करते हैं—"नल के ललाट पर रत्नखचित वीर-पट्टिका नामक स्वर्णिम अलंकार सुशोभित था. .मानों वह चन्द्रमा के चारों ओर रहने वाला परिधि-मंडल ही है। किन्तु सुन्दरता में चन्द्रमा से कहीं अधिक होने वाला नल का पूरा मुखमंडल इस परिधि के घेरे में न आ सका। अतः वह परिधि-मण्डल मुख के एक ही भाग को घेर सका।[१]"

भ्रूमध्य में लगे तिलक-विन्दु के प्रति श्रीहर्ष कैसी सटीक उत्प्रेक्षा करते हैं। भौंहों के पास नल का तिलक-विन्दु इस प्रकार लगता था मानों दमयन्ती के मानम धैर्य को नष्ट करने के लिये भगवान् कामदेव की उन भौंहों रूपी धनुष के पास रखी हुई गोली हो।[२]

मस्तक पर चन्दन की शोभा के प्रति कवि का कहना है :—'नल के अति-सरोज मुख-मण्डल पर चन्दन-विन्दु की वही शोभा होती थी जो चन्द्रमा के मध्य में रोहिणी आदि किसी एक तारका के आने पर होगी।[३]"

भुजबन्द का वर्णन करते हुए कवि की उत्प्रेक्षा है—

"नल के भुजवन्द आदि भुजाभरणों पर श्वेताभ हीरे तथा अरुणाभ माणिक्य सुशोभित थे। उनकी किरणें सभी ओर फैल रही थीं। मानों नल अपने दिग्विजय के यश की श्वेत आभा तथा प्रताप की रक्त आभा को दशों दिशाओं में फैला रहे थे।[४]"

माणिक्य-ज्ञान

आभूषणों के वर्णन के प्रसंग में कवि की माणिक्य-विषयक अभिज्ञता का सुन्दर परिचय मिलता है—

---

१. नलस्य भाले मणिवीरपट्टिकानिभेन लग्नः परिधिर्विधोर्बभौ।
तदा शशङ्काधिकरूपतागते तदानने मातुमशक्नुवन्निव॥ नै० १५।६१

२. बभूव भैम्या खलु मानसौकसंजिघांसतो धैर्यकरं मनोभुवः।
उपभ्रु तद्वर्तुलचित्ररूपिणी धनुः समीपेगुलिकेव सम्भृता॥ नै० १५।६२

३. अचुम्बि या चन्दनबिन्दु-मण्डली नलीयवक्त्रेण सरोजतर्जिना।
श्रियं श्रिता काचन तारका सखीकृता शशाङ्कस्य तयाङ्कवर्तिनी॥ नै० १५।६३

४. नै० १५।६९

वैदर्भी के गुच्छाहार के निर्मल जल-कण-कान्ति वाले मोतियों के प्रकाश से उज्ज्वल पयोधरों पर माणिक्य हार की अरुणकान्ति उदित हो रही है। (जैसे मेघ में इन्द्रधनुष उदित होकर शोभा पाता है)।[१]

आगे श्रीहर्ष दमयन्ती के ताम्बूल-रञ्जित दाँतों की समता कुरुविन्द (अरुण-मणि) से देते हैं—हे अरुण मणियों के समान अभिराम दन्तावलियों वाली सुन्दरि इत्यादि।[२]

रत्नों में पाँच प्रकार के दोष साधारण सम्भव माने गए हैं—

१—राग २—भास ३—विन्दु ४—रेखा तथा ५—जलगर्भता।[३]

स्वयंवर-सभा में विभूषित दमयन्ती के प्रवेश करने के समय का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष श्लेष द्वारा रत्न के पूर्वोक्त दोषों की ओर संकेत-सा करते हुए कहते हैं—"दमयन्ती के आभूषण-रत्नों की निर्मल किरणें उसके परिधान को देदीप्यमान् कर रही थीं, तथा उसके देह में किए गए स्निग्ध पदार्थ एवं कृत्रिमोदक के लेप का अपनयन करने में सयत्न-सी थीं। (अथवा रत्नों के स्निग्धत्व, मायाजाल एवं लेप इन तीन दोषों के दूर कर देने पर उनकी निर्मल किरणें ही जिस सुन्दरी के देह पर वस्त्र की शोभा दे रही थीं।) उसके साथ उसकी सखियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों उन अलङ्कारहीरकों की आभा-रूप जल में उसी के प्रतिविम्ब हों।[४]"

तुरग-लक्षण

कलाओं में इसकी भी गणना है। नैषध में श्रीहर्ष ने प्रसंगतः अपने शालिहोत्र ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है।

शालिहोत्र में लिखा है—"जो अश्व अपने खुरों से भूमि को निरन्तर खनता रहता है वह श्रेष्ठ माना गया है।[५]"

---

१. गुच्छालय स्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रू पयोधरे रोहति रोहितश्रीः॥ नै० ७।७६

२. चित्ते कुरुष्वकुरुविन्दसकान्तिदन्ति॥ नै० ११।४८

३. रागस्त्रासश्च बिन्दुश्च रेखा च जलगर्भता।
सर्वरत्नेष्वमी पंच दोषाः साधारणामताः॥ वाग्भट्ट, नै० १०।९३
की टीका में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

४. स्निग्धत्वमायाजललेपलोप-सयत्नरत्नांशु मृजांशुकाभाम्।
नेपथ्य-हीरद्युतिवारिर्वातस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम्॥ नै० १०।९४

५. खुरैःखनन्यः पृथ्वीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः॥ नै० १।५७ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

उपवनविहार के लिये जाने को उद्यत नल के लिये भृत्यों ने जो अश्व उपस्थित किया वह पूर्वोक्त लक्षणों से संयुक्त था। आज्ञा पाकर भृत्यगण निरन्तर चञ्चल खुरों से वाजिशाला की भूमि खनने वाले, बल की अपेक्षा और अधिक वेग वाले, पुरुष-प्रमाण से भी अधिक ऊँचे, विशेष रूप से अलंकृत एक धवल अश्व को ले आए,।[1] भूमि-कुट्टन से अश्व के खुरों में लगी धूलि के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—"नल के अश्व के चरण निरन्तर धरातल पर पटकने के कारण धूलि-धूसरित हो रहे थे, वह धूलि इस प्रकार प्रतीत होती थी, मानों लोगों के मन परमाणु-रूप धारण कर उस(अश्व) से वेगातिशय सीखने आए हैं।[2]"

अश्व के गले की देवमणि शुभ लक्षण मानी गयी है।[3]

नल का अश्व गले में देवमणि नामक भंवरी से, तथा कण्ठमध्यमार्ग में उठे हुए चन्द्ररश्मि-धवल स्कन्ध-वालों से सुशोभित था।[4]

अश्व का प्रोथ (थूथन) स्वभावतया चञ्चल होता है।[5]

नैषध के अश्व का भी यह स्वाभाविक गुण दर्शनीय था—

"जो अश्व चञ्चल ओठों द्वारा मानों राजा नल से अपने वेग-दर्प को व्यक्त करने के लिये उत्सुक है 'किन्तु यह राजा अश्व-अभिप्राय को स्वयं जानता है अतः कहना व्यर्थ है' इसलिए मौन स्थिर है।[6]"

अश्व-शास्त्र में घोड़ों की चौवन (५४) जातियों का उल्लेख है। उनमें सिन्धुज अश्व उत्तम जाति के माने जाते हैं।[7]

---

१. अमीततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपिमानेपि च पौरुषाधिकम्।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम्॥ नै० १।५७

२. अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ नै० १।५९

३. देवमणिः शिवेऽश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे। इति विश्वः नै० १।५८ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

४. अथान्तरेणवटुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः॥ नै० १।५८

५. चलाचलप्रोथत्वमश्वजातिः॥ नै० १।६० की टीका में नारायण

६. चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिववक्तुमुत्सुकम्।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम्॥ नै० १।६०

७. सिन्धुजम् इत्यनेनाश्वशास्त्रोक्त चतुःपञ्चाशदुत्तमकुलजत्वं बलित्वं महाकायत्वं च सूचितम्। नै० १।६४ की टीका में नारायण।

नल का वह अश्व सिन्धुज था। श्रीहर्ष श्लेष-चमत्कार के साथ उसकी समता उच्चैःश्रवा से करते हैं—"सिन्धु-देशोद्भव, चन्द्रधवल, उच्चैश्रवा-सदृश सुशोभित उस अश्व पर भूभृद्विजेता विपुल-नयन पृथ्वीन्द्र नल आरूढ़ हुए (यहाँ पर जितक्ष्माभृत् तथा अनल्पलोचन विशेषण इन्द्र नल दोनों के लिए श्लिष्ट हैं।)[१]"

हय का सबसे बड़ा गुण सत्त्व (पानीदार होना) है। विना सत्त्व (पानी) का घोड़ा रखना ही नहीं चाहिए।[२]

सारसिन्धु का वचन है—"सत्त्व के बिना सारे लक्षणों एवं गुणों से युक्त भी अश्व उसी प्रकार श्लाघ्य नहीं है, जैसे पाँचों इन्द्रियों से युक्त भी शरीर विना आत्मा के।[३]"

नल के अश्व में सत्त्व का अतिशय था। नल ने अपने छत्र के नीचे ही अपने घोड़े से जो सुन्दर चक्कर लगवाए, क्या पवन अब भी उन्हीं को सीखने के लिए बवण्डरों के रूप में चक्कर नहीं लगाता ?[४]

तिर्यग्योनि-विषयक ज्ञान (१--पक्षि-विज्ञान)

हंस वर्णन के प्रसंग में श्रीहर्ष ने स्थान-स्थान पर ऐसी सूक्ष्म बातों का उल्लेख किया है जिससे उनके पक्षि-विज्ञान (पक्षियों के जाति स्वभाव आदि) की विशेषज्ञता का पूर्ण परिचय मिलता है।

हंसों का स्वभाव है कि वे एक पैर पर खड़े होकर दूसरे पैर से तथा चञ्चुपुट से पंखों तथा सिर आदि शरीर के विभिन्न अंगों को खुजलाते हैं।

"नल के करपञ्जर से मुक्त होते ही हंस एक स्थान पर जा बैठा और वहाँ अपने एक पैर को मोड़कर जंघे को पंखे के मध्य से ऊपर तक ले जाते हुए जल्दी

---

१. ससिन्धुजं शीतमहः सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः॥ नै० १।६४

२. सत्त्वेनरहितो न संग्राह्यः—इति नै० १।७३ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

३. तल्लक्षणगुणैः श्लाघ्यैः किंसत्त्वेनविना हयः।
पञ्चेन्द्रियसमेतोपियथाकायो विनात्मना॥ वही

४. अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत्किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्याभयचक्रचङ्क्रमान्॥ नै० १।७३

जल्दी सिर खुजलाने लगा[१]। तथा 'उसके पंख-रूपी गढ़ में तीक्ष्ण दंशनकारी कृमिकीट इधर-उधर गुप्त होने के कारण अत्यन्त दुर्धर्ष बने थे। किन्तु हंस ने अपने कण्डयन-कुशल चञ्चुपुट की नोक की चोटों से सब को दूर कर दिया।[२]"

यदि कोई पक्षी कहीं विपत्ति से मुक्ति पाता है तो उसके वर्ग के अन्य पक्षी उसे आ घेरते हैं और फिर उसके विक्लव (ऊबड़-खावड़) पंखों को देखकर भय-सूचक शब्द करते हुए उड़ जाते हैं।

यह हंस भी जिस समय नल के हाथ से छूटा उस समय छूटते ही हंस को सरोवर के पक्षियों ने आकर घेर लिया। किन्तु नल के हाथ में पड़ने से इसकी अंग-विकृति को देखकर वे फिर भयमिश्रित उच्च आराव करते हुए उड़ चले।[३]

उड़ते समय पक्षी कभी पंख चलाता है, कभी ऊर्ध्वगति से जाता है तथा कभी अपने पंखों को शान्त फैलाए हुए उड़ता है। उसकी ये सारी क्रियाएं अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

श्रीहर्ष हंस के उड़ने में इस अत्यन्त स्वाभाविक कार्य का चित्रण करते हैं—

"हंस कभी पंखों को हिलाते हुए उड़ता, कभी ऊपर की ओर जाने के कारण दुर्लक्ष्य हो जाता, तथा कभी पंखों को फैलाकर निस्पन्द गति से जाता। इस प्रकार वह दर्शकों में कौतूहल उत्पन्न करता हुआ जा रहा था।[४]"

जब कोई बृहत्काय पक्षी वेग के साथ उड़ता है तो उसके पंखों से एक प्रकार का झंकार होता है, जिससे अधःस्थित अन्य लघु पक्षी भय से अपनी गर्दन झुकाकर उसकी ओर तिरछी आँखों से देखते हैं। पक्षियों की यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा अत्यन्त स्वाभाविक क्रिया है।

श्रीहर्ष ने इस क्रिया का भी अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण किया है। कुण्डिनपुर जाते समय वेग के कारण हंस के पंखों की गति से झंकार हो रहा था, जिससे अधः-

---

१. अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजंघमङ्घ्रिणा।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयित-मौलिरालयम्॥ नै० २।३

२. स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान्कटु कीटान्दशतः सतः क्वचित्।
नुनुदे तनुकण्डुपंडितः पटुचञ्चूपुट-कोटिकुट्टनैः॥ नै० २।४

३. अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यवियताथ शङ्कितैः।
उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः॥ नै० २।५

४. स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ नै० २।६८

स्थित पक्षियों को श्येननिपात की शंका होती थी। अतः वे ग्रीवा मोड़कर उसे ऊपर की ओर एक आँख से देखते थे।[१]

नीचे उतरते समय पक्षी एक गोल चक्कर बनाता है। हंस ने भ्रमणवेग से अपनी स्वर्णिम आभा विकीर्ण करते हुए उतरने के योग्य स्थान की खोज में ऊपर एक मण्डल-सा बनाया (जो ऐसा प्रतीत हुआ) मानों दमयन्ती के मुखचन्द्र की सेवा के लिये चन्द्रमा की परिधि रेखा हो।[२]

जहाँ उतरना होता है, वहाँ पक्षी ऊपर से अपने पंखों को समेट कर पहले बड़े वेग से उतरता है, फिर उस नियत स्थान पर पहुँच कर शरीर के सन्तुलन को ठीक रखने के लिये अपने पंखों को फैला देता है।

हंस अपने दोनों पंखों को समेटते हुए आकाश से वेग के साथ नीचे उतरकर निवेशदेश (बैठने की जगह) पर पंखों को फैलाते तथा हिलाते हुए दमयन्ती के समीप भूमि पर स्थित हो गया।[३]

२--जलचर-विज्ञान

एक मत्स्य ही प्रसिद्ध जलचर है जिसका शृंगार रस में सबसे अधिक उल्लेख हो सकता है, क्योंकि वह कामदेव का ध्वज-चिह्न तथा सुन्दरियों का नेत्रोपमान माना जाता है। श्रीहर्ष ने उसके स्वभाव का भी निरीक्षण किया था। जल में शैवाल आदि पौदों से मछलियाँ स्वभावतया अपना शरीर रगड़ा करती हैं।[४] विरहव्यथित दमयन्ती के उरःस्थल पर रखे शैवाल को देखकर श्रीहर्ष कल्पना करते हैं—"पिक आलाप सुनकर दमयन्ती का हृदय काँप उठता और उस समय उस हृदय पर रक्खा हुआ शैवाल (सेवार) चञ्चल होकर इस प्रकार प्रतीत होता मानों उस हृदय में सदा निवास करने वाले मदन के वाहन मत्स्य का शरीर-घर्षण लग रहा हो।[५]"

---

१. विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटितिश्येननिपातशङ्किभिः।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदझांकारितपत्रपद्धतिः॥

२. भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन क्वचन पतन-योग्य देशमन्विष्यताधः।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः शशिपरिधिरिवोर्ध्वं मण्डलस्तेन तेने॥
नै० २।१०८

३. आकुञ्चिताभ्यामथपक्षतिभ्यां नभोदिभागात्तरसावतीर्य।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः॥ नै० ३।१

४. मत्स्योहिशैवले घर्षणंकरोतीतिजातिः॥ नै० ४।३५ की टीका में नारायण

५. पिकरुतिश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ।
सततदद्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूघनर्घाषणा॥ नै० ४।३५

१--कला-ज्ञान

कला-कोष में लिखा है—वस्त्र पर पड़े तेलके मल (दाग) को घी से, घी के मल को उष्ण जल से, कज्जल के मल को दूध से, तथा अन्य मल को खारेउष्ण जल से धोया जाता है।[१]

नल-प्रिया से चन्द्रिका का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

"कृशोदरि, देखो, रात्रिरूपी धोबिन ने चन्द्रिका-रूपी दूध की धारा से आकाश-रूपी वस्त्र में लगे हुए अन्धकार रूपी कज्जल के दाग को क्षण भर में साफ कर दिया।[२]"

२--शिल्प-चित्रकारी

जिस भित्ति पर चित्र बनाना होता है उसे पहले जल से धोकर साफ करते हैं, तब उस पर चित्र अंकित किए जाते हैं[३]। उक्त सिद्धान्त का उल्लेख नैषध के इस श्लोक में मिलता है।—"और फिर शत्रु के चरित्र में उसकी शुभकीर्ति से चाहे कितना ही धवल क्यों न हो, किन्तु उसमें झूठे स्याही के दाग लगाने में भला कौन कुशल नहीं होते।[४]"

शकुन

शकुन विचारकों के अनुसार जो व्यक्ति प्रस्थान के समय पृथु, सहस्रार्जुन, शकुन्तलापुत्र भरत तथा नल का स्मरण करता है उसका कार्य सिद्ध होता है, एवं पुनः सकुशल लौटना होता है।[५]

---

१. तैलं घृतेन तच्चोष्णजलैर्दुग्धेनकज्जलम्।
नाशयेदम्बरस्थं तु मलं क्षारेण सोष्मण॥—कलाकोष—नै० २२।१११ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

२. आभिर्मृगेन्द्रोदरि कौमुदीभिः क्षीरस्य धाराभिरिवक्षणेन।
अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीयं रजनीरजक्या॥ नै० २२।१११

३. अन्येपि शिल्पिनो जलधारा-क्षालिते रमणीये कड्डयादौमण्यादिवर्णकैश्चित्रं लिखन्ति॥ नै० २०।१३६ की टीका में नारायण।

४. धौतेऽपिकीर्तिधाराभिश्चरिते चारुणि द्विषः।
मृषामषीलवैर्लक्ष्म लेखितुं के न शिल्पिनः॥ नै० २०।१३६

५. वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनं च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च।
एतान्नृपान्यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च॥ नै० ५।१३४ की नारायणीय टीका की पाद-टिप्पणी में उद्धृत।

वरुण नल से उसी मंगल का स्मरण करते हुए कहते हैं—"हे नल, यात्रा करने वाले को भरत, कार्तवीर्य तथा पृथु की भाँति तुम भी स्मरणमात्र से ही अभीष्ट देते हो। फिर यदि तुम अपनी ही यात्रा की असफलता की शंका कर रहे हो तो सारे मंगल निश्चित ही निष्फल हुए।[1]"

किसी से मिलते समय यदि शुभ शकुन हो तो वह मिलने वाला जन शुभकारक होता है।[2] सरस्वती जिस समय महाराज भीम के पास स्वयंवर समाज में आईं उस समय "सरस्वती के आने पर मालूम पड़ने वाले शकुन स्वर आदि के द्वारा उन्हें अभीष्ट तथा प्रामाणिक जानकर लोकपाल-समान राजा भीम ने उनकी उचित पूजा की।[3]"

स्वप्नाध्याय-वेत्ताओं का मत है कि रात्रि के चतुर्थ प्रहर (गायों को चराने के लिये छोड़ने की वेला) में देखा हुआ स्वप्न शीघ्र सत्य फल देता है।[4]

अन्तःपुर में दमयन्ती को साक्षात् देखकर नल कहते हैं—

"आज निशावसान के समय मैंने इस मधुर अधरों वाली के संयोग का अनुभव किया था। अहा, इस प्रकार यह कैसे मुझे प्रत्यक्ष गोचर भी हो गयी।[5]"

सूप-शास्त्र (पाक-विज्ञान)

पुराणों में नल को अश्वविद्या के साथ सूप-विद्या में भी निपुण कहा गया है यम भी नलको "तुम्हारे द्वारा पकाए हुए अन्न-रसादि पदार्थ अमृत से बढ़कर स्वादिष्ठ हों।[6]" इत्यादि वरदान देते हुए कहते हैं—"राजन् हम जानते हैं सूप-कार क्रियाओं में आपको विशेष अभिरुचि है।[7]" श्रीहर्ष ने अति पाण्डित्य के साथ नैषध के इस

---

१. प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत् स्मृतिघृतोऽपिनल त्वमभीष्टदः।
स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलुमङ्गलम्॥ नै० ५।१३४

२. आप्तागमन-समये भुजस्पन्दादयो भवन्ति.—नै० १०।९१ की टीका —नारायण।

३. तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यै राप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य।
तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितांदिदेश॥ नै० १०।९१

४. गोविसर्जनवेलायां दृष्ट्वा सद्यःफलं भवेत्॥ नै० ७।४२ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

५. संभुज्यमानाद्य मया निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराधरेयम्।
असीमलावण्यरदच्छदेत्थं कथं मयैव प्रतिपद्यते वा॥ नै० ७।४२

६. अस्तु त्वया साधितमन्नमीनरसादिपीयूषरसातिशायि॥ नै० १४।७८

७. पद्भूपविद्भस्तव सूपकार-क्रियासु कौतूहल-शालि शीलम्॥ १४।७८

(अग्रिम) श्लोक में सूप-शास्त्र-विषयक सूक्ष्म एवं विस्तृत नियम निहित किए हैं—"राजा नल की जिह्वाग्रनर्तकी-सी हो कर त्रयी—(वेद) मूल विद्या ने मानों अष्टादश द्वीपों की जय-लक्ष्मी को पृथक् पृथक् विजय करने की इच्छा से अपने छहों अंगों (वेदांगों) के गुणन द्वारा अष्टादश रूप धारण किए थे। (अथवा षड् रसों वाली सूपकार-विद्या ने परस्पर न्यूनाधिक समत्व रूप में संमिश्रण के द्वारा अट्ठारह रूप धारण किया था)।[1]"

वरातियों के भोजन के प्रसंग में तो कवि ने अपनी सूप-शास्त्र-विषयिणी पूर्ण कुशलता का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ, कुछ विशेष पदार्थों का ही उल्लेख पर्याप्त होगा—

विना टूटे, पूरे खिले हुए महीन चावलों के भात का वर्णन करते हुए कवि कहता है—"उन वरातियों ने वहाँ सुगन्धित चावल स्वाद के साथ खाए। उन चावलों से कुछ भाप निकल रही थी। वे चावल बिना टूटे हुए पक कर भी एक दूसरे से अलग, तथा अत्यन्त कोमल, स्वादिष्ठ एवं अत्यन्त महीन थे।[2]"

---

१. अमुष्य विद्यारसनाग्रनर्तकी त्रयीवनीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥ नै० १।५

नारायण ने अपनी टीका में इस श्लोक का अर्थान्तर करते हुए लिखा है—
अथवा स्वादुरसोत्पादकप्रकारकथनद्वाराश्रुतासतीलोकस्यरसाग्रंजिह्वाग्रंनर्तयतीति जिह्वाग्रनर्तकी। नलस्य सूपकारविद्या अङ्गनामवयवभूतानां मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायाख्यानां षण्णां रसानां न्यूनाधिकसमत्वरूपेणगुणेनाष्टादशतां प्राप। यथा मधुरे द्रव्ये मधुरद्रव्यान्तरस्य न्यूनः प्रक्षेपः तिक्तेधिकः अम्लेसमः इत्यनेन प्रकारेण सर्वरसानां त्रैविध्येऽष्टादशत्वम्। यद्वा अङ्गानां दुग्धदध्यादीनां। तथा च सूपशास्त्रम् दुग्धं दधि नवनीतम् घोलवने तक्रमस्तु युगम्। मध्वाटविक हविष्यं द्विदलान्नं चेति विज्ञेयम्। कन्दोमूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलं चेति अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तान्ति गिरिसुतया इति। दध्युदकमस्त्वित्युच्यते कणिशभवं व्रीह्यादि शिम्ब्यादिभवं 'मुद्गादि घण्टकभवं चणकादि इदं त्रिविधम् धान्यम्। भूचरजलचरखेचर भेदात्त्रिविधंमांसम्। षड्साः कन्दमूलफलनालपत्रपुष्पमयं षड्विधं शाकम्। इत्येवं धान्याद्यङ्गगुणेन विस्तरं नीता इति केचित्।

२. अमीलसद्वाष्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योन्यमुक्तमार्दवम्।
रसोत्तरं गौरमपीवरं रसादभुञ्जतामोदनमोदनं जनाः॥ नै० १६।६८

दही का रायता—"दही और राई के बने अत्यन्त चर्परे रायते को खाते समय भला कौन सी-सी नहीं कर रहा था। किसका सिर नहीं हिल रहा था। तथा किसके सिर और तालू में खुजलाहट नहीं हो रही थी।[१]"

तेमन[२]—"मृगमांस के बने व्यञ्जन (तेमन) को प्रेमपूर्वक खाकर उन वरातियों ने सोचा कि क्या चन्द्रमण्डल में रहने वाले मृग के मांस को चन्द्रमा के अमृत के साथ पकाया गया था।[३]"

सामिष तथा निरामिष पदार्थ—"वरातियों को कभी-कभी निरामिष भोजन सामिष लगते थे तथा सामिष निरामिष लगते थे। —चतुर सूपकारों ने उन्हें इस विचित्रता से पकाया था कि वरातियों को भ्रम हो ही जाता था। इस प्रकार उपहास करते हुए उन लोगों को भोजन कराया गया।[४]" मत्स्य, मृग, वकरे, तथा पक्षियों के मांस से जो कोमल स्वादिष्ठ एवं सुगन्धित पदार्थ तैयार किए गए उन्हें लोग गिन ही नहीं सकते थे। खाने की वात तो दूर रही।[५]

अन्त में दही-वड़ा—"अन्त में दही-वड़े से सारा भोजन सजा दिया गया। वड़ों के किनारे पर गोल चक्करदार रेखाएं वनी हुई थी तथा घी में पकने के कारण उनका रंग कुछ रक्त मिश्रित पीतिमा लिए हुए हो गया था। मानों यह भोजन विधि की समाप्ति की उसी प्रकार सूचक थी जैसे पुस्तकों की समाप्ति सूचक लिपि में गोल चिह्न वना दिए जाते हैं।[६]"

लोकरीति

नैषध में लोक प्रचलित विविध व्यवहारों का उल्लेख हुआ है। तत्कालीन सामाजिक जीवन का विशेष विवरण तो 'तत्कालीन समाज' नामक अध्याय में

---

१. न राजिकाराद्धमभोजि तत्रकैर्मुखेन सीत्कारकृता दधद्दधि।
धुतोत्तमाङ्गैः कटुभावपाटवादकाण्डकण्डूयितमूर्धतालुभिः॥ नै० १६।७३

२. स्यात्तेमनं तु निष्ठानम्—अमरकोष

३. व्यधुस्तमां ते मृगमांससाधितं रसादशित्वा मृदु तेमनं मनः।
निशाधवोत्संगकुरङ्गजैरदः पलैः सपीयूषजलैः किमश्रपि॥ नै० १६।७६

४. यथामिषेजग्मुरनामिषभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे।
तथा विदग्धैः परिकर्मनिर्मितं विचित्रमेते परिहस्य भोजिताः॥ नै० १६।८१

५. अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम्।
अशाकि लोकैःकुत एव जेमितुं न तत्तु संख्यातुमपि स्म शक्यते॥ नै० १६।८७

६. समाप्ति-लिप्येव भुजिक्रियाविधैर्दलोदरं वर्तुलयालयीकृतम्।
अलङ्कृतं क्षीरवटैस्तदश्नतां रराज पाकार्पितगैरिकश्रिया॥ नै० १६।९८

सविस्तार देखा जा सकता है। यहाँ केवल इन्हीं व्यवहारों का दिग्दर्शन होगा जो सनातन से प्रचलित हैं तथा जिनको शिष्ट व्यवहार में समाज अब तक मानता चला आ रहा है।

किसी प्रिय जन को बन्धु लोग वनान्त तक अथवा जलाशय तक पहुँचा कर उसे विदा देते हैं और जब वह दृष्टिपथ से ओझल हो जाता है तो लौटते हैं।

आगे वर्णित नैषध के श्लोकों में इस लोकरीति का दर्शन होता है—

"जैसे भाई बन्धु अपने प्रिय को कुछ दूर तक पहुँचाने जाते हैं और उसके आँख के ओझल हो जाने पर वापस लौट आते हैं उसी प्रकार पुर-वासियों की आँखें उपवन तक नल के पीछे लगी रहीं, फिर उपवन में नल के ओझल हो जाने पर लौट आयीं।[1]" तथा "दमयन्ती की आँखें नल के प्रिय सुहृद हंस के पीछे जा रही थीं, पर बाष्पवारि उनके लिए अवधि रूप हो गया। (प्रिय को जलाशय तक ही पहुँचाते हैं।) अतः समीप उड़ते हुए भी हंस दमयन्ती की आँखों से ओझल हो गया, किन्तु चित्तवृत्ति से तो दूर होकर भी ओझल न हुआ।[2]"

दृष्टिदोष को दूर करने के लिये लोग कसोरे (मिट्टी के बर्तन) को गोबर से लीप कर उसमें आटा आदि रखकर मुँह के चारों ओर नीराजना करते हैं।[3]

आगे के श्लोक में इस लोकाचार का पालन मिलता है—"ब्रह्मा चन्द्रमण्डल को वैदर्भी मुख का समुचित निराजना पात्र बनाकर घुमाया करता है। उस चन्द्र-पात्र में कलंक ही गोमय-पूजन होता है तथा चूर्ण लेप ही के कारण वह पाण्डुर प्रतीत होता है।[4]"

लोकनीति कहती है—मौन रहना स्वीकृति का लक्षण है।[5] तथा जिससे इनकार न किया जावे, वह अनुमति का विषय होता है। नल देवों से अपने

---

१. वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।
न्यवर्तिदृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः॥ नै० १।७५

२. तस्यादृशौ नृपतिबन्धुमनुव्रजन्त्यास्तंबाष्पवारि नचिराद्‌वधीबभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे यदनेनदृष्टे रारादपि व्यवदधे ननु चित्तवृत्तेः॥ नै० ३।१३१

३. गोमयालिप्तेन चूर्णादिचिह्नेन शरावेण दृष्टिदोषनिरासार्थं नीराजनाक्रियत इति लोकाचारः—नै० २।२६ टीका—नारायण

४. घृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डुरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्धमानकम्॥ नै० २।२६

५. मौनं स्वीकार-लक्षणम्। अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति। नै० ५।१०५ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

मौन का इस प्रकार अर्थ न करने को कहते हैं —"आप सबके चित्त को जानते हैं तो मैं भी मौन न रखूंगा क्योंकि मेरा मौन आप महापुरुषों के कार्य के प्रतिकूल होगा। कहने में लज्जा भले ही लगे, पर निषेध न करने के कारण वह बात स्वीकृत हुई न मान ली जाय। (अतः कहूंगा अवश्य)[1]"

लोक में याचितक (मँगनी) प्रायः पिता मित्र से माँगते हैं।[2] दमयन्ती की मुखश्री के प्रति नल उत्प्रेक्षा करते हैं —"कमल अपने पिता जल से तथा चन्द्रमा अपने मित्र दर्पण से (उनमें पड़ने वाले) दमयन्ती की ही मुख कान्ति के प्रतिबिम्ब की याचना करके उसे कभी-कभी (चन्द्रमा रात में, कमल दिन में) मँगनी के गहने के समान धारण करते हैं।[3]"

'आँखों में सावन-भादों लगाना' एक लोकोक्ति है जिसका प्रयोग अधिक रोने के अर्थ में किया जाता है। दमयन्ती के उन्मुक्त रोदन के प्रति हर्ष कहते हैं—"नल की बातों को मन में सोचकर, उन्हें सत्य जानकर दमयन्ती को विश्वास हो गया। फिर सूखा बीतने पर उन्मुक्त जल-प्रवाह की भाँति उसकी आँखों में सावन-भादौं लग गया।[4]"

कज्जल बनाने में एक दीपक जलाकर उसे बर्तन से ढक दिया जाता है जिससे दीपशिखा की कालिख उस बर्तन में एकत्रित होती रहती है।[5]

अन्धकार का वर्णन करते समय नल प्रिया से कहते हैं —

"प्रिये, सूर्य रूपी दीपक जल रहा था। उसका कज्जल लेने के लिए उसके ऊपर नील आकाश का एक विशाल कड़ाह उलटा कर दिया गया था। दिन भर उस कड़ाह में कज्जल एकत्रित होता रहा और अन्त में अधिक होकर निराधार होने के कारण वह सारी कज्जल-राशि भूमि पर आ गिरी और देखो चारों तरफ फैल गयी है। उसी को हम अन्धकार कह रहे हैं।[6]"

---

१. नै० ४।१०५

२. पितृमित्राभ्यां याचितं दीयते—नै० ७।५६ की टीका में नारायण।

३. अस्यामुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्चमित्रात्।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित्॥ नै० ७।५६

४. इमागिरस्तस्य विचिन्त्य चेतसा तथेति संप्रत्ययमाससाद सा।
निवासितावग्रहनीरनिर्झरैः नभोनभस्यत्वमलम्भयद्दृशौ॥ नै० ९।८४

५. कज्जलमपि कर्परेधृतंक्रमेण बहुभवद् गुरुत्वादधः पतित॥ नै० २२।३१ की टीका में नारायण।

६. नै० २२।३१

चकई-भंवरा बालकों का एक प्रिय क्रीडनक होता है, जिसे वे एक तागे में लपेटकर नचाया करते हैं।[1] चन्द्रमा के प्रति नल की उत्प्रेक्षा है। "प्रिये यह चन्द्रमा बालक प्रदोष का चाँदी का चकई-भँवरा है। यह बालक लाल डोरे से इसे लपेटे था। अव घुमा कर उसने अपने लाल डोरे खींच लिए और यह खिलौना आकाश में नाचता हुआ चढ़ता चला जा रहा है।[2]"

यह तो लोक सामान्य अनुभव है कि रात्रि में सर्वत्र सन्नाटा होने के कारण धीरे भी कहा हुआ शब्द दूर तक सुनायी पड़ता है तथा रात्रि में पथिक भी अधिक रास्ता चल लेता है। —[3]

प्रिया की गीतध्वनि के प्रसार के विषय में नल की उक्ति है —

"प्रिये, तुम्हारी गीत-ध्वनि पथिक की भाँति जितनी दूर रात्रि में जाती है उतनी दिन में नहीं, क्योंकि सुधांशु की अमृतरश्मियाँ बल देती हैं तथा इसे अन्धकार रूपी वन की शीतलता मिलती है। दिन में तो घाम और पसीने के कारण थोड़ा भी चलना कठिन हो जाता है।[4]"

---

१. शिशुक्रीडासाधनं हि भ्रमरकं काष्ठमयं भवति॥ नै० २२।५१ की टीका में नारायण।

२. बालेन नक्तं समयेन मुक्तं रौप्यं लसद्बिम्बमिवेन्दुबिम्बम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृतिं मुञ्चति शोणमानम्॥ नै० २२।५१

३. शब्दो हि रात्रौ स्वभावादतिदूरेऽपिश्रूयते दिवा तु न तथा।
पथिकोऽपि रात्रौ शैत्याद्दूरं गच्छति दिने चाल्पम्॥ नै० २२।१०८ की टीका में नारायण

४. आप्यायनाद्वा रुचिभिः सुधांशोः शैत्यात्तमः काननजन्मनो वा।
यावन्निशायामथ घर्मदुःस्थस्तावद् व्रजत्यह्नि न शब्दपान्थः॥ नै० २२।१०८

चतुर्दश अध्याय

लोक-चित्रण

कवि अपने सामयिक समाज से प्रभावित रहता है। कुशल कवि जिस अतीत के इतिवृत्त को अपने काव्य का कथानक बनाता है उसी अतीत की अन्य स्थितियाँ भी उपस्थित करने का प्रयत्न करता है किन्तु यदि सूक्ष्मेक्षिकया देखा जाय तो वहाँ भी उसका वर्तमान समाज झाँकता दिखायी पड़ता है, क्योंकि उसकी अतीत या भविष्य से सम्बद्ध सारी कल्पनाओं का आधार वर्तमान ही रहता है। कवि की कल्पना वर्तमान की नींव पर अतीत तथा भविष्य के प्रासाद बनाया करती है। अतएव किसी काव्य की समालोचना करते समय उसमें चित्रित तत्कालीन समाज का भी विवेचन किया जाता है। कवि 'लोक' अवेक्षण द्वारा भी काव्य-निपुणता प्राप्त करता है। लोक में पशु-पक्षियों का समाज तथा मनुष्यों का समाज दोनों आते हैं।

नैषध में तत्कालीन समाज का पूर्ण सांगोपांग चित्रण किया गया है। समाज की छोटी-मोटी बातों का भी अत्यन्त सरस ढंग से चित्रण हुआ है। संभव है कि है समाज अत्यन्त एकदेशीय तथा संकुचित क्षेत्र में व्याप्त रहा हो, किन्तु कुछ साधारण बातें ऐसी अवश्य ही रही होंगी जो साधारणतया सारे समाज में प्रच-लित मानी जा सकती हैं, और इस प्रकार उनका उल्लेख देखकर हम समस्त समाज की अवस्था का अनुमान लगा सकते हैं। श्रीहर्ष के समय के आस-पास अथवा कुछ ही पश्चात् उत्तरीय भारत को मुसलमानों से टक्कर लेनी पड़ी। उनके राज्य धर्म तथा संस्कृति के भाव भारतीय राज्य धर्म तथा संस्कृति के भावों का स्थान लेने के लिए व्याकुल होने लगे थे। अतः हिन्दुओं ने अपने धर्म और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए अनेक कठोर नियम बनाए, जो इस सात-आठ सौ वर्षों के लम्बे युग में ज्यों-के-त्यों बने रहे, और आज भी प्रायः उसी रूप में देखने को मिलते हैं। उनकी बहुत कुछ उपयोगिता का नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है—उनको प्रगति-शील तो जानबूझकर नहीं बनाया गया था। नैषध का महत्त्व विशेष रूप से इसी-लिए है कि इसमें जिस समाज का चित्रण हुआ है वह वास्तव में विशुद्ध "हिन्दू कालीन समाज है।" तब तक उस पर मुसलमानों के भय की तिमिरच्छाया नहीं पड़ी थी।

उसमें भारतीय संस्कृति का विशुद्ध रूप देखने को मिलता है। वाद में तो शीघ्र ही उसके रूप में वहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। सम्भव है श्रीहर्ष ने पुराणों का आधार लेकर कुछ वातें ऐसी भी लिखी हों जो वास्तव में उनके समय में न प्रचलित रही हों, किन्तु श्रीहर्ष-कालीन अन्य प्रमाणों से उन बातों का समर्थन होता देखकर हम सहज में इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि नैषधोक्त वातें प्रायः तात्कालिक समाज से सम्बद्ध हैं। अस्तु।

वर्णाश्रम

समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र चारों वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास चारों आश्रम अपनी-अपनी मर्यादा के पालन में भरसक प्रयत्न करते थे।[१] ब्रह्मचर्य आश्रम में द्विज वालक गुरु (द्विजराज) के पास रहकर भिक्षाटन द्वारा वृत्ति चलाते हुए विद्याध्ययन करते थे।[२] खेतों में या अन्यत्र बाजार आदि में कहीं अन्न-कणों को बीनकर शिलोञ्छवृत्ति द्वारा भी जीविका चलाते थे। यह वृत्ति सर्वोत्तम तथा पुण्यमयी मानी जाती थी।[३] ब्रह्मचारी मौञ्जी मेखला पहिनते थे तथा दण्ड (आषाढ़) धारण करते थे।[४] पुस्तकें हस्तलिखित होती थीं।[५] गृहस्थाश्रम वाले गृह वनाकर रहते थे। वानप्रस्थ गृहत्याग कर वनों में चले जाते थे, तथा यती (सन्यासी) होकर मठों में भी निवास किया करते थे।[६] आश्रमों में गृहस्थाश्रम सवसे श्रेष्ठ माना जाता था।[७] गृहस्थ वेद का अध्ययन करते थे।[८]

---

१. स्थितिशालिसमस्तवर्णताम्—नै० २।९८ तथा वर्णाश्रमाचारपथात्प्रजाभिः ॥
—नै० १४।४५

२. अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः ॥ नै० ७।४८

३. त्वया जगत्युञ्चितकान्तसारे यदिन्दुनाशीलि शिलोञ्छवृत्तिः ।
आरोपि तन्माणवकोऽपि मौलौ स यज्वराज्येऽपि महेश्वरेण ॥ नै० ८।४२

४. मौञ्जीधृतो धृताषाढानाशशंके स वर्णिनः ।
रज्ज्वामी बन्धुमायन्ति हन्तुं दण्डेन मां ततः ॥ नै० १७।१८०

५. मूर्खान्धकूपपतनादिव पुस्तकानामस्तं गतं वत परोपकृतिव्रतत्वम् ॥
नै० १।४९

६. स गृहे गृहिभिः पूर्णे वने वैश्वानर्घने ।
यत्याधारेऽमरागारे क्वासैपि न स्थानमानशे ॥ नै० १७।१७५

७. वर्षेषु यद्भभारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ॥ नै० ६।९७

८. दुर्जनस्याजनि क्लिष्टिर्गृहिणां वेदयष्टिभिः ॥ नै० १७।१८७

गृहस्थ का सबसे बड़ा कर्तव्य अतिथि-सत्कार था। स्मृतियों में अतिथि-पूजा का बड़ा माहात्म्य कहा ही गया था। श्रीहर्ष ने उसका कई स्थानों पर उल्लेख कर तत्कालीन समाज में उसकी व्यावहारिकी महत्ता की सूचना दी है। आतिथ्य का आदर्श इस प्रकार था—"शिष्टाचार के अनुसार अतिथि के आने पर सर्वप्रथम नमस्कार तथा प्रिय वचनों द्वारा कुशल अवश्य पूछना चाहिए।[1] अतिथि के सामने अपने को तृण के समान नम्र कर देना चाहिए। तुरन्त अपना ही आसन अतिथि के लिये दे देना चाहिये। हर्ष के आँसुओं के साथ प्रिय मधुर वचनों द्वारा कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए।[2] चरण-प्रक्षालन के लिए जल लाने में थोड़ी भी देर के कारण अपराध सम्भव है, अतः जब तक अन्य सेवा-सम्भार तैयार हो रहा है तब तक हाथ जोड़कर अपनी ऋजुता ही प्रकट करनी चाहिए।[3] आतिथ्य के दान, दया तथा प्रिय-सत्य वचन आवश्यक अंग माने जाते थे।[4] किसी पूज्य के आ जाने पर तो उसका अधिक से अधिक आतिथ्य किया जाता था।[5] गृहस्थों के आँगन अतिथियों के चरण-प्रक्षालन-जल से गीले रहते थे।[6]"

वानप्रस्थ आश्रम में ब्राह्मण प्रायः नदियों के किनारे वनों में रहा करते थे।[7] और कदाचित् वे ही आश्रम बनाकर द्विज बालकों को पढ़ाया भी करते थे।[8] वानप्रस्थ आश्रम में भी अतिथि-सत्कार का उतना ही महत्त्व था।[9]

---

१. नत्वाशिरोरत्नरुचापिपाद्यं संपाद्यमाचारविदातिथिभ्यः।
प्रियाक्षरालीरसधारयापि वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः॥ नै० ८।२०

२. स्वात्मापिशीलेन तृणंविधेयं देयाविहायासनभूर्निजापि।
आनन्दवाष्पैरपिकल्प्यमम्भः पृच्छाविधेयामधुभिर्वचोभिः॥ नै० ८।२१

३. पदोपहारेऽनुपनम्रतापि संभाव्यतेपां त्वरयापराधः।
तत्कर्तुमर्हाञ्जलि-संजनेन स्वसंभृतिःप्राञ्जलतापि तावत्॥ नै० ८।२२

४. प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम्॥ नै० १०।२७
दानं दया सूनृतमातिथेयी चतुष्टयीरक्षणसौविदल्ला॥ नै० १०।२८

५. अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारुतं सदकृतातिथिमिन्द्रः।
यावदर्हकरणंकिल साधोः प्रत्यवायघुतये न गुणाय॥ नै० ५।९

६. अतिथीनां पदाम्भोभिरिमं प्रत्यतिपिच्छिले।
अङ्गणेगृहिणां तत्र खलेनानेनदस्खले॥ १७।१६७

७. तत्रानुतीरवनवासितपस्विविप्रा शिप्रा॥ नै० ११।८९

८. प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत् पिकेन।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः॥ नै० ७।४८

९. स्थितैः समादायमहर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥ नै० १।७७

संन्यासी वेणुदण्ड धारण करते थे।[1] ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये योगी पूर्ण प्रयत्न-शील रहता था।[2] तप के बल पर योगी को सारी सिद्धियां प्राप्त होती थीं।[3] समाज में ब्राह्मणों का विशेष आदर था। और ब्राह्मणों में भी श्रोत्रिय ब्राह्मणों का सबसे अधिक मान था, क्योंकि वे उद्वेग, राग, मोह, द्वेष आदि दुर्वृत्तियों को अन्तःकरण से त्यागने का प्रयत्न करते थे।[4] ब्राह्मण सौत्रामणी इष्टि (इन्द्र संबन्धी याग) आदि के समय[5] के अतिरिक्त अन्यत्र मदिरापान नहीं करते थे।[6] यदि कहीं किया तो पतित समझे जाते थे।[7] ब्राह्मणों, गौवों, तथा देवों का समाज में आदर तो था ही किन्तु चार्वाक तथा विकृत बौद्ध मतानुयायियों में इनका विरोध भी पर्याप्त हो जाता था।[8] ब्राह्मण शाप भी देते थे।[9]

विद्या के उपयोग की चार अवस्थाएं होती थीं—अध्ययन, बोध, आचरण तथा प्रचार।[10] चौदह या अट्ठारह विद्याएं अध्ययन का विषय मानी जाती थीं।[11] शास्त्र एक 'नेत्र ही माना जाता था क्योंकि वही उचित अनुचित का वास्तविक रूप बताता था।[12] पढ़ने के समय पट्टी तथा खड़िया का प्रयोग किया जाता

---

१. यतिहस्तस्थितैस्तस्य राम्भैरारम्भि तर्जना॥ नै० १७।१८७

२. यत्रान्धकारः किलचेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्मतदाप्यवाप्यम्॥ नै० ३।६३

३. योगिनांतु तपसा खिल सिद्धिः॥ नै० ५।३

४. राजौ द्विजानामिहराजदन्ताः सम्बिभ्रतिश्रोत्रियविभ्रमं यत्।
उद्वेगरागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैम्मिमुक्ताः॥ नै० ७।४६

५. मुमुदेमदिरादानं विदन्नेषद्विजन्मनः।
दृष्ट्वासौत्रामणीर्मिष्टि तं कुर्वन्तमदूयत॥ नै० १७।१८२

६. विप्रेधयत्युदधिमेकतमंत्रसत्सुयस्तेषुपञ्चषु बिभाय नसीधुसिन्धुः॥ नै० ११।६८

७. किमुदिवंपुनरेति यदीदृशः पतित एष निपेव्य हि वारुणीम्॥ नै० ४।७०

८. देवैर्द्विजैः कृताग्रन्थाः पन्थायेषांतदादृतौ।
गां नतैः किंनतैर्व्यक्तं ततोप्यात्मा धरीकृतः॥ नै० १७।६७

९. इतीवपान्थाःशपतःपिकान्द्विजान्॥ नै० १।९०

१०. अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः॥ नै० १।४

११. विद्यासुचतुर्दशस्वयम्॥ नै० १।४
अमुष्यविद्यारसनाग्रनर्तकी त्रयीवनीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टा, दशतांजिगीषयानवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥ नै० १।५

१२. बभारशास्त्राणिदृशंद्वयाधिकांनिजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां॥ नै० १।६

था।[1] ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर विद्यार्थी स्नातक होता था। याज्ञवल्क्य ने स्नातक की परिभाषा इस प्रकार की है—"गुरवे तु वरंदत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया। वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा।[2]" क्षत्रियवर्ण प्रायः राजा हुआ करता था। राजा आठों लोकपालों का अंश माना जाता था।[3] राजकुमार वेदाध्ययन के साथ किसी अन्य प्रवीण राज से अस्त्र-शस्त्र विद्या भी सीखते थे।[4] मृगया में जीवहिंसा करना राजा के लिए निन्द्य नहीं था।[5] कवि एवं विद्वानों का राज-दरबारों में आदर होता था।[6] राजा के यशस्वी होने में दान तथा पराक्रम दो गुण थे। कभी-कभी दानी नरेश द्वारा यहाँ तक दान दिया जाता था कि याचक जीवन भर के लिए अयाची हो जाता था।[7] द्रव्य वर्षा करते हुए राजा की उपमा मेघ से दी गई है। याचक को उससे सारे अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते थे।[8] दान के विषय में श्रीहर्ष का आदर्श है कि दानी नरेश को याचक का नाम सुनते ही हर्ष से रोमांचित हो जाना चाहिए।[9] जो "दानी याचक की इच्छा को जानते हुए भी उसके कहने की प्रतीक्षा करता है उसे अत्यन्त निन्द्य समझना चाहिए।[10]" राजा प्रतिदिन ब्राह्मणों को दान दिया करता था।[11] दानी

---

१. एतद्गुणानां गणनाङ्कपातः प्रत्यर्थिकीर्तीः खटिकाः क्षिणोति॥ नै० १२।९
कण्ठेशब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषानुयातः।
प्राक्संस्कारेणसम्प्रत्यपि धुवतिशिरः.पट्टिकापाठजेन॥ नै० १९।६१

२. या० स्मृ०, आचाराध्याय ५१

३. दिगीशवृन्दांशविभूतिः॥ नै० १।६, स भूभृदष्टावपिलोकपालाः॥ नै० ३।८९
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह॥ नै० ६।९४
तद्वः समेतान्नृपमेनमंशान्वरीतुमन्विष्यतिलोकपालाः॥ नै० १४।४३

४. अस्त्रशस्त्रखुरलीषुविनिन्ये शैथ्यकोपनमितानमितौजः॥ नै० २१।५

५. मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागमसर्मपारगैः॥ नै० २।९
मृगयाधाय न भूभुजां घ्नताम्॥ नै० २।१०

६. अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च। नै० १।१७

७. अयं दरिद्रो भवितेतिवैधसींर्लिपि ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्॥
मृषां न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीयदारिद्र्यदरिद्रतां नलः॥ नै० १।१५

८. दारिद्र्यदारिद्र्यविणौघवर्षैरमोघमेघ-व्रतमर्थिसार्थे।
संतुष्टमिष्टानितमिष्टदेवं नाथन्तिकेनाम न लोकनाथम्॥ नै० ३।२५

९. अर्थिनामहृषिताखिललोमा॥ नै० ५।७९

१०. तं धिगस्तुकलयन्नपिवाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ नै० ५।८३

११. विप्रपाणिषु भृशं वसुवर्षी॥ नै० २१।११९

नरेश यज्ञ के समय तो सब कुछ श्रोत्रियों को दे देना चाहता था।[१] क्षत्रिय वीर का रण में लड़कर मरना स्वर्गप्रद था।[२] जो लक्ष्मी पूर्व-जन्मोपार्जित पुण्य के नाश होने पर मिलती है वह वस्तुतः विपत्ति रूप ही है, अतः उसे सत्पात्र को सौंपना उस विपत्ति के प्रतिकार में की गई शान्तिविधि मानी जाती है।[३] क्षत्रिय के लिए रण से भागना या पराजित होना अत्यन्त अकीर्तिकर होता था।[४] राजा यज्ञ आदि कृत्यों से देवों को तथा कूप, बावली आदि साधनों से प्रजा को सन्तुष्ट रखकर सारे सांसारिक सुखों का भागी बनता था।[५] राजा अनेक पत्नियों का स्वामी होता था।[६] शत्रु के साथ बड़ा निर्दय व्यवहार किया जाता था। कभी-कभी नगर जलाना,[७] वध करना,[८] धन का अपहरण करना,[९] गढ़ लूटना[१०] आदि कठोर अत्याचार किए जाते थे। बेचारा मारा-मारा वनों में फिरता[११] स्त्री बच्चे अलग रोते-विललाते रहते।[१२] अपराध का निर्णय करते समय दिव्यपरीक्षाओं का भी आश्रय लिया जाता था। जल[१३]

---

१. भुङ्क्ते श्रितश्रौत्रियसात्कृतश्रीः॥ नै० ३।२४

२. पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्यविरोधि।
गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम्॥ नै० ५।१५

३. पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः श्रीभरा विपदएव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ नै० ५।१७

४. स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्धनाशुगप्रगल्भवृष्टि व्ययितस्यसंगरे।
निजस्यतेजः शिखिनः परश्शता वितेनुरिंगालमिवायशः परे॥ नै० १।९

५. इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः॥ नै० ३।२१
नलेष्टापूर्तसम्पूर्तेः॥ नै० १७।१०७

६. अभ्यर्थनीयः स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्॥ नै० ३।९२
शुद्धान्त सम्भोगनितान्ततुष्टे न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम्॥ नै० ३।९३

७. अनत्यदग्धारिपुरानतोज्ज्वलैः॥ नै० १।१०

८. निवारितास्तेन महीतलेऽखिलं निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यविश्रमाः प्रतीपभूपालमृगीदृशांदृशः॥ नै० १।११

९. जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवाञ्शैशवशेषवानयम्॥ नै० १।१९

१०. अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपानता॥ नै० १।१२

११. अयं किलायात इतीरिपौखाभयादयादस्य रिपुर्वृथा वनम्॥ नै० १२।२५

१२. एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा—नै० १२।२८

१३. सुषमाविषयेपरिक्षणेनिखिलं पद्मभाजि तन्मुखात्॥ नै० २।२७

जातिशुद्धि[1] अग्नि[2], तुला आदि द्वारा अपराध का निर्णय किया जाता था। अधीन नरेश कर देते[3] और विजेता के द्वार पर हाजिरी देते[4] तथा रत्न आदि भेंट में दिया करते।[5] राजा अपनी अनुपस्थिति में शासन का भार मंत्रियों पर सौंप जाता था।[6]

नैषध में 'वैश्य' जाति या वर्ण का उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है, किन्तु देश के वाणिज्य तथा व्यापार के संकेतों से उनकी सम्पन्न दशा का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है। कुण्डिननगर-वर्णन में श्रीहर्ष कहते हैं—"आपण (बाजार) सागर की भाँति अपार कोलाहल से पूर्ण रहते थे। शंखों, मणियों तथा कौड़ियों की गणना में व्यग्र विक्रेताओं के हाथ मानों उस सागर के केकड़े थे तथा दूकानों में रक्खी कर्पूर-राशि उसकी बालुका थी।[7] जिन वीथियों में केसर की दूकानें थीं वे सन्ध्या के समय ऐसी प्रतीती होती थीं मानों अस्तंगत सूर्य की किरणें भूलकर वहाँ गिर पड़ी हैं।[8] वणिकों की दूकानों में विक्रय के लिए फैलाई हुई संसार की समस्त वस्तुओं को मनुष्य उसी प्रकार देखता है जैसे कभी पुरातनकाल में मार्कण्डेय मुनि ने भगवान्

---

१ वर्णसंकीर्णतायां वा जात्यलोपेऽन्यथापि वा।
ब्रह्महादेः परीक्षासु भङ्गभङ्ग प्रमाणय॥ नै० १७।८६

२. हिमोपमातस्यपरीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरुपिता॥ नै० ९।५५
जलानलपरीक्षादौ संवादो वेदवेदिते॥ नै० १७।८८

३. अर्पणान्निजकरस्यनरेन्द्रैरात्मनः करदतापुनरुचे॥ नै० २१।१

४. तस्य चीनसिचयैरपिवद्धा, पद्धतिः पदयुगात्कठिनेति।
तां व्यवत्त शिरसांखलु माल्यै राजराजि रभितः प्रणमन्ती॥ नै० २१।२

५. द्रागुपाह्रियततस्य नृपैतद्दृष्टिदानबहुमानकृतार्थैः।
स्वस्य दिश्यमथ रत्नमपूर्वं यत्नकल्पितगुणाधिकचित्रम्॥ नै० २१।३

६. अथनगरधृतैरमात्यरत्नैः पथिससियाय स जायया भिरामः। नै० १६।१२४
न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादाररामसदनं प्रियासखः॥ नै० १८।३

७. बहुकम्बुमणिर्वराटिका गणनाटत्करकर्कटोत्करः।
हिमबालुकयाच्छबालुकः पटुदध्वानयदापणार्णवः॥ नै० २।८८

८. रुचयोऽस्तिमितस्यभास्वतः स्खलिताः यत्रनिरालयाः किल।
अनुसायमभूर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः॥ नै० २।९०

विष्णु के उदर में समस्तविश्व को देखा था।[1] दूकान में सौरभ-लोभ से निष्पन्द स्थित काले भँवरे को विक्रेता कस्तूरी के साथ तौल देता (उसे पृथक् पहिचान न हो पाती)।[2]

शूद्र वर्ण वेदवाक्य सुनने का अधिकारी नहीं था।[3] चाण्डाल चारों वर्णों से बहिष्कृत होता था। धनुष् के बाण बनाना उसका एक प्रधान व्यवसाय होता था।[4] उसका न कोई स्पर्श करता था, न वह बस्तियों में अधिक दिखायी पड़ता था। उसका निवास वन में होता था। वह मधुपान कर मस्त रहा करता था। उसके हाथ की अँगुली कटी रहती थी।[5] चाण्डाल को जनंगम भी कहते थे। द्विज उसे देखना भी नहीं चाहते थे, पास जाना और बात करना तो दूर रहा,[6] दास-प्रथा भी प्रचलित थी।[7]

विवाह

कवि ने विवाह के (मनु० ३।२१ इत्यादि में प्रोक्त) आठ प्रकारों में किसी का उल्लेख न करके केवल स्वयंवर का वर्णन किया है। उसी का प्रसंग भी था। राजाओं में स्वयंवर की विशेष प्रथा थी। कन्या की विवाहोचित अवस्था देखकर पिता स्वयंवर-द्वारा योग्य वर सहज में पा जाता था।[8] कन्या का पिता लोगों को बुलावा भेजा करता था।[9] स्वयंवर में कुमारी को बलात् अपहरण करने वाले भी आते थे ऐसे लोग प्रायः शक्तिशाली तो बहुत होते थे, किन्तु नीच वंश के होते थे, तथा

---

१. विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेवमृकण्डुसूनुना जगतीवस्तुपुरोदरेहरेः॥ नै० २।९१

२. समभेणमदैर्यदापणेतुलयन्सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपि गुञ्जन्तमलिं मलीमसम्॥ २।९२

३. पातुं श्रुतिभ्यामपिनाधिकुर्वे वर्गं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम्॥ नै० ३।६२

४. तवास्मि मां धातुकमभ्युपेक्षसे मृषामरं ह्यामरगौरवात्स्मरम्।
अवेहि चण्डालमनङ्गमंग! तंस्वकाण्डकारस्थमधोःसखा हि सः॥ नै० ९।१५१

५. चण्डालस्ते विषमविशिखः स्पृश्यते दृश्यतेन।
ख्यातोऽनङ्गस्त्वयि जयति यः किं नु कृत्ताङ्गुलीकः॥ नै० ९।१५६

६. विमुखान्द्रष्टुमप्येनं जनंगम इव द्विजान्॥ नै० १७।११२

७. तदास्यदास्येपि गतोऽधिकारितां न शारदःपार्विक-शर्वरीश्वरः॥ नै० १।१२०

८. दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः॥ नै० ४।११९

९. यावदागमयतेऽथनरेन्द्रान्स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः॥ नै० ५।१

समाज में किसी न किसी कारण कुख्यात रहते थे।[1] युवक-समाज स्वयंवर में आते समय कुमारी की अभिरुचि के गुण तथा शृंगार का अपने में विशेष रूप से प्रदर्शन करना चाहता था।[2] स्वयंवर में प्रायः कलह हुआ करता था।[3] जो कुमार स्वयंवर में आते थे वे प्रायः सत्कुलोत्पन्न, शस्त्र शास्त्र में पारंगत देखने में सुरूप तथा धन में कुबेर के समान (पर्याप्त धनशाली) होते थे।[4] स्वयंवर में दर्शक भी आते थे तथा आए हुओं की परिचर्या करने के लिए भी आते थे।[5] स्वयंवर प्रायः इतने विशाल ढंग से होता था, उसमें इतने अधिक लोग आते थे, कि वह एक मेला ही प्रतीत होता था।[6] इन्द्रजाल आदि दिखाने वाले भी आते थे।[7] किन्तु वहाँ जाति, वित्त तथा गुण से अधिक कीमत शारीरिक-सौन्दर्य की होती थी।[8] समागत युवक समाज के स्वागत का पूर्ण प्रवन्धक रहता था।[9] नगर के राजमार्ग पर वड़े-वड़े सुन्दर फाटक वनाए जाते थे।[10] पुरवासी सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रहते थे। सभी घर सुन्दर चित्रों से विभूषित किए जाते थे।[11] दूर-दूर के लोग जव मिलते थे तो संस्कृत ही उनके परस्पर-वार्तालाप का माध्यम होता था।[12] फिर निश्चित समय पर राजा (राजकन्या का अभिभावक, पिता भ्राता आदि) अपने दूतों द्वारा उन आमंत्रित अतिथियों को स्वयंवर-सभा में उपस्थित होने के लिये निवेदन करता। तव

---

१. वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम्॥ नै० १०।३
२. येषु येषुसरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापिगुणेषु।
तत्र तत्र कलयापिविशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः॥ नै० ५।३२
३. किं भुवः परिवृढा न विवोढुं तत्र तामुपगताविवदन्ते॥ नै० ५।४२
४. रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजित-यक्षराजाः। नै० १०।१
द्रष्टुं परैस्तात्परिकर्तुमन्यैः॥ नै० १०।३
५. तलंययेयुर्न तिला विकीर्णाःसैन्यैस्तया राजपथा बभूवुः। नै० १०।५। इत्यादि
७. वाधावतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविदां वृत्तिवधाद्व्यधायि॥ नै० १४।७०
८. जातौ न वित्ते न गुणे न कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः॥ नै० १०।१३
९. रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः।
प्रियोक्तिनानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम्॥ नै० १०।२७ इत्यादि
१०. पुरे पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृत्यान्युत्सववाञ्छयेव॥ नै० १०।३१
११. विभूषणैःकञ्चुकिताबभुःप्रजा विचित्रचित्रैःस्नपितत्विषो गृहाः॥ नै० १५।१५
१२. अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु॥ नै० १०।३४

वे अपनी भावभंगिमा के साथ सभामण्डप में पहुँचते थे।[1] समागत युवकों के गोत्र चरित्र आदि का परिचय देने के लिए विशेष आयोजन करना पड़ता था।[2] जिस समय पतिवरा कन्या स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश करती थी, उस समय वहाँ एक अद्भुत कौतूहल उमड़ पड़ता था।[3] कन्या प्रायः पालकी आदि किसी सवारी पर रहती थी[4]। उस समय राजाओं की अपूर्व चेष्टाएँ होती थीं। ये चेष्टाएँ प्रायः अनुभाव रूप ही होती थीं—जैसे रोमांच,[5] अँगुलियाँ फोड़ना,[6] स्पन्दन,[7] इत्यादि। सभा में धूप अराग आदि की सुगन्ध उड़ती रहती थी।[8] स्वयंवर के विघ्नों को दूर करने के लिये शची का आवाहन किया जाता था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि यदि शची का सान्निध्य न रहे तो युवकगण उसी क्षण एक-दूसरे का सिर फोड़ने लगें।[9] स्वयंवर के अन्त में कन्या जिस युवक का वरण करती उसके गले में दूर्वांकुर से सुशोभित मधूकमाला डालती थी।[10] स्वयंवर के पश्चात् विवाह-संस्कार श्रुति और स्मृति की विधि से सम्पन्न किया जाता था।[11]

---

१. वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः शृङ्गारभंगीमनुभावयद्भिः।
स्वयंवरस्थान-जनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः॥ १०।३७

२. विचिन्त्यनानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसंकीर्त्यचरित्रगोत्रान्।
कथ्याः कथंकारममीसुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन॥ नै० १०।६८

३. दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम्॥ नै० १०।९३

४. इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथराजराजिः॥ नै० १०।१०८

५. आसीदसौ तत्र न कोपि भूपस्तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य।
उल्लेसुरंगानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमांकुरदन्तुराणि॥ नै० १०।१०९

६. आस्फोटिभैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम्र। नै० १०।११०

७. अस्मिन्समाजे मनुजेश्वरेण तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लालितमौलिना न भ्रुवौरुदक्षेपितरांद्वयी वा॥ नै० १०।१११

८. आलोकनाय दिविसंचरतांसुराणां तत्रार्चनाविधिरभूदधिनासधूपैः॥ नै० ११।१४

९. न सन्निधात्रीयदिविघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची।
स एव राजव्रजवैशसात्कुतः परस्परस्पर्धिवरः स्वयंवरः॥ नै० ९।७८

१०. दूर्वांकुराढ्यां नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज॥ नै० १४।४८

११. श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे विधीनिति॥ नै० १५।७

विवाह में स्त्रियाँ मंगल गान करती थीं।[1] वर की ओर से दान में धन (रुपया पैसा) छींटा जाता था।[2] वर का कुल कन्या के कुल से प्रायः उच्चतर होता था।[3] विवाह में स्त्री-समाजोचित टुटके होते थे।[4] विवाह-मण्डप में हल्दी चावल आदि से रचना की जाती थी।[5] वीणा, शहनाई, घड़ी, घण्टे, ढोल, मृदंग, झँझरी, वंशी हुडुक, डफला आदि विभिन्न वाद्य वजते थे।[6] कन्या को पहले मंगल-स्नान कराया जाता था, जो कुल-विशेष की प्रथा के अनुसार होता था। स्नान कराने वाली प्रायः सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही होती थीं।[7] मंगलस्नान के बाद कन्या को धवल वस्त्र पहनाया जाता था।[8] इसके पश्चात् उसका विवाहोचित शृंगार किया जाता था।[9] पूर्णरूप से अलंकृत होकर कन्या गुरुजनों को प्रणाम करती तथा उनके आशीर्वाद लेती।[10] वर का भी विवाहोचित शृंगार होता था।[11] इसके पश्चात् वर-यात्रा होती थी जिसे देखने के लिए पुर की सुन्दरियाँ अत्यन्त उत्सुक होती थी।[12]

---

१. क्वापिप्रमोदा-स्फुटनिर्जिहानवर्णंवया मङ्गलगीतिरासाम्॥ नै० १४।५१
२. तथापथि त्यागमयं वितीर्णवान् यथातिभाराधिगमेन मागधैः।
तृणीकृतं रत्ननिकायमुच्चकैश्चिकाय लोकश्चिरमुञ्छमुत्सुकः॥ नै० १५।२
३. कुलश्रिया यः पविताऽस्मदन्वयम्॥ नै० १५।६
४. सृजन्तुपाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः॥ नै० १५।७
५. क्वचित्तदालेपनदानपण्डिता कमप्यहंकारमगात्पुरस्कृता॥ नै० १५।१२
६. तदानिसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम्।
अवापुरुच्चैः सुषिराणिराणितामगानमानद्धमियत्तयाध्वनीत्॥ १५।१६
विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्नते प्रणीतगीतै र्न च तेऽपि झर्झरैः।
नते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः सापिन तेऽपि ढक्कया॥ नै० १५।१७
७. यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूवताम्॥ नै० १५।१९
८. असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद् दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला॥ नै० १५।२१
९. अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्यश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः॥ नै० १५।२६
१०. अमोघभावेनसनाभितांगताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम्।
ततःप्रणम्राधिजाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः॥ नै० १५।५६
११. तथैव तत्काल मथानुजीविभिः प्रसाधना-संजन-शिल्पपारगैः।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभौ विभूषणा॥ नै० १५।५७
१२. विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितुं रसोदयादप्सरसस्तमुज्ज्वलम्।
गृहाद्गृहादेत्यधृतप्रसाधना व्यराजयन्राजपथानथाधिकम्॥ नै० १५।७३.

वे अपनी भावभंगिमा के साथ सभामण्डप में पहुँचते थे।[१] समागत युवकों के गोत्र चरित्र आदि का परिचय देने के लिए विशेष आयोजन करना पड़ता था।[२] जिस समय पतिंवरा कन्या स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश करती थी, उस समय वहाँ एक अद्‌भुत कौतूहल उमड़ पड़ता था।[३] कन्या प्रायः पालकी आदि किसी सवारी पर रहती थी[४]। उस समय राजाओं की अपूर्व चेष्टाएँ होती थीं। ये चेष्टाएँ प्रायः अनुभाव रूप ही होती थीं—जैसे रोमांच,[५] अँगुलियाँ फोड़ना,[६] स्पन्दन,[७] इत्यादि। सभा में धूप अराग आदि की सुगन्ध उड़ती रहती थी।[८] स्वयंवर के विघ्नों को दूर करने के लिये शची का आवाहन किया जाता था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि यदि शची का सान्निध्य न रहे तो युवकगण उसी क्षण एक-दूसरे का सिर फोड़ने लगें।[९] स्वयंवर के अन्त में कन्या जिस युवक का वरण करती उसके गले में दूर्वांकुर से सुशोभित मधूकमाला डालती थी।[१०] स्वयंवर के पश्चात् विवाह-संस्कार श्रुति और स्मृति की विधि से सम्पन्न किया जाता था।[११]

---

१. वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः भृङ्गारभंगीमनुभावयद्भिः।
स्वयंवरस्थान-जनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः॥ १०।३७

२. विचिन्त्यनानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसंकीर्त्यचरित्रगोत्रान्।
कथ्याः कथंकारममीसुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन॥ नै० १०।६८

३. दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्‌भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम्॥ नै० १०।९३

४. इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथराजराजिः॥ नै० १०।१०८

५. आसीदसौ तत्र न कोपि भूपस्तन्मूर्तिरूपोद्‌भवदद्‌भुतस्य।
उल्लेसुरंगानि मुदा न यस्य निनिद्ररोमांकुरदन्तुराणि॥ नै० १०।१०९

६. आस्फोटिभैमीमवोलक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम्न। नै० १०।११०

७. अस्मिन्समाजे मनुजेश्वरेण तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लालितमौलिना न भ्रुवौरुदक्षेपितरांद्वयी वा॥ नै० १०।१११

८. आलोकनाय दिविसंचरतांसुराणां तत्रार्चनाविधिरभूदधिवासधूपैः॥ नै० ११।१४

९. न सन्निधात्रीयदिविघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची।
स एव राजव्रजवैशसात्कुतः परस्परस्पर्धिवरः स्वयंवरः॥ नै० ९।७८

१०. दूर्वांकुराढ्यां नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज॥ नै० १४।४८

११. श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे विधीनिति॥ नै० १५।७

विवाह में स्त्रियाँ मंगल गान करती थीं।[1] वर की ओर से दान में धन (रुपया पैसा) छींटा जाता था।[2] वर का कुल कन्या के कुल से प्रायः उच्चतर होता था।[3] विवाह में स्त्री-समाजोचित टुटके होते थे।[4] विवाह-मण्डप में हल्दी चावल आदि से रचना की जाती थी।[5] वीणा, शहनाई, घड़ी, घण्टे, ढोल, मृदंग, झँझरी, वंशी हुडुक, डफला आदि विभिन्न वाद्य वजते थे।[6] कन्या को पहले मंगल-स्नान कराया जाता था, जो कुल-विशेष की प्रथा के अनुसार होता था। स्नान कराने वाली प्रायः सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही होती थीं।[7] मंगलस्नान के वाद कन्या को धवल वस्त्र पहनाया जाता था।[8] इसके पश्चात् उसका विवाहोचित शृंगार किया जाता था।[9] पूर्णरूप से अलंकृत होकर कन्या गुरुजनों को प्रणाम करती तथा उनके आशीर्वाद लेती।[10] वर का भी विवाहोचित शृंगार होता था।[11] इसके पश्चात् वर-यात्रा होती थी जिसे देखने के लिए पुर की सुन्दरियाँ अत्यन्त उत्सुक होती थी।[12]

---

१. कापिप्रमोदा-स्फुटनिर्जिहानवर्णंवया मङ्गलगीतिरासाम्॥ नै० १४।५१

२. तथापथि त्यागमयं वितीर्णवान् यथातिभाराविगमेन मागधैः।
 तृणीकृतं रत्ननिकायमुच्चकैश्चिकाय लोकश्चिरमुञ्छमुत्सुकः॥ नै० १५।१२

३. कुलश्रिया यः पविताऽस्मदन्वयम्॥ नै० १५।१६

४. सृजन्तुपाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः॥ नै० १५।७

५. क्वचित्तदालेपनदानपण्डिता कमप्यहंकारमगात्पुरस्कृता॥ नै० १५।१२

६. तदानिसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम्।
 अवापुरुच्चैः सुषिराणिराणितामभानमानद्धमियत्तयाध्वनीत्॥ १५।१६
 विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्नते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः।
 नते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः सापिन तेऽपि ढक्कया॥ नै० १५।१७

७. यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूवताम्॥ नै० १५।१९

८. असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद् दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला॥ नै० १५।२१

९. अवापिताया: शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
 क्षणेन सख्यश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः॥ नै० १५।२६

१०. अमोघभावेनसनाभितांगताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम्।
 ततःप्रणम्राधिजगाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुद्वन्द्वपतिव्रताशिषः॥ नै० १५।५६

११. तथैव तत्काल मथानुजीविभिः प्रसाधना-संजन-शिल्पपारगैः।
 निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभो विभूषणा॥ नै० १५।५७

१२. त्रिदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितुं रसोदयादप्सरसस्तमुज्ज्वलम्।
 गृहाद्गृहादेत्यधृतप्रसाधना व्यराजयन्राजपथानथाधिकम्॥ नै० १५।७३.

वरयात्रा प्रायः रात को ही निकलती थी।[१] राजा की वरात में तो पूरी चतुरङ्गिणी रहती थी।[२] कन्यापक्ष वाले आगे से ही जाकर वरात का स्वागत करते थे।[३] इसके पश्चात् विवाह-विधि होती थी। (इसका विस्तृत विवेचन धर्मशास्त्र वाले प्रकरण में किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनरुक्ति भय से नहीं कर रहे हैं)। विवाह के समय कन्या का पिता वर को यौतक (दहेज) में अनेक उपहार भेंट करता था कुछ उसके अपने होते थे तथा कुल सम्बन्धियों, मित्रों, आदि द्वारा भेजे हुए रहते थे।[४] पुत्री की विदा में दुःख होना तो स्वाभाविक ही है, उसके घर के लोग कुछ दूर तक पहुँचाने भी जाते थे,[५] प्रिय-जन को जलाशय तक तो पहुँचाते ही थे।[६]

लज्जा स्त्रियों का आभूषण माना जाता था।[७] उन्हें अपने चरित्र का सबसे अधिक ध्यान रखना पड़ता था।[८] पतिव्रता के लिए पति-शुश्रूषा ही सबसे बड़ी निधि थी। उसी से उनके भोग-सुख तथा पुण्याभिवृद्धि रूप लौकिक और पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध होते थे।[९] पति-सेवा के सामने उन्हें स्वर्ग भी हीन समझ

---

१. अदीपि रात्रौ वरयात्रया तया चमूरजोमिश्रतमिस्रसम्पदा॥ नैः १६।४

२. परार्ध्यवेषाभरणैः पुरःसरैःसमंजिहानेनिषधावनीभुजि।
दधे सुनासीरपदाभिधेयतां स रूढिमात्राद्यदिवृत्र-शात्रवः॥ नै० १६।३
हरिद्विपद्वीपिभिरांशुकैर्नभौ नभस्वदाध्मापनपीनितैरभूत्।
तरस्वदश्वध्वजिनीध्वजैर्वनं विचित्र चीनाम्बरवल्लिवेल्लितम्॥ नै० १६।६

३. निर्दिश्य बन्धूनित इत्युदीरितं दमेन गत्वार्घपथे कृतार्हणम्॥ नै० १६।१०

४. सखा यदस्मै किल भीमसंज्ञया सयक्षसख्याधिगतं ददौभवः।
ददौ तदेषश्वसुरः सुरोचितं नलाय चिन्तामणिदाम कामदम्॥ नै० १६।१६

५. तयाक्रिमाजन्मनिजांकवर्धिताम् प्रहित्य पुत्रीं पितरौ विषेदतु।
विसृज्य तौ तं दुहितुः पतिंयथा विनीततालक्षगुणीभवद्गुणम्॥ नै० १६।११६
निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः।
तडागकल्लोल इवानिलं तटाद्धृताननिर्व्याववृते वराटराट्॥ नै० १६।११७

६. तस्या दृशौ नृपतिबन्धुमनुव्रजन्त्यास्तं वाष्पवारि न चिरादववीबभूव॥
नै० ३।१३१

७. विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनंगनागम्॥ नै० ३।६८

८. न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया॥ नै० ९।७१

९. शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेपि व्रतसम्पदेऽपि॥ नै० ६।९४

पड़ता था। पति-सेवा द्वारा ही वे अपने मंगलमय धर्म को बढ़ाना चाहती थीं।[१] पातिव्रत की अग्नि में अपना जीवन तृण के समान होम किए रहती थीं। उसकी रक्षा में उन्हें किसी सुख की चिन्ता नहीं रहती थी।[२] स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। वे अपने कारण पति के कर्तव्य पालन में किसी प्रकार का विघ्न नहीं करना चाहती थीं। क्योंकि उसमें उन्हीं को कलंक मिलता।[३] सती-प्रथा का पूर्ण प्रचार था। सती ललनाओं को अग्नि-ताप उतना दुःखद नहीं था जितना पति-विरह-ताप। अतएव वे अपने मृतपति की सेवा के लिए पतिशव के साथ ही अग्नि में प्रविष्ट हो जाती थीं।[४] सती अपने सतीत्व के प्रताप से पापी पति को भी स्वर्ग पहुँचाती थीं,[५] किन्तु घोर पाप करने वाले पति के साथ पत्नी प्रायः सती नहीं होती थीं।[६] सती ललनाएँ पातिव्रत्य की रक्षा के लिए अपने जीवन को भी तृण के समान त्यागने के लिए तैयार थीं।[७] मृणालतन्तु के समान अत्यन्त भंगुर पतिव्रता-मर्यादा के थोड़ी भी चंचलता से टूटने का भय रहता था।[८] पति के मरने पर स्त्रियाँ अपनी चूड़ियाँ (शंखवलय) तोड़ डालती थीं।[९] जन-समाज में पर्दा-प्रथा का प्रचलन उस समय भी था। इसका विचार अवश्य रहता था, जिससे स्त्री के साथ खुलकर समाज में जाना पुरुष के लिए लज्जाजनक होता था।[१०] अन्तःपुरस्थ कन्याओं और

---

१. तत्रास्मिन्नत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मिकिर्मीरितवर्मलिप्सुः॥ नै० ६।९७

२. सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्म यः॥ नै० ९।७०

३. न विदुषितरा कापि त्वत्तस्ततो नियतक्रिया।
पतनदुरिते हेतुर्भर्तुर्मनस्विनि मास्म भूः॥
अनिशभवदत्यागादेनं जनः खलु कामुकी।
सुभगमभिधास्यत्युद्दामा परांकवदावदः॥ नै० १९।२४

४. दहनमाशुविशन्ति कथंस्त्रियः प्रियमसुमुपासितुमुद्धुराः॥ नै० ४।४६

५. दहनमविशद्दीप्तिर्यास्तं गते गतवासरप्रशमसमयप्राप्ते पत्यौविवस्वति रागिणी।
अवरभुवनात्सोद्धृत्यैषाहठात्तरणेः कृतामरपतिपुरप्राप्तिर्धत्तेसतीव्रतमूर्तिताम्॥
नै० १९।४४

६. अनुममार न मार कथं नु सा रतिरतिप्रथितापि पतिव्रता।
इयदनाथवधूववपातकी दयितयापि तयासि किमुज्झितः॥ नै० ४।७९

७. सतीव्रतेऽग्नौतृणयामि जीवितम्॥ नै० ९।७०

८. मृणालतन्तुच्छिदुरासतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात्किल॥ नै० ९।३१

९. अदः समित्सम्मुखवीरयौवतत्रुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी॥ नै० १२।३५

१०. त्रपास्य न स्यात्सदसि स्त्रियान्वयात्—नै० १५।३

स्त्रियों की व्यभिचारदोष से रक्षा की जाती थी।[१] व्यभिचारिणी के सिर के केश काटकर उसे घर से निकाल दिया जाता था।[२]

भोजन

नैषध में अनेकों भोजन-पदार्थों का नामोल्लेख हुआ है। सत्तू[३] से लेकर उत्तमोत्तम मिठाई तक का वर्णन हुआ है। अन्न-मीन-रसादि उत्तम भोजन समझा जाता था।[४] मालपुआ का भोजन के अतिरिक्त पूजा में भी प्रयोग होता था।[५] भोजन में छुआ-छूत का विशेष ध्यान सर्वत्र नहीं रक्खा जाता था। कुछ बराती लोग वेश्याओं का परोसा भोजन खाते थे।[६] हां, भोजन करते समय उच्छिष्ट-मुँह से किसी को कोई छूते नहीं थे। यज्ञ में होम-शेष सोमपान के समय यह नियम अवश्य लागू नहीं होता था।[७] भोजन में—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, और चोष्य—चारों प्रकार के पदार्थ होते थे। लेह्य पदार्थ तेल या घी में तैयार किया जाता था।[८] पदोहर के भोजन में चावल का प्रधान स्थान रहता था।[९] महीन चावल सुगन्धित, बिना टूटे पककर एक दूसरे से अलग हुए कोमल एवं स्वादिष्ट बनाए जाते थे।[१०]

---

१. कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकारान्न दोषाः॥ नै० ४।११६
ईर्ष्यता रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेपि तथा नरमरक्षतः॥ नै० १७।४२
२. दिनमिवदिवाकीर्तिस्तीक्ष्णैः क्षुरैः सवितुः करै
स्तिमिरकबरीलूनांकृत्वा निशां-निरदीधरत्॥ नै० १९।५५
३. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः॥ नै० २।८५
सृजति शिशिरमोदश्रेणीमथैरुदसक्तुभिः॥ नै० १९।१४
४. अस्तु त्वयासाधितमन्नमीनरसादि पीयूषरसातिशायि॥ नै० १४।७८
५. अलम्भितुङ्गासनसन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयादरः॥ नै० १५।१२
६. वराप्सरोभिर्वरयात्रयागतानभोजयद्भोजकुलाङ्कुरः क्वचित्॥ नै० १६।४८
७. स तुतोषाश्नतोविप्रान्दृष्ट्वा स्पृष्टपरस्परान्।
होमशेषीभवत्सोमभुजस्तान्वीक्ष्य दूनवान्॥ नै० १७।१९८
८. प्रलेहजस्नेहधृतानुबिम्बनां चुचुम्ब कोऽपि स्मितभोजनच्छलः॥ नै० १६।८६
९. माध्यंदिनादनुविधेर्वसुधासुधांशुरास्वादितामृतमयौदनमोदमानः॥ नै० २१।१२०
१०. अमी लसद्वाष्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योन्यममुक्तमार्दवम्।
रसोत्तरं गौरमपीवरं रसादभुञ्जतामोदनमोदनं जनाः॥ नै० १६।६८

खीर में स्वाद के लिए घी भी डालते थे।[१] दही और राई के साथ चर्परा रायता बनाया जाता था।[२] मृग के मांस से अत्यन्त स्वादिष्ठ तेमन (रसादार-साग-शोरवा) तैयार किया जाता था।[३] पके चावल के साथ चीनी भी खाते थे।[४] सूप-कला की इतनी उन्नति हो चुकी थी कि निरामिष तथा सामिष दोनों प्रकार के पदार्थ कभी-कभी इस प्रकार वनाए जा सकते थे कि निरामिष सामिष-सा तथा सामिष निरामिष-सा प्रतीत होता था।[५] मांस के तरह-तरह के पदार्थ बनते थे।[६] मत्स्य, मृग, वकरे, और पक्षियों आदि के मांस का खाने में प्रयोग किया जाता था।[७] अनेक वस्तुओं के संयोग से ऐसा भी पदार्थ बनाया जाता था, जिसका स्वाद तथा रूप उन सभी मिश्रित वस्तुओं से भिन्न होता था और वह असमय की वस्तु लगता।[८] वकेनी (वहुत दिन की ब्याई हुई) भैंस का दही विशेष स्वादिष्ठ माना जाता था।[९] भोजन के अन्त में (आजकल के समान ही) दही-वड़ा परोसा जाता था।[१०] शक्कर के भी तरह-तरह के पदार्थ वनाए जाते थे।[११] 'मिष्टान्नेन समापयेत्' के अनुसार मिठाइयाँ सवके अन्त में खायी जाती थीं, और उनमें लड्डू प्रधान रहता था।[१२] भोजन में षड्रस के पदार्थ तैयार किए जाते थे।[१३] भोजन कर चुकने के वाद मुख-शुद्धि रूप

---

१. यदादिहेतुः सुरभिःसमुद्भवे भवेद्यदाज्यं सुरभिर्ध्रुवं ततः।
   वधूभिरेभ्यः प्रवितीर्य पायसं तदोघकुल्यातटसैकतं कृतम्॥ नै० १६।७०
२. न राजिकाराद्धमभोजि तत्र कैर्मुखेन सीत्कारकृता दधद्दधि॥ नै० १६।७३
३. व्यधुस्तमां ते मृगमांससाधितं रसादशित्वा मृदु तेमनं मनः॥ नै० १६।७६
४. क्रमेण क्रूरं स्पृशतोऽष्मणः पदं सितां च शीतां चतुरेण वीक्षिता॥ नै० १६।७९
५. यथामिषे जग्मुरनामिषभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे॥ नै० १६।८१
६. नखेन कृत्वावरसन्निभां निभाद्युवा मृदुव्यञ्जनमांसफालिकाम्॥ नै० १६।८२
७. अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदुस्वादु सुगन्धि तेमनम्॥ नै० १६।८७
८. अनेकसंयोजनया तथाकृतैर्निकृत्य निष्पिष्य च तादृगर्जनात्।
   अमी कृताकालिकवस्तुविस्मयं जना बहुव्यञ्जनमभ्यवाहरन्॥ नै० १६।८३
९. अमीभिराकण्ठमभोजि तद्गृहे तुषारधारामृदितैव शर्करा।
   हयद्विषद्वष्कयणीपयः सुतं सुधाह्रवात्पंकमिवोद्धृतं दधि॥ नै० १६।९३
१०. अलङ्कृतं क्षीरवटैस्तदश्नतां रराज पाकार्पितगैरिकश्रिया॥ नै० १६।९८
११. स्मर शार्करमास्वाद्य त्वया राद्धमिति स्तुवन्॥ नै० २०।९१
१२. घनैरमीषां परिवेषकैर्जनैरविर्ष वर्षोपलगोलकावली॥ नै० १६।१००
१३. न षड्विधिः षिड्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतविभ्रमोद्भवः॥
    नै० १६।१०९

में पान-सुपारी का प्रयोग किया जाता था।[1] दिन में केवल दो वार भोजन करने का नियम था।[2]

वस्त्राभूषण

साधारणतया संस्कृत साहित्य में भारतीय परिधान के वर्णन के प्रसंग में पुरुषों के लिए अधोवस्त्र और उत्तरीय तथा स्त्रियों के लिए दुकूल और कंचुक का उल्लेख मिलता है। युद्ध आदि के समय पुरुषों के परिधान कुछ और विशेष ढंग के हो जाते थे, किन्तु साधारणतया भारत ऐसे उष्ण देश में अधिक वस्त्रों की आवश्यकता नहीं समझ पड़ती थी। यों शरीर के सहज सौन्दर्य, स्वास्थ्य, ओजस्वी मुखमण्डल, सशक्त अंग आदि का विशेष महत्त्व था और वही वास्तविक श्रृंगार माना जाता था।[3] हाँ, आभूषणों—विशेषतया स्वर्णनिर्मित तथा रत्नजटित-से शरीर-सौन्दर्य को अवश्य वढ़ाया जाता था। स्वस्थ सुन्दर शरीर की शोभा अलंकारों से निस्सन्देह ही वढ़ जाती है। नैषध में परिधान तथा विभूषणों का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। क्योंकि प्रसंग स्वयंवर तथा विवाह का है। शरीर को हर प्रकार से अलंकृत करने के लिए इससे वढ़कर और कौन अवसर होगा। स्नान के पश्चात् पुरुष एक धवल अधोवस्त्र पहनते थे।[4] तथा वक्षःस्थल पर उत्तरीय वस्त्र लपेटते थे।[5] स्त्रियाँ केवल एक दुकूल (साड़ी) धारण करती थीं, जो इस ढंग से पहनी जाती थी कि उत्तरीय और अधोवस्त्र दोनों का काम दे जाय।[6] स्त्रियाँ कभी-कभी कटि के अधोभाग में दुकूल के नीचे एक वस्त्र और पहनती थीं जिसे चण्डातक कहते थे।[7] ऐसा वस्त्र प्रायः नर्तकियों का होता था। नारायण ने पूर्वोक्त श्लोक की टीका से चण्डातक के विषय में लिखा है—"चण्डातक वह वस्त्र है जिसे नर्तकियाँ नीचे पहनती हैं। यह नृत्य में उपयोगी होता है, आगे और पीछे

---

१. मुखे निधाय क्रमुकं नतानुगैः॥ नै० १६।११०
२. इति द्विकृत्वःशुचिमृष्टभोजिनां दिनानि तेषां कतिचिन्मुदा ययुः॥ नै० १६।११२
३. स्वयं तदङ्गेषु गतेषु चारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु च।
किमूचिरेऽलङ्करणानि तानि तद् वृथैव तेषां करणं बभूव यत्॥ नै० १५।४८
४. मर्त्यलोकमदनः सदशत्वं बिभ्रदभ्रविशदद्युतितारम्।
अम्बरं परिदधे विधुमौलेः स्पर्धयेव दशदिग्वसनस्य॥ नै० २१।१४
५. आववार हृदयं न समन्तादुत्तरीयपरिवेषमिषेण॥ नै० २१।१५
६. असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद्दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला॥ नै० १५।२१
७. श्लथैर्दलैः स्तम्भयुगस्य रम्भयोश्चकास्ति चाण्डातकमण्डिता स्म सा॥ नै० १६।८

की ओर लटकता हुआ तथा दो भागों में मुड़ा हुआ रहता है। यह केले के समान होता है।[१] शरीर में सुगन्धित अंगराग कुंकुम, कस्तूरी, चन्दन आदि के लगाने की बड़ी प्रथा थी।[२] लेप में स्त्रियों के स्तनों पर कुङ्कुम आदि से पत्र मत्स्य आदि (रेखाचित्र) की रचना होती थी।[३] उरोजों पर लटकने वाले मोतियों के एकावली-हार के साथ पत्र-रचना के मत्स्य का संयोग ऐसा प्रतीत होता था, मानो स्वर्गंगा अपने यान मत्स्य के साथ सुशोभित हों।[४] पुरुष भी आभूषण धारण करते थे। यहां तक कि उत्सवों के समय राजपरिचारकों के आभूषण देखकर कभी-कभी साधारण लोग उन्हें भी राजवर्ग में ही समझ लेते थे।[५] स्त्रियों के आभूषण-रत्नों की निर्मल प्रभा से परिधान (वस्त्र) देदीप्यमान् हो उठते थे तथा देह में लगाए गए स्निग्ध-पदार्थ एवं कृत्रिमोदक का लेप समझ में ही नहीं पड़ता था।[६] आभूषण में अनेक रंग वाले रत्न जड़े जाते थे।[७] पीत, धवल अरुण तथा नील कान्ति वाले मणियों की किरणों की आभा पड़ने के कारण गोरोचन, चन्दन, कुंकुम तथा कस्तूरी के लेप व्यर्थ से प्रतीत होते थे।[८] स्त्रियों के रत्नजटित आभूषणों के ऊपर दुकूल रहता था तथा हार आदि अन्य आभूषण दुकूल के ऊपर रहते थे।[९] स्त्रियों का श्रृंगार साधारणतया इस प्रकार रहता था। केशों को सुगन्धित (कामशर आदि) धूप से सुवासित करके

---

१. नृत्तोपयुक्तं पुरःपश्चाच्चप्रलम्बि वर्तुलभागद्वयं कदलीसदृशंवस्त्रं नर्तकीभि-रन्तः परिधानीयमानं चण्डातकम्॥ नै० १६।८ की नारायणीय टीका से उद्धृत

२. सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया॥ नै० २।७७
विलेपनामोदमदागतेन॥ नै० १०।९५

३. स्तनद्वये तन्वि: परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्या।
अनल्पवैदग्धविवर्धिनीनां पत्रावलीनां वलना समाप्तिम्॥ नै० ३।११८

४. आलिख्यसख्याः कुचपत्रभंगीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण।
यत्रालयत्तामिदमालि यानं मन्ये त्वदेकावलिनाकनद्या.॥ नै० ६।६९

५. विलासवैदग्ध्यविभूषिणश्रीस्तेषां यथासीत्परिचारकेऽपि।
अज्ञासिषुः स्त्रीशिशुबालिशास्तं तयागतं नायकमेव कंचित्॥ नै० १०।३२

६. स्निग्धत्वमायाजललेपलोपसयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम्॥ नै० १०।९४

७. विरोधिवर्णाभरणाश्मभासां मल्लाजिकौतूहलमीक्षमाणाम्॥ नै० १०।९६

८. पीतावदातारुणनीलभासां देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम्।
गोरोचनाचन्दनकुंकुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम्॥ नै० १०।९८

९. विभूषणेभ्यो वरमंशुकेषु ततोवरं सान्द्रमणिप्रभासु॥ नै० १०।१००

गूँथा जाता था,[१] फिर उनमें करुण आदि पुष्पों की कलियाँ गूंथी जाती थी।[२] भाल पर स्वर्णमयी पट्टिका बाँधी जाती थी।[३] नेत्रों में अपांगों तक व्याप्त होने वाली अंजन-रेखा दी जाती थी।[४] कानों में इन्दीवर (नील कमल) पहना जाता था जो कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था, मानों सुन्दरी को देखकर कामान्ध होने वाले किसी रसिक की दो आँखें हैं।[५] इसके अतिरिक्त कानों में अन्य मणि जटित आभूषण[६] तथा कुण्डल[७] भी पहने जाते थे। ओठों पर अलक्तक लगाने के पूर्व मोम लगाकर उन्हें चिकना कर लिया जाता था।[८] कण्ठ में मोतियों का सात लरों का हार भी पहना जाता था।[९] विवाह की मंगलवेला में वाहुओं में मंगल कंकण पहने जाते थे जो कहीं-कहीं शंखों के भी वने होते थे।[१०] चरणों में यावक लगाया जाता था।[११] ये सभी प्रायः विवाह आदि मंगल वेला में ही स्त्रियों के शृङ्गार होते थे। चरणों में लगा यावक ऐसा प्रतीत होता था, मानों जिस कामाग्नि ने विरहावस्था में सुन्दरी को सताया था, वही अब कान्तसंगम के समय उसके चरणों में नत हुआ है।[१२] स्त्रियाँ अपने पूर्ण रूप से अलंकृत स्वरूप का प्रतिविम्ब स्वच्छ दर्पण में देखा करती थीं।[१३]

---

१. अवन्धितन्मूर्धजपाशमञ्जरी कयापि धूपग्रहधूमकोमला॥ नै० १५।२९

२. तदर्पितैस्ता करुणस्य कुड्मलैर्जहास तस्याः कुटिला कचच्छटा॥ नै० १५।३१

३. घृतैतया हाटकपट्टिकालिके वभूव केशाम्बुदविद्युदेव सा॥ नै० १५।३२

४. अपाङ्गमालिङ्गयतदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या॥ नै० १५।३४

५. घृतं वतंसोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्यां पतिते दृशाविव।
   मनोभुवान्ध्यं गमितस्य पश्यतः स्थिते लगित्वा रसिकस्य कस्यचित्॥ नै० १५।३९

६. विदर्भपुत्रीश्रवणावतंसिकामणीमहः किंशुककार्मुकोदरे॥ नै० १५।४०

७. अनाचरत्तथ्यमृषाविचारणां तदाननं कर्णलता-युगेन किम्।
   ववन्ध जित्वा मणिकुण्डले विधू द्विचन्द्रबुद्ध्याकथितावसूयकौ॥ नै० १५।४१

८. निवेशितं यावकरागदीप्तये लसत्तदीयाधरसीम्नि सिक्थकम्॥ नै० १५।४३

९. अवाप्य तन्त्रीरथ सप्तमुक्तिकासरानराजत्परिवादिनी स्फुटम्॥ नै० १५।४४

१०. रराजतुर्माङ्गलिकेन संगतौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः॥ नै० १५।४५

११. पदद्वयेऽस्या नवयावरञ्जना जनैस्तदानीमुदनीयतार्पिता॥ नै० १५।४६

१२. कृतापराधः सुतनोरनन्तरं विचिन्त्यकान्तेन समं समागमम्।
   स्फुटं सिषेवे कुसुमेषुपावकः स रागचिह्नश्चरणौ न यावकः॥ नै० १५।४७

१३. मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले वभौ निजास्यप्रतिविम्बदर्शिनी॥ नै० ०१५।५०

कभी कभी आगे-पीछे दो दर्पण रखकर सारे शरीर का रूप देखा जाता था।[1] पूर्वोक्त सारा विवरण सम्पन्न घरों की स्त्रियों के लिए है। गरीबों की स्त्रियां पीतल के गहनों से भी अपनी शोभा बढ़ा लेती थीं।[2] फिर चांदी पर सोने की कलई (मुलम्मा) करके सोने के नकली आभूषण भी बनते थे।[3] विवाहादि विशेष अवसरों पर पुरुषों का भी शृङ्गार होता था। पुरुषों के भी केश लम्बे होते थे। उन्हें बांधकर फिर फूलों की कलियों से गूंथा जाता था।[4] राजा लोग शिर पर रत्न-जटित मुकुट धारण करते थे।[5] ललाट पर रत्न-जटित वीरपट्टिका नामक स्वर्ण अलंकार धारण किया जाता था।[6] दोनों भौहों के मध्य में तिलक-बिन्दु लगाया जाता था।[7] चन्दन भी लगाते थे।[8] पुरुष भी कानों में कुण्डल पहनते थे।[9] गले में मोतियों की माला पहनी जाती थी।[10] विवाह के समय हाथ में कङ्कण बांधा जाता था।[11] भुजाओं में रत्न-खचित भुजबन्द आदि आभूषण धारण किए जाते थे।[12] राजा आदि श्रीमान् लोग कभी-कभी आचूड़ रत्नाभूषण धारण करते थे।[13] चरणों में जूते पहनते थे।[14]

---

१. तथापि जिग्ये युगपत्सतीयुगप्रदर्शितादर्शबहूभविष्णुना॥ नै० १५।५१

२. अकाञ्चने किञ्चननायिकाङ्गकेकिमारकूटाभरणेन न श्रियः॥ नै० ९।२८

३. आदत्तदीप्रं मणिमम्बरस्य दत्वा यदस्मै खलु सायधूर्तः।
रज्यत्तुषारद्युतिकूटहेम तत्पाण्डुजातं रजतं क्षणेन॥ नै० २२।५०

४. नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य तान्वन्धमवापि ग्रन्थकचान्॥ नै० १५।५८

५. अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराज राजा मुकुटेन मूर्द्धनि॥ नै० १५।६०

६. नलस्य भाले मणिवीरपट्टिकानिभेन लग्नः परिधिर्विधोर्बभौ॥ नै० १५।६१

७. उपभ्रु तद्वर्तुल चित्ररूपिणी धनुः समीपे गुलिकेव सम्भृता॥ नै० १५।६२

८. अचुम्बि या चन्दनबिन्दुमण्डली नलीय-वक्त्रेण सरोज-तर्जिना॥ नै० १५।६३

९. कपोलपालीजनिजानुबिम्बयोः समागमात्कुण्डलमण्डलद्वयी।
नलस्य··································॥ नै० १५।६५

१०. श्रितास्य कण्ठं गुरुविप्रवन्दनाद्विनम्रमौलेश्चिबुकाग्रचुम्बिनी॥ नै० १५।६६

११. कृतार्थयन्नर्थिजनाननारतं बभूव तस्याभरभूरुहः करः।
तदीयमूलेनिहितं द्वितीयवद्ध्रुवं दधे कङ्कणमालवालताम्॥ नै० १५।६८

१२. रराजदोर्मण्डनमण्डलीजुषोः स वज्रमाणिक्यसितारुणत्विषोः॥ नै० १५।६९

१३. आचूडमोघैर्निचुलितमिव तं भूषणानाम् मणीनाम्॥ नै० १५।९२

१४. ···उपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती॥ नै० ११।२३

विलास

नैषध में राजमहल के विलास-सम्बन्धी उपकरणों का विस्तृत विवरण है। "प्रासाद" के अन्तःकक्ष श्यामवर्ण के उत्तम अगुरु से सुवासित रहते थे। वातायनों पर चन्दन और कपूर के विशेष विधान के कारण उसको स्पर्श करके आने वाला पवन अत्यन्त शीतल तथा सुगन्धित होता था।[1] महल में अत्यन्त सुगन्धित तेलों के दीप जलाए जाते। उन दीपों की वत्तियां 'कामशर' धूप से बनायी जाती थीं।[2] विलासी श्रीमानों के प्रासाद का मणिखचित भूपृष्ठ सर्वप्रथम कर्पूर-सुवासित जल से धोया जाता, फिर उस पर कुङ्कुम तथा कस्तूरी का लेप किया जाता और अन्त में विलासियों के चलनेवाले मार्ग पर पर्वतीय सुगन्धित पुष्पों की मालाएं फैलाई जाती थीं।[3] इस प्रकार रत्न-खचित प्रासाद भूमि पर किसी कक्ष में विलासी की पुष्प-शैय्या रहती जो अत्यन्त मृदु, रम्य, तथा सुगन्ध-पूर्ण होती थी।[4] प्रासाद के निकट गृहवाटिका में कलियों के खिलने की सौरभधारा बहा करती।[5] वह वाटिका सभी ऋतुओं में फूलों से संमृद्ध रहती थी।[6] प्रासाद का कोई भाग तो सम्पूर्णतया स्वर्णनिर्मित था, कोई निर्मल रत्नों से खचित था, कहीं चित्रशाला बनी थी और कहीं प्रकाश और अन्धकार की चञ्चल व्यवस्था के कारण जादूगरी से परिपूर्ण लगता था।[7] मदनोद्दीपन के लिए प्रासाद में यत्र-तत्र शृङ्गार रसानुकूल चित्र बने रहते।[8] कहीं पुत्तलिकाओं के नृत्य होते रहते।[9] प्रासाद की भीत्तियों में

---

१. धूपितं यदुदरान्तरं चिरं मेचकैरगुरुसारदारुभिः।
जालजालधृतचन्द्रचन्दनक्षोदमेदुरसमीरशीतलम्॥ नै० १८।५

२. क्वापि कामशरवृत्तवर्तयो यं महासुरभि तैलदीपिकाः॥ नै० १८।६

३. कुङ्कुमैणमदपङ्कलेपिताः क्षालिताश्च हिमबालुकाम्बुभिः।
रेजुरध्वततशैलजस्रजो यस्यमुग्धमणिकुट्टिमा भुवः॥ नै० १८।७

४. नैषधाङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोज्ञवर्णया।
यद्भुवः क्वचनसूनशय्ययाभाजि भालतिलकप्रगल्भता॥ नै० १८।८

५. क्वापि यन्निकटनिष्कुटस्फुटत्कोरकप्रकरसौरभोर्मिभिः।
सान्द्रमाद्रियत......... ॥ नै०१८।९

६. ऋद्धसर्वऋतुवृक्षवाटिका॥ नै० १८।१०

७. कुत्रचित्कनकनिर्मिताखिलः क्वापि चास्थिरविधैन्द्रजालिकः॥ नै० १८।११

८. चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधाप्यनेकविधरूपरूपकम्॥ नै० १८।१२
भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्रतस्युरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः॥ नै० १८।२० इत्यादि

९. भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्भुतकथादिकौतुकः।
सूत्रयन्त्रजविशिष्ट-चेष्टयाश्चर्यसञ्जि बहुशालभंजिकः॥ नै० १८।१३

जड़े हुए रत्नों की प्रभा से अँधेरी रात में भी चन्द्रिका छिटका करती। यन्त्र से चलने वाले शीतल जल के फव्वारों के धारा-सम्पातों के कारण ग्रीष्म ऋतु में भी उसके पास गर्मी की बेचैनी नहीं आने पाती थी।[१] प्रासादों में काम-शास्त्र-विशारद सारिकाएं, मदन-मत्त गौरैया पक्षी तथा हंस-मिथुन बने (पोषित) रहते थे।[२] वीणा तथा वंशी की मधुरध्वनियां, वाटिका में कोकिल की कूक एवं भ्रमरों की गुंजारों तथा आभूषणों के परस्पर-शिञ्जन मदन को और उद्दीपन करते।[३] अन्तः कक्ष में कहीं रति और काम की प्राणप्रतिष्ठा की हुई मूर्तियां भी रहती थीं।[४] द्वार पर किन्नरियों के उच्चकोटि के गीतों का झंकार दिनरात गूंजा करता।[५] ऐसे प्रासादों में उन्नत-स्तनी सुन्दरियां स्नान के पूर्व अपने प्रभुओं को सर्वप्रथम कपूंर, अगुरु, कस्तूरी, चन्दन तथा कक्कोल के मिश्रित चूर्ण से बने यक्ष-कर्दम नामक द्रव्य से कोमल मर्दन करतीं और अन्त में जिस पर सुगन्ध के कारण भौरें मंडरा रहे हों, ऐसे कपूंर-चन्दन से सुगन्धित जल से स्नान करातीं।[६]

विनोद के भी अनेक साधन होते थे। शिष्ट समाज में काव्य-शास्त्र विनोद के साधन होते थे।[७] अर्ध-समस्या भी मन बहलाने का एक कारण बनती थी।[८] वृक्षों की शाखाओं में हिंडोले डालकर भी आनन्द लिया जाता था।[९] इन्द्रजाल

---

१. तामसीष्वपि तमीषु भित्तिगै रत्नरश्मिभिरमन्दचन्द्रिकः।
यस्तपेऽपि जलयन्त्रपातुकासारदूरधुततापतन्द्रिकः॥ नै० १८।१४

२. यत्रपुष्पशरशास्त्रकारिकासारिकाध्युषितनागदन्तिका॥ नै० १८।१५
यत्र मत्तकलविंकशीलिताश्लीलकेलिपुनरुक्तवत्तयोः।
क्वापि दृष्टिभिरवापि वापिकात्तंसहंसमिथुनस्मरोत्सवः॥ नै० १८।१६

३. यत्र वैणरववैणवस्वरैर्हुंकृतै रुपवनीपिकालिनाम्।
कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यतां कुञ्जितं सुरतकूजितं तयोः॥ नै० १८।१७

४. यत्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयोः॥ नै० १८।१८

५. नानिशं त्रुटति यन्मुखे पुरा किन्नरीविकटगीतिझंकृतिः॥ १८।१९

६. यक्षकर्दममृद्वन्मृदिताङ्गं प्राक्कुरङ्गमदमीलितमौलिम्।
गन्धवार्भिरनुबन्धितभृङ्गैरङ्गनाः सिषिचुरुच्चकुचास्तम्॥ नै० २१।७

७. अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ नै० १।१७

८. प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया॥ नै० ४।१०१

९. खेलां विधातुमधिशाखविलम्बिदोलालोलाखिलाङ्गजनताजनितानुरागे॥
नै० ११।७४

आदि खेल देखने को मिलते थे।[१] वरातों में परिहास-विनोद खुलकर होता था।[२] दोपहर के भोजन के पश्चात् शुक, कोकिल, वीणा द्वारा श्रीमान् लोग मनोविनोद किया करते थे।[३] वच्चों के विनोद तो कई प्रकार के होते थे। वच्चे खपड़ों के टुकड़े पानी में इस तरह फेंकते थे कि वे पानी में छोटी-छोटी लहरियों को काटकर कुछ दूर तक दौड़ते हुए चले जाते थे।[४] चकई-भंवरा वनाकर उसे डोरी में वांधकर नचाया करते थे।[५] (ये वाल-विनोद आज भी ज्यों के त्यों देखे जा सकते हैं)।

चित्रकला

श्रीहर्ष के समय तक भारतीय चित्रकला वहुत उन्नत दशा को पहुंच चुकी थी। नैषध में उसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। वास्तविक रूप सामने रक्खे विना ही कुशल चित्रकार कल्पना-द्वारा सुन्दरतम पुरुष तथा सुन्दरतम स्त्री का चित्र लीला-गृह की भित्तियों पर वना देते थे।[६] चित्र में वयःसन्धि की सूक्ष्मताओं तक को व्यक्त कर दिया जाता था। शैशव के अवशिष्ट क्रियावृत्तों को रोमावलिरूप यष्टिका से वर्जित करती हुई-सी यौवन के द्वार पर खड़ी मानो युवावस्था से परिचय पाने के लिए उत्सुक सुन्दरी का आलेख्य वना लेते थे।[७] "आलेख्य-पट पर किसी सखी ने सुन्दरी के लीलाकमल को तो चित्रित कर दिया, किन्तु करकमल न चित्रित कर सकी, उसी प्रकार कान का इन्दीवर तो वना दिया, किन्तु नयनेन्दीवर न वना पाई।"[८]

---

१. वाधावतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्यदाविदां वृत्तिवधाद्व्यधायि॥ नै० १४।७०

२. कटाक्षणाज्जन्यजनैर्निजप्रजाः क्वचित्परीहासमचीकरत्तराम्॥ नै० १६।४८

३. तामन्वगादशितविम्वविपाकचञ्चोः स्पष्टं शलाटुपरिणत्युचितच्छदस्य।
कीरस्य कापि करवारिरुहे वहन्ती सौन्दर्यपुञ्जमिव पञ्जरमेकपाली॥
नै० २१। १२२

४. वालकेलिषुतदायदलावीः कर्परीभिरभिहत्य तरङ्गान्॥ नै० २१।७९

५. वालेन नक्तंसमयेनमुक्तं रौप्यं लसद्विम्वमिवेन्दुविम्वम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृर्ति मुञ्चति शोणिमानम्॥ नै० २२।५१

६. प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥ नै० १।३८

७. कौमारगन्धीनि निवारयन्ती वृत्तानि रोमावलिवेत्रचिह्ना।
सालिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वाःस्थामवस्थां परिचेतुकामा॥ नै० ६।३८

८. विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्यातिविख्याति भृतापि यत्र।
अशाकि लीलाकमलं न पाणिरपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव॥ नै० ६।६४

रूप भी लोकोत्तर था और चित्रकलाविद् भी अत्यन्त रसिक ! नगर में गृहभित्तियों को आलेख्य रचना द्वारा सजाने की प्रथा थी।[१] राजप्रसाद में चित्रों की प्रतिमाओं का अभिनय इतना सजीव तथा उनका रङ्ग-विधान इतना स्वाभाविक एवं कौशलपूर्ण था कि उन्हें देखकर महाशिल्पी विश्व-रचयिता के भी सिर आश्चर्य में हिलने लगते थे।[२] विलास-भवन में कहीं भित्ति पर ब्रह्मा का पुराण-प्रसिद्ध अपनी पुत्री के साथ रमण करने की इच्छा से आगे बढ़ना तथा मदन का उनका उपहास करना आदि सारी कथा क्रम-पूर्वक विस्तार के साथ चित्रित थी।[३] कहीं-कहीं गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के कामुक देवेन्द्र का पर-स्त्री-गमन का दुस्साहस भी चित्रित था, वह मानों भगवान् कामदेव की विजय-घोषणा हो।[४] कहीं ऐसे ऋषि का चित्र बनाया गया था जो अपने तपःसागर को कठिन साधना के पश्चात् प्रायः पार कर चुका है। किन्तु इसी बीच भयभीत इन्द्र विघ्न करने के लिये सुन्दरी अप्सराओं को भेजते हैं। बेचारा तपस्वी भी एक तैरने वाले की भांति—जो अधिक थकने के कारण किनारे से कुछ दूर पर ही पहुंच कर घड़ों के सहारे जल में ही विश्राम करने लगता है—उन सुन्दरियों के अभिराम स्तनों पर थका हुआ सा विश्राम कर रहा है—(और इस प्रकार अन्त में उसका आसन डोल जाता है)।[५]

संगीतकला

संगीत-कला भी चित्र-कला की ही भांति पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हो चुकी थी। स्वरों तथा मूर्च्छनाओं की सूक्ष्मताओं पर विशेष ध्यान रहता था। कुशल वीणा-वादक की पञ्चमस्वर की मूर्छनाओं को सुन लोग मुग्ध हो बेसुध तक हो जाते थे।[६]

---

१. ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्यनिन्युर्दिवसम् ....॥ नै० १०।३५

२. चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधाय्यनेकविधरूपरूपकम् ।
वीक्ष्य यं बहुधुवञ्शिरो जरावातकी विधिरकल्पि शिल्पिराट्॥ नै० १८।१२

३. भित्तिचित्रलिखिताक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः ॥ नै० १८।२०

४. पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतमकलत्रकामिनः।
पारदारिकविलाससाहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भितिषु॥ नै० १८।२१

५. नीतमेव करलभ्यपारतामप्रतीर्यं मुनयस्तपोर्णवम्।
अप्सरःकुचघटावलम्बनात्स्थायिनः क्वचन यत्र चित्रगाः॥ नै० १८।२६

६. समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च॥ नै० १।५२

तौर्यत्रिक (संगीत) की नृत्य, गीत, वाद्य, तीनों शाखाओं का चरमविकास हो चुका था।[१] राजकुमारियों को वीणा आदि वाद्य तथा गान की शिक्षा देने का उचित प्रबन्ध किया जाता था।[२] कुण्डिनपुर की धवल गृहपङ्क्तियाँ मङ्गलमृदङ्गों की उच्च-ध्वनि का सम्पूर्ण रूप से प्रतिशब्द करके अपनी गम्भीरता का परिचय देती हुई अपनी चञ्चल पताका द्वारा मानों लोगों में अपनी नृत्यकला के पाण्डित्य का अभिनय करा रही थी।[३] पुत्तलिकानृत्य भी प्रचलित ही था।[४] गाने के व्यवसाय वाली सुन्दरियां (किन्नरियां) उच्चकोटि के गीत गातीं। उनके गीत कृष्णमृग के सीगों के समान आरोह-अवरोह की अनेक भङ्गियों से युक्त तथा श्रृङ्गाररस की विशेष धारा के समान श्रुतिमधुर होतें।[५] गीत प्रारम्भ करने के पूर्व वीणा के तार मिलाते समय गायक कुछ अतिमधुर अव्यक्त शब्द किया करते।[६] सात तारों वाली परिवादिनी वीणा प्रायः अधिक प्रचलित थी।[७] वादिका की अंगुलियां द्रुतगति से तारों पर दौड़ती हुई रह रह कर ऊपर की खूंटियों को घुमाती हुई ऐसी प्रतीत होती थीं मानों सकाम करिणी गजेन्द्र के पास अपनी सूंड हिलाती हुई चञ्चलता-पूर्ण क्रीड़ाएं करती हुई निषाद-ध्वनि में शब्द कर रही हो।[८] वीणा के अतिस्पष्ट मधुर गीत बड़े आकर्षक

---

१. विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः॥ नै० १।१०२

२. भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः।
गन्धर्ववध्वः स्वरमध्वरीणतत्कंठनात्मैकधुरीणवीणः॥ नै० ६।६५

३. उत्तुंगमंगलमृदंगनिनादभंगीसर्वानुवाद विधिबोधितसाधुमेधाः।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजतांडवपंडितत्वम्॥ नै० ११।६

४. सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाश्चर्यसंजिबहुशालभंजकः॥ नै० १८।१३

५. कृष्णसारमृगश्रृंगभङ्गुरा स्वादुरुज्ज्वलरसैकसारिणी।
नानिशं त्रुटति यन्मुखे पुरा किन्नरीविकटगीतिझंकृतिः॥ नै० १८।१९

६. तासामभासत कुरङ्गदृशां विपञ्ची किञ्चित्पुरः कलितनिष्कलकाकलीका॥
नै० २१।१२५

७. तां प्रागसावविनियं परिवादमेत्य लोकेऽधुनापि विदिता परिवादिनीति॥
नै० २१।१२६

८. नादं निषादमधुरं ततमुज्जगार साध्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य।
स्तम्बेरमीव कृतसश्रुतिमूर्धकम्पा वीणा विचित्रकरचापलमाभजन्ती॥
नै० २१।१२७

होते थे।[1] नैषध में नाट्यकला का भी उल्लेख हुआ है। नल के विलास-भवन में चन्द्रमा के अपने गुरु की पत्नी तारा के साथ कामुक व्यवहार वाले आख्यान् को लेकर भरत मुनि-प्रणीत नाट्य-शास्त्र के अनुसार लिखी गई नाटिकाएं प्राङ्गण में खेली जाती थीं।[2]

देव-पूजा

देवोपासना प्रातः, मध्याह्न तथा सन्ध्या तीनों वेलाओं में की जाती थी।[3] यह दृढ़ विश्वास था कि देव ही हम मानवों के कल्पवृक्ष हैं। हमारी की हुई परिक्रमाएँ उन देवरूप कल्पवृक्षों के आलवाल हैं, चन्दन-लेप तथा धूप आदि परिचर्या ही उनके लिए जलसेचन है। इस प्रकार प्रसन्न हो वे देव हमें हमारे अभीष्ट मनोरथ रूपी फल देते हैं।[4] देवों को श्रद्धापूर्वक किया गया नमस्कार सर्वार्थ-सिद्धि का प्रधान साधन होता है।[5] दर्शन देकर देव वरदान अवश्य देते हैं। अतः ध्यान-बल से या अन्य किसी प्रकार से किया गया देव-दर्शन निश्चित रूप से अभीष्ट-सिद्धिप्रद होता है।[6] देवों का ध्यान में प्रत्यक्ष होना फल-प्राप्ति का प्रथम रूप ही है।[7] फिर, फल की प्राप्ति के लिए सुस्थचित्त से की गई आराधना से देवगण निश्चय ही प्रसन्न होते हैं।[8] देवगण प्रसन्न होकर कुछ देते नहीं, केवल मनुष्य की बुद्धि सुधार देते हैं, जिसके द्वारा उसे सब कुछ सुलभ हो जाता है।[9] नैषध में देवपूजा की विस्तृत

---

१. तद्दम्पतिश्रुतिमधून्यथ चाटुगाथा वीणास्तथा जगुरतिस्फुटवर्णबन्धम्॥
नै० २१।१२९

२. गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा॥ नै० १८।२३

३. यानेव देवान्नमसि त्रिकालं न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिती ते॥ नै० ६।८५

४. प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपाचरणाम्बुसेकैः।
इष्टं च मिष्टं च फलं सुवाना देवा हि कल्पद्रुमकाननं नः॥ नै० १४।२

५. सुरेषु हि श्रद्दधतां नमस्या सर्वार्थसिध्यङ्गमिथः समस्या॥ नै० १४।३

६. यत्तान्निजे सा हृदि भावनाया बलेन साक्षादकृताखिलस्थान्।
अभूदभीष्टाप्रतिभूः स तस्या वरं हि दृष्टा ददते परं ते॥ नै० १४।४

७. सुपर्वणां हि स्फुटभावना या सा पूर्वरूपं फलभावनायाः॥ नै० १४।७

८. आमुद्यते यत्सुमनोभिरेवं फलस्य सिद्ध्यै सुमनोभिरेव॥ नै० १४।५

९. देवा हि नान्यद्वितरन्ति किन्तु प्रसद्यते साधुधियं ददन्ते॥ नै० १४।९

विधि दी गयी है। पूजा में पुष्प प्रधान उपकरण समझे जाते थे।[१] देवालय के गर्भागार में पूजा के लिए प्रायः ब्रह्मचारी रक्खे जाते थे। गर्भागार तक जाने की सर्वसाधारण को आज्ञा नहीं रहती थी।[२] पूजा के उपकरणों में पुष्पमाला, अगुरु, चन्दन, का धूप,[३] आरती के लिए दीप,[४] कुङ्कुम[५], चन्दन,[६] कस्तूरी[७], नैवेद्य के लिए दही-भात,[८] रंगविरङ्ग पुष्प[९] तथा अन्य अनेक वस्तुएं रहती थीं। सर्वप्रथम सन्ध्योपासना तथा सूर्य पूजा करके तब अन्य-देव-पूजन प्रारंभ किया जाता था।[१०] शिवपूजा में धतूर का पुष्प[११] तथा रुद्राक्ष-माला पर शतरुद्री का जप[१२] प्रधान विधि समझे जाते थे। विष्णु पूजा में द्वादश-केशव-मूर्तियां 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' द्वादशाक्षर मन्त्र,[१३] श्वेत-

---

१. ....तानथ जाति-जातैः। आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तवप्रसूनस्तबकैर्नवीनैः॥
नै० १४।१६
दृष्टं प्रसूनोपमया मयान्यत्र धर्मशर्मोभयकर्मठंयत्॥ नै० १४।८५

२. पूतपाणिचरणः शुचिनोच्चैरध्वनानितरपादहतेन।
ब्रह्मचारिपरिचारि सुरार्चाविश्म राजऋषिरेष विवेश॥ नै० २१।२१

३. क्वापि यन्नभसि धूपजधूमैर्मेचकागुरुभवैर्भ्रमराणाम्।
भूयते स्म सुमनः सुमनः स्रग्दामधामपटले पटलेन॥ नै० २१।२२

४. ते धृता वितरितुं त्रिदशेभ्यो यत्रहेमतिलका इव दीपाः॥ नै० २१।२३

५. कुङ्कुमेन परिपूरितमन्तः शुक्तयः शुशुभिरे॥ नै० २१।२४

६. अङ्कचुम्बिघनचन्दनपङ्कं यत्रगारुडशिलाजममत्रम्॥ नै० २१।२५

७. गर्भमेणमदकर्दमसान्द्रं भाजनानि रजतस्य भजन्ति॥ नै० २१।२६

८. भूरिशर्करकरम्भबलीनाम्॥ नै० २१।२७

९. खर्वमाख्यदमरीघनिवासं पर्वतं क्वचन चम्पकसम्पत्।
मल्लिकाकुसुमराशिरकार्षीद्यत्र च स्फटिकसानुमनुच्चम्॥ नै० २१।२८

१०. श्वैत्यशैत्यजलदैवतमन्त्रस्वादुताप्रमुदितां चतुरक्षीम्।
वीक्ष्यमोघधृतसौरभलोभं घ्राणमस्य सलिलघ्रमिवासीत्॥ नै० २१।१७
सम्यगर्चति नलेऽर्कमतूर्णम्..............॥ नै० २१।३२

११. हेमनामकतरुप्रसवेन त्र्यम्बकस्तदुपकल्पितपूजः॥ नै० २१।३४?

१२. व्यापृतस्य शतरुद्रियजप्तौ पाणिमस्य नवपल्लवलीलम्।
भृङ्गभङ्गिरिवरुद्रपराक्षश्रेणिरश्रयत रुद्रपरस्य॥ नै० २१।४०

१३. उत्तमं स महतिस्म महीभृत् पूरुषं पुरुषसूक्त विधानैः।
द्वादशापि च केशव-मूर्तीर्द्वादशाक्षरमुदीर्य ववन्दे॥ नै० २१।४०

पुष्पों की माला पर शालग्राम की श्याममूर्ति,[1] नीलारविन्दों की माला,[2] विभिन्न रङ्ग के फूलों की माला,[3] अनेक प्रकार के पकाए चावलों का नैवेद्य, कस्तूरी-द्वार पूजा, शंख में जल लेकर पूजा,[4] कृष्णागुरु का धूप,[5] रत्नमयी मालतीमाला,[6] और पूजोपचार के पश्चात् स्तवन आदि मुख्य विधियां होती थीं।[7] विष्णु के मत्स्य, कच्छप, वराह नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, तथा दत्तात्रेय[8] बलराम अवतारों की विशेष पूजा होती थी। कृष्णप्रिया राधा[9] की पूजा होने लगी थी। वामन का त्रिविक्रम रूप प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है—उसकी भी पूजा विशेष विधि से होती थी।[10] दत्तात्रेय अवतार सम्भवतः बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया के रूप में प्रसिद्धि पा चुका था।[11] क्योंकि बुद्ध की भांति दत्तात्रेय को भी अद्वैतवादी कहते हैं। शिव-विष्णु के ऐक्य की स्थापना कालिदास के समय से भी पूर्व हो चुकी थी। स्वयं कालिदास ने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को एक ही मूर्ति के तीन रूप कहा है[12]—श्रीहर्ष

---

१. मल्लिकाकुसुमकुण्डुभकेन स भ्रमीवलयितेन कृते तम्।
आसने निहित मैक्षत साक्षात्कुंडलीन्द्रतनु कुण्डलभाजम्॥ नै० २१।४२

२. मेचकोत्पलमयी बलिबन्धुस्तद्बलिस्त्रगुरसि स्फुरति स्म॥ नै० २१।४३

३. स्वर्णकेतकशतानि स हेम्नः पुण्डरीक घटना रजतस्य।
मालयारुणमणेः करवीरं तस्य मूर्द्धिन पुनरुक्तमकार्षीत्॥ नै० २१।४४

४. नाल्पभक्तबलिरन्ननिवेद्यैस्तस्य हारिणसदेन स कृष्णः।
शंखचक्रजलजातवदर्चः शंखचक्रजलपूजनयाभूत्॥ नै० २१।४५

५. राज्ञि कृष्णलघुधूपनुमाः पूजयत्यहिरिपुध्वजमस्मिन्॥ नै० २१।४६

६. अर्धनिःस्वसमणिमाल्यविमिश्रैः स्मेरजातिमयदामसहस्रैः।
तं पिधाय विदधे बहुरत्नक्षीरनीरनिधिमग्नमिवैषः॥ नै० २१।४७

७. सूक्तिमौक्तिकमयैरथहारैर्भक्तिमैहत हरेरुपहारैः॥ नै० २१।५१

८. छद्ममत्स्यवपुषस्तव पुच्छास्फालनाज्जलमिवोद्धतमब्धेः।
श्वैत्यमेत्य गगनाङ्गणसंगादाविरस्ति विबुधालयगङ्गा॥ नै० २१।५५ इत्यादि

९. प्राणवत्प्रणयिराध न राधापुत्रशत्रुसखिता सदृशी ते॥ नै० २१।८३

१०. मां त्रिविक्रम पुनीहि पदे ते किं लगन्नजनि राहुरुपानत्।
किं प्रदक्षिणनकृद्भ्रमिपाशं जाम्बवानदित ते बलिबन्धे॥ नै० २१।९६

११. सन्तमद्वयमयेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोर्जनबीजम्।
नौमि योगजयितानघसंज्ञं त्वामलर्कभवमोहतमोर्कम्॥ नै० २१।९३

१२. एकैवमूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिःकदाचित् वेधास्तयोस्तावपिधातुराद्यौ॥ कु० स० ७।४४

ने विशेषरूप से शिव-विष्णु दोनों की उपासना का उल्लेख कर एक तो नल की पुराण-प्रसिद्ध शिव-भक्ति का निर्वाह किया है, और दूसरे तात्कालिक शैव-वैष्णव मत की मौलिक एकता की सूचना दी है। हरि-हर रूप की विशेष रूप से प्रार्थना करते हुए नल कहते हैं—"प्रभु आपने हरिहर रूप में धड़ के ऊपर दो रूप क्यों धारण किए? उस रूप में एक रूप धड़ होना चाहिए था और दूसरा सिर। उसी प्रकार नरसिंह रूप में क्यों सिर और धड़ में भेद कर दिया? पर स्वतन्त्रसत्ता वाले से किसी बात के बुरे भले के लिए प्रश्न कौन कर सकता है?[१]" पूजा के अन्त में श्रीहर्ष ने उस सारी पूजा को हरि-हर की पूजा बताया है।[२] विष्णु के 'राम' नाम का महत्त्व भी प्रतिष्ठित हो चुका था। नल विष्णु की प्रार्थना करते हुए कहते हैं–"देव, हम संसारी जीव यद्यपि कोई रहस्यमय विशेषता नहीं जानते पर इतना अवश्य कहेंगे कि आप का राम-नाम सारे गुणों का निधान है, अन्यथा आपने ही लगातार परशुराम राम, बलराम, तीन अवतारों में वही नाम क्यों धारण किया।[३]" पुरुष ही नहीं, स्त्रियां भी देवपूजा करती थीं।[४]

साधारण सामाजिक-जीवन

नैषध में सामाजिक जीवन के और भी अनेक पहलुओं का चित्रण हुआ है, जिनसे साधारण जनता के चरित्र के आदर्श का पता लगता है। उपकार करनेवाले का प्रत्युपकार करना कर्तव्य था—प्रत्युपकार बड़ा हो या छोटा इसका विचार आवश्यक नहीं।[५] सज्जनों का साथ श्रेयस्कर समझा जाता था। धनिकों की निधि रुपया-पैसा है, किन्तु सज्जनों की तो गुणवान् व्यक्तियों का सान्निध्य ही सबसे बड़ी निधि है।[६] महापुरुष दूसरे द्वारा किए गए अपने प्रति अपराध को अपना ही अपराध

---

१. ऊर्ध्वदिक्कक्लानां द्विरकार्षीः किं तनुं हरिहरीभवनाय।
किं च तिर्यगभिनो नृहरित्वे कः स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः॥ नै० २१।१०४

२. श्रेयसा हरिहरं परिपूज्य प्रह्व एष शरणं प्रविवेश॥ नै० २१।११९

३. अस्मदाद्यविषयेऽपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम्।
अन्वबन्धि भवतैव तु कस्मादन्यथा ननु जनुस्त्रितयेऽपि॥ नै० २१।११४

४. भीमात्मजापि कृतदैवतभक्तिपूजा पत्यौ च भुक्तवति भुक्तवती ततोऽनु॥
नै० २१।१२१

५. अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम्।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिहग्रहः॥ नै० २।१४

६. धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः॥ नै० २।५३

कहते हैं। यह वास्तव में उनके हृदय की निर्मलता का सूचक है।[1] सत्पुरुष परस्त्री को कटाक्ष से भी नहीं देखते थे, उन्हें सानुराग देखना या उनके अङ्ग का स्पर्श करना तो दूर था। सत्पुरुष को दूसरे से अधिक स्वयम् अपने से लज्जा होती है।[2] वस्त्राभूषण आदि जो वस्तु अपने पास रहती उसे अपने मित्र या पिता से मांग लेते थे।[3] शिष्टाचार का समाज में पूरा ध्यान रहता था। आचारहीन पुरुष निन्दित समझा जाता था।[4] यद्यपि सदा की भांति उस समय भी कुछ लोग ऐसे थे जो आनन्द का मूल कारण स्वच्छन्दता को ही अपनाने का—मनमाना करने का—उपदेश देते थे,[5] जिन्होंने अगम्यागमन के लिये अपने प्राणों को हथेली पर रख छोड़ा था, जिन्होंने लज्जा, भय, सब को ही तिलाञ्जलि दे दी थी, तथा दूतियों ने जिनकी सारी सम्पत्ति साफ कर दी थी,[6] जो कामवश परदारागमन को बुरा नहीं कहते थे,[7] जो चार्वाक-सिद्धान्तों का प्रचार-सा करते थे।[8] किन्तु समाज में ऐसे लोगों की कोई प्रतिष्ठा न थी, उनकी बात ही कोई नहीं मानता था। आपद्धर्म की भी मान्यता थी। दमयन्ती कहती है—"विपत्ति के समय जब शास्त्रविहित कर्म किसी प्रकार रक्षा न करे तो वर्जित कर्म भी कर लेना चाहिए। जैसे पानी बरसने के कारण राजमार्ग में कीचड़ हो जाने पर विद्वान् पुरुष अन्य बुरे मार्ग से भी चले जाते हैं।"[9] सज्जन को अपने हृदय की शुद्धि

---

१. आदर्शतां स्वच्छतयाप्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते॥ नै० ३।५६

२. निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन्कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽति गुर्वी॥ नै० ६।२२

३. अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रात्।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित्॥ नै० ७।५६

४. महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥ नै० ९।१३

५. स्वाच्छन्द्यमूच्छतानन्दकन्दलीकन्दमेककम्॥ नै० १७।१५

६. अगम्यार्थं तृणप्राणाः पृष्ठस्थीकृतभीह्रियः।
शम्भलीभुक्तसर्वस्वा जना यत्पारिपार्श्विकाः॥ नै० १७।१५

७. ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेपि तथा नरमरक्षतः॥ नै० १७।४२

८. ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः कामाध्वा यत्खिलीकृतः॥ इत्यादि नै० १७।३७–८३

९. निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते॥ नै० ९।३६

की विशेष चिन्ता थी पर लोकापवाद का भय बना ही रहता था, क्योंकि लोगों के मुंह पर कौन हाथ धर सकता है।[१] वे तो लोक-रक्षण में प्रवृत्त विष्णु को जनार्दन (लोकपीडक) तथा प्रलय के समय संसार के प्राण पी जाने वाले महादेव को शिव (मङ्गलकारी) कहते हैं।[२] श्री हर्ष ने भाग्यवाद का बड़ा समर्थन किया है। नैषध में स्थान-स्थान पर भाग्य-विधान की बलवत्ता का गान किया गया है। नल अपने मन में सोचते हैं—"दैवेच्छासे विनाश-शील वस्तु की चिकित्सा इन्द्र भी नहीं कर सकते।"[३] लोग धर्मप्रवण होते थे। ऐसा विश्वास था कि धर्म, अर्थ, काम तीनों के फल पुण्यशील धर्मधन व्यक्ति के सदा अधीन रहते हैं।[४] पितरों के प्रति श्रद्धा थी। गयाश्राद्ध के लिये लोग नाना देशों से आते थे।[५] नल-राज्य में घर-घर में पितरों का तर्पण करते समय गिरे हुए काले तिलों को देखकर कलि इस प्रकार डरा मानों वे साक्षात् काल ही हों।[६] यज्ञों का पूर्ण प्रचार था। महापराक आदि व्रत जिनमें बारह दिनों तक अनवरत उपवास करना पड़ता था—किए जाते थे।[७] पुत्र-प्राप्ति के लिये पुत्रेष्टि, शत्रु मारण के लिये श्येनयाग तथा वृष्टि के लिये कारीरी-इष्टि (याग) किए जाते थे और इनका फल भी प्रत्यक्ष देखा जाता था।[८] हवन के घी की गन्ध तथा यज्ञ-धूम सर्वत्र दिखलाई पड़ते थे।[९] घर-घर में यज्ञ की अग्नि बनी रहती

---

१. स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभराद्यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम्।
विदन्तु ते तत्त्वमिदं तु दन्तुरं जनाननैः कः करमर्पयिष्यति॥ नै० ९।१२५

२. जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं शिवं वदन्॥ नै० ९।१२४

३. न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः॥ नै० ९।१२६

४. अमुञ्चतः पुण्यमनन्यभक्तेः स्वहस्तवास्तव्य इव त्रिवर्गः॥ नै० १४।८१

५. याचतः स्वगयाश्राद्धं प्रेतस्याविश्य कंचन।
नानादेशजनोपज्ञाः प्रत्येषि न कथाः कथम्॥ नै० १७।९०

६. पितृणां तर्पणे वर्णैः कीर्णाद्वेश्मनिवेश्मनि।
कालादिव तिलात्कालाद्दूरमत्रसदत्रसः॥ १७।१६९

७. महापराकिणः श्रौतधर्मैकवलजीविनः।
क्षणाभक्षणमूर्च्छाल स्मरन्विस्मयसे न किम्॥ नै० १७।९३
स पार्श्वमशकद्गन्तुं न वराकः पराकिणाम्।
मासोपवासिनां छायालङ्घो घनमस्खलात्॥ नै० १७।१७५

८. पुत्रेष्टिश्येनकारीरीमुखा दृष्टफलामखाः॥ नै० १७।९४

९. नै० १७।१६६

थी।[1] स्थान-स्थान पर यज्ञ यूप गड़े दिखायी पड़ते थे।[2] अग्नीषोम[3] इन्द्रयाग,[4] सर्वमेध,[5] राजसूय,[6] वामदेव्य,[7] अग्निष्टोम, पौर्णमास,[8] सोम,[9] सर्वस्वार,[10] महाव्रत,[11] अश्व-मेध[12] आदि यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। नल के राज्य में हिंसा, कलह, कम देखने को मिलते थे।[13] स्नान के पश्चात् तिलक धारण किया जाता था।[14] द्विज लोग प्रातः, मध्याह्न, तथा सन्ध्या तीनों वेलाओं में सन्ध्योपासन किया करते थे।[15] नल के राज्य में कलि पाखण्डी की खोज में भटकता हुआ भी पाता है उसके स्थान पर वेद विद्वान्।[16] तपःस्वाध्याय की वृद्धि थी।[17] वेदध्वनि भी सुनने को मिला करती

---

१. पुटपाकमसौ प्राप क्रतुशुष्ममहोष्मभिः॥ नै० १७।१६८

२. यज्ञयूपघनां जज्ञौ स पुरं शङ्कुसङ्कुलाम्॥ नै० १७।१७२

३. हिंसागर्वी मखे वीक्ष्य रिरंसुर्धावति स्म सः।
सा तु सौम्यवृषासक्ता खरं दूरान्निरास तम्॥ १७।१७७

४. दृष्ट्वा सौत्रामणीमिष्टिम्॥ नै० १७।१८२

५. तत्र ब्रह्महणं पश्यन्नतिसन्तोषमानसो।
निर्वर्ण्य सर्वमेधस्य यज्वानं ज्वरति स्म सः॥ नै० १७।१८६

६. क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षपणमैक्षत॥ नै० १७।१८९

७. कर्म तत्रोपनम्राया विश्वस्या वीक्ष्य तुष्टवान्।
स मम्लौ तं विभाव्याथ वामदेव्याभ्युपासकम्॥ नै० १७।१९४

८-९. जुघूर्णे पौर्णमासेक्षी सोमं सो मन्यतान्तकम्॥ नै० १७।१९६

१०. आनन्द निरक्ष्यायं पुरे तत्रात्मघातिनम्।
सर्वस्वारस्य यज्वानमेनं दृष्ट्वाथ विव्यथे॥ नै० १७।२०२

११. क्रतौ महाव्रते पश्यन् ब्रह्मचारीत्वरीरतम्॥ इत्यादि, नै० १७।२०३

१२. यज्वभार्याश्वमेधाश्व ...इत्यादि॥ नै० १७।२०४

१३. क्वापि नापश्यदन्विष्यन् हिंसामात्मप्रियामसौ।
स्वमित्रं तत्र न प्राप्नोदपि मूर्ख मुखे कलिम्॥ नै० १७।१७६

१४. स्नातॄणां तिलकैर्मेने ......इत्यादि॥ नै० १७।१७०

१५. त्रिसन्ध्यं तत्र विप्राणां सपश्यन्नघमर्षणम्॥ नै० १७।१९१

१६. प्राप्नुवन् वेदपण्डितान्......नै० १७।१८५

१७. तपःस्वाध्याययज्ञानामकाण्डद्विष्टतापसः।
स्वविद्विषां श्रियं तस्मिन् पश्यन्नुपतताप सः॥ नै० १७।१९३

थी।[१] तन्त्रोपासना का भी पूर्ण प्रचार था।[२] सदाचार की प्रतिष्ठा थी।[३] अग्निहोत्र में आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिण तीनों अग्नियों की पूजा होती थी।[४] ब्राह्मणेतर जातियां सुरतगोष्ठी में मधुपान किया करती थीं।[५] लोग जगन्नाथ जी, प्रयाग, बदरिकाश्रम आदि तीर्थों का भी भ्रमण करते थे।[६] शपथ भी खाते थे।[७] स्नान के पूर्व आचमन करते तथा संकल्प पढ़ते थे।[८] शरीर में लालमिट्टी लगाते,[९] तथा कुश से मार्जन करने का[१०] नियम था।

प्रचलित धारणाएँ

नैषध में समाज के अन्धविश्वासों का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। भूतों पिशाचों की सत्ता में विश्वास था।[११] यात्रा के समय भरत, अर्जुन, पृथु आदि का नामोच्चारण तथा अन्य मङ्गल-विधि करते थे।[१२] नेत्रस्फुरण में विश्वास[१३] करते थे।

---

१. न वेदध्वनिरालम्बमम्वरे (कलये) वितताार वा॥ नै० १७।१९५
२. नै० १४।८८ आदि में वर्णित स्वयं चिन्तामणि-मन्त्र ही उदाहरण रूप है।
३. नापश्यत् सोऽभिनिर्भुक्ताञ्जीवन्मुक्तानवैक्षत॥ नै० १७।१९७
४. नित्यसत्रे तां स त्रेतां पर्यतूतुषत्॥ नै० २०।१०
५. त्वयान्याः क्रीडयन् मन्येमधुगोष्ठिरुपेक्षितः॥ नै० २०।८०
६. ताभिर्दृश्यत एष यान् पथि महाज्येष्ठीमहे मन्महे
 यद्दृग्भिः पुरुषोत्तमः परिचितः प्राग्मञ्चमञ्चन् कृतः।
 सस्ने माघमघातिघातियमुना गङ्गौघयोगे यया॥ नै० १५।८९
 साऽशृणोत्तस्य वाग्भागमनत्या सक्तिमत्यपि।
 कल्पग्रामाल्पनिर्घोषं बदरीव कृशोदरी॥ नै० २०।१०५
७. आमन्त्र्य तेनदेव त्वां तद्वैयर्थ्यं समर्थये।
 शपथः कर्कशोदर्कः सत्यं सत्योपि दैवतः॥ नै० २०।११८
८. कल्प्यमानममुनाचमनार्थं गाङ्गमम्बु चुलुकोदरचुम्बि॥ नै० २१।१०
९. मुक्तमाप्य दमनस्य भगिन्या भूमिरात्मदयितं धृतरागा।
 अङ्गसंगमनुकं परिरेभे तं मृदो जलमृदूर्गृहयासुम्॥ नै० २१।११
१०. मूलमध्यशिखर-स्थित-वेधः शौरिशम्भुकरकांघ्रिशिरःस्थैः।
 तस्य मूर्ध्नि चकरे शुचिदर्भैर्वारि वान्तमिवगाङ्गतरङ्गैः॥ नै० २१।१२
११. शशकलङ्क! भयङ्कर! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः॥ नै० ४।५५
१२. प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत्स्मृतिवृतोऽपि नल! त्वमभीष्टदः॥ नै० ५।१३४
१३. अन्यत्पुनः कम्प्रमपि स्फुरत्वात्तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम्॥ नै० ६।६

शुभ के समय आंखों से आंसू गिरना अशुभ माना जाता था।[1] नासिका के दक्षिण वामस्वर इत्यादि से भी शकुन का विचार किया जाता था।[2] यात्रा में प्रतिकूल-पवन भी अपशकुन समझा जाता था।[3] दिग्दाह, भस्मवृष्टि, भूकम्प, रक्तवृष्टि आदि अशुभ उत्पात माने जाते थे।[4] प्रभात वेला में प्रथम-शय्योत्थान के समय अपने प्रिय का मुख देखना शुभकारक माना जाता था।[5]

जैन तथा बौद्ध-सम्प्रदाय

श्रीहर्ष के समय तक भारतवर्ष में जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों का वहुत ह्रास हो चुका था। नैषध में वैदिक क्रियाओं का इतना अधिक उल्लेख बौद्ध-धर्म के ह्रास का सूचक है। श्रीहर्ष के आश्रयदाता कान्यकुब्ज तथा काशी के अधिपति गहडवाल राजाओं के बहुसंख्यक दानपत्रों (ताम्रलेखों) से प्रमाणित है कि उन्होंने ब्राह्मणों को षट्कर्मों के पालन और वैदिक मार्ग का पुनरुद्धार करने के लिए अनेकशः दान दिए थे। इससे भी उस समय बौद्ध-संख्या का ह्रास होना निश्चित है। साधारण जनता को भी बौद्ध सम्प्रदाय में आए दोषों के कारण उससे खिन्नता हो गयी थी। फिर भी देश के किन्हीं भागो में इसके मानने वाले थे। सिन्धु देश में अब भी लोगों की बुद्ध के उपदेशों पर आस्था थी।[6] अब जैन साधु तथा बौद्ध क्षपणक कम दिखायी देते थे।[7] जैन-सम्प्रदाय का वैदिक धर्म से अधिक संघर्ष कभी नहीं रहता था, अतः वैदिक धर्म के उत्थान से उसे कोई विशेष क्षति नहीं उठानी पड़ती थी। श्रीहर्ष के समय

---

१. दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत्परिमार्जयामि ते॥ नै० ९।१०६
२. तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य॥ नै० १०।९१
३. हा हा प्रतीपपवनाशकुनान्न जग्मुः॥ नै० ११।२२
४. यद्भर्तुः कुरुते भिषेणनमयं शक्रो भुवःसा ध्रुवं,
दैग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता वृष्टैर्धृतोद्धूलना।
शंभोर्मा बत सांधिवेलनटनं भाजिन्नतं प्रागिति-
क्षोणीनृत्यति मूर्तिरष्टवपुषोऽसृग्वृष्टिसंध्याधिया॥ नै० १२।९२
५. प्रथमशकुनं शय्योत्थायं तवास्तु विदर्भजा।
प्रियजनमुखाम्भोजात्तुङ्गं यदङ्ग न मङ्गलम्॥ नै० १९।२
६. जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः॥ नै० १।७१
७. अपश्यज्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणाम्।
क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षपणमैक्षत॥ नै० १७।१८९

भी दिगम्बर जैन साधु दिखायी पड़ते थे।[१] देश में तमाम बौद्ध स्तूप बने थे।[२] बुद्ध की विष्णु के अवतार के रूप में पूजा होने लगी थी। विष्णु-भक्त लोग बुद्ध के क्षणिकवाद, अद्वयवाद, मारविजय, आदि का भावोद्रेक के साथ गान करते थे।[३] बौद्ध-सम्प्रदाय में भिक्षुणियां (योगिनियां) भी धर्मोपदेश दिया करती थीं।[४] विहारों में कस्तूरी तथा कर्पूर द्वारा बुद्ध भगवान की पूजा करने वाला पुण्य भागी माना जाता था।[५]

---

१. क्लिन्नकृत्याम्भसा वस्त्रं जैनप्रव्रजिती कृते॥ नै० २०।१२९

२. भूरिशर्करकरम्भवलीनामालिभिः सुगतसौधसखानाम्॥ नै० २१।२७

३. एकचित्ततितिरद्वयवादिन्नत्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः॥ नै० २१।८७ इत्यादि

४. किं योगिनीयं रजनी रतीशं याजीजिवत्पद्मममूमुहच्च।
योगर्द्धिमस्या महतीमलग्नमिदं वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु॥ नै० २२।२२
प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि ताराः ख-पुष्पाणि निदर्शयन्ती।
निशाह शून्याध्वनि योगिनीयं मृषा जगद्दृष्टमपि स्फुटाभम्॥ नै० २२।२३

५. ताराविहारभुवि चन्द्रमयीं चकार यन्मण्डलीं हिमभुवं मृगनाभिवासम्।
तेनैव तन्वि! सुकृतेन मते जिनस्य स्वर्लोकलोकतिलकत्वमवाप धाता॥
नै० २२।१३४

पञ्चदश अध्याय

प्रदान

संस्कृत साहित्य में नैषध का महत्त्वपूर्ण स्थान

कवि किसी काव्य की रचना किसी अन्तर्भावना-विशेष से प्रेरित होकर ही करता है। उस काव्य का वही मूल उद्देश्य एवं प्राणरूप होता है। अतः उस काव्य की समीक्षा करते समय समालोचक का यह प्रथम कर्तव्य होता कि वह उस उद्देश्य अथवा प्रयोजन को वस्तुतः समझने का प्रयत्न करे। क्योंकि उस उद्देश्य को प्रत्यक्ष करते ही समालोचक स्वयं कवि के आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, फिर उसकी समालोचना भी यथार्थ ही होती है।

नैषध में नल-दमयन्ती का चरित्र ही प्रधान वस्तु है। इस प्रकार आज की समालोचना की भाषा में हम उसे 'चरित्र-प्रधान' काव्य कह सकते हैं। किन्तु उससे घटनाओं के संघटन, वस्तुओं के रोचक विवरण और भावों तथा रसों के निरूपण में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचने पायी है। सब का पूर्णतम निर्वाह हुआ है। यहां तक कि हम चाहें तो नैषध को 'घटना-प्रधान, भाव या रस प्रधान' अथवा 'वर्णन-प्रधान' भी नाम दे सकते हैं। किन्तु ध्यान से देखने पर घटना, भाव, रस तथा वर्णन के सौष्ठव से नायक-नायिका के चरित्र का ही विकास होता दिखाई पड़ता है, जिसका विस्तृत विवेचन कथानक के औचित्य वाले अध्याय में किया जा चुका है। यह श्रीहर्ष की बड़ी भारी सफलता है। समाज के सम्मुख एक महान् आदर्श नायक एवं आदर्श नायिका का चरित्र रखना ही श्रीहर्ष का नैषध की रचना का प्रयोजन समझ पड़ता है। केवल नायक के चरित्र का सौन्दर्य अथवा केवल नायिका के चरित्र की उदात्तता दिखाने में काव्य एकङ्गी एवं अपूर्ण रहता। अतः श्रीहर्ष ने नल-दमयन्ती दोनों के चरित्रों को समाज के सम्मुख पूर्ण देदीप्यमान रूप में रक्खा। यह नैषध की अपनी विशेषता है, जो संस्कृत साहित्य में बहुत कम देखने को मिलती है।

पूर्वोक्त उद्देश्य के साथ श्रीहर्ष जीवन में धर्म, अर्थ, और काम के मंजुल सन्तुलन का भी सन्देश देते हैं। शृंङ्गार प्रधान होते हुए भी नैषध में अर्थ धर्म (तथा मोक्षोपाय) का भी समान महत्त्व माना गया है। इस प्रकार कवि नैषध द्वारा पूर्ण आदर्श जीवन की प्रतिष्ठा चाहता है।

श्रीहर्ष के परवर्तीकाल की संस्कृत काव्य-रचनाओं पर सबसे अधिक प्रभाव नैषध का पड़ा है। यदि श्रीहर्ष और पहले हुए होते तो सम्भवतः उनके समक्ष भट्टि, माघ आदि का इतना प्रभाव न पड़ पाता। नैषध का कथानक बनकर तो नल-चरित और भी समुज्ज्वल एलं लोकप्रिय हो गया। बाद के कवियों ने न केवल-नैषध की वर्णनशैली को अपनाया अपितु नल-कथा को भी बहुत अपनाया। नल चरित पर अनेक काव्य नाटक एवं चम्पू लिखे गए।[१]

प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा नैषध पर की गई टीकाओं का इतनी अधिक संख्या में होना भी नैषध की प्राचीन काल से प्रियता तथा प्रसिद्धि का द्योतक है। नैषध पर टीका लिखना विद्वत्ता का प्रमाण माना जाता था—नैषध का अध्ययन वैदुष्य-कारक माना जाता था—"नैषधं विद्वदौषधम्।" नैषध के कुछ प्रसिद्ध टीका-कारों का उल्लेख आफ्रेरवट के कैटॅलाग्स कैटॅलागरम् में इस प्रकार हुआ है।

---

१. क्षेमीश्वर का नैषधानन्द (नाटक), लक्ष्मीधर का नलवर्णन (काव्य), रामचन्द्र के नाट्य दर्पण में उद्धृत नलविक्रम, रामचन्द्र का नलविलास (नाटक), नारायण भट्ट का नलायिनी चरित (सम्भवतः चम्पू), रघुनाथ का नलाभ्युदय (नाटक), वामन भट्ट का नलाभ्युदय (महाकाव्य), जीव विबुध का नलानन्द (नाटक), वासुदेव का नलोदय (काव्य), नीलकण्ठ का नल-चरित (नाटक), अज्ञातनाम कवि का नल-भूमिपाल (रूपक), नलकथार्णव, अगस्त्य की नल-कीर्ति-कौमुदी, कालीपाद तर्काचार्य का नल-दमयन्तीय '(नाटक), किसी अज्ञात नाम कवि का नल-हरिश्चन्द्रीय (श्लेष काव्य), माणिक सूरि का नलायन (महा-काव्य), कृष्ण दीक्षित का नैषध-पारिजात, श्रीनिवास दीक्षित का नैषधानन्द, कृष्णानन्द का सहृदयानन्द (काव्य), वन्दारु भट्ट का उत्तर-नैषध, रङ्गनाथ का दमयन्ती-कल्याण, चक्र कवि का दमयन्ती-परिणय (काव्य), राम-शास्त्री का भैमी-परिणय (नाटक), हरदत्त का राघवनैषधीय (श्लेष काव्य), घनश्याम का आबोधाकर (श्लेष काव्य), अज्ञात कवि का कल्याण-नैषध (काव्य), कृष्ण राम का सारशतक (नैषध का सारांश काव्य), पण्डित अ० व० नरसिंहा-चारी का आर्यानैषध (नैषध का सारांश), विद्याधर और लक्ष्मण का प्रतिनैषध, महामहोपाध्याय वेंकट रङ्गनाथ का मञ्जुल-नैषध (नाटक), सुदर्शनाचार्य का अनर्घनलचरित महानाटक, शारदातनय के भावप्रकाशन में उद्धृत विधि-विलसित (नाटक), दमयन्ती-काव्य (चण्डपाल की टीका सहित) इत्यादि कृतियाँ डा० एम० कृष्णमाचारिया द्वारा, हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, में तथा डा० सु० कु० दे द्वारा 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' में उल्लिखित हैं।

१. आनन्द राजानक

राजानक उपाधि से ये काश्मीरी समझ पड़ते हैं। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाश-निदर्शन' नाम की टीका लिखी थी। इनका समय १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इनकी नैषध की टीका का नाम 'नैषधीय तत्त्वविवृति' है, जैसा कि पाण्डुलिपि-लेखक मधुसूदन के इन श्लोकों से स्पष्ट है :—

वर्षे ऋतुरसाख्याते मासे माधवसंज्ञके।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामश्विभे सूर्यवासरे॥
नैषधाभिधकाव्यस्य श्रीहर्षेण कृतस्य च।
राजानकानन्दकृता तत्तत्त्वविवृतिः शुभा॥
मधुसूदनेन लिखिता शोधनीया सदा बुधैः॥

—BORI, D XIII, P 476, No.385

२. ईशानदेव

इनका समय १४वीं शताब्दी है। ईशानदेव शैव थे। काशी में रहते हुए उन्होंने नैषध की टीका की थी। इनकी टीका का नाम सम्भवतः नैषध-टिप्पण था। इनकी टीका वि० सं० १३७८ में सम्पन्न हुई थी, जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है :—

... त्रयोदशशतं यद् विक्रमाद् भूपतेः
सप्तत्या सहितं ततोपिवसुभिस्त्वस्मान्मया श्रीमता।
श्री काश्यां वसता........टिप्पणं

शवाचार्यतपस्विना विरचितं शक्रैः (शाकः) सहस्रै मितम्। ईशानदेवने विद्याधरी टीका की बड़ी प्रशंसा की है—"टीकां वा वहुतो विचारजटिलां पश्यन्तु विद्याधरीम्।" उन्होंने बड़े सरल शब्दों में पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतज्ञता स्वीकार की है :—

"माधुकरीं समाश्रित्य वृत्तिमेतदिहार्जितम्।
मया तपस्विना तस्मादलं काव्यविदां हसैः॥

—BORI, D No. 386 P. 477

३. उदयनाचार्य

ये किरणावली-रचयिता उदयन से भिन्न थे। इन्होंने गीतगोविन्द और रघुवंश पर भी व्याख्यायें लिखी थीं। इनका दूसरा नाम उदयाकराचार्य भी था।

इनकी नैषध-टीका का नाम 'मनोहारिणी' था। इनके जीवनकाल के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

४. गोपीनाथ

इनकी रघुवंश की टीका 'कविकान्ता' का समय १६७७ संवत् दिया हुआ है। इनकी अन्य कृतियाँ 'दशकुमार-कथा', 'सप्तशती' तथा काव्यप्रकाश की 'सुमनो-मनोहरा' टीका हैं। इनकी नैषध की टीका का नाम 'हर्ष-हृदय' है। सम्भवतः इनके गुरु श्रीधर थे, जिनसे इन्होंने नैषध विषयक-व्युत्पत्ति प्राप्त की थी। वे स्वयं कहते हैं:—

'सितज्योत्स्नामेषरश (–धाश–) मिततमसः श्रीधरसुधां (धी)–
सुधांशोरादाय प्रगुणवचसां सारममृतम्।
नवामेतां वापी मिव कवि(वरो हर्ष–') हृदया–
भिधां गोपीनाथो नलचरितटीकां वितनुते।

Triemial cat. Mss. collected for the Gov. ori. Mss. Lib Madras, vol. V, No. 4486.

५. चाण्डूपण्डित

इनकी टीका का समय वि० सं० १३५३ है, इन्हीं के शब्दों में:—

"श्री विक्रमार्क (समयात्) शरदामथ त्रिःपञ्चाशता समधिकेषु शतेष्वितेषु।
तेषु त्रयोदशसु भाद्रपदे च शुक्लपक्षे त्रयोदश तिथौ रविवासरे च।"

चाण्डू पण्डित धोल्क के निवासी थे। ये नागर श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। इनके गुरु का नाम वैद्यनाथ था। चा० पं० ने ऋग्वेद पर भी भाष्य लिखा था, जो पूरा उपलब्ध नहीं होता है। इन्होंने होम-चतुष्टय किया था। सम्राट् स्थपति आदि की उपाधि से विभूषित थे। इनकी टीका का नाम 'नैषध-दीपिका' है। यह सारा विवरण चा० पं० ने स्वयं प्रथम सर्ग की टीका के अन्त में इस प्रकार दिया है:—

'इति धवलक्कक-वास्तव्य-नागर-श्रोत्रियावतंस-पण्डित-श्री-वैद्यनाथ-शिष्यऋग्-भाष्यकृल्लक्ष-होमचतुष्टयकृत्-सम्राट्स्थपति-सप्तसोम-संस्थाया जिह्वा दशाहाग्नि-विद् (चिद्) दीक्षित-श्रीचाण्डू-विरचितायां नैषध-दीपिकायां हंसगमनो नाम प्रथमः सर्गः।

'नैषध-दीपिका' एक पाण्डित्यपूर्ण टीका है। चा० पं० ने विद्याधर की टीका का भी उल्लेख किया है—"टीकां यद्यपि सोपपत्ति-रचनां-विद्याधरो निर्ममे" इत्यादि।

बाईसवें सर्ग के अन्त में चा० पं० ने अपने पिता का नाम आल्गि पण्डित तथा माता का नाम गौरीदेवी बताया है। नूतन काव्य नैषध श्री मुनिदेव से पढ़ा था :—

श्रीमानाल्गिपण्डितः स्वसमयाविर्भूतसर्वाश्रम
श्चाण्डूपण्डितसंज्ञितं प्रसुषुवे श्रीगौरिदेवी च यम्।
बुद्धा श्रीमुनिदेवसंज्ञ-विबुधात् काव्यं नवं नैषधं
द्वाविंशे शशिवर्णने विवरणं सर्गे स टीकां व्यधात्।

'नैषध-दीपिका' की पाण्डुलिपि "भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट" पूना में सुरक्षित है।

६. चारित्रवर्धन

इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य के आसपास माना जाता है। नैषध पर इनकी टीका का नाम 'तिलक' है। चा० व० ने कुमारसम्भव तथा रघुवंश पर भी टीकाएँ लिखी थीं। उन दोनों का नाम शिशु-हितैषिणी है। राघव-पाण्डवीय, शिशुपालवध तथा मेघदूत पर भी इनकी टीकाएँ हैं। जैन काव्य "सिन्दूरप्रकर" पर भी इन्होंने टीका लिखी है, जिसका रचना-काल १५०५ वि० (१४४९ ई०) है।

७. जिनराज

इनका समय १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग है। इनकी नैषध टीका का नाम 'सुखावबोधा' है—'इति श्री-जिनसूरि-विरचितायां सुखावबोधायां . . . श्री नैषध महाकाव्यवृत्तौ प्रथमः सर्गाः।' इनके गुरु का नाम श्री जिनसिंह-सूरि था—'ते श्रीमज्जिनसिंह-सूरि-गुरवो मे सन्तु सानुग्रहाः।' इत्यादि। इनकी नैषध टीका को 'जिन-राजी' भी कहते हैं। इस टीका के अतिरिक्त इन्होंने और अनेक ग्रन्थ भी लिखे रहे होंगे जो इस समय नहीं मिलते। "श्री जिनविजय—खरतरगच्छपट्टावली संग्रह", पृ० ३६ के अनुसार जिनराज सं० १६९९, आषाढ़ शुक्ल ९ को स्वर्गवासी हुए थे—"एवं विधाः जिनमतोन्नतिकारकाः समस्त-तर्क-व्याकरणच्छन्दो-लंकारकोशकाव्यादि-विविधशास्त्रपारिणो नैषधीय-काव्यसंबन्धी

जिनराजीवृत्त्याद्यनेकनवीनग्रन्थविधायकाः श्रीवृहत्खरतरगच्छनायकाः श्रीजिन-राजसूरयः सं० १६९९ आषाढ़ सु० ९ पत्तने स्वर्गभाजः।

८. नरहिर

इनका समय १३वीं शताब्दी के मध्य के आसपास माना जा सकता है। इनकी नैषध टीका का नाम दीपिका है। इनके पिता का नाम स्वयंभू तथा माता का नाल्मा था। इनके गुरु विद्यारण्य योगी थे। इनके पिता के चरणों की निरन्तर आराधना त्रिलिङ्गाधिपति किया करते थे। प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्रीहर्ष की ही भाँति उन्होंने भी अपना पूर्वोक्त परिचय कुछ इस प्रकार दुहराया है :—

> यं प्रासूत त्रिलिङ्गक्षितिपतिसतताऽऽराधिताङ्घ्रिः स्वयम्भूः
> पातिव्रत्यैकसीमा सुकविनरहरिं नाल्मा यं च माता।
> यं विद्यारण्ययोगी कलयति कृपया तत्कृतौ दीपिकायां
> द्वाविंशश्चारुसर्गः सुकृतसुखयशोधाम नीराजितो भूत्।

नरहरि की दीपिका टीका सम्भवतः दक्षिण भारत में उस काव्य पर प्रथम टीका थी, जैसा कि नरहरि के इस वाक्य से प्रतीत होता है—"असंनिधावन्य-निवन्धनानां कदापिकुर्यादुपकारमेतत्। तरङ्गिणीनां तरणेरभावे तुम्बीफलेनापि तरन्ति पूरम्॥"

नरहरि ने प्रारम्भ में ही अपनी नम्रता तथा नैषध एवं कवि की रमणीयता का सुन्दर शब्दों में उल्लेख किया है :—

> 'न मम मतिविलासो वासनाभ्यासजवो (जो वा)
> विविधबहुनिबन्धस्कन्धसंवाहनं वा।
> तरलयति मनो मे केवलं नैषधीयं
> चरित मखिललोकश्लोकनीयं कवेश्च॥' इत्यादि

इनकी और रचनाओं के विषय में कोई ज्ञान नहीं है।

९. नारायण

ये महाराष्ट्र प्रान्त के थे। इनका पूरा नाम नारायण वेदरकर था। इनकी नैषध टीका का नाम नैषधप्रकाश है, जो प्रकाशित हो चुकी है, तथा नैषध की सर्वश्रेष्ठ टीका मानी जाती है। उनके पिता नरसिंह पण्डित, माता मदालसा-देवी, गुरु रामेश्वर तथा गुरुपत्नी सीतादेवी थीं। उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

"नत्वा श्रीनरसिंहपण्डितपितुः पादारविन्दद्वयं
मातुश्चापि मदालसेत्यभिधया विख्यातकीर्तेः क्षितौ
श्रीरामेश्वर-सीतयोः सुमनसोर्गुर्वोरगर्वो यथा-
बुद्धि श्रीनिषधेन्द्र-काव्यविवृतिं निर्मांति नारायणः ॥"

और प्रति सर्ग के अन्त में कहते हैं :—

'इति श्री वेदरकरोपनामकश्रीमन्नरसिंहपण्डितात्मजनारायणकृतौ नैषधीय-प्रकाशे'—इत्यादि।

नारायण ने मेदिनीकोश के उद्धरण दिए हैं, तथा उनकी टीका की एक पाण्डुलिपि में वि० सं० १६९३ (१६३७ ई०) अङ्कित है, अतः प्रो० हान्दिकी नारायण का समय १४वीं शताब्दी तथा १७वीं शताब्दी के भीतर मानते हैं।

१०. भगीरथ

म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इनका समय १७वीं शताब्दी माना है। इनकी नैषध की टीका का नाम भागीरथी है, और प्रत्येक सर्ग को प्रवाह कहा है। इनके पिता हर्षदेव थे, जो सोमपायी पुरोहित बलभद्र के वंशज थे। बलभद्र कूर्माचल (कुमाऊँ) के नरेश श्री रुद्रचन्द्र के वंशज महाराज उद्योतचन्द्र के आश्रित पुरोहित थे। भगीरथ ने अपने को 'आवसथ्य' कहा है, सम्भवतः यह उनका उपनाम या गोत्र-नाम था। उन्हीं के शब्दों में—"इति श्रीकूर्माचलेन्द्रश्रीरुद्रचन्द्र-गोत्रापत्य-कल्प द्रुमाद्यधिक-राजर्षिवर्य-श्रीमदुद्योतचन्द्राश्रितपुरोहित-सोमपायि-बलभद्रगोत्रापत्य-हर्ष-देवात्मजावसथ्यभगीरथविरचितायां भागीरथ्याख्यायां नैषध-व्याख्यायामष्टमः प्रवाहः।"

नैषध के अतिरिक्त भगीरथ ने 'काव्यादर्श', 'किरातार्जुनीय', 'कुमार', 'देवीमाहात्म्य', 'महिम्नस्तोत्र', 'मेघदूत', 'रघुवंश' तथा 'शिशुपालवध' पर भी टीकाएँ लिखी थीं।

११. भरतमल्लिक या भरतसेन

इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्य था। इनके पिता गौरङ्गमल्लिक थे, जो हरिहरखान के वंशज थे। ये शैव थे। इनकी नैषध टीका का नाम सुबोधा है। इन्हीं के शब्दों में—"हरिहरखानवंशसम्भूतगौराङ्गमल्लिकात्मज-श्रीभरतसेन-कृतायां नैषध-टीकायां सुबोधायां द्वितीयः सर्गः।"

भरतसेन की कुछ ये मौलिक रचनाएँ हैं—१. उपसर्गवृत्ति, २. एकवर्णार्थ-संग्रह, ३. कारकोल्लास, ४. द्रुतबोधव्याकरण, ५. द्विरूपध्वनिसंग्रह, ६. वैद्य-कुलतत्त्व, ७. सुखलेखन, ८. गणपाठ।

इन्होंने नैषध के अतिरिक्त इन अन्य ग्रन्थों पर भी टीकाएँ की थीं :—

१. अमर-कोश, २. किरातार्जुनीय, ३. कुमारसम्भव, ४. घटकर्पर, ४. नलोदय, ६. भट्टिकाव्य, ७. मेघदूत, ८. लिङ्गादिसंग्रह, ९. रघुवंश, १०. शिशु-पालवध और ११. कुमारभार्गवीय।

१२. भवदत्त या भवदेव

इन्होंने अपने वंश का बड़ा विस्तृत परिचय दिया है। इनके पिता का नाम देवदत्त तथा माता का अरुन्धती था। इनकी नैषध टीका का नाम सारसरस्वती है, जिसे उन्होंने अपने यौवन के प्रारम्भ में ही लिखा था—'तथापि बाल्याच्चपलत्व-मुच्चैरेत्य(–त्र) प्रवृत्तोस्मि विधातुमेताम्। टीकां यथावद् विधुरोऽपि काव्य बालस्य किं कृत्यविधौ विचारः।' इनमें पर्याप्त विनयशीलता दिखाई पड़ती है। इनकी नैषध टीका का समय लक्ष्मण सं० २१६ अर्थात् ई० सन् १३३५ दिया हुआ है—("रसचन्द्रनेत्रगणिते वर्षे तथा लक्ष्मणे")। इनकी अन्य रचनाओं में केवल 'शिशुपालवध' की टीका 'तत्त्वकौमुदी' का पता चलता है।

१३. मथुरानाथ शुक्ल

इन्होंने 'अघपञ्चविवेचन' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी नैषध की टीका अपूर्ण मिलती है।

१४. मल्लिनाथ

रघुवंश आदि के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनकी नैषध की टीका का नाम 'जीवातु' है। इनका समय १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग है। इनको अपनी टीका की श्रेष्ठता का अभिमान है :—

> "श्रीमल्लिनाथविदुषा विदुषां मतेन तेनैष नैषधकथामृतकाव्यबन्धः।
> व्याख्यायते स्फुटसभावगुणार्थशब्दसध्वन्यलंकृतिरहस्यविदां मुदे तत्।"
> "क्षुद्रव्याख्याविषार्तानां श्रीहर्षकवि सदगिराम्। उज्जीवनाय जीवातु-र्जीयदिषमया कृतः।।"

१५. महादेव विद्यावागीश

इनका समय १७वीं शताब्दी का प्रारम्भ है, क्योंकि 'आनन्दलहरी' की टीका का समय १६०६ ई० है। इनकी नैषध टीका का कोई विशेष नाम नहीं है। यह अत्यन्त संक्षिप्त है—जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है :—

"श्री रामचरणौ नत्वा महादेवाख्यशर्मणा।
नैषधीयप्रबन्धेऽस्मिन्नतिसंक्षिप्य लिख्यते॥

अपनी टीका के प्रारम्भ में इन्होंने श्लोक में पूरे सर्ग का संक्षेप में कथानक दे दिया है। नैषध-टीका के अतिरिक्त इन्होंने 'आनन्दलहरी' तथा "जातकार्णव" पर भी टीकाएँ लिखी हैं।

१६. रामचन्द्र शेष

इनका समय १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा १६वीं का पूर्वार्ध माना जा सकता है। उनकी नैषध की टीका का नाम भावद्योतनिका है, इसे 'सर्वानवद्यकरिणी' भी कहा है। इन्हें कविकुल-तिलक की भी उपाधि थी—'इति कविकुलतिलक श्रीशेषरामचन्द्रविरचितायां नैषधीयचरितभावद्योतनिकायां सर्वानवद्यकरण्यामष्टमः सर्गः।' ये काशी के शेषनारायण के शिष्य थे।

१७. वंशीवदन शर्मा

इनके पिता का नाम वसिष्ठ तथा माता का रायमती था :—

श्री वंशीवदनं विशिष्टविनयं विद्वज्जनप्रीणनं
सूते रायमती सती मतिमती श्रीमान् विशिष्टः स्वः यत् (वसिष्ठः स्वयम्) इत्यादि।

इनकी नैषध-टीका अत्यन्त संक्षिप्त है। ये राम के भक्त थे :—

श्री-राम-चरणौ नत्वा वंशीवदन-शर्मणा।
नैषधीयप्रबन्धेऽस्मिन्नि (न्न) ति संक्षिप्य उच्यते।

इनकी अन्य कृतियाँ—गोपीचन्द्र के 'संक्षिप्तसार' की टीका, 'कृदन्तटीका' 'तद्धितटीका', 'सन्धिटीका,' 'सुबन्तपादविवरण', 'कारकपादटिप्पणी' हैं। इनका समय १३वीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है।

१८. विद्याधर

इनके पिता का नाम रामचन्द्र भिषक् और माता का सीता था। इनकी उपाधि साहित्यविद्याधर थी :—

"श्रीसौरद्विजवंशमौक्तिकमणिश्रीरामचन्द्रोभिषक्
श्रीसीता सुपतिव्रता गुणवती सीतेव माता च यम्।
श्रीविद्याधरमात्मजं प्रसुषुवे साहित्यविद्याधरो '(रं)
तस्यायं विगतः प्रबन्धविषये सर्गो द्विसंख्यायुतः॥

इनकी नैषध की टीका विद्याधरी या साहित्य-विद्याधरी नाम से प्रसिद्ध है। यह नैषध की सबसे प्राचीन टीका उपलब्ध है। चाण्डू पण्डित ने इस टीका को 'सोपपत्ति' माना है। इसमें नैषध के श्लोकों के अलङ्कार आदि का भी विवेचन किया गया है। इनका समय १३वीं शताब्दी के मध्य के लगभग है।

१९. विद्यारण्य योगी

वस्तुतः टीकाकार नरहरि हैं, जिन्होंने विद्यारण्य का अपने गुरु-रूप में उल्लेख किया है।

२०. विश्वेश्वराचार्य

ये भट्ट वंश के थे। आचार्य इनकी उपाधि थी। इको गागाभट्ट भी कहते थे। ये कमलाकर भट्ट तथा नैषध के ही टीकाकार लक्ष्मण भट्ट के भतीजे थे। इनके पिता का नाम दिनकर भट्ट था। विश्वेश्वर की नैषध टीका का नाम "पदवाक्यार्थ पञ्जिका" है। इस टीका के अतिरिक्त इन्होंने लगभग १४ अन्य ग्रन्थ भी लिखे, जिनका विवरण 'कैटलागस कैटलागरम्' में देखा जा सकता है। इनके चाचा कमलाकर का समय १६१२ ई० निश्चित है, अतः इनका समय सत्रहवीं शताब्दी सुगमता से निश्चित की जा सकती है। विश्वेश्वराचार्य ने छत्रपति शिवाजी का राज्याभिषेक भी सन् १६७४ ई० में देखा था।

२१. श्रीदत्त

म० म० काणे ने इनका समय १३वीं शताब्दी के अन्त के आसपास माना है। इनकी अन्य कृतियाँ 'श्राद्धकल्प', 'आचारादर्श' तथा 'समयप्रदीप' मानी जाती हैं।

२२. श्रीनाथ

इनके पिता का नाम श्रीकराचार्य था।—"श्री कराचार्यपुत्रेण श्रीमच्छ्रीनाथ शर्मणा। प्रीतये विदुषां चक्रे कृत्य-काल-विनिर्णयः।" इनकी अन्य कृतियाँ 'भोगि-

नीदण्डक', 'कृत्यतत्त्वार्णव', 'रघुवंश टीका' हैं। इनका समय १४वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

२३. सदानन्द

इनकी नैषध टीका अत्यन्त अपूर्ण टिप्पणी के रूप में मिली है। टीकाकार के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं। इनकी दो अन्य कृतियाँ और मानी जाती हैं—(१) सिद्धान्त-चिन्तामणि (ज्योतिष), (२) पद्यत्रयीव्याख्यानम्।

इनके अतिरिक्त करीव इतनी ही अन्य टीकाएँ भी नैषध पर मिलती हैं।

संस्कृत काव्य परम्परा का प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अन्य सब प्रकार से चरमोत्कृष्ट स्वरूप नैषध है। गद्यकाव्यों में जैसे वाण की कादम्बरी अद्वितीय रही है पद्यकाव्यों में उसी प्रकार नैषध अप्रतिम है। कुछ विद्वानों ने कालिदास के रघुवंश तथा कुमारसम्भव को प्रकृतिपरक अर्थात् स्त्रीचरित्र का महत्त्व वताने वाला, भारवि का किरात तथा माघ का शिशुपालवध पुरुष परक, अर्थात् पुरुष चरित्र को महनीय करने वाला कहा है, एवं नैषध को प्रकृति-पुरुष-परक अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनों के चरित्र को समान रूप में महान् वताने वाला काव्य माना है :—

"द्वे स्तोत्रे प्रकृतेः, पुंसो द्वे, चैकमुभयोरपि।
पञ्चस्वेतेषु पाण्डित्यं पुरुषार्थोहि पञ्चमः।"

कवि की अद्भुत कल्पना से सम्पन्न तथा अपरिमेय व्युत्पत्ति से समृद्ध होकर भी मृदु पदावली, प्रसाद-गुण तथा वैदर्भी-शैली के कारण नैषध सदा से विद्वानों का कण्ठहार रहा है। इसकी वैदर्भी-शैली की प्रशंसा करते हुए हंस ने उचित ही कहा था :—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधो-पि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥

—नै० ३।११६

———

सहायक ग्रन्थावली

१. ऋग्वेदसंहिता
२. शुक्लयजुर्वेदसंहिता
३. रेलिजन एंड फिलासफी आफ दि वेद—कीथ
४. शतपथ ब्राह्मण—अच्युतग्रन्थमाला १९९४ वि०
५. तैत्तरीय आरण्यक
६. अष्टाध्यायी—पाणिनि
७. पाणिनीय शिक्षा
८. वृहद्दैवज्ञरञ्जन—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, १९८१ वि०
९. वृहत् संहिता—वराहमिहिर
१०. वृहज्जातक

उपनिषद्

११. छान्दोग्य उपनिषद्
१२. वृहदारण्यक उप०
१३. तैत्तरीय उप०
१४. मुण्डक उप०
१५. नारायण उप०
१६. आश्वलायनश्रौतसूत्र
१७. आपस्तम्बश्रौतसूत्र
१८. वाल्मीकि रामायण—नि० सा० प्रे०
१९. महाभारत—चित्रशाला प्रेस, पूना
२०. वायुपुराण
२१. मत्स्यपुराण
२२. स्कन्दपुराण
२३. लिङ्गपुराण
२४. कूर्मपुराण
२५. अग्निपुराण

२६. श्रीमद्भावगत पुराण
२७. शिवपुराण
२८. देवीभागवत
२९. मार्कण्डेयपुराण
३०. अग्निपुराण
३१. हरिवंशपुराण
३२. विष्णुपुराण
३३. भविष्यपुराण
३४. ब्रह्मपुराण
३५. ब्रह्मवैवर्तपुराण
३६. पद्मपुराण
३७. ब्रह्माण्डपुराण
३८. महिम्नःस्तोत्र
३९. अहिर्बुध्न्यसंहिता—आड्यार पुस्तकालय, अड्यार मद्रास
४०. साधनमाला—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़
४१. जातक—वी० फाउसबोल द्वारा सम्पादित : ट्रूबर एंड कं० लंदन।
४२. आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प —त्रि० सं० सि०
४३. मनु-स्मृति—गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई १९१३ ई०।
४४. याज्ञवल्क्य स्मृति—मिताक्षरा-सहित नि० सा० प्रे०, १९१८
४५. निर्णयसिन्धु—नि० सा० प्रेस
४६. चरकसंहिता
४७. सुश्रुतसंहिता
४८. न्यायसूत्र, गौतम—वात्स्यायन-भाष्य-सहित
४९. वैशेषिक-सूत्र, कणाद—उपस्कार-सहित
५०. तर्कभाषा
५१. न्यायसूत्र—वात्स्यायन-भाष्य पर न्यायवार्तिक-सहित
५२. न्यायसूत्र—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका-सहित, का० सं० सि०
५३. सर्वसिद्धान्तसंग्रह—रा० व०, एम० रङ्गाचार्य द्वारा प्रकाशित, मद्रास
५४. किरणावली—उदयन
५५. न्यायकन्दली—झा अनुवाद
५६. षड्वर्गप्रकरण—त्रिवेन्द्रम् सं० सि०
५७. तर्कसंग्रह—चौ० सं० सि०

५८. प्रशस्तपादभाष्य—व्योमशिवाचार्य-कृत व्योमवतीसहित – का० सं० सि०
५९. विवरणप्रमेयसंग्रह—व० एस० एस०
६०. सर्वमत-संग्रह—त्रि० सं० सि०
६१. श्लोकवार्तिक—कुमारिल-पार्थसारथि की टीका-सहित
६२. वेदान्त-सूत्र—शङ्कर-भाष्य-सहित
६३. वेदान्त-सूत्र—शङ्कर-भाष्य तथा भामती-सहित
६४. वेदान्त-सूत्र—श्रीभाष्य-सहित
६५. प्रकरण-पञ्चिका
६६. विधि-विवेक—मण्डन मिश्र : (न्यायकणिका-सहित, बनारस प्रकाशन)
६७. षड्दर्शन-समुच्चय—हरिभद्र : एशियाटिक सोशायटी प्रकाशन
६८. न्यायसार—भासर्वज्ञ : त्रि० सं० सि०
६९. न्यायकुसुमाञ्जलि—उदयन
७०. सर्वदर्शनसंग्रह—सायणमाधव, पूना प्रकाशन
७१. सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
७२. योग-सूत्र—पतञ्जलि, व्यासभाष्य-सहित
७३. योग-सूत्र—तत्त्ववैशारदी-सहित
७४. अद्वैयत्रवज्र-संग्रह
७५. बोधिचर्यावतार
७६. बोधिचर्यावतारपञ्जिका
७७. श्रीमद्भगवद्गीता
७८. खण्डन-खण्ड-खाद्य—चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ १९१४ ई०।
७९. गौडपादकारिका
८०. राजतरङ्गिणी—कल्हण
८१. बृहत्कथामञ्जरी—क्षेमेन्द्र
८२. कथासरित्सागर—सोमदेव भट्ट : नि० सा० प्रे०
८३. प्रबन्धकोश —राजशेखर सूरि
८४. अनेकार्थ-संग्रह—हेमचन्द्र, ज़कराया प्रकाशन १८९३ ई०
८५. अमरकोश—अमरसिंह, भानुजि दीक्षित की टीका-सहित : नि०सा०प्रे०।
८६. कामसूत्र—वात्स्यायन : निर्णयसागर प्रेस
८७. जातिभास्कर—खेमराज श्रीकृष्णदास
८८. चिन्तामणि—पं० रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस प्रयाग, १९५१ ई० नूतन संस्करण

८९. काव्यप्रकाश—मम्मट, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना
९०. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, अभिनव की लोचन टीका सहित, काव्य माला १८९१ ई०
९१. ध्वन्यालोक—आनन्द-वर्धन, चौ० सं० सि०, वनारस
९२. व्यक्तिविवेक—महिम-भट्ट, त्रिवेन्द्रम सं० सि०
९३. काव्य-कल्पलता—अरिसिंह, अमरचन्द्रयति की वृत्ति-सहित, काशी संस्कृत सिरीज़
९४. काव्य-मीमांसा—राजशेखर, चौ० सं० सिरीज़, १९३४ ई०
९५. दशरूपक—धनञ्जय, काव्यमाला
९६. काव्यादर्श—दण्डी
९७. काव्यालंकार—भामह
९८. काव्यालंकार-सूत्र—वामन
९९. वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक, डा० दे द्वारा सम्पादित
१००. काव्यालंकार—रुद्रट
१०१. अलंकार-सर्वस्व—रुय्यक, जयरथ टीका सहित काव्यमाला १८९३।
१०२. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, काव्यमाला
१०३. काव्यानुशासन —वाग्भट्ट, काव्यमाला
१०४. कविकण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र, चौ० सं० सि०
१०५. साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ
१०६. रसगङ्गाधर—पण्डित-राज जगन्नाथ
१०७. नैषध—श्री हर्ष, नारायण की नैषध-प्रकाश टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९४२ ई०
१०८. नैषध—श्रीहर्ष, चाण्डू पण्डित की नैषधदीपिका सहित, भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टी० पूना से प्राप्त
१०९. नैषध—श्रीहर्ष, विद्याधर की विद्याधरी सहित, भं० ओ० रि० इं० पूना से प्राप्त
११०. नैषध—श्रीहर्ष, नारायण की नैषध-प्रकाश टीका सहित, भं० ओ० सि० इं० पूना से प्राप्त
१११. नैषध—श्रीहर्ष, मल्लिनाथ की जीवातु सहित
११२. नैषध—श्रीहर्ष, हान्दिकी, अंग्रेज़ी-अनुवाद-सहित
११३. श्रीकण्ठचरित—मङ्ख
११४. मेघदूत—कालिदास

११५. बुद्धचरित—अश्वघोष
११६. कुमारसम्भव—कालिदास
११७. शिशुपालवध—माघ
११८. धर्मशर्माभ्युदय—हरिचन्द्र, काव्यमाला : नि० सा० प्रे०
११९. रघुवंश—कालिदास
१२०. किरात—भारवि
१२१. भर्तृहरिशतक—भर्तृहरि, वम्बई संस्कृत सिरीज १८८५ ई०
१२२. नल चम्पू—त्रिविक्रम भट्ट
१२३. अनर्घराघव—मुरारि, रुचपति की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, वंबई।
१२४. उत्तर-रामचरित —भवभूति
१२५. अभिज्ञान-शाकुन्तल—कालिदास
१२६. प्रवोध चन्द्रोदय—कृष्णमिश्र
१२७. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—काणे, नवीन संस्करण १९५१ (संस्कृत अलंकार शास्त्र का इतिहास (अंग्रेजी)
१२८. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—दे : कलकत्ता यूनिवर्सिटी १९४७ (संस्कृत में साहित्य का इतिहास अंग्रेजी)
१२९. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—कीथ (संस्कृत साहित्य का इतिहास, अंग्रेजी)
१३०. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर—डा० एम० कृष्णामाचारियर
१३१. इण्डियन एण्टीक्वेरी
१३२. जे० बी० आर० ए० एस०
१३३. सिद्धभारती (द्वितीय भाग), इण्डोलाजिकल सिरीज, होशियारपुर
१३४. प्रो० श्रीधर रामकृष्ण के द्वितीय भ्रमण का विवरण
१३५. सरस्वती भवन स्टडीज़
१३६. ओरियण्टल कान्फ्रेस, प्रयाग, १९२६ ई० का विवरण
१३७. न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी
१३८. जे० बी० ओ० आर० एस०
१३९. इण्डियन कल्चर
१४०. झा-स्मारक-ग्रन्थ (अंग्रेजी)

———